H
२९९१७

साहित्य साधना के सोपान

दुर्गाशंकर मिश्र

साहित्य-साधना के सोपान

- चिन्तन
- विवेचन
- मूल्यांकन
- रस-ग्रहण
- विविध

……इत्यादि

लेखक की उल्लेखनीय कृतियाँ

समीक्षात्मक

१. हिन्दी कवियों की काव्य-साधना २. सेनापति और उनका काव्य ३. कहानी-कला की आधार-शिलाएँ ४. भक्ति-काव्य के मूल स्रोत ५. चिन्तामणि : मंथन ६. रस-सिद्धान्त और कहानी-कला ७. हिन्दी-काव्य-मंथन

निबन्ध-संग्रह

८. विचार-वीथिका ९. अनुभूति और अध्ययन १०. हिन्दी कविता : कुछ विचार ११. साहित्य-साधना के सोपान

आलोचनात्मक अध्ययन और विशद व्याख्या

१२. सूर-प्रभा और सूरदास १३. सुमित्रानंदन पंत और आधुनिक कवि १४. यशोधरा का काव्य-सौंदर्य १५. कामायनी की सरल व्याख्या १६. पथिक-परिशीलन १७. भ्रमरगीतसार दर्शन १८. रीतिकालीन तीन कवि १९. आँसू का काव्य-वैभव २०. हिन्दी साहित्य का इतिहास: प्रश्नोत्तर रूप में २१. परख : एक अध्ययन २२. कल्याणी : एक अध्ययन २ . रश्मिबंध और सुमित्रानंदन पंत २४. रीढ़ की हड्डी : एक अध्ययन २५. प्रतिनिधि एकांकी: एक अध्ययन २६. मैथिलीशरण गुप्त और द्वापर २७. सफल एकांकी: एक अध्ययन २८. सुमित्रानंदन पंत : आलोचना और व्याख्या २१. भाषा विज्ञान : प्रश्नोत्तर रूप में ३०. पृथ्वीपुत्र: आलोचना और व्याख्या ३१. प्रियप्रवास: प्रश्नोत्तर में

छात्रोपयोगी

३२ हिन्दी पंचरत्न ३३. तुलसीदास और उत्तरकांड ३४. कहानीरत्न : सहायक ३५. आधुनिक कवि गोपालशरण सिंह ३६. पद्यप्रवाह : टीका और आलोचना ३७. मंत्री रामय्या की आलोचना ३८. काव्य सुधा: टीका और आलोचना ३९. कलापूर्ण एकांकी का सरल अध्ययन ४०. नवपल्लव : सहायक ४१. आषाढ़ का एक दिन: प्रश्नोत्तर में ४२. हिन्दी गद्य पारिजात का सरल अध्ययन ४३. आधुनिक काव्य संग्रह की सरल व्याख्या ४४. बिखरे मोती: एक अध्ययन ४५. प्रचीन काव्य संग्रह: टीका और आलोचना ४६. सप्तरंग: सहायक ४७. हिन्दी कहानियाँ: एक अध्ययन ४८. हिन्दी कहानी माला: एक अध्ययन ४९. साहित्य का साथी: एक अध्ययन ५०-५१ काव्य कुसुम भाग १ और भाग २ ५२. गद्य-कुसुम भाग ३

विविध

५३. प्रभात के प्रसून ५४. चिन्तन: मनन ५५. रसखान का अमर काव्य ५६ पद्माभरण ५७ शिक्षालय-संगठन और स्वास्थ्य-शिक्षण

साहित्य-साधना के सोपान

Shayeta- Sadna ka Sopan-

दुर्गाशंकर मिश्र

Durgashankar Mittar-

Acc- 25313
14/12/12

SPS
809 D 95 S
29417

रामा प्रकाशन
नजीराबाद, लखनऊ

Rana parkashan.
Lakhnow.

Who'ver thinks a faultless piece to see, thinks what ne'er was, nor is, ne'er shall be.

—A. Pope : Essay on Criticism

जो कोई भी दोष-रहित रचना देखने की कल्पना करता है वह ऐसी वस्तु की कल्पना करता है जिसका अस्तित्व न था, न है और न कभी होगा।

—पोप

Acc. No 29417
Cost Rs. 17.00
Date 3.8.68

Sri Pratap Singh
Library
Srinagar.

H80.9
D95S

प्रकाशक : रामा प्रकाशन
नजीराबाद, लखनऊ
मुद्रक : बनारसीदास मेहरोत्रा
रामा प्रेस, लखनऊ
संस्करण : प्रथम
दुर्गानवमी, सं० २०१८ वि०
अक्टूबर १९६१
मूल्य : सत्रह रुपया

17.00

1961

आत्म-विज्ञप्ति का मोह........!

पाश्चात्य विचारक जे० बी० प्रीस्टले (J. B. Priestly) ने Essayists Past and Present में उचित ही लिखा है—"The real essayist........... has every subject in this world at his command for the simple reason his business is to talk about himself or to express the relations between any subject and himself." इस प्रकार सभी विषय, वस्तु, भाव, कर्म व विचार निबंध की सीमा में आ सकते हैं और सभी विषयों पर निबंध लिखे जा सकते हैं तथा निबंधकार चाहे जिस विषय को अपनी ज्योति से चमका सकते हैं। इसीलिए विषय-विविधता के क्षेत्र में निबंध की सीमायें असीम होने से प्रकार-विश्लेषण की दृष्टि से निबंध पर विचार करते समय हम यही देखते हैं कि इस दिशा में विचारक एकमत नहीं हैं। चूँकि प्रस्तुत कृति के प्रथम निबंध में ही पृष्ठ २७ से ३६ तक निबंध की प्रकार-वैविध्यता पर विचार किया गया है अत: नीरस पिष्टपेषण के भय से मैं उन्हीं विचारों को दुहराना उचित नहीं समझता लेकिन एक प्रश्न यहाँ अवश्य विचारणीय है कि आलोचनात्मक या समीक्षात्मक निबंधों का निबंध-साहित्य में क्या स्थान होना चाहिए? सामान्यत: अभी तक किसी भी समीक्षक ने इन आलोचनात्मक निबंधों का स्वतंत्र वर्ग स्थापित नहीं किया है और उन्हें विचारात्मक निबंधों के अंतर्गत ही स्थान दिया जाता है। आज तक जितनी भी कृतियों में निबंध-कला पर विचार हुआ है उन सभी में विचारात्मक निबंधों के अंतर्गत ही समीक्षात्मक निबंधों को रखा गया है पर यदि हम सतर्कतापूर्वक विचार करें तो इन दोनों में विभिन्नता भी दीख पड़ती है। हिन्दी में बहुत से ऐसे समीक्षात्मक निबंध भी लिखे गये हैं जिनमें काव्यात्मकता की प्रधानता होने से उन्हें भावात्मक कहा जा सकता है और कुछ समीक्षकों ने तो कथात्मक निबंधों के अंतर्गत हिन्दी समीक्षा की कतिपय समस्याओं व विषयों का विश्लेषण-निरूपण भी किया है। यदि हम यह मानते हैं कि समीक्षात्मक निबंध विचारात्मक निबंधों के अंतर्गत ही आते हैं तो फिर हमें इन कथात्मक निबंधों को भी विचारात्मक निबंधों के अंतर्गत रखना होगा। सच तो यह है कि सैद्धांतिक व व्याख्यात्मक कृतियों का निर्माण सृजनात्मक साहित्य के उपरांत ही होता है और एक ओर तो यह साहित्य विकसित होता जाता है तथा दूसरी ओर समीक्षक सिद्धान्त-निर्धारण व व्याख्या-विवेचन का कार्य भी करते हैं। इसीलिए सिद्धान्त-समीक्षा-सम्बन्धी कृतियों में नूतन विषयों का समावेश आवश्यक होता है और उनमें युगानुरूपता भी अपेक्षित है। यों भी समीक्षक इस दिशा में उदासीन नहीं रहता और यही कारण है कि हमारे साहित्य की सर्वथा नूतन प्रवृत्तियों को भी आलोचना का विषय बनाया गया है तथा एक ओर तो छिद्रान्वेषी

पत्र-पत्रिकाओं में सन १९४९ से सन १९५७ तक मेरे अनेक निबंध प्रकाशित हुए हैं और यदि मैं मई १९५७ में नागपुर से उत्तर-प्रदेश न चला आता तो संभवत: अभी मेरे और भी अधिक संख्या में निबंध प्रकाशित होते। अपने इस समीक्षक जीवन में मैंने खड़ी बोली में कुछ कविताएँ भी लिखीं, 'भूख व प्यासे' पत्थर आदि कहानियाँ भी छपीं और यथार्थवादी पृष्ठभूमि पर 'जीवित शव' नामक एक उपन्यास भी लिखा गया जिसे मेरे जीवन के एक महत्वपूर्ण और प्रिय व्यक्ति ने यह कहकर कि "इसका छपना सबके लिए घातक होगा" नष्ट कर दिया। यद्यपि यह कृति मुझे बहुत अधिक प्रिय थी परन्तु वह व्यक्ति उस कृति से भी अधिक महत्व का था और जब उस व्यक्ति की २७ अप्रैल ६० को कार दुर्घटना में मृत्यु हो गयी तब पुन: कुछ समय बाद 'जीवित शव' लिखने का विचार हुआ था पर 'नष्ट-नीड़' का निर्माण पुनः संभव हो सकता है, यह मैं कैसे कह सकता हूँ ? हाँ, तो जीवन का बहुत सा समय नागपुर में व्यतीत कर मई १९५७ में मैंने उत्तर-प्रदेश में रहने का विचार किया और जुलाई ५७ से नवम्बर ५७ तक बुंदेलखंड के एक विद्यालय में प्राध्यापकीय जीवन बिताने के उपरांत मैं दिसम्बर ५७ से लखनऊ रहने लगा और लखनऊ को क्रीड़ा-भूमि बनाने के बाद मेरे लेखकीय जीवन ने एक नवीन रूप धारण किया। इधर पत्र-पत्रिकाओं में निबंधों का प्रकाशन कम, बल्कि नहीं सा हो गया और मैं सृजनात्मक साहित्य से भी विरत सा होता गया तथा मेरी लेखनी से कुछ ऐसी रचनाएँ भी प्रस्तुत हुईं जिन पर पृथक् रूप से विचार करना यहाँ आवश्यक है।

वस्तुत: अपने जीवन का अधिकांश समय मैंने अध्ययन-अध्यापन में ही व्यतीत किया है और भले ही जीवन-यापन के लिए विविध मार्गों को मुझे अपनाना पड़ा हो पर अध्ययन-अध्यापन का यह क्रम पिछले चौदह-पन्द्रह वर्षों से कभी भी भंग नहीं हो पाया अत: स्वाभाविक ही विद्यार्थियों की समस्याओं पर विचार करते समय मैंने छात्रोपयोगी कृतियों को भी देखा-परखा और मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि इनमें छात्रोपयोगी सामग्री के स्थान पर प्रकाशकीय हित का ही अधिक ध्यान रखा गया है। सन् ५४ से सन् ५६ तक मेरी हिन्दी कवियों की काव्य-साधना, विचार-वीथिका, अनुभूति और अध्ययन, सेनापति और उनका काव्य तथा प्रभात के प्रसून (सम्पादित) नामक कृतियाँ प्रकाशित हुई थीं पर छात्रोपयोगी सामग्री मैं कुछ भी न प्रस्तुत कर सका। जुलाई ५७ से नवम्बर ५७ तक अपने प्राध्यापकीय काल में मैंने अवश्य तुलसी और सूर पर छात्रोपयोगी दृष्टि से कुछ लिखा पर यह सब उन दिनों उपयोग में न आकर बहुत बाद में उपयोग में आया। दिसम्बर ५७ से लखनऊ को अपना स्थायी निवास बना लेने पर अग्रजतुल्य डॉ. भगीरथ मिश्र ने जिन्होंने कि स्नेहपूर्ण आग्रह से मुझे लखनऊ बसा लिया था—मुझे छात्रोपयोगी साहित्य के निर्माण की ओर प्रवृत्त किया। मेरे लेखनीय जीवन में डॉ भगीरथ मिश्र का भी अपना निजी स्थान है और ६०६ मील दूर नागपुर में रहते हुए भी तथा बिना साक्षात्कार हुए मैं सन ५०-५१ से उनका स्नेह पा रहा था। पिछले दिनों एक ज्ञानी आलोचक ने मेरी 'हिन्दी कविता कुछ विचार पर डॉ० भगीरथ मिश्र की सम्मति को पढ़ यह प्रचारित किया था कि 'भक्ति काव्य के मूल स्रोत' का समर्पण डॉ० भगीरथ मिश्र के नाम पर होने के कारण ही शायद यह सम्मति दी गयी है लेकिन उन छिद्रान्वेषी महोदय को संभवत: यह ज्ञात नहीं है कि डॉ० भगीरथ मिश्र ने जनवरी १९५२ में प्रकाशित होने वाली मेरी समीक्षात्मक कृति हिन्दी

कवियों की काव्य-साधना' की प्रस्तावना लिखी थी और सन ५४ में जब मेरा दूसरा निबंध संग्रह अनुभूति और अध्ययन छपा तो वह भी डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र की प्रस्तावना, श्री परशुराम चतुर्वेदी के दो शब्द तथा डॉ० भगीरथ मिश्र के प्राक्कथन से अलंकृत था। मैंने दिसम्बर ५८ में प्रकाशित होने वाली कृति डॉ० भगीरथ मिश्र को समर्पित की है जब कि उनसे मेरा सम्बन्ध आठ-दस वर्षों पुराना है और उन दिनों का है जब माधुरी [लखनऊ] में कृष्णायण पर उनका एक निबंध प्रकाशित हुआ था। हाँ, तो भाई मिश्रजी ने मुझे राय दी कि छात्रोपयोगी कृतियों को इस रूप में प्रस्तुत करूँ कि विद्यार्थी शुद्ध आलोचनात्मक कृतियों के अध्ययन की ओर भी प्रवृत्त हों और इन विद्यार्थीपयोगी कृतियों का रूप भले ही चाहे कुछ भी हो पर 'मैटर' अध्ययन-अनुशीलन पूर्ण ही हो। उन दिनों पुस्तकें कुछ अवश्य लिखी गईं पर प्रकाशित सितम्बर १९५८ में 'सूर-प्रभा और सूरदास' ही हुई तथा उसके 'दृष्टिकोण' में मैंने लिखा भी है "हिन्दी में टीका शब्द जिस रूढ़ अर्थ में व्यवहृत होता रहा है और जिसके फल-स्वरूप टीका-ग्रंथों को उपेक्षा एवम निरादर की दृष्टि से देखा जाता है वैसी दशा अन्य भाषा-साहित्यों में नहीं है। मराठी में तो टीका आलोचना को ही कहते हैं और महाराष्ट्र का आलोचक वस्तुतः टीकाकार ही कहलाता है। संस्कृत में भी टीका सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है तथा राजशेखर ने तो 'काव्य-मीमांसा' में टीका को आलोचना का ही रूप माना है। स्मरण रहे संस्कृत-साहित्य में कालिदास और मल्लिनाथ दोनों का एक ही महत्वपूर्ण स्थान है तथा पाश्चात्य जगत में भी टीकाकार होना गौरव की बात समझी जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि टीकाकार में वही प्रतिभा अपेक्षित है जो कि एक सत्समालोचक में होनी चाहिए और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो टीका व्याख्यात्मक आलोचना (Inductive Criticism) जिसे कि मौल्टन ने सर्वश्रेष्ठ समीक्षा-पद्धति माना है का ही एक रूप है। हिन्दी में तो टीका-ग्रंथ लिखे ही नहीं जा रहे हैं तथा बाजारों में जो टीका-ग्रंथ उपलब्ध होते हैं—जिन्हें कि पुस्तक विक्रेता कुंजी, मार्ग-दर्शक, पथ-प्रदर्शक और गाइड आदि नामों से बेचते हैं—वस्तुतः टीका-ग्रंथ नहीं है। इस प्रकार की पुस्तकों की बहुलता के कारण ही हमारे यहाँ टीका उपेक्षा की वस्तु हो गयी है अन्यथा हमें यह न भुला देना चाहिए कि स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा की 'सतसई संजीवन भाष्य' 'रत्नाकर' की 'बिहारी-रत्नाकर' तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की 'पद्मावत संजीवन भाष्य' आदि कृतियाँ टीका-ग्रंथ ही हैं। इन्हीं सब कारणों से प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने इस पुस्तक के प्रणयन कार्य की ओर अपना उत्साह प्रकट किया और यह पुस्तक प्रकाश में आ सकी। ....सूरदास के पदों को लेकर विभिन्न टीकाएँ—जिन्हें कि कुंजी कहना ही उपयुक्त होगा—प्रकाश में आयी हैं परन्तु इनके लेखन और प्रकाशन में व्यावसायिक दृष्टिकोण ही प्रधान रहा है।....मराठी में व्याख्या को 'रसग्रहण' कहते हैं और लेखक की दृष्टि में किसी भी ग्रंथ, पद या पंक्ति का स्पष्टीकरण तभी ठीक-ठीक हो सकता है जब कि व्याख्याकार उनका रसास्वादन कर सके और मराठी का यह 'रस-ग्रहण' शब्द उसकी दृष्टि में व्याख्या के लिए उपयुक्त एवं सार्थक शब्द है। हमारे यहाँ के कुंजी लेखकों के सामने 'रस-ग्रहण' का प्रश्न ही नहीं उठता बल्कि वे प्रकाशक द्वारा प्रदान किये गये चश्मे से रस-ग्रहण करना चाहते हैं अतः उनकी पुस्तकें 'लोक-हिताय' की अपेक्षा 'लोक-भ्रमाय' का आदर्श ही प्रस्तुत करती हैं।"

सितम्बर १९५८ में प्रकाशित होने वाली इस 'सूर-प्रभा और सूरदास' से लेकर सितम्बर १९६१ में प्रकाशित होने वाली 'रश्मिबध और सुमित्रानंदन पंत' तक मेरी कई इस प्रकार की कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं तथा दक्षिण-भारत से लेकर उत्तर में काश्मीर तक उनका प्रचार-प्रसार हुआ और न केवल छात्रों ने उन्हें सम्मान प्रदान किया अपितु अध्यापकों ने भी संतोष प्रकट किया । अपनी इन छात्रोपयोगी कृतियों में मैंने भले ही प्रश्नोत्तर रूप में अपने आलोचनात्मक विचार प्रस्तुत किए हों लेकिन यदि मैं इन प्रश्नों को हटाकर विविध अध्यायों के शीर्षक दे दूँ तो इसी सामग्री की शुद्ध समीक्षा के अंतर्गत गणना की जा सकती है और मेरी सूर-प्रभा और सूरदास, यशोधरा का काव्य-सौन्दर्य, आँसू का काव्य वैभव, हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा रश्मिबंध और सुमित्रानन्दन पंत में इसे सरलतापूर्वक देखा जा सकता है । हिन्दी, संस्कृत, अँग्रेजी व कुछ अन्य अन्तर्प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का अनुशीलन करने के साथ-साथ मेरी रुचि धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति व समाज-शास्त्र की ओर भी रही है अतः जनवरी ६१ से मेरे लेखकीय जीवन में एक नवीन मोड़ और आ गया तथा अब मैं शिक्षा, संस्कृति, दर्शन व इतिहास के भी ग्रंथों के प्रणयन कार्य की ओर प्रवृत्त हो रहा हूँ । यों भी अपने निबंध-लेखनकाल में मैंने विविध विषयों पर निबंध लिखे हैं और इसी पुस्तक में संकलित 'मुगलकालीन उद्यानकला' मेरे ऐतिहासिक ज्ञान का कुछ परिचय तो देता ही है । यदि मैं जीवन की विविध समस्याओं व दुर्घटनाओं में उलझ न जाता तो निश्चय ही मैं इन्हीं विषयों पर बहुत कुछ लिखता । शिक्षा-सम्बन्धी मेरे विचार एक पुस्तक में प्रकाशित हो चुके हैं और शिक्षा-सम्बंधी कुछ अन्य पुस्तकें प्रकाशित भी हो रही हैं तथा अन्य विषयों पर भी शीघ्र ही कुछ कृतियाँ प्रकाशित होगी ।

अपने लेखकीय जीवन के विकासक्रम की इस संक्षिप्त रूपरेखा को प्रस्तुत करते समय मेरा यही लक्ष्य रहा है कि मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि मूलतः मैं निबंधकार ही रहा हूँ और भले ही विगत कुछ वर्षों में मैंने इस ओर पूर्णतः ध्यान न दिया हो लेकिन अपने लेखकीय जीवन के प्रारंभिक क्षणों से आज तक निबंध ही मेरे विचारों को प्रस्तुत करने के माध्यम रहे हैं और उन्हीं का सहारा लेकर मैंने विविध समस्याओं पर विचार व्यक्त किया है । इतना होते हुए भी मेरे निबंध-संग्रह बहुत ही कम संख्या में प्रकाशित हो पाए और इसका मूल कारण मेरी व्यस्तता ही है । सन १९५४ में अनुभूति और अध्ययन के प्रकाशन के उपरान्त सन १९५७ में मेरा हिन्दी कविता : कुछ विचार नामक एक निबंध-संग्रह अवश्य प्रकाशित हुआ परन्तु उसमें केवल कविता-सम्बंधी निबंध ही थे और अब तो हिन्दी-काव्य मंथन के प्रकाशित हो जाने पर उसका महत्व नहीं जैसा रह गया है । पिछले दो तीन वर्षों से मेरा विचार अपना एक ऐसा निबंध-संग्रह प्रस्तुत करने का था जिसमें कि मेरे विविध विषयक विचार संगृहीत हों और जो मेरी निबंध-कला का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखता हो । मेरे कुछ उत्साही शुभचिन्तक समीक्षकों ने मुझे इसकी प्रेरणा भी दी और मैंने प्रस्तुत पुस्तक की रूप-रेखा भी तैयार की । अपनी विविध कृतियों और प्रकाशित-अप्रकाशित सामग्री से अपने विचार संकलित कर 'साहित्य-साधना के सोपान' को प्रस्तुत करने का विचार सन ५८ में ही हो गया था और मैंने पांडुलिपि का अधिकांश कार्य स्व० सरला शर्मा, स्व० अनिता शास्त्री व श्री राधाकृष्ण के सहयोग से सन ५९ में समाप्त भी कर लिया था पर अप्रैल ६० में कार-दुर्घटना से स्व० सरला शर्मा व स्व० अनिता शास्त्री की

मृत्यु हो जाने से यह कार्य रुका रहा और सन ६१ के प्रारंभ में मैंने उसे नवीन रूप-रेखा प्रदान की। पुस्तक चिन्तन, विवेचन, मूल्यांकन, रस-ग्रहण और विविध नामक पाँच खंडों में विभाजित की गयी तथा उसमें तीस निबंधों को स्थान देने का विचार किया गया क्योंकि दुर्गानवमी सं० २०१८ वि० को मैं अपने तीसवें वर्ष में पहुँच रहा हूँ। स्नेहभाजन उक्त दोनों मृतात्माओं के सहयोग से जो पांडुलिपि तैयार हुई थी उसमें पर्याप्त परिवर्तन-परिवर्धन कर नवीन पांडुलिपि तैयार की गयी और इस दिशा में सुश्री उमा बी० ए०, श्री कृष्णकुमार व सुश्री ज्योत्स्ना का सहयोग प्राप्त हुआ और रामा प्रकाशन के उत्साही संचालक श्री बनारसीदास मेहरोत्रा ने मेरी जन्मतिथि के अवसर पर इस पुस्तक को प्रकाश में लाने का बीड़ा उठाया। उनके उत्साह और सुहृदवर श्री शिवमूर्ति सिंह के अथक परिश्रम से ही यह कृति इतने शीघ्र प्रकाश में आ सकी है अन्यथा या तो यह कई वर्षों बाद प्रकाश में आती या फिर यह भी संभव था कि इसकी दशा 'मोह-ममता' जैसी होती।

यहाँ मैं अपनी इस कृति के परिचय-स्वरूप कुछ भी कहना उचित नहीं समझता क्योंकि यह कार्य तो समीक्षकों व पाठकों का ही है कि वे देखें कि इसमें 'कुछ' भी है या नहीं ? हाँ प्रत्येक खंड का परिचय देना आवश्यक समझ मैं यही कह सकता हूँ कि चिन्तन खंड में सैद्धांतिक चिन्तनमूलक विचारों को संगृहीत किया गया है, विवेचन खंड में कुछ विशिष्ट समस्याओं व कृतियों का विश्लेषण है, मूल्यांकन खंड में कुछ विशेष कृतियों व कृतिकारों पर संक्षेप में विचार किया गया है, रस-ग्रहण में मेरे व्याख्यात्मक आलोचना के स्वरूप की संक्षिप्त झाँकी सी दीख पड़ती है और विविध में विविधात्मकता ही है। इन निबंधों में मैंने संशोधन नहीं किया है और जिस रूप में इन्हें लिखा गया या जिस रूप में इन्हें प्रकाशित होने का अवसर मिला उसी रूप में मैंने इन्हें दे दिया है। निबंध के अंत में सुविधानुसार लेखनकाल या प्रकाशनकाल दे दिया गया है और इससे न केवल मेरे निबंध-लेखन का विकास-क्रम स्पष्ट हो जाता है अपितु यह भी ज्ञात होता है कि उन दिनों विषय विशेष पर क्या सामग्री उपलब्ध थी या आलोच्य कृतिकार का क्या कृतित्व था ? इसलिए यदि कोई छिद्रान्वेषी यह कहने लगे कि अमुक लेखक की इस कृति का उल्लेख नहीं हुआ या इसमें यह अपूर्णता है तो उसे 'बुद्धि-भ्रम' ही समझना चाहिए क्योंकि मैंने पहले ही यह स्पष्ट कर दिया है कि लेखनकाल की दृष्टि से ही मेरे विचारों की समीक्षा करना उचित होगा।

अंत में, अपनी इस पुस्तक के निवेदन स्वरूप मेरा विचार अपनी समीक्षा-सम्बन्धी मान्यताओं पर भी विस्तृत प्रकाश डालने का था और हिन्दी-काव्य-मंथन के वक्तव्य में मैंने यह आश्वासन भी दिया था परन्तु कतिपय विवशताओं के कारण यह कार्य संभव न हो सका। इधर लगभग पाँच-छह वर्षों से भाई डॉ० रामचरण 'महेन्द्र' मुझे इस बात के लिए विवश करते रहे हैं कि मैं अपनी किसी पुस्तक की प्रस्तावना-स्वरूप अपने समीक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट करूँ लेकिन यह कार्य संभव न हो सका। कुछ समय पूर्व मेरे परम शुभचिन्तक मित्र व अग्रज स्वरूप डॉ० भगीरथ मिश्र और श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ने भी यही विचार व्यक्त किया था कि मुझे किसी न किसी प्रसंग में अपनी निजी समीक्षा सम्बन्धी मान्यताएँ अवश्य स्पष्ट करनी चाहिए परंतु चूँकि मैं स्वयं अपने किसी प्रयास पर पूर्ण संतोष नहीं कर सका अतः समीक्षा सम्बन्धी मान्यताएँ प्रस्तुत करना भी मेरी दृष्टि में व्यर्थ ही है। यों तो मैंने सन १९५४ में प्रकाशित अपनी

एक पुस्तक 'अनुभूति और अध्ययन' में संकलित अपने एक विस्तृत निबंध 'हिंदी साहित्य-समीक्षा के विविध मानदंड' में विस्तार सहित हिंदी आलोचना सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। साथ ही विगत चार-पाँच वर्षों में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित शुक्लोत्तर समीक्षा: उपलब्धियाँ और सीमाएँ, आलोचक श्री नंददुलारे वाजपेयी, श्री विनयमोहन शर्मा : एक आलोचक के रूप में, श्री रामनाथ 'सुमन' की समीक्षा पद्धति, व्यावहारिक आलोचक बाबूजी नामक निबंधों में तथा डॉ० भगीरथ मिश्र की 'हिंदी रीति-साहित्य' एवं 'काव्य-शास्त्र', डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा की 'कहानी का रचना-विधान', डॉ० नगेन्द्र की 'विचार और विश्लेषण', डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी साहित्य', डॉ० विजयेन्द्र स्नातक की 'समीक्षात्मक निबंध' तथा श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी की 'कवि तानसेन और उनका काव्य' नामक कुछ कृतियों की 'पुस्तक समीक्षा' लिखते समय प्रसंगानुसार मैंने समीक्षा सम्बन्धी अपना दृष्टिकोण भी स्पष्ट कर दिया है लेकिन स्वयं अपनी निजी समीक्षात्मक विचारधारा की 'निकष' को विस्तार-सहित स्पष्ट करने में असमर्थ ही रहा हूँ।

अपने एक भाषण में मैंने कहीं पर कहा था कि हिन्दी साहित्य में समालोचना की जो विविध प्रणालियाँ प्रचलित हैं वे वास्तव में सभी अपने-अपने क्षेत्रों में उपयोगी भी प्रमाणित हो रही हैं लेकिन वर्तमान युग में प्राय: अधिकांश समीक्षकों की समालोचनाओं में इन सभी विविध पद्धतियों का आवश्यकतानुसार सम्मिश्रण सा पाया जाता है और उनकी समीक्षाओं में अन्य सभी आलोचना प्रणालियों के विविध आवश्यक तत्वों का समावेश सा हो जाता है। व्याख्यात्मक दृष्टि से कृतियों का विश्लेषण; मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कवि या कलाकार की मानसिक स्थिति और उसकी कृतियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन; तुलनात्मक दृष्टि से देश तथा काल की सामाजिक एवम् राजनैतिक परिस्थितियों का आलोच्य कलाकार या कृति का पूर्ववर्ती और समसामायिक कलाकारों या कृतियों के साथ तुलनात्मक विवेचन; ऐतिहासिक दृष्टिकोण से तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियों, प्रचलित विभिन्न आदर्शों और उद्देश्यों पर दृष्टिपात; सैद्धांतिक दृष्टि से प्राचीन एव अर्वाचीन सिद्धान्तों के आधार पर किसी भी कृति या कलाकार का मूल्यांकन करते हुए इस प्रकार अपने अध्ययन में व्यापकता एवं समीचीनता लाकर किसी एक निर्णय पर पहुँचना अब प्रत्येक समालोचक का कार्य हो गया है परंतु इन पंक्तियों का लेखक स्वयं अपने सम्बन्ध में यह कैसे कह सकता है कि वह अपनी कृतियों में कहाँ तक व्यापकता एवं समीचीनता ला सका है। हाँ, जहाँ तक किसी विषय पर ज्ञातव्य सामग्री के अनुशीलन का प्रश्न है उसने यही प्रयास किया है कि वह विषय से सम्बन्धित समस्त प्राप्त-सामग्री का अध्ययन कर किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचने का प्रयास करे परन्तु अनेक ऐसे अवसर आए हैं जब कि उसे कई प्रसंगों पर कुछ लिखते समय 'अध्ययन-सामग्री' का नितान्त अभाव भी जान पड़ा लेकिन इन प्रसंगों में उसने स्वतंत्र प्रज्ञा-शक्ति से भी काम लिया है। वह स्वीकार करता है कि उसके तुच्छ प्रयासों का अनेकानेक उदारमना साहित्यकारों, समीक्षकों एवम् विचारकों ने—जिनकी कि एक विस्तृत तालिका दी जा सकती है परन्तु आत्म-प्रशंसा एवं अनावश्यक विस्तार-वृद्धि के भय से जिनका नामोल्लेख यहाँ नहीं किया जा रहा— मुक्तकंठ से सराहना भी की है

लेकिन इधर हाल में जब उसके एक मित्र ने उससे यह कहा कि वह अपनी आलोचना को यथासंभव मौलिक बनाने का प्रयास करे तब वह उनके इस परामर्श—जिसे कि उपदेश भी कहा जा सकता है—पर काफी समय तक विचार करने के पश्चात इसी निष्कर्ष पर पहुँच सका कि 'आलोचना में मौलिकता' नामक विषय किसी 'रिसर्च स्कालर' को सौंपकर उससे यह कहा जाय कि वह इस संबंध में शोध कार्य करे !!!

यदि मेरे मित्र ने मेरी आलोचनात्मक कृतियों में प्रसंगानुसार न्यूनाधिक संख्या में प्रयुक्त अन्य समीक्षकों के उद्धरणों को लक्ष्य कर मेरी समीक्षा को अमौलिक समझ लिया हो तो इस सम्बंध में मैं यह स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ कि मैं अपनी स्थिति प्रायः एक अभिवक्ता—वकील—की सी मानता हूँ और इस प्रकार एक निष्णात अभिवक्ता की ही भाँति मैंने कहीं-कहीं अन्य विचारकों के उद्धरण प्रचुर मात्रा में दिए हैं लेकिन मेरी यह स्थिति सर्वत्र नहीं रही। 'अनुभूति और अध्ययन' के अधिकांश निबंध, सेनापति और उनका काव्य, हिंदी कविता : कुछ विचार, रस-सिद्धान्त और कहानी-कला तथा हिंदी-काव्य-मंथन आदि कृतियाँ इस प्रसंग में उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं। साथ ही इसी पुस्तक के रस-सिद्धांत की दार्शनिक आधार-भूमि और कवि पंत की विचार-धारा शीर्षक निबंधों का भी यहाँ उल्लेख हो सकता है। जहाँ कि कवि पंत की विचार-धारा में मैंने स्वयं को एक अभिवक्ता के रूप में रखा है वहाँ रस-सिद्धांत की दार्शनिक आधार-भूमि में पर्याप्त नवीनता भी है। सच तो यह है कि मेरी कृतियों में व्यापक अध्ययन के स्थान पर किसी भी विषय पर विचार करते समय आलोच्य विषय की अंतरात्मा में प्रविष्ट हो सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों से परिचित होने का प्रयास ही किया गया है।

यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर दूँ कि ईमानदारी कभी भी बुरी नहीं समझी जाती लेकिन यदि हम किसी के माल को अपना कह कर बाजार में लाएँ तो यह कहाँ तक न्याय संगत हो सकता है परन्तु आश्चर्य तो मुझे अपने उन उदारमना समीक्षकों पर है जिनकी की दृष्टि इस ओर नहीं जाती। नए लेखकों की तो बात ही क्या है मैंने कुछ ऐसे प्रसिद्ध लेखकों की कृतियाँ भी देखी हैं जिनमें कि पृष्ठ के पृष्ठ अनुच्छेद के अनुच्छेद जरा कुछ अंतर के साथ नकल कर लिए गए हैं और वह पुस्तकें विश्वविद्यालय की उच्च परीक्षाओं के पाठ्य क्रम में भी हैं तथा कभी-कभी शोधग्रंथों के प्रणयन कार्य में भी इनका नाम 'सहायक ग्रंथ सूची' में आता है परन्तु इनमें जो 'दूसरों का धन है' उस पर किसी की दृष्टि नहीं जाती। यहाँ कुछ उदाहरण देना असंगत न होगा।

स्मरण रहे हिंदी के एक प्रतिष्ठित प्रकाशक के यहाँ एक कवि-विशेष पर कतिपय सुपरिचित विचारकों के निबंधों का एक संकलन एक सुयोग्य सम्पादक के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है और जिस समय इन पंक्तियों के लेखक ने उसका अध्ययन किया तब वह यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि इनमें से एक तथाकथित प्रसिद्ध साहित्यकार ने तो इसी विषय पर प्रकाशित एक सुप्रसिद्ध समीक्षक की पुस्तक से वाक्य के वाक्य-सम्पूर्णतः कई अनुच्छेद—बिना किसी आभार-प्रदर्शन के अपने नाम पर दे दिए हैं तथा उस निबंध को पढ़कर यही भ्रम होता है कि उसके लेखक वे स्वयं ही हैं जबकि वास्तविकता कुछ और ही है। यदि 'आलोचना में मौलिकता' यही है कि हम दूसरों के वाक्यों को कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ अपने नाम से दे दें तो फिर इस मौलिकता से अमौलिकता ही अधिक श्रेष्ठ है !! इस प्रसंग में यहाँ मैं यह उल्लेख करना भी आवश्यक समझता हूँ कि सुपरिचित समीक्षक डॉ० विनयमोहन शर्मा ने कुछ वर्षों पूर्व दक्षिण हैदराबाद से प्रकाशित होने वाली 'अजन्ता' तथा 'कल्पना' नामक मासिक पत्रिकाओं में

प्रकाशित अपने एक पत्र में यह स्पष्ट किया था कि किस प्रकार हिंदी के एक सुपरिचित लेखक (जो कि एक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में प्राध्यापक भी रहे हैं और अब डॉक्टरेट भी प्राप्त कर चुके हैं) ने उनके 'कृष्णायन और अवधी भाषा' नामक एक प्रकाशित निबंध का बहुत सा अंश अपनी एम० ए० की 'थीसिस' में अपने नाम से दे दिया है। इस प्रकार के उदाहरणों की कुछ कमी नहीं है अतः केवल किसी विचारक के उद्धरणों को देने के कारण किसी कृति को अमौलिक कह देना बुद्धि-भ्रम ही माना जाएगा ? इस स्पष्टीकरण के साथ-साथ मैं यह कह देना भी उचित समझता हूँ कि कभी-कभी कुछ ऐसे छिद्रान्वेषी भी मिलते हैं जो किसी भी कृति का सांगोपांग न सही तो थोड़ा-बहुत अध्ययन किए बिना ही विचार व्यक्त करने लगते हैं। आश्चर्य तो उन लोगों पर उस समय अधिक होता है जब कि मैं यह देखता हूँ कि आलोच्य कृति का वक्तव्य भी वे नहीं पढ़ते और मनचाहा आरोप लगा बैठते हैं। 'दोष-दर्शन' की प्रवृत्ति निन्दनीय नहीं है पर हमें चन्द्रमा के कलंक पर दृष्टिपात करते समय यह न भूल जाना चाहिए कि उसमें सुधा-कण भी हैं और फूल में काँटे ही नहीं सुगंधि भी होती है। मेरी एक कृति का लेखकीय निवेदन पढ़े बिना ही एक महोदय ने उस पर भद्दे आरोप लगाये और भक्तिकाव्य के मूल स्रोत को सर्वथा 'अपहृत सामग्री' के नाम से सम्बोधित किया परन्तु प्रमाणरूप में उनके पास कहने को कुछ भी न था और सम्भवतः उन्हें यह स्मरण न रहा कि आलोचनात्मक कृतियों में जो सामग्री दी जाती है उनके भी स्रोत होते हैं तथा जब तक हम उन स्रोतों का मूल रूप में पता नहीं लगा लेते तब तक किसी को भी 'जूठन' कहना अपने 'बुद्धि-भ्रम' का परिचय देना ही है। संभवतः इसीलिए इस प्रकार की प्रवृत्ति को हमारे यहाँ शोभनीय नहीं समझा जाता और गंभीर व उच्च विचारवाले साहित्यकार 'संत हंस गुन पय गहहिं परिहरि वारि विकार' का दृष्टिकोण रखकर ही किसी भी कृति व कृतिकार का मूल्यांकन करते हैं।

इन पंक्तियों के साथ अब मैं अपना यह 'आत्मकथन' समाप्त कर रहा हूँ और मुझे आशा है कि इसमें मेरी समीक्षा संबंधी मान्यताएँ कुछ अंशों में अवश्य झलक उठती होंगी और इन पंक्तियों से मेरे लेखकीय विकास-क्रम का संक्षिप्त परिचय भी मिलता होगा। साथ ही मैं यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरा विचार कभी भी अपने संबंध में कुछ भी लिखने का न था और अभी तक मेरी जितनी कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं उनमें से किसी में भी मैंने कभी भी इतनी बड़ी भूमिका नहीं लिखी है तथा आत्म-विज्ञापन से मैं सर्वथा दूर रहा हूँ पर संभवतः इस बार 'स्व' के सम्बंध में कुछ लिखना इतना अधिक आवश्यक जान पड़ा कि मैं अपने संबंध में इतना अधिक लिख गया। यदि आत्म-विज्ञप्ति के मोह से मैं पूर्णतः विरत हो गया होता तो संभवतः मैं कुछ भी न लिख पाता और तब तो उन छिद्रान्वेषियों की बन आती जिनके संबंध में ड्रायडन (J. Dryden) ने उचित ही कहा है "कुछ प्रमादी और मंदगति लोग ऐसे भी होते हैं जो किसी वाचिक भूल-चूक पर भी बड़ा कोलाहल मचाते हैं।"

लखनऊ;
दुर्गानवमी;
सं० २०१८ वि०

दुर्गाशंकर मिश्र

विषय-सूची

विषय पहला खंड पृष्ठ संख्या

चिन्तन

१ निबंध : स्वरूप-विश्लेषण और प्रकार-वैविध्यता १७-३६

२ रस-सिद्धांत की दार्शनिक आधार-भूमि ३७-५३

३ आलोचना की विभिन्न प्रणालियाँ ५४-६६

४ कहानी में कथा-तत्त्व ६७-१०१

५ गोरखनाथ और उनकी योग-साधना १०२-१२०

६ अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक: शंकर और रामानुज १२१-१३३

७ महाराष्ट्र का महानुभाव पंथ और उसका साहित्यिक योगदान १३४-१५०

दूसरा खंड

विवेचन

८ संस्कृत के महाकाव्य १५१-१५९

९ महर्षि व्यास की काव्य-सुषमा १६०-१७०

१० कालिदास का सौन्दर्य-वर्णन १७१-१७६

११ उत्तर रामचरित में नाटकीय तत्त्व १७७-१८५

१२ गीतिकाव्य और उसकी परम्परा १८६-१९६

१३ सूर-काव्य की विशिष्टताएँ १९७-२१६

१४ महाकवि पद्माकर की भाषा २१७-२२२

१५ प्रियप्रवास में प्रकृति-चित्रण २२३-२३५

१६ आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और प्रेमचंद की 'गबन' २३६-२४३

१७ कवि पंत की विचारधारा २४४-२५३

१८ निबंधकार शुक्ल जी और उनकी चिंतामणि २५४-२९२

तीसरा खंड

मूल्यांकन

१९ तमिल साहित्य की मीरा : आंडाल २९३-२९६
२० मराठी काव्य साहित्य के वाल्मीकि: संत ज्ञानेश्वर २९७-३०३
२१ बिहारी का भाषा-सौन्दर्य ३०४-३१४
२२ हिन्दी की पहली कहानी ३१५-३२१
२३ सेठ गोविन्ददास की नाट्य-कला ३२२-३२८
२४ श्री नंददुलारे वाजपेयी की समीक्षा-पद्धति ३२९-३३७
२५ कवि अंचल का 'विराम चिन्ह' ३३८-३४४

चौथा खंड

रस-ग्रहण

२६ आँसू का पहला छंद ३४५-३५१

पाँचवाँ खंड

विविध

२७ तमिल प्रदेश के प्राचीन बारह वैष्णव भक्तों पर एक दृष्टि ३५२-३६२
२८ मुगलकालीन उद्यान-कला ३६३-३६८
२९ युग-युग से साहित्य को परिप्लावित करनेवाली पतित पावनी गंगा ३६९-३७६
३० संत: व्युत्पत्ति और महिमा ३७७-३८५

* * *

चिन्तन

निबंध : स्वरूप-विश्लेषण और प्रकार-वैविध्यता

निबंध का महत्व

यद्यपि आधुनिक युग में 'निबन्ध' गद्य-साहित्य की एक विधा के रूप में स्वीकृत है लेकिन संस्कृत में तो पद्यमयी रचना भी निबन्ध के अन्तर्गत आ जाती थी[1] और यही कारण है कि 'सरस्वती' मासिक-पत्रिका के सम्पादन-काल तक संस्कृत से विज्ञ हिन्दी के विद्वान साहित्यकार तक गद्य और पद्य दोनों ही शैलियों में लिखी गयी कृतियों को निबन्ध कहते थे।[2] परन्तु आधुनिक हिन्दी-निबन्ध-साहित्य संस्कृत की उस प्राचीन परम्परा से सर्वथा भिन्न है और डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में "निबन्ध-रचना केवल खड़ी बोली की विशेषता हैं। खड़ी बोली गद्य के लिए उन्नीसवीं शताब्दी और उसमें भी निबन्ध-रचना की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी का उत्त-

---

[1] यदक्षपादः : प्रवशे मुनीनां कामाय शास्त्रं जगतो जगादः।
कुतार्किका ज्ञान निवृत्ति हेतुः करिष्यते तस्य मा निबन्धः॥

—श्री भारद्वाजोद्योतकर कृत न्याय वार्तिक, श्लोक १

[2] "उसमें (सरस्वती में) भिन्न-भिन्न लेखकों के हिंदी पद्यमय अच्छे अच्छे निबन्ध छपते हैं।"

—समालोचक, भाग १, अंक ४ (सन् १९०२)

रार्ध महत्वपूर्ण है। × × × इस दृष्टि से निबंध हिन्दी साहित्य का नितान्त आधुनिक रूप है।[1] इस प्रकार निबन्ध को गद्य-साहित्य के अन्तर्गत ही मानना चाहिए और आचार्य शुक्ल के शब्दों में यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।[2] यहाँ यह स्मरणीय है कि गद्य का विभाजन उपन्यास, कहानी, निबंध, समालोचना, जीवनी, गद्य-काव्य एवं पत्र नामक सात भागों में किया जाता है, परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निबंध में ही गद्य का निजी रूप दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि साहित्य की अन्य विधाओं में तो गद्य की भाषा एक माध्यम मात्र है, लेकिन निबन्ध में तो वह अपनी पूर्ण शक्ति एवं सजधज के साथ व्यक्त होती है। उपन्यास की श्रेणी में साधारणत: उस सम्पूर्ण कथा साहित्य को रखा जाता है जिसका आधार कल्पना प्रसूत होता है तथा जो कि गद्य के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। कहानी में तो उपन्यास की अपेक्षा आकार की संक्षिप्तता एवं काव्यत्व तथा लेखक के व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है। इसी प्रकार जीवनी इतिहास एवं उपन्यास के मध्य की वस्तु है तथा उसमें व्यक्ति के अन्तर और बाह्य-स्वरूप का कलात्मक निरूपण रहता है। यह अवश्य है कि साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा पत्रों में व्यक्तित्व का अधिक पुट रहता है और पत्र-लेखक को संक्षिप्त शब्दावली में ही अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन कर भाव-ग्राहक की भावनाओं को प्रभावित करने का सर्वदा ध्यान रखना पड़ता है। गद्य-काव्य एक इस प्रकार का काव्यात्मक गद्य है जिसमें भाव एवं अनुरंजन करनेवाली काव्य-प्रधान शैली का अवलम्ब काव्य की भाँति होता है और रचयिता को एक निश्चित लक्ष्य की ओर अपनी धुन में लीन हो स्वच्छंद रूप से विचरण करना पड़ता है, अत: उसे विषयान्तर का कोई अवसर ही नहीं मिल पाता। निबन्ध और समालोचना में बहुत कुछ अंशों में सदृश्यता सी है क्योंकि किसी भी साहित्यिक ग्रंथ या विषय का अनुशीलन कर उसके गुण-दोषों की मीमांसा कर उसके विषय में अपनी सम्मति प्रकट करना ही समालोचना है, जब कि निबन्धों में उक्ति-वैचित्र्य एवं रूप-विधान को अधिक महत्व न देकर विचारों की अपेक्षा भावों की अधिक प्रधानता रखी जाती है और इस प्रकार उसमें विषय-प्रतिपादन के साथ लेखक का व्यक्तित्व भी निहित रहता है। वस्तुत: इस व्यक्तिगत अनुभूति के कारण ही निबंधकार वैज्ञानिक एवं तत्त्वचिंतक से भिन्न हो जाता है और जैसा कि श्री जयनाथ 'नलिन' का कथन है "निबंध व्यक्ति की मानसिक चेतना और भावात्मक अनुभूति का लिखित रूप है और जन-विकास का यथार्थ पत्रक भी! निबंध किसी देश की जन-सत्तात्मकता विचार-स्वातंत्र्य और उदार सामाजिकता का लेखा है। × × × निबंध राजनीतिक और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में व्यक्तिवाद या जनसत्ता का सबसे बड़ा हिमायती भी है और इनका अमृतफल भी। × × × लेखक और पाठक के बीच निबंध सबसे छोटा, सरल और सीधा राजपथ है। निबंध में तो वह एक साथी के समान पाठक के सामने हृदय खोल कर रखता है और पाठक सीधे और सही रूप में लेखक का परिचय पाता है। निबंधकार उपदेश नहीं देता, वह बिना छिपाये अपनी बात कहता है। निबंध में केवल लेखक की अपनी निजी अनुभूतियाँ, विचार और

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (पृष्ठ १४८)

२. हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (पृष्ठ १०५)

भावनाएँ रहती हैं, इसलिए उसे पहचानने में देर नहीं लगती । निबंध के द्वारा ही लेखक अपने पाठक के सामने यथार्थ रूप में बैठता है । × × × निबंध में व्याख्यान का प्रभाव, वक्तृता की मर्यादा, तर्क का बल, और पारस्परिक वार्तालाप का आनन्द निहित है । निबंध में गद्य के सम्पूर्ण बल, तीव्रतम प्रवाह, अमिट प्रभाव, शरीर संकोच और अर्थ-विस्तार की परख होती है । निबंध गद्य को अधिक से अधिक प्राणवान बनाता है । निबंध किसी भी साहित्य के गद्य-विकास का मापदंड है ।"[१]

निबंध की परिभाषा और तत्त्व

चूँकि विविध आचार्यों और समीक्षकों ने निबंध की अनेक परिभाषाएँ निश्चित की हैं तथा समय की गति के साथ-साथ उनमें परिवर्तन भी होता रहा है, अतः अभी तक उसकी कोई उपयुक्त परिभाषा निर्धारित नहीं हो सकी तथा जे० वी० प्रीस्टले की इस प्रकार की परिभाषा—'निबंध वह साहित्यिक रचना है जिसे एक निबंधकार ने रचा हो'—के समान ही परिभाषाओं की अधिकता है । स्मरण रहे आप्टे द्वारा रचित संस्कृत कोश में निबंध के—(१) बाँधना, जोड़ना (२) लगाव, आसक्ति (३) रचना, लिखना (४) कोई साहित्यिक टीका या कृति (५) संग्रह (६) संयम, बाधा, रोक (७) मात्रावरोध (८) शृंखला (९) सम्पत्ति का दान, पशुओं का यूथ या द्रव्य का भाग, किसी की सहायता के लिए बाँध देना (१०) निश्चित धन (११) नींव, उत्पत्ति और (१२) कारण-हेतु नामक बारह अर्थ किए गए हैं । यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि निबंध शब्द के प्रयोग की भी बड़ी अव्यवस्था है और इस प्रकार निबंध, प्रबंध तथा लेख—तीनों को समानार्थवाची मान लेने की त्रुटि भी बहुधा की जाती है । वस्तुतः निबंध और प्रबंध के शाब्दिक अर्थों में वैषम्यता-सी है तथा जैसा कि श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी ने लिखा है—"किसी प्रकार के बंधन को न स्वीकार करने वाला साहित्यिक गुम्फन निबंध कहलाना चाहिए और विशेष प्रकार के बंधनों के अनुसार की गई साहित्यिक रचना को प्रबंध के नाम से पुकारना चाहिए ।"[२] वस्तुतः प्रबंध शब्द संस्कृत साहित्य में किसी विस्तृत सुबद्ध और व्यापक रचना के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा उसका मौलिक अर्थ संबद्ध कथा अथवा विषय को प्रस्तुत करने वाले लेख से समझा जाता था । लेकिन आधुनिक युग में वह किसी विषय का प्रतिपादन करनेवाली विस्तृत रचना के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और उसे कभी-कभी अँग्रेजी शब्द ट्रीटाइज (Treatise) के अर्थ में तथा कभी-कभी थीसिस (Thesis) के अर्थ में भी प्रयुक्त कर उन शब्दों का समानार्थी बनाने का प्रयास भी किया जाता है । कतिपय पाश्चात्य समीक्षकों का यह भी विचार है कि जब निबंध में दुरूहता आती है तथा अध्ययन-प्रसूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है, तब वह निबन्ध न रह कर प्रबंध का रूप धारण कर लेता है । श्री० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'वाङ्‌मय विमर्श' नामक अपनी कृति में इस अंतर को पूर्णतः स्पष्ट करने का प्रयास भी किया है और उनका विचार है कि प्रबंध विस्तार से लिखा जाने वाला लेख है जिसमें प्रतिपाद्य विषय प्रधान होता है, व्यक्तित्व की योजना नाममात्र की होती है ।

---

[१] **हिंदी निबन्धकार—श्री जयनाथ 'नलिन' (पृष्ठ १-२)**

[२] **बुद्धि-तरंग—श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी (पृष्ठ १)**

निबंध अपेक्षाकृत छोटी रचना होती है। इसमें व्यक्तित्व अपनी झलक देता चलता है। प्रबंध में वैसी कसावट नहीं होती जैसी निबन्ध में। निबन्ध में बंध निगूढ़ होता है, भाषा ऐसी होती है कि शब्दों का परिवर्तन सम्भाव्य नहीं जान पड़ता।"[1] स्मरण रहे 'लेख' शब्द अँग्रेजी के (Article) शब्द के अनुरूप ही अर्थ रखता है तथा किसी भी सामयिक पत्र-पत्रिका में एक लेखक के विचारों का जो प्रकाशन एक स्वतंत्र रचना के रूप में होता है उसे ही लेख की संज्ञा दी जाती है। श्री गंगाबख्श सिंह के शब्दों में "लेख किसी भी विषय पर हो सकता है; लेख में लेखक का ध्यान विषय-प्रतिपादन की ओर अधिक रहता है। प्रतिपादन विषय सम्बंधी विचारों को सीधी तरह से लेखक प्रकाशित करता जाता है, साहित्यिकता अथवा चमत्कार उत्पन्न कर पाठक को प्रभावित करने की ओर उसका ध्यान रहना आवश्यक नहीं। इसके विपरीत निबंधकार अपने और पाठकों के बीच के दुराव को मेट कर तादात्म्य सम्बंध स्थापित करने का प्रयत्न करता है। एक बात और है कि लेख जब तक पत्र-पत्रिकाओं में सामयिक साहित्य के रूप में रहता है, लेख है; परन्तु जब वही लेख किसी पुस्तक में संगृहीत किया जाता है तो निबन्ध की संज्ञा प्रदान की जाती है। लेख शब्द का प्रयोग निबन्ध की अपेक्षा व्यापक अर्थ में होता है।"[2] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि निबन्ध के स्थान में लेख शब्द का प्रयोग समीचीन नहीं है। इधर कतिपय विचारकों ने 'संदर्भ' शब्द का प्रयोग निबंध के अर्थ में किया है और श्री अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अपने निबंध-संग्रह का नामकरण 'संदर्भ-सर्वस्व' किया है तथा पुस्तक की भूमिका में उन्होंने संदर्भ शब्द की व्याख्या भी की है। वस्तुतः सम्बद्ध रचना ही संदर्भ है और इस प्रकार 'संदर्भ' शब्द को निबन्ध का पर्यायवाची नहीं मानना चाहिए क्योंकि निबंध में सम्बद्धता के साथ-साथ आकार की संक्षिप्तता, प्रभावपूर्ण एवं मनोरंजक शैली को भी प्रधानता दी जाती है। इसी तरह निबन्ध शब्द के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'रचना' शब्द को भी निबंध का पर्यायवाची नहीं माना जा सकता[3] कारण कि रचना एक बहुत ही व्यापक

---

[1] वाङ्मय विमर्श—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र (पृष्ठ ७१)

[2] द्विवेदीयुगीन निबन्ध साहित्य—श्री गंगाबख्श सिंह एम. ए. (पृष्ठ १०-११)

[3] "रचना शब्द से किसी निश्चित अर्थ का बोध नहीं होता। इसके अन्तर्गत वह सब लिखित सामग्री आ सकती है, जो रचयिता द्वारा प्रस्तुत की जाय। इस दृष्टि से इसकी सीमा विस्तृत हो जाती है, तथा इसका प्रयोग वाङ्मय के सब रूपों के लिए किया जा सकता है। लेखकों ने 'गद्य-रचना', पद्य-रचना जैसे शब्दों का प्रयोग व्यापक अर्थ में यथावसर किया भी है। 'रचना' शब्द का प्रयोग केवल 'निबंध' के अर्थ में हुआ हो ऐसा नहीं लगता। शिक्षा-संस्थाओं में विद्यार्थियों को भाषा का शुद्ध ज्ञान देने तथा सफल विचाराभिव्यक्ति के लिए उनको रचना-शक्ति में निपुण बनाने के लिए रचना का अभ्यास कराया जाता है। इसके लिये यह आवश्यक माना जाता है कि उनकी शब्द-योजना और वाक्य-योजना व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध तथा अर्थ का पूरा बोध कराने वाली हो। रचना के समकक्ष अँगरेजी का (composition) शब्द है जिसमें विषय तथा प्रतिपादन शैली की अपेक्षा वाक्यों के शुद्ध अशुद्ध रूप तथा व्याकरणिक नियमों के पालन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। Webster's New International Dictionary में composition

शब्द है और उसका प्रयोग गद्य तथा पद्य दोनों के ही लिए होता है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि भारतीय तथा अभारतीय दोनों ही साहित्य ग्रंथों में आजकल निबन्ध, प्रबन्ध और लेख नामक शब्दों का प्रयोग गद्य-रचना के ही लिए होता था, परन्तु पहले इस प्रकार का कोई बंधन न था और पद्य तक भी उनका विस्तार था तथा संस्कृत साहित्य में तो निबन्ध और प्रबंध का प्रयोग किसी मौलिक कृति के लिए होता था।[1] स्मरण रहे रचना शब्द अँग्रेजी के कम्पोजीशन (Composition) के अधिक निकट है और निबंध (Essay) के, अतः रचना में व्याकरणीय नियमों के पालन तथा शब्दों के शुद्ध एवं उचित प्रयोग पर ही बल दिया जाता है जब कि ठीक इसके विपरीत निबंध में विषय का प्रतिपादन तथा आत्माभिव्यक्ति को प्रधानता दी जाती है और वास्तविकता तो यह है कि विद्यार्थियों को 'गद्यरचना' में निपुण बनाने के हेतु ही 'रचना' का अभ्यास कराया जाता है। इस प्रकार निबंध एक सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता है जब कि रचना एक व्यापक अर्थ में अतः निबंध के लिए 'रचना' शब्द का प्रयोग उचित नहीं है।

वस्तुतः संस्कृत शब्द निबंध का शाब्दिक अर्थ बाँधना है और इस प्रकार निबंध वह है जिसमें निःशेष रूप से बंध या संगठन हो। नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' में तो बाँधना शब्द का यही अर्थ दिया गया है—'बंध वह व्याख्या है जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो, परन्तु आधुनिक काल में निबंध का प्रयोग जिस अर्थ में हो रहा है, वह पूर्ववर्ती अर्थ से सर्वदा भिन्न है, क्योंकि निबंध-साहित्य की आधुनिकतम रूप में कल्पना हमारे साहित्य

की व्याख्या इस प्रकार दी गई है—A literary product showing study and care in arrangement, often used of an essay of translation done as an educational exercise. निबन्ध से साहित्य के जिस रूप को ग्रहण किया जाता है उसका पूरा अर्थ-बोध 'रचना' तथा composition शब्दों द्वारा नहीं होता। × × × निबन्ध भाषा के अतिरिक्त विषय को भी प्रधानता देता है। रचना व्यापक शब्द है और निबन्ध अपेक्षतया सीमित। अतः वर्तमान 'निबन्ध' के अर्थ में 'रचना' शब्द का प्रयोग समीचीन नहीं।"

—हिन्दी साहित्य में निबंध—प्रो. ब्रह्मदत्त शर्मा (पृष्ठ ७)

[1] देखिए—

यदन पादः प्रवरो मुनीनां,
कासाय शास्त्रं जगतो जगादः।
कुतार्किका ज्ञान निवृत्ति हेतुः,
करिष्यते तस्यभा निबन्धः॥

—श्री भरद्वाजोद्योत कर कृत न्याय-वार्तिक, श्लोक १

और भी—

बन्हपि स्वेच्छया कामं प्रकीराभिनिधीयते।
अनुज्झितार्थ सम्बन्धो प्रबन्धो दुरुदाहरः॥

—माघ कृत शिशुपाल वध, सर्ग २, श्लोक ७३

में पाश्चात्य—विशेषतः अँग्रेजी—साहित्य के सम्पर्क से आई है और वह अँग्रेजी के एस्से (Essay) से सर्वाधिक प्रवाहित है। स्मरण रहे अँग्रेजी 'एस्से' भी प्राचीन उत्तरी फ्रांसीसी शब्द 'एसाई' से निकला है और उसका अर्थ है—प्रयत्न अर्थात् किसी भी विषय पर गद्य में छोटी साहित्यिक रचना; और संभवतः इसीलिए डॉ० मूरे के कोश में ऐसे की यही परिभाषा दी गई है—'जिसमें किसी भी विषय का पूर्णत्व से विचार किया गया है, ऐसे किसी भी आकार का अपूर्ण लेखन।' स्मरण रहे योरोप में निबंध-साहित्य के जन्मदाता फ्रांसीसी लेखक मौण्टेन (Montaigne) ने इस शब्द का 'प्रयत्न' अर्थ में ही प्रयोग किया है और उसका विचार है कि "निबंध विचारों, उद्धरणों और कथाओं का मिश्रण है।"[१] चूंकि मौण्टेन के अनुसार निबंध साहित्य की वह विधा है जिसमें लेखक के आत्म-प्रकाशन का प्रयास मात्र रहता है अतः स्वयं उसके निबंधों में सम्बद्धता का अभाव-सा है, क्योंकि कल्पना की लगाम ढीली कर देने के कारण उसके विचार स्वाभाविक विचार-श्रृंखला का अनुकरण करते हैं और इस प्रकार उसके निबंध कल्पनाशील मन के विचरण मात्र हैं। स्वयं मौण्टेन ने अपने निबंधों के विषय में कहा है कि 'अपने निबंधों का विषय मैं ही हूँ। ये निबंध अपनी आत्मा को दूसरों तक पहुँचाने का प्रयास मात्र हैं। इनमें मेरे ही निजी विचार और कल्पनाएँ हैं, कोई नवीन खोज नहीं।'[२] मौण्टेन की इसी विचारधारा को लक्ष्य कर एडीसन ने उसे विश्व का सर्वश्रेष्ठ आत्मवक्ता माना है (The most eminent egoist that ever appeared in the world was Montaigne.) यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अँग्रेजी के सुप्रसिद्ध समीक्षक व निबंधकार डॉ. जानसन की परिभाषा में भी निबंध को असंगठित, अपूर्ण और अव्यवस्थित मन का विचरण ही कहा गया है तथा इस प्रकार उनका विचार है कि निबंध मन की ऐसी विश्रृंखल विचार-तरंग है जो अनियमित और अपच है।'[३] स्मरण रहे लार्ड फ्रांसिस बेकन जिसे कि अंग्रेजी साहित्य में निबंध का जन्मदाता माना जाता है निबंध को विभिन्न अर्थ में लेता है और इस तरह वह उसे 'विकीर्ण चिन्तन' के रूप में ग्रहण करता है।[४] क्रेबल (crable) का विचार है कि निबंध

---

1. Essay is a modley of reflection, quotation and anecdotes.
2. I am the subject of my essays because I myself am the only person, whom I know thoroughly.
3. A loose sally of mind and irregular undigested piece not a regular and orderly performance.
4. To write just treaties, requireth, leisure in the writer, and leisure in the reader and therefore are not so fit, neither in regard of your highness princely affairs, nor in regard of my continual service, which is the cause that hath made me choose to write certain brief notes set down rather significantly than curiously, which I have called *Essays.* The word is late, but the thing is ancient, for Seneca's epistles to Lucilius, is you mark them well are but essays, that is *dispersed meditations,* though conveyed in the form of epistles.

—Bacon to Prince Henry--Dictionary of English, Richardson, Vol. 1, 709.

29417

लेखन-कला का बहुत प्रिय साधन है। जिस लेखक में प्रतिभा और ज्ञान-वृद्धि की जिज्ञासा का अभाव है उसे भी वह अनुकूल प्रतीत होता है और वह उस पाठक को अधिक रुचिकर लगता है जो विविधता तथा हल्की रचना में आनंद लेता है।[१] यद्यपि मौण्टेन, बेकन और जानसन की परिभाषाओं में निबंध की पूरी परिभाषा या पूर्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता लेकिन इतना अवश्य है कि उसमें उसके प्रारंभिक रूप का आभास अवश्य होता है परन्तु विद्वानों को ये परिभाषाएँ दोष से मुक्त प्रतीत नहीं हुई[२] और इस प्रकार उन्होंने उसकी कई अनेक परिभाषाएँ भी निर्धारित कीं। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका का विचार है कि निबंध एक सामान्य कलेवर की अधिकांशतः गद्य में लिखी वह रचना है जिसमें किसी विषय का सरल चलताऊ निरूपण होता है तथा जो विशेषतः केवल उसी विषय से सम्बद्ध है जिसका कि लेखक पर जैसा प्रभाव पड़ता है।[3] एक अन्य स्थान पर भी उसकी परिभाषा निर्धारित करते हुए कहा गया है कि 'निबंध वह रचना है, जिसमें किसी बात को सिद्ध करने अथवा उदाहरणों द्वारा प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया जाता है और जो सामान्यतया एक प्रबंध की अपेक्षा संक्षिप्त और कम व्यवस्थित एवं पूर्ण होती है।'[४] सुपरिचित अँग्रेजी समीक्षक हडसन और मिटिल्डन मरे ने तो निबंध के आकार और विवेचन में संकोच पर बल देते हुए उसमें आनुपातिक संक्षिप्तता और पूर्णता के अभाव को आवश्यक कहा है। हडसन ने रचयिता के चिन्तन और चरित्र-चित्रण को अधिक महत्व दिया है अतः इससे 'निबंध में व्यक्तित्व' का आभास होता है। हडसन ने जो 'पूर्णता के अभाव' की ओर संकेत किया है उसका अर्थ सहसा समाप्ति ही है जिससे कि पाठक के चिंतन और राग को आकस्मिक आघात सा लगे। हडसन ने निबंध के वर्ण्य विषयों की ओर संकेत करते हुए कहा है कि सभी विषय निबंध की अधिकार सीमा में हैं।[५] हर्बट रीड का विचार है कि निबंध किसी का जीवनवृत्त या आलोचनात्मक विश्लेषण नही होता, न ही यह इतिहास होता है और न ही एक प्रबंध इसमें किसी विषय का व्यक्तिगत विश्लेषण तो होता है, परंतु

---

1. The essay is a most popular mode of writing. It suits the writer, who has neither talent nor inclination to persue his enquiries further and generally the readers who are amused with variety and superficiality.
2. The Encyclopaedia Britannica, 14th Edition; Vol. 8, P. 716.
3. The essay is a composition of moderate length, usually in prose, which deals in an easy cursory way with a subject, and in strictness with that subject only, as it effects the writer.
   —*The Encylopaedia Britannica, 14th Edition, Vol 8, P. 716.*
4. Essay is a composition in which something is attempted to be proved or illustrated usually shorter and less methodical and finished then a systematic and formal treatise, so that it may be a short disquistition on a subject of taste, philosophy or common life.
   —*The New Gresham Encyclopaedia Vol. 12, P. 293.*
5. The essay then may be regarded roughly as a composition or any topic, the chief native feathers of which are comparative want of exhaustiveness.

आत्मीयता के रूप में नहीं, वह विषयगत तो होता है परन्तु विवेचनात्मक नहीं होता।[1] डब्ल्यू ई० विलियम्स ने भी 'ए बुक आफ इंगलिश एसेज' की भूमिका में निबंध की परिभाषा निश्चित करते हुए कहा है—'स्वल्पतम परिभाषा निबंध की यह है कि वह गद्य-रचना की एक ऐसी विधा है जो आकार में बहुत ही लघु होती है और उसमें केवल वर्णन ही नहीं होते। अपनी बात को प्रमाणित करते हुए कभी-कभी निबंधकार प्रसंगों का आश्रय ले सकता है, उपन्यासकार की भाँति पात्र-सृष्टि भी कर सकता है, लेकिन उसका मूल उद्देश्य कथा कहना नहीं, अपितु उसका मुख्य कार्य सामाजिक, दार्शनिक, आलोचक या टिप्पणीकार जैसा होता है।' इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य साहित्य में निबंध सम्बन्धी परिभाषाओं की अधिकता-सी है और वास्तव में निबंध की कोई एक वैज्ञानिक परिभाषा देना अत्यंत दुस्तर कार्य है। परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो 'आक्सफोर्ड डिक्शनरी' में दी गई निवंध की परिभाषा को उपयुक्त कहा जा सकता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि उसमें निबंध के आधुनिक रूप का भी ध्यान रखा गया है; देखिए—"निबंध किसी विषय विशेष अथवा किसी विषय के अंश पर लिखी गई साधारणतः विस्तार वाली रचना है; जिसमें आरंभ में अपरिपूर्णता की भावना निहित रहती थी, लेकिन अब उसका प्रयोग एक ऐसी रचना के लिए होता है, जिसकी परिधि सीमित होने पर भी शैली प्रायः प्रौढ़ एवं परिमार्जित होती है।"[2]

स्मरण रहे पाश्चात्य जगत की भाँति भारतीय साहित्य में भी निबंध विषयक परिभाषाओं की विभिन्नता-सी है और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संस्कृत ग्रंथों में निबंध की व्याख्या 'निबंध्नातीति निबंधः'[3] अर्थात् जो बाँधता है, वही निबंध है नामक की गई है; परन्तु हमारे हिन्दी समीक्षकों ने निवंध की परिभाषा निर्धारित करने की ओर बहुत दिनों तक कोई ध्यान नहीं दिया और जहाँ कहीं ऐसा प्रयास किया गया है वहाँ अँग्रेजी शब्दावली का आधार ले निबंध की विशेषताओं का उल्लेख-मात्र किया गया है। इसीलिए स्वयं आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी हरवर्ट रीड के विचारों के अनुरूप ही निबंध की चर्चा करते हुए लिखा है—"संसार की हर एक बात और सब बातों से सम्बद्ध है। अपने-अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्ध सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये सम्बन्ध सूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्रों के भीतर की नसों के समान चारों ओर एक जाल के रूप में फैले रहते हैं। तत्त्वचिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी

---

1. "........Essay gives not a biography nor a critical enalysis nor a history nor a tretise. It is personal in its approach, but not intimate, objective rather than discursive."

2. An essay is a composition of moderate length on any particular subject or branch of a subject originally implying want of finish, but now said of a composition more or less elobrate in style, though limited in range.

   —*A New Oxford English Dictionary, Vol III, P. 293.*

३. शब्द कल्पद्रुम: स्यार राजा राधाकांतदेव बहादुरेण विरचितः द्वितीय काण्ड, सन् १८१४ ई०; पृष्ठ ८८४

कुछ सम्बन्ध सूत्रों को पकड़ कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्यौरे में कहीं नहीं फँसता; पर निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता रहता है, यही उसकी अर्थ सम्बन्धी विशेषता है।"[1] साथ ही डॉ० श्यामसुन्दरदास ने भी अपने 'साहित्यालोचन' नामक ग्रंथ के निबन्ध वाले प्रकरण में निबन्ध की परिभाषा देने का प्रयास नहीं किया और केवल यही लिखा है कि "प्राचीन निबन्ध एक प्रकार से विज्ञान की विश्लेषणात्मक कोटि में रख दिए गए। साहित्य की रसात्मकता का उनमें बहुत कुछ अभाव रहा। न तो उनमें व्यक्तित्व की कोई चमत्कारपूर्ण मुद्रा दिखाई दी और न उनमें भावनाप्रधान शैली का समावेश ही हो पाया।"[2] डॉ० सूर्यकांत शास्त्री का विचार है कि "निबन्ध एक प्रकार का स्वगत भाषण है। स्वगत भाषण में पाठक के ध्यान का वश में रखना कठिन होता है। एक निबन्धकार के पास ऐसे साधन बहुत ही न्यून होते हैं जिनके द्वारा पाठक के मन को अपनी रचना में बाँध रखे। कहने के लिए उसके पास कहानी नहीं होती जिनके द्वारा पाठक के मन में उत्सुकता बनाए रखे, गाने के लिए उसके पास स्वर, ताल तथा लय नहीं होते, जिनके द्वारा वह पाठक के मन को मंत्रमुग्ध बनाये रखे।"[3] वस्तुतः इन सभी मतों, विचारों और उक्तियों में से यदि किसी को भी पृथक् रूप से लिया जाय तो निबन्ध की पूर्ण परिभाषा निश्चित करना संभव नहीं हो पाता, क्योंकि पृथक् रूप से इन सभी में अपूर्णता हैं अतः इन सबको मिलाकर किसी निश्चित परिभाषा तक पहुँचना ही समीचीन होगा। हर्ष की बात है कि बाबू गुलाबराय ने इन सभी मतों का संग्रह अपनी परिभाषा में कर निबंध की परिभाषा देने का प्रयास किया है; देखिये—"निबंध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छंदता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"[4] इसमें कोई संदेह नहीं कि अन्य अनेक परिभाषाओं की अपेक्षा इसमें निबन्ध का बहुत कुछ स्वरूप सामने आता है लेकिन श्री जयनाथ 'नलिन' इसे भी उपयुक्त परिभाषा नहीं मानते और उनका मत है कि इस परिभाषा से भी निबन्ध का पूर्ण रूप स्थिर नहीं हो पाता। इस प्रकार उन्होंने स्वयं उसकी यह परिभाषा निश्चित की है—"निबन्ध स्वाधीन चिंतन और निश्छल अनुभूतियों का सरल, सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकाशन है।" इसे यों भी कह लें—"निबन्ध गद्य-काव्य की वह मर्यादित विधा है जिसमें लेखक के स्वाधीन चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों की सरस, सजीव अभिव्यक्ति हो।"[5] पर हमारी दृष्टि में तो डॉ० भगीरथ मिश्र की यह परिभाषा सर्वाधिक उपयुक्त है, देखिए—"निबन्ध वह गद्य रचना है जिसमें लेखक किसी भी विषय पर स्वच्छन्दता पूर्वक परन्तु एक विशेष सौष्ठव, संहिति, सजीवता और वैयक्तिकता के साथ अपने भावों, विचारों और अनुभवों को व्यक्त करता है।"[6]

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल (पृष्ठ ५०६)

२. साहित्यालोचन—डॉ० श्यामसुन्दर दास (पृष्ठ २३५)

३. साहित्य-मीमांसा—डॉ० सूर्यकांत शास्त्री (पृष्ठ ३०७)

४. काव्य के रूप—डॉ० गुलाबराय (पृष्ठ २३६)

५. हिन्दी निबन्धकार—श्री जयनाथ 'नलिन' (पृष्ठ १०)

६. काव्यशास्त्र—डॉ० भगीरथ मिश्र (पृ० ७६)

निबन्ध की परिभाषा के पश्चात् जब हम उसके मूल तत्वों पर विचार करने बैठते हैं तो हमें विभिन्न मत देख पड़ते हैं। श्री ब्रह्मदत्त शर्मा का कहना है "प्रधान रूप से निबन्ध के तीन तत्व माने गये हैं—प्रस्तावना अथवा उठान, विवेचन अथवा विकास, तथा परिणाम अथवा समाप्ति। निबन्ध की प्रस्तावना निबंधकार की योग्यता का परिचय देती है। उच्चकोटि के निबन्धकार की प्रस्तावना ऐसी गुणयुक्त होती है कि उसका प्रथम वाक्य ही निबंध के गुणदोष प्रकट कर देता है। प्रस्तावना लिखने में अपने प्रतिपाद्य विषय का आरंभ करने में निबंधकारों को पूरा प्रयास करना पड़ता है। विषय की उठान लेते समय उन्हें अपनी योग्यता का पूरा प्रदर्शन करना पड़ता है। निबन्ध के प्रस्तावना भाग में विषय का आरम्भ इस प्रकार से किया जाता है कि उससे निबंध के विषय का ज्ञान संक्षेप में हो जाय।

प्रस्तावना से आगे जब निबंधकार निबंध के विवेचन अंश पर आता है तो उसको पूर्ण रूप से स्पष्ट होना पड़ता है। उसको अपने विषय का प्रतिपादन करने के लिए इस स्थान पर अपनी शक्ति का पूरा प्रयोग करना पड़ता है। वह एक के पश्चात् दूसरा विचार इस ढंग से शृंखलित करता चलता है कि यदि उनमें से एक वाक्य भी निकाल दिया जाय तो सम्पूर्ण निबंध अव्यवस्थित दिखाई देने लगता है। आदि से अंत तक विचारधारा का प्रवाह एक ही साथ में उमड़ता चलता है। निष्णात निबंध-लेखक अपने निबंध की विषय-वस्तु का प्रतिपादन 'विवेचना' भाग में प्रधानतया दो प्रकार से करते हैं। वे किसी मुख्य घटना अथवा विचार के वर्णन करने में या तो उसका स्वाभाविक क्रम रखते हैं अथवा मस्तिष्क में जिस क्रम से भी उसका प्रादुर्भाव होता रहता है, यही क्रम रखते हैं। अस्तु निबन्ध में लेखक या तो किसी विषय का उसके अंग-प्रत्यंग सहित वर्णन करता है अथवा उसके हृदय में उस विषय के सम्बन्ध में जो भाव जिस क्रम से उठते रहते हैं उनका ज्यों का त्यों वर्णन करता है। निबन्ध के तथ्य-निरूपण में जहाँ ही वस्तुओं की परिभाषा से परिचय कराने का अवसर आता है, वहाँ निबन्धकार ही को बहुत सावधान रहना पड़ता है।

विवेचन भाग में भिन्न-भिन्न प्रकार से विषय को अधिक आकर्षक, प्रभावात्मक तथा अनुरंजक बना चुकने के बाद जब निबंधकार निबंध के परिणाम पर पहुँचता है, तब उसको अपने विषय का संक्षेप में ऐसा वर्णन करना पड़ता है कि निबन्ध का विषय एक बार फिर पाठक अथवा श्रोता के सामने उपस्थित हो जाता है, तथा उससे ऐसा परिणाम निकाला जाता है कि जो अधिक प्रभावपूर्ण होता है, तथा मस्तिष्क में अधिक समय तक ठहरनेवाला होता है।"[१] इसी प्रकार अन्य समीक्षकों ने भी अपने-अपने मत व्यक्त किये हैं लेकिन निबन्ध के तत्व निर्धारित करते समय पौर्वात्य व पाश्चात्य विद्वानों के विचारों का समन्वय आवश्यक हो जाता है। प्रसन्नता की बात है कि डॉ० दशरथ ओझा ने इसी प्रकार का समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया है; देखिए—

"(१) निबन्ध के तत्वों में मुख्य है इसकी गद्य-रचना। सामान्यतः निबन्ध एक छोटी गद्य-रचना के रूप में होता है किन्तु अपवाद स्वरूप एकाध स्थल पर यह पद्य में भी लिखा गया है।

---

[१] हिन्दी साहित्य में निबन्ध—प्रो० ब्रह्मदत्त शर्मा (पृष्ठ १७-१८)

(२) उसमें (निबंध में) लेखक के व्यक्तित्व का आभास मिलता है। निबन्धकार शास्त्रीय मत का प्रतिपादन नहीं करता है प्रत्युत वह विषय के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करता है। निबन्ध में लेखक की अनुरक्ति-विरक्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। निर्वन्ध निबंध का लेखक व्यक्तित्व की ही व्यंजना करता है, जबकि परिबन्ध निबंध का लेखक विषय और व्यक्तित्व का सामंजस्य करते हुए चलता है।

(३) निवंध अपने में पूर्ण रचना है। यद्यपि निबंध का विषय-क्षेत्र संकीर्ण होता है है और वह केवल विषय के किसी एक पहलू पर ही विचार करता है, फिर भी वह सम्बद्ध होता है। उसके प्रारंभ, मध्य और उपसंहार में तारतम्य होता है।

(४) यह अत्यंत रोचक घटना-प्रकार है। रोचकता निबंध की सफलता और लोकप्रियता का प्राण है। अँग्रेजी साहित्य की भाँति हिन्दी साहित्य में भी पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा ही इस रचना शैली का विकास हुआ है अतः रंजकता सहज रूप से ही इसका अंग बन गई है। निवंध में लेखक की प्रतिभा का समावेश होने के कारण सजीवता आ जाती हैं। उसमें शैली के उत्कर्ष के लिए ध्वनि, हास्य, व्यंग्य, लाक्षणिकता का प्रयोग किया जाता है, जो लेखक की प्रतिभा का बल पाकर रोचक बन जाता है।

(५) भावों का पुट—अच्छे निवंधों में भावों का योग बराबर देखा जाता है क्योंकि निबंधकार इस क्षेत्र में अपनी पूरी सत्ता—ज्ञानात्मक और भावात्मक—के साथ चलता है। निबंध में जब कि लेखक का व्यक्तित्व व्यंजित होता है, तब यह आवश्यक ही है कि इसमें उसके हृदय-पक्ष का भी योग हो। रामचन्द्र शुक्ल के कई विचार-प्रधान निवंधों में गहन विचार-वीथियों के बीच बीच में सरल भावस्रोतों का विधान मिलता है। उनके लोभ और प्रीति, श्रद्धाभक्ति, करुणा जैसे निबंधों में जगह-जगह उनकी तन्मयता देखने ही योग्य है।

(६) औपचारिकता का अभाव—अन्य रचना-प्रकारों की अपेक्षा निवंध में औपचारिकता कम या नहीं ही होती है। इसके भीतर पाठक और लेखक का सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वास्तव में उत्कृष्ट निबंध एक खुला पत्र है जो किसी व्यक्ति-विशेष को तो सम्बोधित करके नहीं लिखा गया होता, पर जो सहृदय पाठक उसे पढ़ता है वही समझता है कि यहाँ लेखक मुझे सम्बोधित कर रहा है।"[१]

निबंध के प्रकार और शैलियाँ

निबन्ध कितने प्रकार के हो सकते हैं, यह कहना सहज नहीं है और समीक्षकों ने तो भिन्न-भिन्न विशिष्टताओं के आधार पर उसे कई वर्गों में विभाजित किया है। यही कारण है कि एक ओर तो कतिपय आलोचक निबंध के (१) विचारात्मक (२) भावात्मक (३) व्याख्यानात्मक (४) वर्णनात्मक और (५) विवरणात्मक नामक पाँच प्रकार मानते हैं जब कि दूसरी ओर कुछ ने केवल विचारात्मक तथा भावात्मक नामक दो प्रकार ही माने हैं। जिन समीक्षकों ने निबंध के पाँच प्रकार माने हैं उन्होंने अपने वर्ग-विभाजन में कई सिद्धान्तों को एक साथ ग्रहण किया है पर दो प्रकार मानने वाले आलोचक निबन्ध का सम्बन्ध एक ओर तो बुद्धि से मानते

---

१. समीक्षा-शास्त्र—डॉ० दशरथ ओझा (पृ० १७६-१७७)

हैं और दूसरी ओर हृदय से। श्री शिवनाथ एम० ए० के कथानुसार—"सामान्यतः निबंध के पाँच प्रकार स्थिर किए गए हैं, जिनके अंतर्गत साहित्य में प्रचलित सभी प्रकार के निबंध आ जाते हैं। उन प्रकारों के नाम हैं—(१) विचारात्मक, (२) भावात्मक (३) आत्म-व्यंजक (४) वर्णनात्मक और (५) कथात्मक। विचार करने पर निबंधों के इस प्रकार के वर्गीकरण के स्थूलतः दो आधार लक्षित होते हैं। एक आधार वह जिनका संबंध मानवगत हृदय और बुद्धि से है, जिसके अंतर्गत निबंध के उपर्युक्त प्रथम तीन प्रकार आते हैं। दूसरा आधार वह जिसका सम्बन्ध साहित्य में प्रचलित अभिव्यक्त-शैली या विषय प्रस्तुत करने की पद्धति से है, जिसके अंतर्गत निबंध के उपर्युक्त अंतिम दो प्रकार आते हैं। यदि अभिव्यक्ति शैली के बंधन पर दृष्टि न रखी जाय तो निबंध के केवल दो ही प्रकार—विचारात्मक और भावात्मक—निर्धारित होंगे, क्योंकि अभिव्यक्ति शैली के आधार पर वर्गीकृत निबन्धों में भी भाव और विचार ही व्यक्त किए जाते हैं, और आत्म-व्यंजक निबंध में भी आत्म-व्यंजन की प्रेरणा, भाव व विचार से ही मिलती है। अभिप्राय यह कि वस्तुतः निबन्ध दो ही प्रकार के हैं—विचारात्मक और भावात्मक। साहित्य के मूल आधार भाव और विचार हैं भी। हाँ, निबंधों के इन प्रकारों के स्थिर हो जाने पर किसी निबंध में विचारों की प्रधानता दृष्टिगत होगी और किसी में भावों की; किसी में दोनों का समान रूप मिलेगा। कुछ रचनाएँ ऐसी भी मिल सकती हैं जिनमें विचारों की प्रधानता नहीं, प्रत्युत विचार मात्र की ही अभिव्यक्ति हो। ऐसी रचनाएँ 'निबंध' के सत्यस्वरूप की परिमित में न आयेंगी; ये प्रबन्ध (treatise) कही जायेंगी, जिनमें निबंधगत रोचकता और साहित्यिकता दृष्टिगत नहीं होती। भावात्मक निबंधों के विषय में कहना यह है कि इनमें भी बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। बुद्धिपूर्वक उदित और विभिन्न भाव ही साहित्य की कोटि में आ सकते हैं। इसका कारण यह है कि बुद्धि, बिना हृदय के सहयोग के भी, कार्य कर सकती है—यह दूसरी बात है कि इसके असहयोग के कारण साहित्य में पूर्णता न आयेगी, पर हृदय बिना बुद्धि के नहीं चल सकता, यदि वह ऐसा करेगा, तो पागल समझा जायगा। वस्तुतः बात यह है कि भावोदय भी बुद्धि वा ज्ञान के सहारे होता है। ऐसी स्थिति में भावात्मक निबंधों में भी बुद्धि वा विचार अपेक्षित है। इसी प्रकार के निबन्धों में भावों की अभिव्यक्ति विचारपूर्वक होती है। अस्तु, हम देखते हैं कि भावात्मक निबन्धों में विचारों का भी योग रहता है। वस्तुतः निबन्ध के विचारात्मक तथा भावात्मक दो ही प्रकार स्थिर किए जा सकते हैं। इनमें भी विचारात्मक निबन्ध का विशेष महत्व है।"[1] परन्तु निबंध के दो ही भेद स्वीकार करने वाले समीक्षकों की संख्या बहुत ही न्यून है और श्री ब्रह्मदत्त शर्मा ने तो (१) विचारात्मक (reflective) (२) भावात्मक (emotional) (३) व्याख्यानात्मक (oratorical) (४) वर्णनात्मक (descriptive) (६) विवरणात्मक (narrative) तथा (६) वैयक्तिक (personal) नामक ६ भेद निबंध के माने हैं।[2] श्री जयनाथ 'नलिन' ने निबंध को पहले तो परात्मक (objective) और निजात्मक (subjective) नामक दो भेदों में विभाजित किया है तदुपरांत परात्मक (objective) के (१) वर्णनात्मक (descriptive) और (२)

---

[1] आचार्य रामचंद्र शुक्ल—श्री शिवनाथ एम० ए० (पृ० २३६)

[2] हिन्दी साहित्य में निबंध—प्रो० ब्रह्मदत्त शर्मा (पृ० १४)

विवरणात्मक (narrative) तथा निजात्मक (subjective) के विचारात्मक (reflective) (२) भावात्मक (emotional) तथा (३) आत्मपरक (personal) नामक कुल पाँच भेद माने हैं।[1] इसी प्रकार अन्य समीक्षकों ने भी अपनी - अपनी दृष्टि से निबन्ध का वर्ग-विभाजन किया है पर हमारी दृष्टि में निबंध के निम्नांकित चार प्रकार मानना ही उपयुक्त है। देखिए—(१) वर्णनात्मक निबन्ध (Descriptive Essays) (२) विवरणात्मक निबंध (Narrative Essays) (३) विचारात्मक या विवेचनात्मक निबंध (Reflective Essays) (४) भावात्मक निबंध (Emotional Essays) अब हम प्रत्येक पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है वर्णनात्मक निबंधों में वर्णन की ही प्रधानता रहती है और लेखक किसी प्राकृतिक वस्तु, किसी स्थान, प्रांत या किसी मनोहर आल्हादकारी दृश्य का वर्णन करता है। चूँकि इन निबंधों में लेखक प्रकाश्यतः बिलकुल तटस्थ ही रहता है अतः वह अपनी कृतियों में विषय का तटस्थ एवं निर्लिप्त भाव से ही वर्णन करता है और विषय से सम्बंधित विचारों तथा भावोद्गारों की ओर उसकी रुचि नहीं रहती है। निबंधकार की मनोवृत्ति जगत के बाह्य सौंदर्य एवं मनोरम प्राकृतिक दृश्यों तथा व्यापारों का वर्णन करने में ही अधिक रमती है और मस्तिष्क अथवा तर्क से अधिक काम न लेकर वह नेत्रेन्द्रिय तथा कल्पना का ही अधिक अवलम्ब ग्रहण करता है। इस कोटि के निबंधों में वर्णन भी स्थूल एवम् सूक्ष्म नामक दो प्रकारों का होता है तथा प्रथम में तो लेखक वर्ण्य वस्तु को जिस रूप में देखता है उसका उसी प्रकार वर्णन करता है तथा कल्पना का अधिक अवलम्ब न ग्रहण कर यथातथ्य वर्णन की ओर ही अधिक रुचि दिखाता है परन्तु द्वितीय में वह कल्पना के स्वर्णिम पंखों पर आसीन हो वर्ण्य विषय का ऐसा आकर्षक एवं हृदयग्राही वर्णन करता है कि पाठक स्वयं भी उसी कल्पनालोक में विचरण करने लगता है। यद्यपि स्थूल वर्णन में यथातथ्य वर्णन करने की ओर ही निबंधकार का ध्यान जाता है परन्तु वह प्रसंगानुसार पाठक के चित्त को अनुरंजित करने के हेतु वर्ण्य विषय से सम्बंधित उपादानों एवं दृश्यों का सुचारुता के साथ चारु-चयन भी करता है, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि उसकी अपेक्षा सूक्ष्म वर्णन में ही वह पाठक की कल्पना-शक्ति के विकास के साथ-साथ उसके हृदय को अभिभूत भी कर पाता है। साधारणतया हिंदी निबंधकारों ने वर्णनात्मक निबंधों का आरम्भ स्थूल वर्णन से ही किया है, लेकिन ज्यों-ज्यों उन्होंने अभीष्ट विषय का विभिन्न दृष्टियों से वर्णन करने की ओर ध्यान दिया कल्पना का पुट भी अधिक होता गया। वर्णनात्मक निबंध का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

"वृक्षों के इस छोटे झुरमुट के नीचे आकर मैं देखता हूँ कि छाया और प्रकाश के ये छोटे-छोटे बच्चे यहाँ एक दूसरे से हिल-मिलकर खेल रहे हैं। वसंत का भीना-भीना पवन वृक्ष के पल्लवों को गुदगुदाता है और छाया और प्रकाश के ये सरल बच्चे लोट-पोट होकर गिर-गिर पड़ते हैं एक-दूसरे के ऊपर। एक-दूसरे से विभिन्न होकर भी ये परस्पर एक-दूसरे के लिए 'अब्रह्मण्य-अब्रह्मण्य' का चीत्कार नहीं करते। इस झुरमुट के बाहर खुले में भी कुछ ऐसा ही है। इस धुँधली चाँदनी में अप्रकट और प्रकट को एक-रस देखकर मैंने भरत-मिलाप का नया दृश्य

---

१. हिन्दी निबन्धकार—श्री जयनाथ 'नलिन' (पृ० १८)

देख लिया। एक ही माँ के यमज लालों की भाँति यह एक दूसरे को भेंटते हुए छाती से छाती मिलाकर आपस में मिल गये हैं। इनमें कौन प्रकाश है और कौन अंधकार उसका पता मुझे नहीं लगने पाता। इन दोनों सहोदरों का चिरंतन द्वंद्व मिट चुका है; दो होकर भी दोनों जैसे यहाँ एक हैं। अपूर्ण और पूर्ण, दुःख और सुख, शंका और समाधान, दोष और गुण, आपस में प्रेम से मिलकर कितने मधुर हो सकते हैं; इसका पता मुझे आज यहाँ लग गया।"[१]

विवरणात्मक निबंधों में गतिशील वस्तुओं, काल एवं परिस्थितियों का वर्णन रहता है और आखेट, पर्वतारोहण, दुर्गम प्रदेश की यात्रा, नदियों के उद्‌गम स्रोत की खोज इत्यादि साहसिक कृत्यों के वर्णन की ओर भी निबंध-लेखकों का ध्यान जाता है। स्मरण रहे वर्णनात्मक निबंधों का मुख्य सम्बंध देश से रहता है जब कि विवरणात्मक निबंधों का सम्बंध काल से रहता है और इन दोनों में सर्वप्रधान अंतर यह है कि प्रथम में निबंध-लेखक साहित्यिक उपादानों के सहारे एक चित्र-मात्र खींचने का प्रयास करता है और इस प्रकार वह चित्रकार के अधिक समीप प्रतीत होता है लेकिन द्वितीय में वह किसी घटना चक्र को क्रमबद्ध रूप से पाठकों के सामने रखना चाहता है अतः उसका चित्रण स्थिर न होकर गति-शील ही होता है और इसीलिए विवरणात्मक निबंधों की सफलता का मापदंड पाठकों के कौतूहल को जाग्रत करना मात्र है; जब कि वर्णनात्मक निबंधों की सफलता की कसौटी पाठक की कल्पनाशक्ति को उत्तेजित कर वर्ण्य-वस्तु को उसका चित्रपट अंकित कर देने में है। विवरणात्मक निबंधों को भी स्थूल रूप में कथात्मक, जीवन-चरित्रात्मक तथा घटनात्मक नामक तीन भागों में विभाजित किया जाता है। साथ ही कथात्मक निबंधों के भी तीन उपविभाग किए जा सकते हैं—(१) आत्मकथा (२) स्वप्न की कथा और (३) रूपकात्मक कथा।

आत्म-कथा सम्बन्धी निबन्धों में लेखक अपने निजी भावों को ही अंकित करता है और अपने आत्म-चिन्तन का प्रदर्शन ही उसका मूल-लक्ष्य रहता है तथा इस प्रकार किसी भावना, वस्तु आदि के मानवीकरण द्वारा अथवा किसी व्यक्ति की आत्म-कथा का विवरण उसी पात्र द्वारा सुनाया जाता है, उदाहरणार्थ—"एक बार जी क्षुब्ध हो जाता है। कूटनीतिज्ञों के मुँह से सत्य की प्रशंसा सुनकर मन में ग्लानि होती है, सेनापतियों के मुँह से अहिंसा की प्रशंसा सुनता हूँ तो क्रोध होता है; सेठों और सामन्तों के मुँह से त्याग और तप की चर्चा सुनता हूँ तो झुंझलाहट पैदा होती है; और साम्राज्यवादियों के मुँह से तो गाँधी का नाम सुनकर ही घृणा हो आती है। जानता हूँ; गाँधी के अनुयायी के मन में ऐसे विकार नहीं आने चाहिए, पर लाचार हूँ। मैं अपने को सब समय रोक नहीं पाता। यद्यपि मुझसे अब तक किसी के प्रति अशिष्ट आचरण नहीं हुआ है, लेकिन मन में इन विकारों का आना ही क्या बुरा है? इन अन्तर्विकारों का कारण क्या है?"[२]

स्वप्न की कथा के रूप में रचित कथात्मक निबन्धों को वास्तव में निबन्ध न कहकर कथा मानना ही अधिक युक्ति-संगत होगा। इस प्रकार के निबन्धों में लेखक किसी विषय पर वार्तालाप करते-करते विचारमग्न हो सो जाता है और सोने के पश्चात् जो कुछ स्वप्न में

---

१. अपूर्ण—श्री सियारामशरण गुप्त

२. महात्मा के महाप्रयाण के बाद—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

देखता है उसका रोचक तथा सजीव वर्णन निबन्ध में उपस्थित करता है। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद का राजा भोज का सपना, भारतेन्दु का एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न, राधाचरण गोस्वामी का यमलोक-यात्रा आदि निबन्ध इसी कोटि के हैं। एक उदाहरण देखिए—

"आह वह क्या था ? क्या पीतवर्ण भी मेघमाला में होती है ? यदि होती हो तो वह ऐसे ही वारिद-खण्डों के चन्द्र का अंश था। मैं कह नहीं सकता, पर अहा ! वह विलक्षण अलौकिक छवि अवश्य ही नन्दन-कानन-विहारिणी अप्सराओं की प्रतिमूर्ति थी। सौंदर्य की आज तक कोई परिभाषा नहीं बनी, उसकी कोई सीमा नहीं उपस्थित हुई, उसकी कोई तुलना नहीं, फिर कैसे कहूँ वह छवि सुन्दर थी ! जो हो मैं उसे सुन्दर समझता था। मेरी आँखें यदि इस विश्व में एक बार पर्यटन कर पातीं, यदि संसार भर की छवियों को एक-एक कर देखने का अवसर प्राप्त कर सकतीं, तो भी यही कहतीं कि सबसे अधिक सुन्दर छवि वही है।"[१]

कथात्मक निबन्धों के तीसरे उपविभाग के अन्तर्गत आनेवाले निबन्धों में रूपकों की सहायता से लेखक कोई कहानी अंकित करता है और कभी-कभी उनमें वह विवरण-शक्ति का अधिक सहारा न लेकर वर्णन-शक्ति का ही अधिक अवलम्ब ग्रहण करता है और इस प्रकार मानवीकरण तथा प्रतीकात्मकता के कारण उसकी कृति निबन्ध न रहकर बहुत कुछ अंशों में कहानी की कोटि में आ जाती है; उदाहरणार्थ—

"इस साल पृथ्वी पर ठाकुर जाड़ासिंह का प्रचण्ड कोप देखकर मनुष्यों को भय हुआ। इसका कारण जानने की परम उत्कण्ठा हुई। किसी ज्योतिषी ने यह स्थिर किया कि महाराज सूरजसिंह इस साल रोग-ग्रस्त हैं। उनके तप्त-कांचन-तुल्य शरीर में एक बहुत बड़ा घाव हो गया है।"[२]

विवरणात्मक निबन्धों की दूसरी कोटि के अन्तर्गत आनेवाले जीवन-चरितात्मक निबन्धों में किसी भी व्यक्ति के बाह्य तथा आभ्यान्तरिक जीवन से सम्बन्धित सभी प्रमुख घटनाओं का विवरण रहता है और निबन्धकार सहानुभूति एवं निष्पक्षता के साथ चरितनायक के गुण-दोषों पर प्रकाश डालता हुआ निबन्ध को सुगठित तथा कलात्मक रूप देने का प्रयास करता है; जैसे—

"श्री सुमित्रानन्दन पंत हिन्दी के युग-प्रवर्तक कवि हैं। प्रसाद, निराला, पंत हिन्दी की इन त्रिमूर्तियों में से हैं, जिनमें से हर एक अपना-अपना व्यक्तित्व रखता है। पन्त का व्यक्तित्व केवल कविता में है। × × × अलमोड़ा से ३२ मील उत्तर, समुद्रतल से साढ़े सात हजार फीट ऊपर उपस्थित कौसानी हिमालय की अत्यन्त सुन्दर उपत्यका है। चीड़ और विशाल बांज (oak), देवदार और केले से ढँके पर्वतगात्र प्राकृतिक सौंदर्य में कौसानी को अनुपम बनाते हैं। पिछले महायुद्ध में पहले कौसानी में किसी अँग्रेज का एक विशाल चाय का बगीचा था। साहेब के मुनीम और लकड़ी के ठेकेदार थे पं० गंगादत्त पंत (मृत्यु १९२७), पं० गंगादत्त सीउनराकोट से आकर यहीं—हच्छीना में बस गए थे। २१ मई सन् १९००

---

[१] क्या था ?—श्री कमलाप्रसाद

[२] महाराज सूरजसिंह और बादलसिंह की लड़ाई—श्री बदरीदत्त पांडेय

(ज्येष्ठ कृष्ण ८ सं० १९५७) में पं० गंगादत्त की पत्नी सरस्वती देवी को चौथा पुत्र हुआ, जिसके संसार में आने के ६ घंटे बाद ही माँ ने शरीर छोड़ दिया। पिता ने पुत्र का नाम सुमित्रानन्दन पंत रखा। × × × सुमित्रानन्दन को उनकी फूफी ने पाला। वह अपने भाई के पास कौसानी (हच्छीना) में रहा करती थीं। फूफी का स्वभाव बहुत नम्र था।"[१]

इसी प्रकार घटनात्मक निबन्धों में किसी ऐतिहासिक, अलौकिक अथवा सामान्य घटना का विवरण उपस्थित किया जाता है और विषय की दृष्टि से भी ये ऐतिहासिक, अलौकिक तथा सामान्य नामक तीन श्रेणियों में रखे जा सकते हैं। ऐतिहासिक, घटनात्मक निबन्धों में किसी ऐतिहासिक घटना का विवरण रोचक तथा सजीव ढंग से प्रस्तुत किया जाता है और लेखक इस घटना का समय, कारण तथा महत्व अंकित करता है जिसका कि विवरण देने की उसकी इच्छा रहती है। आलौकिक घटनात्मक निबंधों में किसी आश्चर्यजनक तथा अद्भुत घटना का विवरण अंकित किया जाता है तथा सामान्य घटनात्मक निबंधों में सामान्य घटनाओं के विवरण को ऐसे रोचक ढंग से प्रस्तुत करता है कि पाठक जब तक निबंध की समाप्ति नहीं कर लेता तब तक उसका ध्यान अन्यत्र नहीं जाता। हिंदी-साहित्य में विवरणात्मक निबंधों की अधिकता-सी रही है, लेकिन आज उनकी ओर हमारे नवीन निबंधकारों का ध्यान नहीं जा रहा। विवरणात्मक निबन्ध का एक सुंदर उदाहरण देखिए—

"किरन डूबते-डूबते बारात हिमालय के दरवाजे पहुँची। ताम-झाम के साथ सास परछने आईं, सो वर के सिर पर साँप के फन का मौर, गले में मुण्डों की माला, कटि के नीचे गज का कड़कड़ा चर्म और एक हाथ में डमरू, दूसरे में लम्बा त्रिशूल देखते ही उनके हाथ से सोने की थाली छटकर गिर पड़ी और वे गिरती-पड़ती आँगन में पहुँचकर नारद के सात पुश्त का लोक भाषा में तर्पण करने लगीं। पार्वती ने कोठे पर चढ़कर वर को इशारा किया कि गोसाईं, विष्णु के रूप का ध्यान कीजिए, नहीं तो गा-बजाकर अकेले लौट जाना पड़ेगा, इस रूप को बाद में फिर धारण कर लीजिएगा। शिव बाबा ने देखा कि पका-पकाया मामला बिगड़ना चाहता है तो उन्होंने विष्णु के रूप का ध्यान किया और तब क्या, सांप का फण पुष्प मुकुट बन गया, जटा स्निग्ध कुन्तलराशि में बदल गई, गज चर्म हंसदुकूल बन गया और शिव की शोभा के आगे किसी की शोभा नहीं रही। अब जब सास परछने आईं, तो जल्दी-जल्दी में उन्हीं का शृंगार उल्टा-पल्टा हो गया। आँख का काजल माथे लगा, माथे का टीका गले में आया, पैर का गहना हाथ में, हाथ का कंगन कानों में पहना गया। देखकर वर पक्ष के समधी ब्रह्मा भी अपनी सहज गंभीरता छोड़कर मुक्त भाव से हँसे पड़े। वर मंडप में पहुँचाये जाने लगे कि इतने में गणेश जी को भूख लगी। वर ने गज बदन को कुम्हलाया देखा तो कहा कि पहले इनकी मोदक पूजा हो जाय तब मैं आँगन में चलूंगा। चार सेर जोखकर लड्डू आये, गणेश पूजा हुई और वर मंडप में आये।"[२]

विचारात्मक या विवेचनात्मक निबन्धों में बौद्धिक विवेचना की प्रधानता रहती है और हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क को अधिक महत्व दिया जाता है। वस्तुतः दार्शनिक, आध्यात्मिक,

---

[१] हिंदी के युग प्रवर्तक कवि पंत—श्री राहुल सांकृत्यायन

[२] शिवजी की बरात—श्री विद्यानिवास मिश्र

तथा मनोवैज्ञानिक विषयों की विवेचना ही इन निबन्धों में की जाती है और उसके लिए गंभीर अध्ययन, मनन एवं जीवन में प्राप्त गंभीर अनुभवों का होना आवश्यक है। स्मरण रहे जिस लेखक की वैयक्तिक अनुभूतियाँ जितनी अधिक विस्तृत होगी तथा जिसके जीवन का अध्ययन जितना अधिक पूर्ण होगा, उतना ही अधिक उसके निबन्ध भी सफल हो सकेंगे। इन निबन्धों में लेखक के एक विचार से दूसरा विचार निःसृत होकर विचारों की शृंखला बनाता चलता है और जैसा कि आचार्य शुक्ल का मत है—"शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबा कर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिए हों।" विचारात्मक निबन्धों के ही आलोचनात्मक, गवेषणात्मक या विवेचनात्मक आदि कई प्रकार होते हैं और इनमें शैली के भी दो रूप—व्यास शैली तथा समास शैली—देख पड़ते हैं। व्यास शैली में वस्तु को उचित फैलाव के साथ समझा बुझाकर कहने की ओर झुकाव रहता है जब कि समास शैली में संक्षिप्तता को अधिक महत्व देकर 'गागर में सागर' अर्थात् थोड़े में बहुत कहने की प्रवृत्ति रहती हैं। हिंदी निबंध साहित्य में विचारात्मक निबन्धों की इन दोनों शैलियों के उदाहरण प्रचुरता से मिलते हैं अतः हम यहाँ इन दोनों के उदाहरण देंगे।

विचारात्मक निबंधों की व्यास-शैली

"यथार्थ में रूप भक्ति के अंतर्गत लौकिक और अलौकिक का भेद कोई विशेष विभिन्नता उपस्थित नहीं कर सका, क्योंकि देवता या अवतार का रूप वर्णन भी मानवाकार में ही किया गया। अतः धीरे-धीरे राधा और कृष्ण को लेकर सामान्य नायिकाओं एवं नायकों की नख-शिख छवि का वर्णन हुआ। परन्तु अलौकिक भक्ति-भावना के अन्य दो स्वरूपों अर्थात् गुण की भक्ति एवं सगुण रूप की भक्ति में भक्ति की धार्मिक भावना ही विशुद्ध रूप में व्याप्त रही। उनमें शुद्ध भक्ति भावना ही ओत-प्रोत है। निर्गुण उपासकों में गुणों की भक्ति के अंतर्गत आकार की सत्ता नहीं मानी गई। निर्गुण उपासना के अंतर्गत निराकारता विशेष रूप से हैं निर्गुणत्व नहीं है। वहाँ निर्गुण का तात्पर्य केवल यही जान पड़ता है कि परमात्मा प्रकृति के गुणों से बद्ध नहीं है। वह प्रकृति के तीन गुण सत, रज और तम से परे है; किन्तु गुणों के प्रचलित अर्थ में वह गुणों का भंडार है और उन्हीं अलौकिक गुणों वाले की भक्ति ही अलौकिक गुण की भक्ति के अंतर्गत है। इससे भक्त ऐसे परमात्मा का, जो संसार की सभी बातों से परे है गुणगान करता है और अपनी आत्मा को उसी अलौकिक और असीम शक्तिवाले परमात्मा से सम्बंधित अनुभव कर अपनी अलौकिकता की ओर सचेत रहता है। वह अनंत गुणों वाला और असीम शक्तिवाला है। इसलिए हमारी कल्पना या भावना किसी भी आकार या भाव में उसे बाँध नहीं सकती। किन्तु जहाँ पर भक्ति का प्रश्न आ जाता है वहाँ पर गुणों का समावेश आवश्यक हो जाता है क्योंकि भक्ति के अन्तर्गत आसक्ति, लगाव और तन्मयता की प्रधानता होती है और इनके टिकने के हेतु—आधार और ठहराव के लिए—गुणों या रूप का आलम्बन होना आवश्यक है। हिन्दी कविता पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि निर्गुण कहे जानेवाले भक्तों के भगवान निर्गुण नहीं सगुण ही हैं, निराकार चाहे वे भले ही हों। अतः ये कवि निराकार और अरूप गुणों के उपासक हैं। हिंदी-काव्य के अन्तर्गत इस भावना ने भी

प्रचुर विकास पाया है। कबीर, दादू, नानक, रैदास, पलटू, धना, पीपा आदि संत इसी प्रकार की रचना करनेवाले कवि थे। उनकी उपासना परमात्मा के उसी भाव के प्रति है जो कि अवर्णनीय और गुणातीत है। गुणहीन नहीं, वरन् है तो वह गुणों का भंडार पर जो प्राकृतिक गुणों के बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता। अतः हम उसे अलौकिक गुणोंवाला कहकर उसे अलौकिक गुणों की भक्ति कह सकते हैं।"[१]

विचारात्मक निबन्धों की समास-शैली

"विचार करने के बाद संसार में केवल दो तत्त्वों का ही अस्तित्व अन्त में मानना पड़ जाता है—आत्म और अनात्म। इस मान्यता का विरोध दो दिशाओं से हो सकता है—एक अद्वैतवाद की ओर से और दूसरा मौलिकवाद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) की ओर से। अद्वैतवाद प्रकृति अथवा अनात्म को भ्रम कहता है और भौतिकवाद आत्म को प्रकृति की उद्भूति मानता हुआ उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करता। परन्तु वास्तव में यह दोनों ही दर्शन की चरम स्थितियाँ हैं—और व्यावहारिक तल पर दोनों ही उपर्युक्त द्वैत को स्वीकार कर लेते हैं। अद्वैतवाद साधना और व्यवहार के लिए जीवन और जगत की महत्ता को अनिवार्यतः स्वीकार कर लेता है और उधर भौतिकवाद भी, आत्मा को चाहे वह कितना ही भौतिक और अपृथक् क्यों न माने, व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति और वातावरण के पार्थक्य को तो मानता ही है। साहित्य का सम्बन्ध दार्शनिक अतिवादों से न होकर जीवन से है अतएव इसके लिए यह द्वैत स्वीकृति अनिवार्य है चाहे आप इसे 'जीव और प्रकृति' कह लीजिए या 'व्यक्ति और वातावरण।' परन्तु यह केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं; मैं और मेरे अतिरिक्त और जो कुछ है उसको व्यक्त करना ही इनकी सार्थकता है। 'आत्म और अनात्म' चूँकि इनमें सबसे कम पारिभाषिक हैं इसलिए हमने इन्हें ही ग्रहण किया है। दर्शन में थोड़े-बहुत पारिभाषिक अंतर से इन्हें ही जीव और जगत्, आध्यात्मिक मनोविज्ञान (meta physics) में अहं और इत्थं, विज्ञान में व्यक्ति और वातावरण कहा गया है। एक तीसरा तत्त्व ईश्वर भी है और मेरा संस्कारी मन उसके अस्तित्व का निषेध करने को प्रस्तुत नहीं है; परन्तु उसको मैं आत्म से पृथक् वस्तु-रूप में नहीं ग्रहण कर पाया। आत्म सतत प्रयत्नशील है—यह अनात्म के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता रहता हैं; इसी को हम जीवन कहते हैं। अनात्म अनेक रूपवाला है, उसी के विभिन्न रूपों के अनुसार यह प्रयत्न भी अनेक रूप धारण करता रहता है—दूसरे शब्दों में आत्माभिव्यक्ति के भी अनेक रूप होते हैं। इनमें आत्मा की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ के द्वारा होती है उसका नाम साहित्य है।"[२]

भावात्मक निबंधों का सम्बन्ध हृदय से रहता है और उनमें बुद्धि तत्त्व की अपेक्षा भाव तत्त्व की ही प्रधानता होती है जिसके फलस्वरूप रागात्मकता की ही अधिकता रहती है तथा इसीलिए उन्हें कवित्वपूर्ण निबंध भी कहा जाता है। इस प्रकार के निबन्धों में लेखक को सर्वदा इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि भावावेश में आकर भावोद्गारों की अभिव्यंजना

---

१. हिंदी काव्य में भक्ति भावना—डॉ. भगीरथ मिश्र
२. साहित्य में आत्माभिव्यक्ति—डॉ० नगेन्द्र

में वह विषयान्तर में इतना अधिक न चला जाय कि जिससे अभीष्ट विषय पीछे ही छूट जायँ। अतः विषय से सम्बन्धित भावों को ही निबंध में विशेष रूप से स्थान मिलना चाहिये जिससे कि निबंधों में अधिक स्वाभाविकता तथा कलात्मकता आ सके। उदाहरणार्थ—

"हा पंडित गणपति शर्मा जी हमको व्याकुल छोड़ गये! हाय-हाय क्या हो गया! यह वज्रपात, यह विपत्ति का पहाड़, अचानक कैसे सिर पर टूट पड़ा। यह किसकी वियोगशनि से हृदय छिन्न-भिन्न हो गया, यह किसके वियोग-वाण ने कलेजे को बींध दिया, यह किसके शोकानल की ज्वालाएँ प्राण-पखेरू के पंख जलाए डालती हैं। हा निर्दय काल-यवन के एक ही निष्ठुर प्रहार ने किस भव्यमूर्ति को तोड़कर हृदय मंदिर को सूना कर दिया! हा हन्त अपने यशः सौरभ और पांडित्य-परिमल से सज्जन-मधुकरों को तृप्त करने वाले किस अपूर्व पुरुष की जीवन-नलिनी को मृत्यु-मत-मातङ्ग ने उखाड़कर अपनी दुरन्तपुरा उदरदरी में धर लिया। हा दुर्दैव-निदाघ! तूने इस मूर्ख बहुल मरुभूमि के एकमात्र विद्वत् सरोवर को सहसा सुखाकर कितने अनन्य गतिक जिज्ञासु-मीतों को जीवनहीन बना दिया? हा दुरदृष्ट-प्रचण्ड पवन! तेरे एक ही प्रलयंकारी झोखे ने उपदेशामृतवर्षी पंडित पर्जन्य को पिपासाकुल, शुश्रूष चातकों की आशा भरी दृष्टि से दूर करके यह क्या किया? श्रम सन्तापहारी सुस्निग्ध छाया वेदान्ततरु को उच्छिन्न करके क्या लिया!"[१]

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि भावात्मक निबन्ध कभी-कभी स्वगत भाषण का भी रूप ले लेता है जबकि निबंधकार नाटकीय ढंग से किसी अदृश्य वस्तु या व्यक्ति को सम्बोधन कर अपनी भावनाओं का कवित्वपूर्ण एवं नाटकीय प्रदर्शन करता है, जैसे—

"आशा! आशा! कौन? कौन? क्या तुम हो? नहीं, नहीं तुम नहीं हो! मुझे ही भ्रम है, अब पहचान पाया। तुम आशा हो। तुम्हारे स्वरूप की, तुम्हारे रूप-लावण्य की, तुम्हारे आकर्षण शक्ति की संसार प्रशंसा करता था—क्या ये सब गुण तुम्हीं में हैं? नहीं-नहीं कदाचित् संसार भ्रम में हो। मुझे तो विश्वास नहीं आता। तुम्हारी मूर्ति तो बड़ी भयंकर जान पड़ती है।"[२]

स्मरण रहे भावात्मक निबन्धों की रचना प्रायः दो प्रकार की शैलियों में की जाती है—(१) धारा और (२) विक्षेप। धारा शैली में भावों की अभिव्यक्ति प्रवाहपूर्ण होती है और इस प्रकार उसमें समान वाक्यों का ही अधिक प्रयोग किया जाता है जिसके फलस्वरूप उसमें एक विशिष्ट तारतम्यता सी आ जाती है जो कि सम्पूर्ण वाक्यों को एक सूत्र में पिरोए रखती है; उदाहरणार्थ—

"जहाँ महामहा महीधर लुढ़क जाते थे और अगाध अतल स्पर्शी जल था वहाँ अब पत्थरों से दबी हुई एक छोटी-सी किन्तु सुशीतल वारिधारा बह रही है, जिससे भारत के विदग्ध जनों के दग्ध हृदय का यथा कथंचित संताप दूर हो रहा है। जहाँ महा प्रकाश से दिग्दिगन्त उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब एक अंधकार से घिरा हुआ स्नेह-शून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी-कभी भू-भाग प्रकाशित हो रहा है।"[३]

---

१. पं० गणपति शर्मा—पं० पद्मसिंह शर्मा

२. आशा—श्री मातादीन शुक्ल

३. रामलीला—श्री माधवप्रसाद मिश्र

ठीक इसके विपरीत विक्षेप शैली में तारतम्यता और नियंत्रण का ध्यान रखने पर भी भावों की गति उखड़ी हुई सी जान पड़ती है और इस प्रकार इस शैली में कहीं-कहीं कुछ दूर तक सम्बद्ध, बीच-बीच में उखड़े-उखड़े वाक्य, कहीं वाक्यों के कतिपय मर्मस्पर्शी अंशों की आवृत्ति, तो कहीं अधूरे छूटे हुए प्रसंग देख पड़ते हैं; जैसे—

"हे मृगलांछन ! पाप छिपाए नहीं छिपता, किसी-न-किसी दिन उजागर हो ही जाता है। करोड़ों वियोगियों का रुधिर पात करके तुम कुछ मोटे नहीं हो गए। घटने-बढ़ने का असाध्य रोग भी नहीं दूर हुआ। हाँ, मुख बेशक काला हो गया। तुम्हारा यह कलुष-कलंक मरने पर भी न छूटेगा। मदिरापान क्या बट्टे खाते जायगा ? वियोगियों को जला देना क्या हँसी-खेल है ? अभी तो जरा-सी कालिख लगी है, कुछ दिनों में सारा मुँह काला हो जायगा। तुम्हारी कालिमा पर कवियों ने कई कल्पनाएँ की हैं।"[१]

कई हिन्दी निबन्धकारों ने तो अपने भावात्मक निबन्धों में इन दोनों शैलियों का मिश्रण-सा कर दिया है और इसलिए कतिपय विचारक इन दो प्रणालियों के साथ-साथ तरंग शैली नामक एक अन्य शैली भी मानते हैं जो कि धारा शैली और विक्षेप शैली के मध्य की वस्तु है। एक उदाहरण देखिए—"विचार आया, राग भागा, अनुराग आन्दोलित हुआ, आदर्श गुदगुदाया और लोक-जीवन पर उतरने के लिए, मानों जीवित रहने के लिए ये सब के सब चल पड़े कला का माध्यम ढूँढ़ने; चल पड़े ये किसी की कलम, कण्ठ या कूँची के मुहताज होने। सूझ कला का बल है, माध्यम और अभ्यास उसके पंख हैं, जिनके बिना वह उड़ नहीं सकती। आत्मा से कृति तक और अपरिपक्व आवेगों से ईश्वरीय समझे जानेवाले संकेतों तक, कला के जो डोरे हिल रहे हैं और उन पर रस भीगा, किन्तु पथ खोजता मानव-विश्वास बैठ-बैठकर उड़ता और उड़-उड़कर बैठता-सा जो दिखाई दे रहा है, वहाँ कला का जो संग्रह इतिहास बन रहा है, शोध के सुकोमल क्षणों में हजार-हजार बार की दुहराहटों के अभ्यास के बाद ही कला के कौशल को जीवित रहने का वरदान मिलता है।"[२]

(दिसम्बर १९५८)

---

१. साहित्यिक चंद्रमा—श्री वियोगी हरि

२. युग और कला—श्री माखनलाल चतुर्वेदी

रस-सिद्धान्त की दार्शनिक आधार-भूमि

यदि बिचारपूर्वक देखा जाय तो ऐतिहासिक दृष्टि से रस शब्द का प्रथम दर्शन वैदिक युग में ऋग्वेद में मिलता है लेकिन वहाँ इस शब्द का प्रायः शाब्दिक अर्थ ही ग्रहण किया गया है। यों तो राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में लिखा भी है "ब्रह्मा के कहने से नंदिकेश्वर ने सर्वप्रथम रस का निरूपण किया था" परन्तु अभी तक न तो नंदिकेश्वर का रस विषय का कोई ग्रंथ ही उपलब्ध हुआ है और न रस-सिद्धान्त सम्बन्धी उनका कोई मत ही ज्ञात हो सका है। यद्यपि नंदिकेश्वर का काम-शास्त्र, संगीत तथा अभिनय के विशेषज्ञ के रूप में उल्लेख किया जाता है और अभिनय विषयक उनका ग्रंथ 'अभिनय-दर्पण' के नाम से प्रसिद्ध भी है, अतएव यदि अभिनय-दर्पण के रचयिता नंदिकेश्वर को ही रस-निरूपण करने वाला सर्वप्रथम आचार्य माना जाय तो हम देखते हैं कि नाटक की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए "अपि ब्रह्म परा नन्दादिमभ्यधिकं मतम्" नामक उक्ति द्वारा उन्होंने नाटक का आनन्द परमानंद से भी अधिक माना है। स्मरण रहे यह आनन्द रस ही है जिसे कि ब्रह्मा जी ने अथर्ववेद से लेकर पंचम वेद नाट्य में प्रतिष्ठित किया था तथा जिसकी चर्चा करते हुए भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में कहा भी है,—

पाठ्यं जग्राह ऋग्वेदात्साम्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

अर्थात् ऋग्वेद से पाठ्य अंश, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस ग्रहण कर नाटक की रचना की गयी। यद्यपि उपर्युक्त कथन में अथर्ववेद से रस ग्रहण की बात स्वीकार की गयी है लेकिन यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अथर्ववेद में कहीं भी उन रसों का विवरण दृष्टिगोचर नहीं होता, जिनका प्रयोग साहित्य के लिए आवश्यक समझा गया है और जिनके कारण मम्मट ने भी कवि भारती को 'नव रस रुचिरा' कहा है। हो सकता है अथर्ववेद की वह शाखा हमें अभी तक प्राप्त ही न हुई हो, जिसमें कि रस का वर्णन किया गया है; अतः अंततोगत्वा भरत मुनि को ही रस सम्प्रदाय का सर्वप्रथम आचार्य माना जाता है क्योंकि रस का वैज्ञानिक विवेचन उन्होंने ही नाट्य शास्त्र के षष्ट तथा सप्तम अध्याय में प्रथम बार किया है। यों तो भरत का मूल उद्देश्य नाट्य निरूपण ही था अतएव उन्होंने नाट्य विषयक रस का ही विस्तृत निरूपण इन अध्यायों में किया है, परन्तु चूँकि "नाटक का साध्य रस है" नामक उक्ति द्वारा नाटक में रस की प्रमुखता उन्होंने ही प्रथम बार प्रतिपादित की है और उन्हीं का अनुसरण कर काव्य में भी रस की महत्ता स्वीकार की गयी अतः महामुनि भरत को ही रस-सिद्धान्त का आद्य प्रवर्त्तक कहा जाता है।

भरत ने नाट्य शास्त्र के एक सूत्र में रस की परिभाषा इस प्रकार दी है—"विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः" अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के

संयोग से रस निष्पत्ति होती है। वस्तुतः भरत का यह सूत्र रस-सिद्धान्त के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है और चाहे देखने में यह लघुतम अवश्य प्रतीत हो परन्तु विचार करने पर अत्यधिक सारगभित जान पड़ता है। यों तो उन्होंने स्वयं ही अपने सूत्र को विस्तार के साथ स्पष्ट करते हुए नाट्य शास्त्र के छठे अध्याय में "न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते" नामक उक्ति द्वारा जितने भी अर्थ हैं उन सभी को रसमय माना है तथा दृष्टांत देकर रस की व्याख्या भी की है। भरत मुनि का कहना है कि जिस तरह नाना प्रकार के द्रव्य, औषधि, व्यंजन आदि के संयोग से रस निष्पत्ति होती है तथा जिस प्रकार गुड़ आदि मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय के सम्मिश्रण से विविध प्रकार के रसों का निर्माण होता है उसी प्रकार अनेक भावों से मिश्रित भाव ही रस है। रस क्या पदार्थ है, इस प्रश्न का उत्तर है कि वह स्वादिष्ट पदार्थ है तथा इसका स्वाद कैसे लिया जाता है नामक प्रश्न का उत्तर है—'जिस प्रकार अनेक व्यंजनों की सहायता से बने हुए अन्न को उदरस्थ करते समय सुमनस पुरुष रसास्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं उसी तरह अनेक प्रकार के वाचिक, आंगिक और सात्विक अभिनयों के प्रभाव से अभिव्यक्त होने वाले स्थायी भावों का सुमनस प्रेक्षक आस्वादन करते हैं अर्थात् हर्षादि का अनुभव करते हैं; इसीलिए इसे नाट्य रस कहा गया है।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि महामुनि भरत की दृष्टि में स्थायी भाव को ही रस मानना उचित है और उनके इस विचार से कि "यथा बहुद्रव्ययुतै र्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्। आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्त विदोजना। भावाभिनय संवद्धान् स्यायीभावांस्तथा बुधाः। आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्य-रसा स्मृतः।" यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी दृष्टि में जिस प्रकार भात के रसज्ञ व्यक्ति बहुत से शब्दों तथा व्यंजनों से युक्त भात को खाते हैं और उसका स्वाद लेते हैं उसी प्रकार विद्वज्जन भी भावों और अभिनय से सम्बद्ध स्थायी भावों का मन से आस्वादन करते हैं। स्मरण रहे भरत ने भावों की अभिनिर्वृत्ति की व्याख्या भी की है और उनका कहना है कि रसों से भावों की या भावों से रसों की अभिनिर्वृत्ति होती है। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है क्योंकि भावों से रसों की सिद्धि अर्थात् अभिनिर्वृत्ति तो देख पड़ती है लेकिन रसों से भावों की अभिनिर्वृत्ति नहीं दृष्टिगोचर होती! यथा—अत्राह किं रसेभ्यो भावानाम भिनिर्वृत्ति रुताहो भावेभ्यो रसानामिति। उच्यते—केषांचिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिष्पत्तिरिति तन्न। कस्मात। दश्यते हि भावेभ्यो रसानाभिनिर्वृत्तनि तु रसेभ्यो भावानाभिनिर्वृत्तिरिति" भरत द्वारा इतनी स्पष्ट व्याख्या कर देने पर भी परवर्ती आचार्यों में इस विषय पर वादविवाद होता रहा कि भरत के रस-सिद्धान्त में प्रयुक्त 'संयोग' और 'निष्पत्ति' नामक शब्दों का वास्तविक अर्थ क्या है? इसका कारण यह है कि भरत के इस सूत्र से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वस्तुतः रसनिष्पत्ति किसमें होती है—नाटक के पात्र में, अभिनेता में या दर्शक में? अतएव आचार्यों ने अपनी-अपनी धारणाओं के अनुकूल भरत के रस-सिद्धान्त की व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। यों तो इन आचार्यों की संख्या ग्यारह कही जाती है परन्तु इनमें से भट्ट लोल्लट, भट्ट शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्ताचार्य नामक चार आचार्यों के मत अधिक विचारणीय हैं।

भरत मुनि के मूल रस सूत्र की सर्वप्रथम व्याख्या भट्ट लोल्लट ने की है और रस विषयक उनका मत उत्पत्तिवाद या आरोपवाद कहलाता है। चूँकि वे मीमांसा सिद्धांत के अनु-

यायी थे और मीमांसा वेदवादी दर्शन है तथा वेद की प्रामाणिकता के हेतु किसी बाह्य-साधन की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती अतः उसे 'स्वतः प्रामाण्यवाद' भी कहा जाता है। मीमांसकों ने प्रत्यक्ष ज्ञान तथा स्मृति ज्ञान नामक ज्ञान के दो प्रकार माने हैं और उनका कहना है कि किसी वस्तु के ज्ञान का प्रमाण वह वस्तु स्वयं ही है तथा किसी विशिष्ट समय में प्रतीत होने वाला किसी वस्तु का बोध उस समय में उसका सत्य ज्ञान ही है और चाहे अन्य किसी समय में हमें यह जान पड़ता हो कि अमुक वस्तु वह नहीं है जो कि हमें प्रतीत हुई थी लेकिन जब कि उस समय उस वस्तु के सम्बन्ध में हमें जो बोध हो रहा है वह ज्ञान किसी प्रत्यक्ष विरोध की जानकारी के अभाव में हमारे लिए सत्य ही समझा जायगा। रस्सी को भूमि पर पड़ी हुई देख कर एक ओर तो हमें धरती पर पड़ी हुई किसी लम्बी टेढ़ी वस्तु की अनुभूति होती है और दूसरी ओर सर्प की भ्रांति होती है। स्मरण रहे हम उस समय यह नहीं जान पाते कि वस्तुतः ये दो पृथक् वस्तुएँ हैं या दोनों में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध है अतएव एक वस्तु के सत्सदृश किसी अन्य वस्तु को समझ कर हम उस प्रथम वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप कर लेते हैं और उसी प्रकार का व्यवहार करने लगते हैं जैसा कि हमें दूसरी वस्तु के प्रति करना चाहिए। संक्षेप में किसी भी अन्य वस्तु में किसी दूसरी अन्य वस्तु के धर्म की बुद्धि लाने का नाम ही आरोप है। मीमांसावादी भ्रम की सत्ता को स्वीकार नहीं करते और उनकी दृष्टि में भिन्न तत्त्व का बोध न होने के कारण तत्कालीन ज्ञान सत्य ही है; भ्रांति नहीं। इस प्रकार मीमांसा सिद्धांत के अनुयायी भट्ट लोल्लट का मत है कि रस तो मुख्य रूप से नाटकीय कथा के मूल नायक में ही होता है और उसका सम्बन्ध भी उसी से है अतः 'रामायण' में सीता का साक्षात्कार होने पर राम के हृदय में जो एक मनोहर भाव विशिष्ट परिस्थितियों में अंकुरित होकर प्रेम का रूप धारण करता है वही वास्तविक रस है। वस्तुतः यही घटना नाटक में भी अंकित की जाती है और रंगमंच पर अभिनय करने वाला जब निपुण अभिनेता राम का अभिनय करने लगता है तब उसके इस कुशल अभिनय का दर्शकों पर यह प्रभाव पड़ता है कि वे उस अभिनेता अर्थात् अनुकरण करने वाले अनुकर्ता को ही राम अर्थात् अनुकार्य समझ लेते हैं। स्मरण रहे इस प्रसंग में भट्ट लोल्लट द्वारा कथित "स च रसः मुख्ययावृत्या रामादावनुकार्येऽनुकर्तरि च नटे रामादि-रूपतानुसन्धानबलात्" नामक उक्ति में प्रयुक्त 'अनुसंधान' शब्द पर विचार करते हुए परवर्ती विचारकों ने उसका अर्थ आरोप ही माना है और सम्पूर्ण उक्ति का अर्थ "नट में वास्तविक अनुकार्य रामादि का आरोप करके सामाजिक चमत्कृत होना" किया है। इस प्रकार भट्ट लोल्लट की व्याख्या मीमांसा के आधार पर की गयी प्रतीत होती है तथा उनके मत को रस्सी तथा सर्प वाले दृष्टान्त के द्वारा सरलता से स्पष्ट किया जा सकता है और हम कह सकते हैं कि यों तो रस की स्थिति वास्तव में अनुकार्य रामादि में ही है लेकिन अभिनेता भी अपने कौशल से ऐसा प्रदर्शन करता है कि हम उसे ही अनुकार्य अर्थात् रामादि ही समझ लेते हैं। वास्तव में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की उत्पत्ति राम के हृदय में ही होती है परन्तु कुशल अभिनेता भी राम का इतना सुन्दर वास्तविक अनुकरण करता है कि दर्शक उसी को राम समझते हैं और उसके अभिनय से आनन्द भी प्राप्त करते हैं अतएव दर्शकों को वास्तविक आनन्दानुभूति तभी होती है जब कि अभिनेता में राम की सादृश्यता आ जाती है।

चूंकि मीमांसा सिद्धांत में भ्रान्ति को स्थान नहीं दिया जाता अतः भट्ट लोल्लट ने भी

अपनी व्याख्या में भ्रम की शंका तक नहीं की और उनकी दृष्टि में जिस समय दर्शक राम तथा अभिनेता के अंतर का ज्ञान न रखकर अभिनेता को राम समझ लेते हैं, उस समय वह ज्ञान यथार्थ ही माना जायगा और हम उसे भ्रम नहीं कह सकते चाहे अन्य दार्शनिक उसे भ्रान्ति कहें तो कह सकते हैं। भट्ट लोल्लट की दृष्टि में भरत के रस सिद्धांत सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' शब्द का अर्थ है 'सम्बन्ध' जो कि उत्पाद्योत्पादक भाव, गम्यगमक भाव, और पोष्य-पोषक भाव नामक तीन प्रकार का होता है। भरत के सूत्रानुसार—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस निष्पत्ति होती है लेकिन भट्ट लोल्लट का मत है कि ये तीनों तीन प्रकार के संयोग (सम्बन्ध) से रस उत्पन्न करते हैं अर्थात् विभाव द्वारा रस उत्पन्न होने पर विभाव (आलंबन और उद्दीपन) उत्पादक है तथा रस उत्पाद्य; अनुभावों के द्वारा रस प्रतीति या रसाभिव्यक्ति होने पर अनुभाव गमक (प्रतीत कराने वाला) कहलाता है और रसगम्य (प्रतीत होने वाला) तथा व्यभिचारी भाव से रस की पुष्टि होने पर वे सब रस के पोषक कहलाते हैं और रस पोष्य। इस प्रकार हम देखते हैं कि भट्ट लोल्लट ने निष्पत्ति शब्द के उत्पत्ति, अभिव्यक्ति या प्रतीति और पुष्टि नामक तीन अर्थ माने हैं अतः भरत ने जो संयोग शब्द प्रयुक्त किया है वह भी एक प्रकार का न होकर उपर्युक्त तीनों प्रकार का होता है। भरत मुनि ने इसी संयोग से रस निष्पत्ति होना स्वीकार किया है जिसका कि अभिप्राय है रस की उत्पत्ति। अतः भट्ट लोल्लट के इस मत का दूसरा नाम उत्पत्तिवाद भी है क्योंकि उनकी दृष्टि में स्थायी भाव से विभावादि का संयोग होने पर रसनिष्पत्ति होती है तथा इस प्रकार विभाव चित्त में स्थायी रहने वाली वृत्ति की उत्पत्ति में कारण स्वरूप होते हैं। यथा—"विभावादि संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रस निष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तिः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्।"

यद्यपि भट्ट लोल्लट की व्याख्या में भरत मुनि के सूत्र को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है लेकिन परवर्ती आचार्यों ने उनके मत का खंडन ही किया है। कहा जाता है कि उन्होंने नाटक के नायक में रस का उत्पन्न होना और अभिनेता में उस रस की प्रतीति होना स्वीकार किया है अतः उनके मत से यह स्पष्ट नहीं होता कि वस्तुतः दर्शक का रस से या नाटक से क्या संबंध है? यदि रस नाटक में ही उत्पन्न होता है और अभिनेता को उसकी प्रतीति होती है तब दर्शकगण बिना किसी प्रयोजन के अभिनय का अवलोकन करने के हेतु क्यों उत्सुक रहते हैं; राम और सीता या अन्य इसी प्रकार के पौराणिक और ऐतिहासिक पात्रों को अवतीर्ण हुए न जाने कितनी शताब्दियाँ बीत गयी होंगी और न जाने किन परिस्थितियों में किन आचरणों पर उन्होंने अपने भाव व्यक्त किये होंगे। अतः अब इस वर्तमान अभिनय से उनका सम्बन्ध किस प्रकार माना जा सकता है? फिर उनका अनुकरण करने वाले अभिनेता में यदि रस उत्पन्न होता है तो दर्शकों का इससे क्या सम्बन्ध है? साथ ही एक ही कथा को विभिन्न रूपों में अंकित किया जाता है अतः ऐसी स्थिति में यह कैसे निर्णय किया जा सकता है कि नायक के हृदय में कौन मुख्य रस उत्पन्न हुआ होगा और फिर बहुत-सी कथाएँ तो पूर्णतः कल्पित होती हैं अतः कल्पित कथा में रस स्थिति किसमें मानी जायगी और क्या ऐसी स्थिति में रस-उत्पत्ति नहीं होगी? भट्ट लोल्लट का यह कथन कि अभिनय करने वाले अभिनेताओं को भी रस प्रतीति होती है अर्थात् उनमें भी मूल पात्रों का अनुकरण करने के फलस्वरूप रस उत्पत्ति होती है, उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। यदि रस उत्पत्ति अभिनेताओं में ही हुआ करती तो फिर वे ही नाटक का रसास्वादन

कर लेते और दर्शकों की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती ? बिना किसी आनन्ददायक प्रयोजन के दर्शक उनका अभिनय देखने ही क्यों जाते ? वस्तुतः अभिनेता तो आनन्द प्रदान करते हैं और स्वयं महामुनि भरत ने भी नाट्यशास्त्र के इक्कीसवें अध्याय में स्वीकार किया है कि अभिनय द्वारा नाटक का भाव दर्शकों तक पहुँचाया जाता है अर्थात् उसका रसास्वादन विशेष रूप से दर्शकों द्वारा ही होता है और उन्हीं पर अभिनेताओं के अभिनय का प्रभाव भी पड़ता है—

> यास्मात्स्वभावं संहृत्य सांगोपांगगतिक्रमैः ।
> अभिनीयते गम्यते च तस्माद्वै नाटकं स्मृतम् ॥

साथ ही नाटक के पात्रों की वेशभूषा आदि बाह्य बातों का अनुकरण करना तो सहज है क्योंकि वेश-विन्यास तो साध्य हैं परन्तु मानस में उद्वेलित होने वाली भाव लहरियों को अभिनेता किस प्रकार अपने में प्रवाहित कर सकते हैं; क्योंकि पात्र परस्पर एक दूसरे को राम और सीता नहीं मानते अपितु अपनी सत्ता पृथक् रख कर उनके कार्यों का अनुकरण मात्र करते हैं और दर्शक को जिस भाव की कभी अनुभूति नहीं हुई हो वह पात्रों के असत्य अनुकरण मूलक अनुभवों से कैसे हो सकती है। वस्तुतः विभाव और रस का सम्बन्ध स्पष्ट करने में भट्ट लोल्लट असमर्थ ही रहे हैं क्योंकि कारण और कार्य के उदाहरण में जो कारण के नष्ट होने पर भी कार्य की सत्ता रहती है लेकिन रस के विषय में यह बात नहीं होती कारण कि विभाव के बिलीन होते ही रस भी विलीन हो जाता है अतः इसे लौकिक रूप में कार्य नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः कार्य कारण की एक साथ प्रतीति नहीं होती और जब कार्य की प्रतीति होती है तब कारण की प्रतीति नहीं होती लेकिन विभाव और रस के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। इस प्रकार भट्ट लोल्लट के आरोपवाद को न केवल भ्रम मात्र मान कर विचारकों ने तिरस्कृत कर दिया है अपितु उनके उत्पत्ति सम्बन्धी विचार को भी नैयायिकों ने अस्वीकार कर दिया है।

रस-सिद्धान्त सम्बन्धी भरत सूत्र के दूसरे व्याख्याता शंकुक थे जिनका मत न्यायशास्त्रानुमोदित था और जो कि अनुमितिवाद या अनुमानवाद के नाम से प्रसिद्ध है। शंकुक की दृष्टि में भरत सूत्र के संयोग शब्द का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध है और निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति या अनुमान है अतः उनका कहना है कि रस-निष्पत्ति विभावादिकों से अनुमाप्य अनुमापक भाव के सम्बन्ध से होती है अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव ये तीनों रस के अनुमापक अर्थात् अनुमान कराने वाले हैं और रस द्वारा उनका अनुमेय अर्थात् अनुमान होने वाला है। उदाहरणार्थ जिस प्रकार अग्नि के अनुमापक अनुमेय सम्बन्ध से जहाँ धुआँ होता है वहाँ स्वाभाविक ही अग्नि का अनुमान हो जाता है उसी प्रकार जहाँ विभाव आदि तीनों होते हैं वहाँ रस होने का अनुमान अवश्य हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि रस मुख्यतया नायक या पात्र में ही विद्यमान रहता है परन्तु जब अभिनेता विभावादि द्वारा नाटक के पात्रों का अभिनय करता है तब हम उस अभिनेता में भी नाटक के पात्रों के भावों—रस—का अनुमान कर लेते हैं। शंकुक का कहना है कि दर्शक आदि में रस की स्थिति नहीं होती तथा वह तो निष्णात अभिनेता को ही नायक समझ लेता है और इसी भ्रांति के फलस्वरूप दर्शकों को अभिनेता में नायक के भावों का अनुमान हो जाता है। अपने मत को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि संसार में सम्यक् ज्ञान—अर्थात् राम को राम ही समझना, मिथ्या ज्ञान—अर्थात् कोई व्यक्ति

पहले राम प्रतीत होता हो बाद में यह समझ में आए कि वह राम नहीं है; संशय ज्ञान—अर्थात् वह राम है या नहीं और सादृश्य ज्ञान अर्थात् किसी व्यक्ति को राम के समान समझना नामक चार प्रकार के ज्ञान प्रचलित हैं परन्तु इन लोक प्रसिद्ध ज्ञानों के साथ-साथ चित्र-तुरंग न्याय नामक एक अन्य प्रकार का ज्ञान भी है जिसमें कि चित्रांकित घोड़े को देख कर ही घोड़ा होने का ज्ञान हो जाता है। शंकुक का कहना है कि विचारक चित्र-तुरंग न्याय को अन्य चार प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण समझते हैं क्योंकि न तो सम्यक् ज्ञान की भाँति चित्रलिखित अश्व को देखकर यह कहा जा सकता है कि यह घोड़ा ही है; न मिथ्या ज्ञान की भाँति चित्रांकित तुरंग को पहले तो अश्व जान कर बाद में यह कहा जा सकता है कि यह अश्व नहीं है; न संशय ज्ञान की भाँति यह अश्व जैसा है—यह तो कहा जा सकता है अतः इन चारों से विलक्षण चित्र-तुरंग ज्ञान के अनुसार अभिनेता को रामादि के वेश में देखकर 'यह राम है' यह समझ लेना चाहिए। स्मरण रहे कि उसमें (अभिनेता में) विभावादि तीनों सामाजिकों के दृष्टिपथ होने लगते हैं क्योंकि नाट्यकला में निष्णात नट रामादि के अनुकरण (अभिनय) करने में अत्यंत अभ्यस्त होता है अतः उसे अभिनय करते समय स्वयं यह ध्यान नहीं रहता कि मैं किसी का अनुकरण कर रहा हूँ और चूंकि वह अपने को रामादि ही समझने लगता है अतः उनकी सारी अवस्थाओं को भी अपने में उनके समान ही अनुभव करता है। यद्यपि दर्शक अभिनेता में ही राम आदि की रति का अनुमान करते हैं तथापि काव्य नाटकों के वस्तु सौन्दर्य के प्रभाव से उसमें रसमयता आ जाती है अतः वे रति आदि भाव अन्य अनुमेय से विलक्षण हो जाते हैं और उनको (दर्शकों को) यह ध्यान नहीं रहता कि हम दूसरों की रति आदि का अनुमान कर रहे हैं अतः अपने में न रहता हुआ भी उनको अपनी वासना से आस्वादित होता हुआ रसानुभव होने लगता है।

स्मरण रहे अनुमान की सिद्धि में पक्ष, साध्य और हेतु नामक तीन बातों पर ध्यान दिया जाता है। पक्ष के ही लिए अनुमान की सृष्टि होती है और साध्य ही को पक्ष के सम्बन्ध में किया जाता है तथा पक्ष के सम्बन्ध में जिसके द्वारा साध्य सिद्ध किया जाय वह 'हेतु' कहलाता है। वस्तुतः वाक्यों द्वारा व्यक्त करते समय अनुमान में सर्वप्रथम पक्ष का सम्बन्ध साध्य के साथ स्थापित किया जाता है तथा विशेषतः अनुमान के लिए पक्ष में हेतु की स्थिति तथा हेतु और साध्य में व्याप्ति सम्बन्ध की स्थिति आवश्यक समझी जाती है। अन्य व्यक्ति को समझाने के लिए अनुमान में क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन नामक पंचावयव वाक्य से काम लिया जाता है—

१. प्रतिज्ञा—देवदत्त मरणशील है।
२. हेतु—क्योंकि वह मनुष्य है।
३. उदाहरण—सभी मनुष्य मरणशील हैं जैसे जगदीश आदि।
४. उपनय—देवदत्त भी मनुष्य है।
५. निगमन—अतः वह मरणशील है।

इस समस्त पृष्ठभूमि के आधार पर शंकुक के मतानुसार संक्षेप में रस निष्पत्ति इस प्रकार समझायी जा सकती है—विभाव, अनुभाव तथा संचारियों की सहायता से रसानुमति होती है जो कि रस के लिए कारण स्वरूप है और जिनको क्रमशः कारण, कार्य तथा सहकारी

कहा जायगा। उदाहरणतः शंकुतला आदि आलम्बन विभाव तथा उपवनादि उद्दीपन विभाव स्थायी भाव के कारण माने जायेंगे। भौंह की गति तथा कटाक्षादि उसी रति या अनुराग के कार्य स्वरूप हैं और लज्जा हासादि संचारी भाव रति के सहकारी समझे जायेंगे। अतः इस प्रकार विभाव रूपी कारण द्वारा रति रूपी कार्य की सिद्धि होगी। यह स्थिति पूर्ववत् अनुमान से विभिन्न नहीं है तथा रति कार्य सिद्ध किये जाने पर शेषवत् से भी विभिन्न नहीं है और संचारी का सहकारी होना सामन्यतो दृष्ट की स्थिति है। इसका अभिप्राय यह है कि जब कहीं किसी उपवन में दुष्यंत द्वारा सीता के दर्शन का वर्णन, कटाक्षादि का निरूपण तथा लज्जा-हास आदि का वर्णन या दर्शन होता है तो हम तुरन्त अनुमान कर लेते हैं कि अमुक के मानस में रति का उद्‌बोध हुआ होगा और इसे हम उपरिलिखित पंचावयव वाक्य द्वारा इस प्रकार समझा सकेंगे—

१. प्रतिज्ञा—शंकुतला के हृदय में दुष्यंत के प्रति रति उत्पन्न हुई।
२. हेतु—दुष्यंत को देखकर शंकुतला ने अनुरागपूर्ण दृष्टि से दुष्यंत की ओर दृष्टि-पात किया।
३. उदाहरण—जिसे दुष्यंत से रति नहीं वह उसकी ओर इस प्रकार दृष्टिपात नहीं करती।
४. उपनय—शंकुतला विलक्षण कटाक्षादि से युक्त है।
५. निगमन—अतः शंकुतला दुष्यंत विषयक रति से युक्त है।

इस प्रकार न्याय दर्शन के अनुयायी शंकुक ने अनुमतिवाद को प्रश्रय देकर अनुकार्यों (राम, सीता, दुष्यंत, शकुंतलादि) को ही विभाव मानते हुए उनके ही अनुभवों और संचारियों को अनुभाव तथा संचारी मानकर नट अभिनेता द्वारा उनका अनुकरण होना स्वीकार किया हैं। उनका कहना है कि दर्शकगण चित्र-तुरंग न्याय से ही अभिनेता को अनुकार्य समझकर उसके अनुभावादि द्वारा उसमें स्थायी भाव का अनुमान कर लेते हैं और इस प्रकार अनुमान का आधार कृत्रिम होते हुए भी अभिनेता की कलाकुशलता से पूर्वानुभव के संस्कारों से युक्त दर्शकों के मन में वह स्थायी भाव का अनुमान ही रस बन जाता है अतः अनुमति सिद्धान्त के अनुसार अभिनेता का चित्र-तुरंग न्याय राम से तादात्म्य कर उसके अनुभावादि द्वारा गम्यगमक वा अनुमाप्य-अनुमापक भाव से दर्शकों द्वारा रसानुमति होती है। यों तो चित्र-तुरंग न्याय ज्ञान पर भी यह आपत्ति की जाती है कि जब वह चारों प्रकार के किसी ज्ञान में भी नहीं आता तो उसकी सम्भावना ही क्या होगी, परन्तु इस तर्क का समाधान इस प्रकार कर दिया जाता है कि जो कार्य होता है वह यदि शास्त्र की व्याख्या में न आए तो उसे शास्त्र की ही त्रुटि समझना चाहिए क्योंकि 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणं' तथा चाहे साधारणतः अनुमान मात्र से हर्ष-विषाद की प्रतीति न हो सकती हो अर्थात् जल का अनुमान करने से आशा हो सकती है लेकिन पिपासा शांत नहीं होती परन्तु नाटक में अभिनय कला के सौन्दर्य के फलस्वरूप और दर्शकों के पूर्वानुभवजन्य संस्कारों के कारण यह अनुमान भी रसकोटि तक पहुँच जाता है।

भट्ट लोल्लट के उत्पत्ति सिद्धान्त की भाँति शंकुक का अनुमति सिद्धान्त भी विद्वानों के मध्य सम्मानित न हो सका और उसके विरुद्ध कई तर्क उपस्थिति किए गए। 'अभिनव भारती' में तो अभिनव गुप्त ने अपने गुरु भट्ट तौत को शंकुक के मत का प्रबल विरोधी

कहा है और उन्होंने अनुमतिवाद का अत्यंत विस्तार के साथ खंडन भी किया है।[1] भट्ट तौत का कहना है कि अनुमान के आधार पर तो रस निष्पत्ति का विचार कभी हो ही नहीं सकता क्योंकि अनुमान तो हेतु की विशुद्धि पर आश्रित रहता है अर्थात् स्वयं अनुमान के लिए कोई कारण आवश्यक है लेकिन रसोद्भव के लिए कारण होते हुए भी शास्त्रीय दृष्टि से अनुमान का कोई अस्तित्व नहीं होता। इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि अनुमान कभी भी हर्षपूर्ण नहीं होता क्योंकि मनमोदक से भूख नहीं मिटती। चित्र-तुरंग को देखकर और उसे घोड़ा मान लेने पर भी उस पर सवारी नहीं की जा सकती तथा इसी प्रकार किसी भी मिष्ठान्न का चित्र मात्र देख लेने से उसमें स्वाद नहीं आ जाता। यद्यपि शंकुक ने यह मान लिया है कि दर्शकों के मानस में भी अनुमान के बल पर आनन्दानुभूति होती है किन्तु यह मत पूर्णतः निराधार है क्योंकि रंगमंच पर जिस विभाव (आलम्बन) अनुभाव एवम् संचारी भाव का प्रदर्शन होता है और जिसकी रसानुमति दर्शक द्वारा होने की बात कही गयी है वह तो अभिनेता में ही रहता है अतः दर्शक को भले ही अनुमान द्वारा थोड़ा बहुत आनन्द प्राप्त हो सके लेकिन वह उस प्रकार का आनन्द किसी भी भाँति नहीं होता जो साक्षात् रसानुभूति के समय होता है। किसी भी मिष्ठान्न को दूर से देखकर मुँह में पानी तो आ सकता है लेकिन उससे यही भास होता है कि उसके आस्वादन के हेतु अत्यन्त तीव्र उत्सुकता है परन्तु वह आस्वादन का आनन्द तो किसी भी भाँति नहीं है। इस प्रकार भट्ट तौत ने जो शंकुक के मत का खंडन किया है उसके साथ-साथ हम यह भी कह सकते हैं कि कभी भी आनन्दानुभूति केवल अनुमान मात्र से ही नहीं होती, अपितु यह तो प्रत्यक्षानुभूति में ही संभव है। साथ ही प्रत्यक्षानुभूति भी उसी समय होती है जब कि मानवेन्द्रियाँ मन के संयोग से उस आनन्द में भाग लें, लेकिन नाटक में तो दर्शक की इन्द्रियाँ मन के साथ इतना अधिक रम जाती हैं और वे अभिनेताओं के अभिनय, गीत, दृश्य आदि में इस प्रकार पूर्णतः तन्मय हो जाती हैं कि दर्शकों को अनुमान करने का अवसर ही नहीं प्राप्त होता। वस्तुतः अनुमान के लिए तो एक ऐसी अनिश्चित वस्तु आवश्यक है जिसके आधार पर हम निश्चित अनुमान कर सकें परन्तु चूँकि नाटक में प्रत्येक अभिनेता वास्तविक मूल नायक या पात्र ही समझ लिया जाता है और वह जो भी आचरण करता है उससे दर्शक आनन्द प्राप्त करता है अतः अनुमान से रसोद्भव होना असंभव ही है। इतना ही नहीं शंकुक के अनुमति सिद्धांत पर एक आपत्ति यह भी की जाती है कि यदि आलम्बन के प्रति नायक के प्रेमभाव का दर्शक ही में उदय होना मान लिया जाय तो फिर पूज्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में इस अनुमान का निर्वाह किस प्रकार होगा क्योंकि नाटक के पात्र राम का सीता के प्रति जो स्निग्ध रति भाव है यदि वही कहीं दर्शक का भी सीता के प्रति होने लगेगा तो फिर हिन्दू संस्कृति की दृष्टि से यह अनुचित ही समझा जायगा। इस प्रकार की स्थिति में रस नहीं रसाभाव की निष्पत्ति ही संभव होगी। साथ ही यह भी स्पष्ट नहीं होता कि दुःखात्मक अनुभवों अर्थात् भय और क्रोध में भयानक तथा रौद्र रस की प्रतीति किस प्रकार हो

---

[1] तेन रतिरनुक्रियमाणा शृंगार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं च युक्तम् . . .तदिदमप्यन्तस्तत्व शून्यं न विमर्दक्षममित्युपाध्यायः (भट्ट तौताः)।

—अभिनव भारती, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २७५

सकती है जब कि विशेष रूप से रस को आनन्द रूप ही माना जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि शंकुक ने अपने अनुमिति सिद्धान्त में अनुकरण और अनुमान नामक जिन दो बातों पर जोर दिया है, विचार करने पर वे दोनों ही निराधार प्रतीत होती हैं क्योंकि न तो स्थायी भाव का ही और न सहचारियों का ही अनुकरण हो सकता है तथा अनुमान बुद्धि का विषय है और मिथ्या के आधार पर सत्य की प्रतीति कदापि नहीं हो सकती; इसलिए चूंकि अनुमान तो केवल अनुमान मात्र रहता हैं अतः वह कभी भी दर्शकों के भावानुकूल नहीं होता। इस प्रकार भरत मुनि के मूल सूत्र की व्याख्या में शंकुक भट्ट लोल्लट की अपेक्षा कुछ आगे बढ़े हुए अवश्य प्रतीत होते हैं, परन्तु उनकी व्याख्या से भी रसवाद के यथार्थ स्वरूप की स्थापना नहीं हो पाती।

भरतसूत्र के तीसरे व्याख्याता भट्टनायक का मत युक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है तथा वे सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने प्रेक्षक का महत्व स्वीकार करते हुए दर्शकों के हृदय में रस की अवस्थिति मानी है। यों तो भट्टनायक को मीमांसक, सांख्यानुगामी और वेदान्ती भी कहा जाता है लेकिन अधिकांश विद्वान उन्हें सांख्यानुगामी ही मानते हैं और विचार करने पर रस सम्बन्धी उनकी व्याख्या सांख्यशास्त्र के अनुकूल ही प्रतीत होती है। भट्टनायक का विचार है कि रस कीं न तो उत्पत्ति और प्रतीत (अनुमति) ही होती है और अभिव्यक्ति ही तथा अनुभव और स्मृति के प्रभाव में रस प्रतीत असंभव ही है। वे एक व्यक्ति में उद्‌भव रस का आस्वादन अन्य व्यक्ति में अनुमान द्वारा असंभव ही मानते हैं क्योंकि अनुमान ज्ञान से किसी भी वस्तु का आनन्द प्रत्यक्ष ज्ञान की भाँति नहीं होता। चूंकि नाटक के पात्रों में न तो रसानुभूति ही होती है और न अनुमान से सामाजिकों में ही रस प्रतीति संभव है अतः रति आदि भाव की सुन्दरता के या चमत्कार के अनुमान से ही आनन्दोपलब्धि हो सकती है ऐसी कल्पना करना निरर्थक ही है क्योंकि वास्तव में उन्हें भोगात्मक आनन्द ही प्राप्त होता है। अतः भट्टनायक ने "तस्माद्विभावादिभिः संयोगाद्‌भोज्य-भोजकभाव सम्बन्धाद्रस्य निष्पत्ति-र्भुक्तिरिति सूत्रार्थाः" नामक उक्ति के अनुसार भरतसूत्र में दिये गये संयोग शब्द का अर्थ भोज्य-भोजक भाव सम्बन्ध और निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति का भोग मान कर विभावादिकों को इसी सम्बन्ध से रस निष्पत्ति होना स्वीकार किया है।

भट्टनायक का कहना है कि काव्य शब्दात्मक है और उसकी तीन क्रियाएँ हैं जो कि रस बोध का कारण होती हैं। काव्य की ये तीन क्रियाएँ क्रमशः अभिधा, भावना या भावकत्व और भोग या भोजकत्व कहलाती हैं तथा इन्हें शब्दों के तीन व्यापार भी कहा जाता है और ये ही रस के आविर्भाव की तीन शक्तियाँ भी कहलाती हैं।[1] अभिधा क्रिया काव्य या नाटक का अर्थ समझने में सहायक होती है और भावना या भावकत्व क्रिया ही साधारणीकरण क्रिया कहलाती है जिसमें कि हम भावना अर्थात् बार-बार अर्थ का चिन्तन कर नाटक के पात्रों या नायक आदि

---

[1] मम्मट ने भट्टनायक के मत को इस प्रकार स्पष्ट किया है :—.........न तातस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसःप्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यंज्यते अपितु काव्यनाट्ये च अभिधातो द्वितीयेन विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेक प्रकाशा-नन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः—(काव्यप्रकाश, ४)।

को विशिष्ट व्यक्ति (राम, सीता, शकुंतला, दुष्यंत आदि) न मान कर उन्हें अपना जैसा ही साधारण व्यक्ति समझ लेते हैं। इस प्रकार भावना क्रिया से नाटक की कथा के व्यक्तियों का पौराणिक, ऐतिहासिक और व्यक्तिगत स्वरूप नहीं रह पाता तथा वे साधारण होकर हमारे रसास्वादन के अनुकूल प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह है कि भावना से व्यक्ति विशेष में उद्भूत रति आदि स्थायी भाव व्यक्तिगत सम्बन्ध को तज कर सामान्य रूप से प्रतीत होने लगते हैं जिससे कि विभावादि का व्यक्तिगत सम्बन्ध साधारण होकर मनुष्यमात्र के अनुभव योग्य हो जाता है। उदाहरणार्थ इस क्रिया द्वारा अभिज्ञान शाकुंतल के दुष्यंत-शकुतला प्रेम में दुष्यंत शकुन्तला का प्रेम व्यापार न रह कर सामान्य दाम्पत्य प्रेम झलकने लगता है अर्थात् साधारण पुरुष-स्त्री के प्रेम व्यापार की अनुभूति होती है। जिस शक्ति द्वारा विशेष को साधारण समझ लेने की क्रिया होती है उसे भावकत्व या भावना कहा जाता है और चूंकि इस क्रिया से दर्शक सहसा दुष्यंत शकुन्तला के प्रेम व्यापार को सर्वसाधारण का प्रेम समझ लेता है अतः उसे भी रसोपभोग हो जाता है क्योंकि यह भावना सब बातों को साधारण बना देती है जिससे कि उसमें किसी व्यक्ति विशेष या देश काल आदि का सम्बन्ध प्रतीत न होकर रसास्वाद का प्रतिकूलावरण दूर हट जाता है। भावना की यह क्रिया साधारणीकरण कहलाती है। भोग या भोजकत्व नामक तीसरी क्रिया द्वारा भावना के प्रभाव से अर्थात् अपनापन और परायापन हट जाने पर साधारणीकृत विभावादि से दर्शकों को निर्बाध रसास्वाद होने लगता है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि रस मीमांसा के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का भी मत बहुत कुछ भट्टनायक से मिलता-जुलता-सा है यद्यपि उन्होंने इन वृत्तियों की स्थापना नहीं की है तथापि कवि कर्म के विषय में उनके जो मत हैं उसे ध्यान में रखते हुए शुक्ल जी के विचार भट्टनायक की 'भोजकत्व वृत्ति' के अन्तर्गत ही रखे जा सकते हैं क्योंकि दोनों का लक्ष्य एक-सा है। स्मरण रहे कि "सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दसंविद्धिश्रान्ती" के अनुसार भोग का अर्थ सत्वगुण के उद्रेक से आविर्भूत आलोकरूप आनन्दानुभूति है। कहा जाता है कि भोग क्रिया के अवसर पर दर्शक के मानस में सब प्रकार के राजस और तामस भाव अर्थात् संसार भर के अन्य समस्त भाव दूर होकर पूर्ण रूप से एकमात्र शुद्ध सात्विक भाव उत्पन्न होता है जिसके प्रकट होते ही प्रकाश-रूप आनन्द ज्ञान अर्थात् आत्मानन्द में वह तल्लीनता आ जाती है जिसके द्वारा रसानुभूति संभव हो सकती है अन्य सम्बन्धी ज्ञान से विरहित होने के फलस्वरूप ही यह सुखानुभव से विलक्षण भी होता है। संक्षेप में भट्टनायक का यह मत है कि काव्य नाटकों के श्रवण या अवलोकन पर सर्वप्रथम तो उसका अर्थ समझ में आ जाता है फिर भावना या भावकत्व क्रिया द्वारा यह विस्मरण कर दिया जाता है कि काव्य नाटकों में जो कुछ सुना और देखा जाता है वह किसी दूसरे से सम्बन्ध रखता है या हमारा ही है, तत्पश्चात सत्वगुण के उद्रेक और आत्मचैतन्य से आलोकित साधारणीकृत रति आदि स्थायी भावों का जो अनुभव होता है वही रस कहलाता है। इस प्रकार भट्टनायक का कहना है कि रसानुभूति में काव्य की इन तीन क्रियाओं से ही कार्य सिद्धि हो जाती है तथा न तो आरोप की ही आवश्यकता प्रतीत होती है और न अनुमान की।

विचारकों ने भोग तथा सत्वोद्रेक शब्दों को लेकर भट्टनायक के इस मत का सम्बन्ध सांख्यशास्त्र से स्थापित किया है। सांख्य के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मक है तथा स्वतन्त्र पुरुष

भी प्रज्ञा के आवर्तन में पड़कर इस त्रिगुण से प्रभावित होकर अनेक विविध रूपों में अभिव्यक्त होता है और ये त्रिगुण भी विश्व की प्रतिष्ठा के हेतु इस प्रकार सम्मिलित होकर संचालित होते हैं जिस प्रकार तेल, आग और बत्ती तीनों ही संयुक्त होकर प्रदीप द्वारा प्रकाश करते हैं। इन तीनों में कभी कोई एक प्रधान रहता है और कभी अन्य दूसरा, लेकिन इनका स्वभाव तो विभिन्न ही रहता है। वस्तुतः सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण नामक त्रिगुणों में क्रमशः प्रीति, अप्रीति तथा अप्रीतिमय होने के कारण रज दुःखकारी तथा तम विषादमय प्रतीत होता है। उद्रेक या प्राधान्य का अर्थ अपने से भिन्न दो गुणों का तिरस्कार कर अपना प्रादुर्भाव करना है और चूंकि सत्वगुण सुखकारी होने के कारण उच्च है अतः सत्वोद्रेक से अभिप्राय रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्वगुण का प्रकाश करना ही है लेकिन सत्वोद्रेक द्वारा आनन्दानुभूति का विचार भट्टनायक ने सांख्यशास्त्र द्वारा ही ग्रहण किया है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सांख्यमतानुयायी इस त्रिगुणात्मक बंधन से अपनी मुक्ति का उपाय खोजते हैं, क्योंकि इस बंधन में पड़कर व्यक्ति अपने आपको विस्मरण कर जाता है और इन त्रय तापों के कारण वह जब तब उत्पन्न होने वाले दुःखों को अज्ञानतावश अपना निजी सुख-दुःख समझ लेता है। अतः सांख्यकारिकाओं में मुक्ति के हेतु एक मात्र यही उपाय माना गया है कि अन्य दो गुणों को विनष्ट कर सत्वगुण को ही प्रधानता दी जाय; क्योंकि सत्वोद्रेक द्वारा ही पुरुषप्रज्ञा-प्रभाव जनित अनेक बंधनों को नष्ट कर अपने वास्तविक स्वरूप से विज्ञ होकर कैवल्य पद को प्राप्त करता है जिसे कि सांख्यशास्त्र में मध्यस्थ स्थिति कहा गया है और इस अवस्था में व्यक्ति को साक्षी दृष्टा माना गया है। वाचस्पति मिश्र ने मध्यस्थ का अर्थ उदासीन मानते हुए उसे सुख-दुःख से हीन कहा है तथा उनका कहना है कि कैवल्य अवस्था में सत्व, रज एवं तम अर्थात् सुख-दुःख और मोह किसी की भी सत्ता नहीं रहती अर्थात् इसे मुक्ति की अवस्था कहा जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि सांख्य में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि व्यक्ति या तो भोग अर्थात् सुखानुभूति की ओर आकृष्ट होता है अथवा अपवर्ग या मोक्ष की ओर अर्थात् वह केवल एक ही स्थिति का अवलम्ब ग्रहण कर सकता है, लेकिन भट्टनायक ने इन दोनों विरोधी अवस्थाओं को स्वीकार कर यह स्पष्ट करना चाहा है कि एक ओर तो यह स्थिति साक्षात् ब्रह्मास्वाद न होकर केवल उसके अनुरूप मात्र है और दूसरी ओर वह वास्तविक सांसारिक सुख-दुःखादि अनुभव सापेक्ष्य दृष्टि से भिन्न भी है। अतः भट्टनायक ने सांख्यशास्त्रानुगामी होते हुए भी एक ही साथ परब्रह्मास्वाद तथा भोग दोनों की ही स्थिति स्वीकार कर दो विरोधी दशाओं को स्वीकार कर लिया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भट्टनायक ही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने कि दर्शक की महत्ता स्वीकार कर रस-सिद्धान्त का विवेचन किया है लेकिन उनके भुक्तिवाद में भी यह दोष माना जाता है कि उसमें सीधे रस की अवतारणा को स्वीकार न कर भावकत्व और भोजकत्व की निरर्थक कल्पना की गई है। भट्टनायक के मत को निराधार मानते हुए अभिनवगुप्त का कहना है कि उन्होंने जिन तीन वृत्तियों या क्रियाओं की कल्पना की है उनमें से अभिधा पर तो किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती; लेकिन भावना और भोग तो निरर्थक ही हैं तथा उनमें कोई भी शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। वस्तुतः भावों में तो भावकत्व गुण सहज ही विद्यमान रहता है तथा भावकत्व क्रिया या साधारणीकरण तो केवल शब्दों से न होकर रंगमंच पर उपस्थित अभिनेताओं के क्रिया

कलापों, वेशभूषा आदि सभी साधनों के समन्वय से उत्पन्न होती है और उस समय मुख्य पात्र को साधारण व्यक्ति मानना संभव नहीं होता; क्योंकि दर्शक यदि इस प्रकार की भावना करे तो उस पर घटनाओं का तनिक भी प्रभाव न पड़ेगा। यद्यपि विचारकों ने भावकत्व को अमान्य ठहराते हुए भोजकत्व क्रिया को व्यंजना ही मानकर साधारणीकरण को भी उसी व्यंजना का कार्य माना है लेकिन साथ ही वे भोग क्रिया को भी एक प्रकार से निराधार ही मानते हैं। हो सकता है दर्शक जिस समय नाटक देखता हो उस समय वह तन्मय हो जाता हो लेकिन उसकी तन्मयता में ऐसी कोई विशेष स्थिति नहीं देख पड़ती कि उसके राजसी और तामसी भाव सहसा दब जाएँ तथा सात्विक भाव जाग्रत हो उठें। साथ ही रसानुभूति की स्थिति तो नाटक में आदि से अन्त तक भी व्याप्त रह सकती है या बीच-बीच में भी आ सकती है और एक मात्र शब्दों द्वारा न तो भावना ही हो सकती है और न भोग ही।[1] अतः भावना और भोग को शब्द व्यापार मानना भी निर्मूल कल्पना ही कहा जायगा।

भरतसूत्र के चौथे व्याख्याता अभिनवगुप्त शैवदर्शन से प्रभावित थे और उनका मत अभिव्यक्तिवाद कहलाता है। अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त सभी मतों का विरोध करते हुए कहा है कि "भरतसूत्र में विभावानुभाव व्यभिचारी के संयोग का अर्थ है कि ये विभाव, अनुभाव, संचार तो व्यंजक या व्यक्त करने वाले हैं और रस है व्यंग्य जो कि व्यक्त किया जाने योग्य है तथा निष्पत्ति का अर्थ है रस की अभिव्यक्ति या व्यंजना।" इस प्रकार उनका कहना कि प्रत्येक दर्शक या श्रोता में स्थायीभाव वासना के रूप में निरन्तर रहते हैं तथा यह वासना या तो पूर्वजन्म संस्कारवश या इस जन्म में काव्यादि का अनुशीलन कर या गुणियों और कवियों का सत्संग करने से उत्पन्न होती है तथा निरन्तर निश्चित संस्कार रूप में रहती है और विभाव, अनुभाव एवम् संसारी भाव द्वारा इसी स्थायीभाव की अभिव्यक्ति होती है। अभिनवगुप्त का कहना है कि ये स्थायीभाव सामान्यतः सभी में साधारण रूप में रहते हैं और जब कोई वस्तु हमारे सामने आती है उस समय हम वस्तु को सामान्य रूप से संबंध रहित होकर स्वीकार करते हैं और इस प्रकार यदि कोई भी सुन्दर वस्तु हमें दृष्टिगोचर होती है तो हम स्वाभाविक ही हर्षित हो उठते हैं लेकिन न तो उस वस्तु को ग्रहण करने के लिए हम आगे ही बढ़ते हैं और न उसे दूसरे की या किसी शत्रु की समझकर उससे दूर भागते हैं तथा न किसी उदासीन व्यक्ति की समझकर उसके प्रति विरक्ति ही दिखलाते हैं अपितु उसे सर्वसामान्य की सुन्दर वस्तु समझते हैं। अभिनवगुप्त की दृष्टि में यही सामान्यता या राग-हीन अनुभूति ही साधारणीकरण है अर्थात् रसोद्रेक करने वाले जितने भी भाव हैं वे जब सर्व सामान्य के समझ लिये जाते हैं तभी रसाभिव्यक्ति भी होती है और इस प्रकार उस रस की अभिव्यंजना के समय रस का अनुभव करनेवाला दर्शक भी अपने को सामान्य समझता है तथा अनुभव करते समय वह यही समझता है कि जितने भी सहृदय हैं उन सभी के मानस में उस रस की अनुभूति समान रूप से होती है।

शैवदर्शन से प्रभावित होने के कारण अभिनवगुप्त रस दशा को 'वीतविघ्न प्रतीति' मानते हुए उसे निर्विघ्न संवित् कहकर उसके अन्य पर्याय रूपों में चमत्कार, रस, स्फुरता आदि

---

[1] "न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्...भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते"—ध्वन्यालोक लोचन, पृष्ठ ७०।

नाम भी रखते हैं और इनमें से चमत्कार का शैवदर्शन में जिस प्रकार वर्णन किया गया है उसे ध्यान में रखते हुए हम उसे विमर्श दशा भी कह सकते हैं। वस्तुतः शैवागमों में चमत्कार एवम् विमर्श का पर्यायरूप में ही प्रयोग किया गया है अतएव कहा जा सकता है कि रसानुभूति की दशा विमर्शदशा ही है और चूँकि दार्शनिक दृष्टि से विमर्श का अभिप्राय स्वतंत्र इच्छा है, अतः शैवदर्शन में जिस परम शिव का वर्णन किया गया है उसी की स्वतंत्र इच्छा के परिणामस्वरूप इस जगत् की अभिव्यक्ति मानी गयी है और इस प्रकार वह (शिव) सृष्टि-प्रसार हेतु किसी अन्य बाह्य उपादानों पर निर्भर नहीं रहता; अपितु स्वतः उसके अन्तःकरण में संनिहित सृष्टि विचार होते ही बाहर अभिव्यक्त होने लगती है। इस तरह स्वतंत्र होने के कारण इस दशा को निर्विकल्प दशा भी कहा जा सकता है, क्योंकि विकल्प का अभिप्राय असीम और अबाधित को ससीम और बाधित या परतंत्र बना देना है अतः स्वतंत्र होने के कारण उसे विघ्न विनिर्युक्त संविति, रसना, चर्वणा, निर्वृत्ति या प्रमात्त विश्रांति आदि नामों से विभूषित किया जाता है और इसी आधार को लेकर अभिनवगुप्त ने रस को विघ्नविनिर्युक्त प्रतीत माना तथा स्थायी भावों को हमारे मानस में पहले से ही वासना रूप में स्थित कहा है और उनकी दृष्टि में काव्य उन वासनाओं को जाग्रत वा अभिव्यक्त कर देता है जो कि मानस में सुप्त या अव्यक्त रहती है।[1] विचारपूर्वक देखने पर पाश्चात्य समीक्षक एबर क्रांबी का भी यही मत इस विषय में दृष्टिगोचर होता है—But an audience does not go into a theatre in a state of pity and fear. Even one is liable to these emotions, but they are not present unless they are provoked.—*Lascelles Abercrombie M. A's Principles of literary criticism.*

जैसा कि हम कह चुके हैं परमशिव की अंतःकरण की स्वतंत्र इच्छामात्र से ही शैवागमों में सृष्टि की अभिव्यक्ति मानी गयी है। अतः अभिनवगुप्त ने भी शैवदर्शन से प्रभावित होकर सहृदय के मानस में पूर्णरूप से ही स्थायीभाव को वासनारूप में अवस्थित माना है तथा उनकी दृष्टि में समयानुसार वही रस रूप में अभिव्यक्त भी हो जाता है; लेकिन जिस प्रकार परम शिव की इच्छा विघ्नहीन कही गयी है उसी प्रकार रसाभिव्यक्ति के हेतु सहृदय का मानस अभिनव द्वारा कहे गए सात विघ्नों से मुक्त होना चाहिए जिससे कि विश्रांति की अनुभूति हो सके। अभिनवगुप्त ने उन चार स्थितियों की भी कल्पना की है जिनके द्वारा विघ्नविनिर्युक्त प्रतीति का स्वरूप उपस्थित होता है। इन चार स्थितियों में से प्रथम में हमारी चक्षुरिन्द्रिय सहायक होती है जिसके द्वारा रंगमंच पर व्यक्तिविशेष को हम देख पाते हैं। दूसरी स्थिति शैवागमों की आभासस्थिति है जिसमें कि व्यक्तिविशेष का तो बोध नहीं होता लेकिन द्वैत बना

---

१. स्मरण रहे अभिनवगुप्त ने वासना को विशेष महत्व दिया है तथा साहित्यदर्पण में भी वासनाशून्य व्यक्ति को लकड़ी के कुन्दों वा पत्थर के समान संवेदनाशून्य कहा गया है—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः ॥

—(साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद की नवीं कारिका की वृत्ति में उद्धृत धर्मदत्त की उक्ति)

रहता है और सहृदय 'मैं' तथा 'वह' के भेद से विज्ञ रहता है। दूसरी स्थिति उस समय होती है जब संगीतादि के प्रभाव से सहृदय की कल्पना शनैः-शनैः उदय होने लगती है और व्यक्ति-विशिष्ट अपने व्यक्तित्व को तज कर ही हमारे सामने सामान्य रूप में आता है। इस दूसरी स्थिति के सम्पन्न होने पर व्यक्ति शनैः-शनैः लीन होने लगता है तथा उसके मानस में अवस्थित स्थायी भाव पुनः तृतीय स्थिति में न तो उसके निजी ही रहते हैं और न किसी अन्य से उनका किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रहता है। चतुर्थ तथा अंतिम स्थिति उस समय होती है जब कि विभावादि के व्यक्तित्व के विलुप्त होने के साथ-साथ यह वासनात्मक और स्थित स्थायीभाव साधारणीकृत होकर उद्बुद्ध होने लगता है तथा किसी भी प्रकार के विघ्नों से रहित रहनेवाला सहृदय का चित्र इस साधारणीकृत उद्बुद्ध स्थायीभाव का रसरूप में आनन्द प्राप्त करता है।

इस प्रकार साधारणीकरण के पक्षपाती होते हुए भी अभिनवगुप्त और भट्टनायक के साधारणीकरण में विभिन्नता है क्योंकि भट्टनायक का मत है कि "कथा के पात्रों को साधारण बनाकर दर्शक रसानुभूति करता है" लेकिन अभिनवगुप्त उसे भावना का व्यापार नहीं व्यंजना का विभावन व्यापार मानते हैं। वे भाव शब्द से स्थायीभाव का ही अभिप्राय ग्रहण करते हैं और उनकी दृष्टि में स्थायीभाव का ही साधारणीकरण होता है तथा उसी का रस-रूप में आस्वादन भी होता है और विभावादि तो केवल उसके व्यंजक अर्थात् साधन मात्र हैं। वे स्पष्ट रूप से यही कहते हैं कि "हमें रति आदि स्थायीभाव की प्रतीति तटस्थभाव से ही होती है अर्थात् हम किसी की रति का अनुभव न कर केवल रतिमात्र की प्रतीति करते हैं और इस स्थिति में हमें परात्मता के निश्चित् स्वरूप का भी बोध नहीं होता जिसके फलस्वरूप उस दशा में हमें सुख अथवा दुःख की अनुभूति नहीं होती।" अभिनवगुप्त का मत है कि दर्शकों के हृदय में जो रति आदि स्थायी भाव अव्यक्त थे वे विभाव आदि के द्वारा प्रकट हो जाते हैं। अतः इससे स्पष्ट है कि रस उत्पन्न नहीं होता वरन् अभिव्यक्त होता है या जाग्रत हो उठता है और वासना का जाग्रत होना ही रस का उपभोग है। वस्तुतः रस आनन्द को ही कहा जाता है तथा विश्व में साधारणतः जो घटनाएँ शोक, क्रोध या भय उत्पन्न करती हैं वे ही जब काव्य या नाटक में वर्णित होती हैं तब ऐसा अलौकिक रूप धारण कर लेती हैं कि हम उसे पढ़ने या देखने में इस प्रकार तन्मय हो जाते हैं तथा उसमें एक प्रकार का ऐसा विशिष्ट आकर्षण पाते हैं कि हमारी इच्छा उसका पूर्णतः रसास्वादन करने की होती है। वस्तुतः शोक, क्रोध या भय के वर्णन में भी कुछ न कुछ सौंदर्य या अलौकिकता अवश्य होती है जिसके कारण हम उसकी ओर आकर्षित होते हैं और इसीलिए वह आनन्दानुभूति की क्षमता भी रखती है।

प्रायः सभी विचारकों ने अभिनवगुप्त के इस साधारणीकरण सिद्धान्त को स्वीकार किया है; क्योंकि उनके सिद्धान्त से यह समस्या सहज ही सुलझ जाती है कि हम दूसरे के आनन्द से किस प्रकार आनंदित होते हैं। स्मरण रहे श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने भी अभिनवगुप्त के सिद्धांत की आधार-भूमि शैवदर्शन ही मानी है तथा उन्होंने अभिव्यक्तिवाद पर विचार करते हुए उनकी कुछ अन्य विशिष्टताएँ भी स्वीकार की हैं। उनकी दृष्टि में "आनन्दवर्द्धन भी काश्मीर के थे और उन्होंने वहाँ के आगमानुयायी आनन्द सिद्धान्त के रस को तार्किक अलंकार मत से सम्बद्ध किया। किन्तु माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने इन्हीं की व्याख्या करते हुए अभेदमय आनन्द

पथवाले शैवाद्वैतवाद के अनुसार साहित्य में रस की व्याख्या की । नाटकों के स्वरूप तो उनके सिद्धान्त और दार्शनिक पक्ष के अनुकूल ही थे । अभिनवगुप्त ने अपनी लोचन नाम की टीका में स्पष्ट ही लिखा है—

तदुत्तीर्णावे तु सर्वम् परमेश्वराद्वयम् ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रानुसरणेन विदितम्, तन्त्रालोकग्रन्थे विचारयेत्यास्ताम् ।

अभिनवगुप्त ने रस की व्याख्या में आनन्द सिद्धान्त की अभिनेय काव्य वाली परम्परा का पूर्ण उपयोग किया । शिवसूत्रों में लिखा है—'नर्त्तक, आत्मा प्रेक्षकाणि इन्द्रियाणी' । इन सूत्रों में अभिनय को दार्शनिक उपमा के रूप में ग्रहण किया गया है । शैवाद्वैतवादियों ने श्रुतियों के आनन्द को नाटचगोष्ठियों में प्रचलित रक्खा था इसलिए उनके यहाँ रस का साम्प्रदायिक प्रयोग होता था । विगलितभेद-संस्कारमानन्द रस-प्रवाहमयमेव पश्यति (क्षेमराज) इस रस का पूर्ण चमत्कार समरसता में होता है । अभिनवगुप्त ने नाटच-रसों की व्याख्या में उसी अभेदमय आनन्द को पल्लवित किया ।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि 'प्रसाद' जी रस का सम्बंध समरसता सिद्धान्त से स्थापित करते हैं और यह समरसता वस्तुतः जीवात्मा परमात्मा की वह स्थिति है जिसमें उनका पारस्परिक सम्बन्ध दम्पति के संबंध सदृश्य रहता है और जहाँ कि द्वैत भी अमृतोपम प्रतीत होता है ।

रससिद्धान्त सम्बन्धी अभिनवगुप्त के मत को उनके अधिकांश अनुवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है तथा मम्मट और धनंजय दोनों ही अभिव्यक्तिवाद से प्रभावित हैं । धनंजय ने तो दशरूपक में अभिनवगुप्त के सिद्धान्त को ही स्पष्ट करते हुए लिखा है कि स्थायीभाव, विभाव सात्विक और व्यभिचारी भावों द्वारा आस्वाद्य होकर रस बन जाता है । वे यह भी स्वीकार करते हैं कि रस दर्शकों को ही प्राप्त होता है तथा न तो वह अनुकार्यों में रहता है और न कृति में ही अपितु दर्शक की अवस्था उस बालक की सी होती है जो कि मिट्टी के खिलौने से खेलता हुआ अपने ही उत्साह का आनन्द लेता है । वस्तुतः धनंजय और अभिनवगुप्त में केवल मात्र इतना ही अंतर है कि धनंजय ने व्यंजना को प्रश्रय नहीं दिया अपितु तात्पर्यवृत्ति को ही ग्रहण किया है जब कि अभिनवगुप्त व्यंजना को प्रधानता देते हैं । विचारपूर्वक देखा जाय तो भट्टनानायक और अभिनवगुप्त के रसनिष्पत्ति विषयक सिद्धान्त से पाश्चात्य विचारक रिचार्ड्स की रसनिष्पत्ति प्रक्रिया मिलती-जुलती सी है । रिचार्ड्स का मत है कि सर्वप्रथम शब्दों का परिणाम होता है अर्थात् उनका नाद मानस-कर्ण-कुहर में प्रविष्ट होकर काव्य के बहिरंग और अंतरंग का आभास देता है, तत्पश्चात् पाठकों को उसकी कल्पना होती है, वही वस्तु कल्पना में भी दृष्टिगोचर होती है और पाठकों के मन में उसके अनुरूप कल्पना जाग्रत हो उठती है । इसके उपरान्त पाठकों के प्रत्यक्षानुभव से उसका संबंध होता है जिससे उसकी भावना उद्दीप्त हो उठती है और उससे जो एक वृत्ति प्रस्तुत होती है उसी से रसाभिव्यक्ति भी होती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिव्यक्तिवाद का सिद्धान्त न केवल भारतीय विचारकों द्वारा अपितु पाश्चात्य विचारकों द्वारा भी स्वीकार किया गया है । डॉ० सुशीलकुमार डे ने भी अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद की सराहना करते हुए यह स्वीकार किया है कि रस-सिद्धान्त उन्हीं के द्वारा

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबंध—श्री जयशंकर 'प्रसाद' (पृष्ठ ७५-७६)

पूर्ण प्रतिपादित होकर काव्य और नाटक दोनों पर समान रूप से लागू हुआ जबकि उनके पूर्व केवल नाटकों के संबंध में रस पर विचार किया जाता था।[1]

आगे चलकर पंडितराज जगन्नाथ ने वेदान्त का प्रयोग करते हुए 'रस-सूत्रों' की व्याख्या में आवरणभंग की प्रक्रिया सम्मिलित कर दी और इस प्रकार उनका कहना है कि आवरणभंग हो जाने के अनन्तर ही वृत्ति में स्वप्रकाश रूप आनन्दात्मक चित्त का प्रतिबिम्ब पड़ता है तत्पश्चात् वह दशा आती है जिसमें चित्त और चैतन्य का अंतर प्रतीत होने लगता है अतः स्वाभाविक ही वृत्ति चिन्मयी हो जाती है क्योंकि उसके अभाव में विभावादि के आधार पर वृत्ति की स्वप्रकाशता उत्पन्न हो जाने पर उसकी आनन्दात्मकता प्रतीत नहीं होती। स्मरण रहे वेदान्त में चित्त के प्रतिबिम्ब का दूसरा नाम आभास है जिससे कि चित्र का अनुमान होता है जिसके कारण उसे साक्षीभास्य भी कहा जाता है। इस प्रकार रस चित्त के प्रतिबिम्ब में आलोकित होने वाले विभाव अनुभाव एवम् संचारी भाव से मिश्रित रति आदि स्थायीभाव के रूप में अभिव्यंजित एक चित्त-वृत्ति ही है। पंडितराज जगन्नाथ ने रस को ध्वनित करनेवाले बिभावादिकों के या उनके संयोग से उत्पन्न किए हुए अज्ञानरूप आवरणभंग की उत्पत्ति और विनाश के कारण ही रस की भी उत्पत्ति और विनाश माना है तथा वे रस का सम्बंध सविलपक समाधि से जोड़ने की भी चेष्टा करते हैं। उनका कहना है कि सहृदय व्यक्ति जो विभावादिकों का आस्वादन करता है सहृदयता के फलस्वरूप उसका उसके ऊपर गहरा असर पड़ता है और उस प्रभाव के द्वारा काव्य की व्यंजना से उत्पन्न की गई उसकी चित्तवृत्ति जिस रस के विभावादिकों का उसने आस्वादन किया है उसके स्थायीभाव से युक्त अपने स्वरूपानन्द को अपना विषय बना लेती है अर्थात् उसी प्रकार तन्मय हो जाती है जिस प्रकार कि सविलपक समाधि में योगी की स्थिति हो जाती है लेकिन वह परब्रह्म के आस्वादरूप समाधि से विलक्षण है क्योंकि उसका आलम्बन विभावादि विषयों—सांसारिक पदार्थों से युक्त आत्मानंद है तथा समाधि के आनन्द से विषय का साथ रहना असंभव ही है।

रस-सिद्धान्त की व्याख्या का एक नवीन रूप हमें रूपगोस्वामी की 'उज्ज्वल नीलमणि' में दृष्टिगोचर होता है जिसमें वैष्णवभक्ति सिद्धान्तों के आधार पर रस की व्याख्या की गई है तथा भक्ति की व्याख्या भी रससिद्धान्त के अनुरूप हुई है। जहाँ कि प्राचीन रसवादी रस की पूर्णता भक्ति में नहीं मानते थे क्योंकि उसमें द्वैत की भावना रहती थी और उससे रसाभास की कल्पना होती थी वहाँ 'उज्ज्वल नीलमणि' द्वारा स्थापित मधुर सम्प्रदाय में जिस भक्ति का परिपाक रसरूप में हुआ उसमें परकीया प्रेम को महत्ता दी गयी क्योंकि दार्शनिक दृष्टि से तत्त्व को स्व से परे मान लिया गया। रूपगोस्वामी जी का कहना है कि जीव और ईश की मित्रता के कारण ही शृंगार का चरमोत्कर्ष परकीया में माना गया और भागवत धर्म ने तो जब आगमों के अनुसरण में आनन्द की योजना अपने सम्प्रदाय में की तब उसमें इस प्रेमाभक्ति के लिए सांसारिक परम्परा को तज कर ही परम तत्त्व प्राप्ति को संभव माना गया। इस प्रकार जैसा कि उज्जवल नीलमणि की टीका में एक स्थल पर कहा गया है "अयमुज्ज्वलनीलमणिरेतन्मूलयजानदस्योऽनादरशंक्यागोप्य एवेति" हम कह सकते हैं कि मधुर सम्प्रदाय में रस

---

[1]—History of Sanskrit poetics By S. K. Dey, Vol. II, P. 160

की दार्शनिक व्याख्या कर रस को प्रेम-मूलक रहस्य में ही परिणत किया गया तथा उसे गोप्य भी माना गया। अतएव हम देखते हैं कि श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने उचित ही लिखा है "वास्तव में भारतीय दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वय रस में हुआ था और यह साहित्यिक रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित है।"

संक्षेप में भरत के रस-सिद्धान्त की विभिन्न व्याख्याओं पर विचार करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय रस-सिद्धान्त एक दार्शनिक आधार-भूमि पर ही पल्लवित हुआ है और उसके विभिन्न व्याख्याता वास्तव में विविध दार्शनिक विचारधाराओं से ही प्रभावित थे। जब तक हम उस दार्शनिक आधार-भूमि से परिचित न होंगे तब तक रसनिष्पत्ति या रस-विवेचन किसी भी भाँति आसानी से बुद्धिगम्य न हो सकेगा।[1]

(सम्मेलन-पत्रिका; आश्विन-मार्गशीर्ष १८८० शक)

---

[1] विशेष अध्ययन के लिए देखिए लेखक की 'रस-सिद्धान्त और कहानी-कला' (पृष्ठ ६-४४)

आलोचना की विभिन्न प्रणालियाँ

'सिद्धांत-कौमुदी' नामक संस्कृत के प्रसिद्ध व्याकरण ग्रंथ के 'नन्दग्रहपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' नामक सूत्रानुसार आलोचना शब्द संस्कृत की 'लुच' धातु से निर्मित हुआ है। 'लुच' धातु के आगे 'ल्यु' प्रत्यय लगाया जाता है और 'लशक्कतद्धिते तस्य लोपः' नामक सूत्रानुसार 'ल' विलुप्त हो जाता है और केवल 'यु' अवशिष्ट रहता है जिस पर 'अन्' के प्रभाव से 'लोच' बनता है और इस प्रकार 'अन्' से सम्मिलित हो जाने पर 'लोचन' शब्द बनता है जिसे कि साधारणतः नेत्र या दृष्टि कहा जाता है। लोचन के पूर्व 'आ' को संयुक्त कर देने से 'आलोचन' शब्द बनता है और अंत में 'टाप्' प्रत्यय लगाकर 'आलोचना' शब्द बनता है जिसका अर्थ साधारणतः देखना ही होता है। श्री विनयमोहन शर्मा ने भी उचित ही लिखा है—"साहित्य के यथार्थ दर्शन का नाम ही समालोचना है।" इस प्रकार किसी भी वस्तु या कृति की आलोचना करते समय उसका सांगोपांग बाह्य और आंतरिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्यवेक्षण करने के उपरांत जो मत निर्धारित किया जाता है उसे ही आलोचना या समीक्षा कहा जाता है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में—"साहित्य क्षेत्र में, ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। यह आलोचना काव्य, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि सभी की हो सकती है, यहाँ तक कि स्वयं आलोचनात्मक ग्रंथों की भी आलोचना हो सकती है। यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें, तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।"

वस्तुतः समीक्षा का उद्भव तो उसी समय हो गया होगा जब कि मानव रुचि का विकास हुआ होगा। अत्यंत प्राचीन काल से ही किसी न किसी रूप में समालोचना का प्रसार होता आ रहा है क्योंकि मनुष्य-मात्र में वस्तु-निरीक्षण और उसके गुण-दोष-परीक्षण के साथ-साथ अपना निजी विचार व्यक्त करने की प्रवृत्ति सर्वदा ही स्वाभाविक रूप में वर्तमान रहती है तथा वह अपनी रुचि के अनुरूप गुण-दोष जाँचकर उसे उत्तम या हीन श्रेणी के अंतर्गत रख देता है। इस प्रकार मनुष्य में समालोचना की प्रवृत्ति जन्म-काल से ही रहती है और उसकी रुचि का विकास ही समीक्षा के उद्भव तथा विकास का इतिहास है। ऐसे पाठकों का भी नितान्त अभाव नहीं है जो कि साहित्य-समीक्षा की उपादेयता पर संदेह प्रकट करते हैं और आलोचक के महत्व को तनिक भी स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनका विचार है कि जितना समय विभिन्न लेखकों द्वारा लिखी गई आलोचनाओं के अध्ययन में व्यय होता है उतने में ही बल्कि उससे भी न्यून समय में मूल रूप से रचनाओं का अध्ययन किया जा सकता है। उनका मत है कि सूर, कबीर, तुलसी आदि के विषय में समीक्षकों द्वारा लिखी गई समीक्षाएँ पढ़ने की अपेक्षा उनकी काव्य-कृतियों का मूल रूप से आनन्द प्राप्त करना अधिक उत्तम है। यह अवश्य है कि आज मौलिक साहित्य समालोचनात्मक पुस्तकों और व्याख्याओं के कारण विलुप्त सा होता जा रहा है तथा मूल रचनाओं की अपेक्षा समीक्षाओं तथा व्याख्याओं का ही अध्ययन कर साहित्य के विद्यार्थी संतोष प्राप्त कर लेते हैं और इस प्रकार यह आक्षेप कि समालोचनाएँ

साहित्य के अध्ययन में बाधाएँ प्रस्तुत कर रही हैं निरा उपेक्षणीय ही नहीं माना जा सकता किन्तु इस प्रकार के आक्षेपों के होते हुए भी समालोचना की महत्ता और उपादेयता को विस्मरण करना उचित नहीं है। मूल साहित्य और समालोचना के पारस्परिक सम्बन्ध को यदि हृदयंगम कर लिया जाय तो समीक्षा के प्रति इस प्रकार की शंकाएँ और आक्षेप आप ही आप भ्रमपूर्ण तथा निराधार से प्रतीत होंगे। सौंदर्यानुभूति ही मनुष्य की सबसे बड़ी पिपासा है और 'सत्यप्रिय' जीव होते हुए भी वह प्रारम्भ से ही सौन्दर्य का उपासक रहा है। जीवन में उसे जो रुचिकर प्रतीत होता है उसी के सौन्दर्य से वह आकर्षित भी होता है और इस प्रकार साहित्य में उन्हीं आदर्शों का चित्रण किया जाता है जिनसे कि वह प्रभावित होता है। मानव-जीवन ही साहित्य का मूल विषय माना जाता है तथा समीक्षा का क्षेत्र भी वस्तुतः मानव-जीवन ही है और इस प्रकार समालोचना साहित्य में अभिव्यक्त कलाकार के महान् व्यक्तित्व की ही व्याख्या करती है। साहित्य के अन्य विविध अंगों में जिस प्रकार मानव जीवन की व्याख्या होती है उसी प्रकार समीक्षा में भी उन विविध अंगों में अभिव्यक्त मानव जीवन की व्याख्या की जाती है। इस प्रकार साहित्य तथा समीक्षा के क्षेत्र में विभिन्नता नहीं है बल्कि उचित तो यह होगा कि यदि हम यह कहें कि समालोचना रूपी वातायन से ही हम साहित्य-गगन की सुषमा निहार सकते हैं। इसीलिए मनुष्य में प्रारम्भिक काल से लेकर आधुनिक काल तक आलोचनात्मक अभिरुचि उसी प्रकार बनी हुई है चाहे उसके दृष्टिकोण में विभिन्नता अवश्य आ गई हो तथा मानव रुचि में विभिन्नता का आविर्भाव होने से स्वाभाविक ही समीक्षा शैलियों में भी विभिन्नता आ गई होगी और इसीलिए हिन्दी के समालोचना साहित्य में समीक्षा के भिन्न-भिन्न मानदंड प्रचलित भी हैं।

साहित्य-समीक्षा की शैलियों के भेद हमारे हिंदी साहित्य के लिए सर्वथा नवीन ही नहीं है क्योंकि यह तो सर्वविदित ही है कि भामह के काव्यालंकार, दंडी के काव्यादर्श, मम्मट के काव्य-प्रकाश, आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक, विश्वनाथ के साहित्यदर्पण और राजशेखर के काव्य-मीमांसा आदि ग्रंथों में शब्द, अर्थ और रस की जितने विस्तार और गहनता के साथ विवेचना की गई है उतनी अन्य किसी देश के प्राचीन साहित्य में नहीं की गई। पाश्चात्य समालोचकों के बहुत पूर्व हमारे प्राचीन आचार्यों ने न केवल साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला है बल्कि अपनी उत्कृष्ट विवेचना-शक्ति के द्वारा समालोचना को विज्ञान और दर्शन की परिधि में पहुँचाने की चेष्टा भी की है। 'काव्य-मीमांसा' में तो राजशेखर ने संस्कृत आलोचना पद्धति के भेद भी अंकित किए हैं। इन प्राचीन आचार्यों के ग्रंथों का अवलोकन करने से स्पष्ट रूप में ज्ञात होता है कि साहित्य-समीक्षा को शास्त्र और परीक्षण नामक दो भेदों में विभाजित किया जा सकता है। शास्त्र के अन्तर्गत समीक्षा के सिद्धांतों को निर्धारित किया जाता है और उसमें साहित्य के अन्य अंग-उपांगों—काव्य, उपन्यास आदि—के रचनातंत्र के नियमों को अंकित किया जाता है तथा 'परीक्षण' में तो निर्धारित समीक्षा सिद्धांतों के आधार पर साहित्य की विभिन्न कृतियों का मूल्यांकन किया जाता है। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि 'परीक्षण' करते समय शास्त्रीय मापदंड को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं कर लिया जाता बल्कि आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन भी कर दिया जाता है। पाश्चात्य जगत में तो शास्त्रीय मापदंड को किस रूप में और कितने अंश में ग्रहण किया जाय, इस प्रश्न

को लेकर ही समीक्षा की विविध शैलियों की उत्पत्ति हुई है और होती जा रही है। पाश्चात्य जगत के सर्वप्रथम साहित्याचार्य प्लेटो ने कला का सत्य से अभिन्न सम्बन्ध माना है और उनकी समीक्षा-पद्धति आदर्शवादी कही जाती है पर उन्होंने यथार्थवाद पर ही जोर दिया है। इसके पश्चात् अरस्तू, लांगीनस, होरेस आदि ने काव्य साहित्य और सामान्य साहित्य में विभिन्नता प्रदर्शित करते हुए महाकाव्य और दुःखान्त नाटकों के नियम निर्धारित किए थे जो कि उनके उपरांत भी बहुत दिनों तक प्रचलित रहे। यद्यपि शेक्सपियर आदि ने इन नियमों की प्रायः उपेक्षा ही की है किन्तु आगे चलकर पुनरुत्थान के युग में बौद्धिकता के प्रभाव से समीक्षा के नियमों में भी निश्चित रूप से परिवर्तन होने लगा। ट्यूडर काल में ही एलीजाबेथ के शासन काल में समालोचना का समयानुकूल मापदंड उपस्थित न होने के कारण समीक्षकों को ग्रीक तथा लैटिन के साहित्य-नियमों का अनुसरण करना पड़ता था। शनैः शनैः इङ्गलैंड में इन शास्त्रीय नियमों को शिथिल करने की प्रवृत्ति बलवती होने लगी। यद्यपि अठारहवीं सदी में भी ड्रायडन, एडीसन, रेनाल्डस और जॉनसन ने प्राचीन शास्त्रीय नियमों के आधार पर ही आलोचनाएँ की थीं किन्तु उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में राजनैतिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप इन नियमों का प्रभाव अवरुद्ध सा होने लगा और दि एडिनबरा रिव्यू, दि क्वार्टली और ब्लेकवुड्स में प्रकाशित होने वाली तत्कालीन समीक्षाओं में राजनैतिक विचारधारा की प्रधानता सी दरख पड़ने लगी। जैफ्री इस युग का प्रसिद्ध समीक्षक है तथा मैकाले ने समालोचना के अनुशीलन में रस-ग्रहण को ही आवश्यक माना है। कार्लाइल ने अपने युग के कवियों को जर्मन साहित्य के परिशीलन की ओर प्रवृत्त करने का प्रयास किया है तथा आर्नलड ने सामान्य कोटि की कृतियों की अपेक्षा उत्कृष्टतम रचनाओं के अध्ययन की प्रेरणा तत्कालीन लेखकों को दी हैं। मौल्टन ने आधुनिक आलोचना की व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक, दार्शनिक और स्वतंत्र अथवा आत्मप्रधान नामक चार प्रमुख प्रणालियाँ मानी हैं तथा व्याख्यात्मक आलोचना को ही शेष तीनों प्रकार की समीक्षाओं का आधार माना है। कालांतर में युग की प्रवृत्तियों के अनुरूप कुछ अन्य प्रकार के मानदंड भी समीक्षा क्षेत्र में प्रचलित हुए और डॉ० श्यामसुन्दरदास ने तो 'साहित्यालोचन' में सैद्धान्तिक (Speculative), व्याख्यात्मक (Inductive), निर्णयात्मक (Judical) और स्वतंत्र अथवा आत्मप्रधान (Free or Subjective) नामक चार प्रमुख समीक्षा शैलियाँ मानी हैं। यहाँ इन चारों पर संक्षेप में प्रकाश डालना अप्रासंगिक न होगा।

सैद्धांतिक समीक्षा के अन्तर्गत समालोचना के सामान्य सिद्धांतों को निर्धारित किया जाता है तथा साहित्य के विभिन्न अंग-उपांगों काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी इत्यादि के रूपों की विवेचना कर उनके लक्षण भी निश्चित किए जाते हैं। किन सिद्धान्तों और नियमों का साहित्यालोचन में अनुसरण किया जाय तथा किसी भी कवि या कलाकार की कृतियों का परीक्षण करते समय समीक्षक किन सिद्धान्तों का आधार ले और नाटक, उपन्यास तथा कथा की विवेचना में कौन-कौन से तत्त्व आवश्यक हैं; आदि प्रश्नों पर सैद्धांतिक समीक्षा के ही अन्तर्गत प्रकाश डाला जाता है। इस प्रकार सैद्धांतिक समीक्षा में सिद्धान्तों के निर्धारण को ही प्रधानता दी जाती है और वह साहित्य का मापदंड तो उपस्थित करती ही है पर साथ ही उसे समालोचना के शास्त्रीय पथ का चिरन्तन स्वरूप भी माना जाता है। अन्य प्रकार की समी-

क्षाएँ वस्तुतः भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से सैद्धांतिक समीक्षा के प्रयोगों के समान ही हैं। सैद्धांतिक समालोचना से विभिन्न युगों का न केवल साहित्यिक इतिहास बल्कि साहित्यिक वातावरण भी ज्ञात होता है। सैद्धांतिक समीक्षा के नियम व्यक्तिशः आलोचक अथवा लेखक पर अवलम्बित न रहकर साहित्य की परम्परा पर आधारित रहते हैं अतः उनको निर्धारित करते समय, समय तथा वर्ग का ध्यान प्रायः नहीं रखा जाता अतएव सिद्धांतों में यदि कोई अभाव या दोष प्रतीत हो तो उसके लिए मूलाधार पर ही दृष्टिपात करना उचित होगा। सैद्धांतिक समीक्षा के आधार पर आलोचना करते समय समीक्षक अपनी व्यक्तिगत रुचि को अधिक महत्व न देकर प्राचीन या अर्वाचीन शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर ही अपना मत प्रस्तुत करता है।

संस्कृत साहित्य में तो साहित्य-शास्त्र पर किया गया सम्पूर्ण विवेचन सैद्धान्तिक समीक्षा के ही अन्तर्गत आता है और उसमें रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय तथा ध्वनि सम्प्रदाय नामक समालोचना शास्त्र के पाँच सम्प्रदाय थे। रस सम्प्रदाय में रस को ही काव्य की आत्मा माना जाता था, अलंकार सम्प्रदाय में अलंकारों को ही सर्वस्व माना जाता था; रीति सम्प्रदाय में गुण और रीति युक्त रचना को ही महत्व दिया जाता था तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय में वक्रोक्ति को और ध्वनि सम्प्रदाय में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से विभिन्न व्यंगार्थ को ही महत्व दिया जाता था। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में नाट्यशास्त्र, काव्यादर्श, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, ध्वन्यालोक, काव्य-मीमांसा आदि ग्रंथों द्वारा सैद्धांतिक समालोचना को विकसित किया गया। हिंदी साहित्य में रीतिकालीन कवियों ने अवश्य परीक्षण की अपेक्षा शास्त्रीय समीक्षा को प्रधानता दी पर उनके सिद्धांत मौलिक न होकर विशेष रूप से संस्कृत ग्रंथों पर ही आधारित थे। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से हिंदी में शास्त्रीय समीक्षा का प्रारम्भ सत्रहवीं शताब्दी से ही माना जाता है और केशव, चिंतामणि, जसवंतसिंह, भूषण, मतिराम तथा देव आदि प्रसिद्ध रीतिकालीन कवि वस्तुतः सैद्धांतिक समीक्षक ही थे। हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में अवश्य हमारे समीक्षकों ने पर्याप्त मात्रा में साहित्य सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रंथ प्रस्तुत किये हैं और उनमें साहित्य के विभिन्न अंगों की समस्याओं व कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि की प्रमुख प्रवृत्तियों पर तो प्रकाश डाला ही गया है तथा साथ ही साथ भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का समन्वय करने का भी प्रयास किया गया है। अँग्रेजी साहित्य में भी मैथ्यू आर्नल्ड, गेनिंग और रिचार्डस् को सैद्धांतिक समीक्षक के रूप में ही ख्याति प्राप्त हुई है। सैद्धांतिक समीक्षा का एक उदाहरण देखिए—

"नाटक के कथानक को कथावस्तु कहते हैं। इसको अँग्रेजी में प्लाट (Plot) कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—एक आधिकारिक अर्थात् मुख्य, दूसरी प्रासंगिक अर्थात् प्रसंग वश आई हुई या गौण। आधिकारिक उसे कहते हैं जिसमें प्रधान पात्रों से सम्बन्ध रखनेवाली कथा का मुख्य विषय हो। फल के स्वामी को अधिकारी कहते हैं। आधिकारिक कथा का सूत्र प्रारम्भ से फलप्राप्ति तक रहता है प्रासंगिक कथावस्तु का सम्बन्ध नायक और नायिका से न रहकर अन्य पात्रों से रहता है। वह कथा भाग की मूल कथा की गति को बढ़ाने के लिए होता है।"[1]

---

[1] १—काव्य के रूप—डॉ० गुलाबराय

व्याख्यात्मक समीक्षा-शैली की प्रशंसा करते हुए डॉ० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है— "वास्तव में व्याख्या या विश्लेषण ही ऐसी प्रधान वस्तु है कि जिस पर चारों प्रकार की समालोचना अवलंबित है।" मौल्टन ने भी व्याख्यात्मक आलोचना को ही प्रधानता दी है। इस प्रकार की समीक्षा-शैली की विशेषता उसकी व्याख्या पर केन्द्रित रहती है और इसमें साहित्यिक रचनाओं के विश्लेषण तथा व्याख्या पर ही विशेष बल दिया जाता है। व्याख्या द्वारा न केवल हम सामान्य सिद्धान्तों तक पहुँचते हैं और किसी भी कृति के आभ्यंतरिक स्वरूप से अवगत हो सकते हैं बल्कि उसका महत्व भी आँक सकते हैं। व्याख्यात्मक समीक्षा में समीक्षक किसी भी कृति का अध्ययन एक न्यायाधीश अथवा वकील की भाँति न कर एक अन्वेषक के रूप में करता है और आलोच्यकृति की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों से परिचित हो जाता है तथा इस प्रकार वह न केवल रचना, बल्कि रचयिता की शैली, दृष्टिकोण और विचारों से अपनी बुद्धि का सामंजस्य स्थापित कर उदारतापूर्वक उस कृति की व्याख्या कर उसके प्रति एक सामान्य धारणा निर्मित करता है। व्याख्यात्मक समीक्षा इसीलिए व्यापक, समीचीन और श्रेष्ठतम मानी जाती है तथा उसे न्यायपूर्ण और बुद्धि-संगत भी कहा जाता है। यद्यपि कुछ समालोचकों का यह भी मत है कि व्याख्यात्मक समीक्षा आलोच्य कृति के साहित्यिक सौंदर्य को विनिष्ट कर देती है परन्तु वास्तविकता तो यह है कि व्याख्यात्मक पद्धति द्वारा ही पाठक किसी भी कृति के बाह्य और आभ्यंतरिक रूप से परिचित हो पाता है अतएव यह कहना कि व्याख्यात्मक समालोचना साहित्यिक सौंदर्य का ह्रास करती है भ्रममूलक ही माना जायगा। यह अवश्य है कि समीक्षक की असावधानी के फलस्वरूप व्याख्यात्मक समीक्षा-पद्धति कभी-कभी दोषपूर्ण भी हो जाती है; अतएव समालोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह बाह्य साक्ष्यों या निजी साक्ष्यों का अवलम्ब न लेकर केवल आलोच्य-कृति के आभ्यंतरिक साक्ष्यों के आधार पर ही व्याख्या करे। व्यक्तिगत अभिरुचि का परित्याग करने पर ही एक वैज्ञानिक अन्वेषक की भाँति व्याख्यात्मक समीक्षा की जा सकती है। समालोचक को आलोच्य कृति के भिन्न-भिन्न भागों की समीक्षा न कर उसके समष्टि रूप की ही समालोचना करनी चाहिए।

हिंदी साहित्य के आधुनिक समालोचकों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल विशेष रूप से व्याख्यात्मक समीक्षक के रूप में ही प्रसिद्ध हैं और उनकी समीक्षाओं में वे सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं जो कि व्याख्यात्मक समीक्षा-शैली के लिए परमावश्यक मानी जाती हैं। शुक्ल जी ने 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका में 'जायसी' की, 'गोस्वामी तुलसीदास' में तुलसी की और 'भ्रमर गीत सार' की भूमिका में सूरदास की व्याख्यात्मक समीक्षा ही की है। जैसा कि डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने लिखा है—"रामचन्द्र शुक्ल ने किसी कवि पर समालोचना लिखने के पहले उसके काव्य के साथ ही साथ उसका जीवन चरित्र, वह समाज जिसमें वह रहता था, साहित्यिक परंपरा जिसे वह मानता था, वह समय और वातावरण जिसमें वह पैदा हुआ तथा उनके प्रभाव इत्यादि बातों का अध्ययन किया। संक्षेप में वे कवि और जनता के बीच एक माध्यम (Interpreter) के समान थे।" शुक्ल जी की समीक्षा-शैली में कुछ निजी विशेषताएँ भी थीं और इसीलिए उनकी समालोचना प्रणाली तत्कालीन परिस्थितियों में सर्वथा नवीन ही थी। उनके साहित्यादर्शों को कुछ आवश्यक संशोधनों और परिष्कारों के साथ अन्य दूसरे

परवर्ती समीक्षकों ने भी ग्रहण किया है तथा इस प्रकार उनकी ही समीक्षा शैली जिसमें कि व्याख्यात्मक समालोचना का समुज्ज्वल रूप दृष्टिगोचर होता है आज भी प्रचलित है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री नंददुलारे वाजपेयी, श्री गुलाबराय, श्री विनय-मोहन शर्मा, श्री रामनाथ 'सुमन', श्री ललिताप्रसाद सुकुल, डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र, श्री परशुराम चतुर्वेदी, श्री चंद्रबली पांडे, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० सत्येन्द्र, डॉ नगेन्द्र, डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, डॉ० ओम्प्रकाश, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० हरबंश-लाल शर्मा प्रभृति समालोचकों की कृतियों में व्याख्यात्मक समीक्षा का समुज्ज्वल रूप दृष्टिगोचर होता है। व्याख्यात्मक समालोचना का एक उदाहरण देखिए—

"सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूप-लिप्सा और साहचर्य्य दोनों का योग है। बाल-क्रीड़ा के सखा-सखी आगे चलकर यौवन-क्रीड़ा के सखा-सखी हो जाते हैं। गोपियों ने उद्धव से साफ कहा है—"लरिकाई को प्रेम कहौ, अलि कैसे छूटे"। केवल एक साथ रहते-रहते भी दो प्राणियों में स्वभावतः प्रेम हो जाता है। कृष्ण एक तो बाल्यावस्था से ही गोपियों के बीच रहे, दूसरे सुन्दरता में भी अद्वितीय थे। अतः गोपियों के प्रेम का क्रमशः विकास दो प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से होने के कारण, बहुत ही स्वाभाविक प्रतीत होता है। बाल क्रीड़ा इस प्रकार क्रमशः यौवन क्रीड़ा के रूप में परिणित होतो गई है कि संधि का पता ही नहीं चलता। रूप का आकर्षण बाल्यावस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है। राधा और कृष्ण के विशेष प्रेम की उत्पत्ति सूर ने रूप के आकर्षण द्वारा ही कही है।"[१]

निर्णयात्मक समीक्षा-शैली—व्याख्यात्मक समीक्षा-शैली के ठीक विपरीत होती है और उसमें साहित्य-सम्बन्धी विभिन्न सैद्धान्तिक या शास्त्रीय नियमों के आधार पर आलोच्य कृति का गुण-दोष विवेचन कर उसका साहित्यिक मूल्यांकन किया जाता है। निर्णयात्मक समीक्षा में समालोचक एक निष्णात न्यायाधीश के रूप में निर्णय करता है और व्याख्यात्मक समीक्षक की भाँति वह आलोच्य-कृति में कला का रूप किस प्रकार का है, इसका विश्लेषण न कर उसमें कला का रूप कैसा होना चाहिए था, इस पर प्रकाश डालता है। निर्णयात्मक समीक्षक अपनी निश्चित साहित्याभिरुचि के आधार पर ही किसी रचना की समीक्षा करता है और वह नवीनता को नियंत्रित करने की भी चेष्टा करता है। इस प्रकार की समीक्षा भ्रमपूर्ण ही मानी जाती है क्योंकि एक ही मापदंड पर समस्त कृतियों का या किसी एक सम्पूर्ण कृति का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। निर्णयात्मक समीक्षक बहुधा रूढ़िवादी ही होता है। यद्यपि किसी भी आलोच्य-कृति पर निर्णय देने के लिए किसी न किसी प्रामाणिक मापदंड की आवश्यकता होती है किन्तु इस दिशा में भी मतों में विभिन्नता पाई जाती है। पाश्चात्य समीक्षकों में कोर्टहोप जैसे विद्वान इस प्रकार की समीक्षा में अंतःकरण का सहयोग आवश्यक मानते हैं और कलाकार की आत्मा तथा स्वयं की अंतरात्मा दोनों को दृष्टि में रखकर साहित्याभिरुचि का एक प्रामाणिक मापदंड निर्धारित कर किसी भी कृति पर निर्णय देना उचित समझते हैं परन्तु जैसाकि कोर्टहोप का मत है कि इस प्रकार की समीक्षाओं से कलाकार की मौलिकता और प्रतिभा के विकास में बाधा भी पड़ सकती है अतः इनका अनु-

---

[१] भ्रमरगीत-सार—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

सरण करना उचित है। वस्तुतः निर्णयात्मक समीक्षा व्याख्या के अभाव में न्यायपूर्ण और उचित नहीं मानी जाती क्योंकि समीक्षक अपने निजी दृष्टिकोण का जितना अधिक परिचय दे पाता है उतना आलोच्य-कृति की विशेषताओं का नहीं। आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ में इसी प्रकार की आलोचनाओं की बहुलता थी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु, श्री कृष्ण-बिहारी मिश्र और श्री पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा-शैली विशेष रूप से निर्णयात्मक ही है। मिश्रबन्धुओं के 'हिंदी नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' में निर्णयात्मक समालोचना का निखरा हुआ रूप दृष्टिगोचर होता है। निर्णयात्मक समीक्षा के कुछ उदाहरण देखिए :—

"देव ने घनाक्षरियाँ सवैयों से अधिक रची हैं। उत्तमता में भी वे सवैयों से न्यून नहीं हैं। इनकी कविता में पृष्ठ के पृष्ठ पढ़ते चले जाइए, प्रायः कोई बुरा छंद न पाइयेगा।"[१]

और भी—

"देव ने नायिकाओं का वर्णन ऐसा उत्कृष्ट किया है कि पूरी तसवीर खींच दी है। ऐसी सच्ची तसवीरें खींचने में बहुत कम कवि समर्थ हुए हैं। वरन् यह कहना चाहिए कि ऐसी निर्दोष तसवीरें कोई भी कवि नहीं खींच सका।"[२]

स्वतंत्र अथवा आत्मप्रधान समीक्षा-शैली में भावावेश की प्रधानता रहती है तथा समीक्षक आलोच्य-कृति को अपने ही निजी भावों का आलम्बन बना लेता है। इस प्रकार की समीक्षा में समालोचक किसी विशिष्ट विवेचना-पद्धति को ग्रहण न कर अपनी निजी रुचि और निजी आदर्शों के अनुरूप ही आलोच्य-कृति की समालोचना करता है। इस प्रकार की समालोचना व्यक्ति-प्रधान होती है तथा भावावेश के आवरण में ही परिवेष्टित रहने के कारण उसमें विवेचना का निरा अभाव ही रहता है और उसकी उपादेयता पर संदेह ही व्यक्त किया जाता है। परन्तु कुछ विद्वानों ने आत्मप्रधान समीक्षा-शैली का साहित्यिक मूल्य भी स्वीकार किया है तथा उनका मत है कि किसी भी कृति के गुण-दोष देखने के लिए व्यक्तिगत रुचि को मापदंड बनाना ही अधिक सुन्दर है! व्यक्तिगत स्वतंत्रता की भावनाओं का प्रसार हो जाने से साहित्य में आत्मप्रधान आलोचना की बहुलता सी देख पड़ती है तथा समीक्षक किसी भी शास्त्रीय मापदंड को स्वीकार न कर अपनी निजी रुचि को ही प्रधानता देते हैं। श्री पद्मसिंह शर्मा, श्री कृष्णबिहारी मिश्र, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० देवराज और श्री शांतिप्रिय द्विवेदी की समालोचनाओं में इस प्रकार की आलोचना की झलक देख पड़ती है। आत्मप्रधान आलोचना का एक उदाहरण देखिए—

"अब हम महादेवी जी की भावभूमि में पैठने का प्रयत्न करेंगे। महादेवी जी के गीतों का विषय अन्तर्जगत है, अर्थात् प्रणयमूलक संकल्प और भावनाएँ। साहित्य केवल सिद्ध यथार्थ का उद्‌घाटन ही नहीं करता, यथार्थ से गृहीत तत्त्वों का भावना और रूप के अभिनव संविधानों में ग्रंथन करके वह हमारे भाव-जगत को प्रसार देता है। प्रेमियों का सूक्ष्म-कोमल सम्बन्ध-पट विशेषतः सुकुमार भावना सूत्रों के ताने बाने से ही बुना जाता है, जिसके कारण उसमें अपार्थिव

---

१. हिंदी नवरत्न—मिश्रबन्धु

२. वही

मृदुता और आलोकपूर्ण स्निग्धता का समावेश हो जाता है। वह सम्बन्ध सजीव एवं रमणीय जान पड़े इसके लिए उसका लोक संवेदना से संपृक्त रहना जरूरी है। महादेवी जी के अति परिष्कृत एवं बौद्धिक गीतों में इस अंतिम तत्त्व की कमी का अभाव कभी-कभी खलने लगता है।"[१]

चूंकि वर्तमान काल में हिंदी साहित्य का बहुमुखी विकास दृष्टिगोचर हो रहा है अतः समीक्षकों ने भी साहित्यिक-मूल्यांकन के हेतु विभिन्न शैलियों का आधार लिया है और इस प्रकार इन चार प्रमुख प्रणालियों के अतिरिक्त कुछ अन्य समीक्षा-शैलियाँ भी आधुनिक हिंदी साहित्य में प्रचलित हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही पाश्चात्य समीक्षकों से प्रभावित होकर प्रभाववादी (Impressionist), सौंदर्यवादी (Aesthetical), प्रशंसावादी (Appreciative) और मार्क्सवादी (Marxian) नामक परीक्षण प्रणालियाँ आधुनिक साहित्य जगत को प्रभावित करने लगी थीं। इनके अतिरिक्त तुलनात्मक (comparative), ऐतिहासिक (Historical) मनोवैज्ञानिक (Psychological), अध्ययनात्मक (Descriptive) आदि कुछ अन्य मानदंड भी विशेष रूप से प्रचलित हैं।

तुलनात्मक समीक्षा-शैली में दो विभिन्न कलाकारों की एक ही विषय की कृतियों की तुलनात्मक दृष्टिकोण से विवेचना की जाती है। यद्यपि डॉ० श्यामसुन्दर दास ने "साहित्य की आलोचना तभी वैज्ञानिक होती है जब तुलना और इतिहास के आधार पर उसकी भित्ति उठाई जाती है" नामक उक्ति द्वारा तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति को वैज्ञानिक माना है किन्तु प्रायः समीक्षक अपने विषय-निरूपण के लिए किन्हीं भी दो कलाकारों की कृतियों का उचित मूल्यांकन न कर अपनी निजी रुचि-विशेष के कारण पक्षपात भी कर बैठते हैं और किसी भी कलाकार के प्रति अन्याय करना उनके लिए सहज हो जाता है। तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए उत्तम तो यह होगा कि समीक्षक किसी को भी छोटा या बड़ा न सिद्ध कर एक विशिष्ट तुलनात्मक पद्धति को ही ग्रहण करे अन्यथा कटु विवादों की वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। साथ ही तुलना के लिए पृष्ठभूमि पर विचार करने के साथ-साथ देश तथा काल का भी ध्यान रखना आवश्यक है। यह तो सर्वविदित है कि हिंदी साहित्य में बिहारी तथा देव को लेकर किस प्रकार का वाद-विवाद हुआ था और बिहारी के भक्तों ने बिहारी को तथा देव के भक्तों ने देव को बड़ा सिद्ध करने का प्रयास किया था। देव और बिहारी के वाद-विवाद में जहाँ श्री पद्मसिंह शर्मा ने 'सतसई-संजीवन-भाष्य' में, लाला भगवान दीन ने 'बिहारी और देव में, सिलाकारी जी ने 'बिहारी-दर्शन' में तथा मिश्रबन्धु ने 'हिंदी नवरत्न' में प्रभाववादी पद्धति का ही अनुसरण किया है वहाँ श्री कृष्णबिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' नामक कृति में शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से ही देव की गुरुता को प्रमाणित किया गया है तथा इस प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"इस पुस्तक में बड़ी शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ दोनों बड़े कवियों की भिन्न-भिन्न रचनाओं का मिलान किया गया है। इसमें जो बातें कही गई हैं, वे बहुत कुछ साहित्यिक विवेचन के साथ कही गई हैं।" तुलनात्मक समीक्षा-शैली से एक लाभ यह भी माना जाता है कि साहित्य-सृजन द्रुतगति से होता है तथा

---

[१] साहित्य चिन्ता—डॉ० देवराज

कला की विस्तृत विवेचना भी विशेष रूप से होती है। साधारणतः तुलनात्मक समीक्षा-शैली में आंशिक तुलना या अर्धतुलना का ही उपयोग किया जाता है और कभी-कभी एक ही कलाकार में दो विभिन्न समालोचक गुण और दोष प्रदर्शित करने के हेतु इस समीक्षा-पद्धति का आधार ले लेते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि समालोचना के क्षेत्र में वैज्ञानिक तुलनात्मक पद्धति आवश्यक है और अभी हाल ही में प्रकाशित श्रीमती शचीरानी गुर्टू की प्रसिद्ध कृति 'साहित्य-दर्शन' में तो कुछ प्रसिद्ध प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृत तथा हिंदी साहित्कारों की तुलना पाश्चात्य साहित्यकारों से की गई है। तुलनात्मक समीक्षा-शैली का एक उदाहरण देखिए—"कहने की आवश्यकता नहीं कि क्रिस्टिना की कृतियों में कुमारीत्व की अमल-धवल मादकता, भोली सरलता और यत्किंचित् अल्हड़पन भी है, जिसमें विराग की धूमिल अरुणिमा यत्र-तत्र बिखरी हुई है। महादेवी के काव्य में नारीत्व का क्रन्दन, असफल पत्नीत्व की खोज और द्विविधाग्रस्त अभाव जन्य उपराम, नारी-सुलभ समर्पण भावना और जीवन की गुत्थी न सुलझने के कारण दुर्भेद्य सघनता व्याप्त हो गई है। क्रिस्टिना नियति के क्रूर थपेड़ों से मर्माहित हो वेदना, अविश्वास और अदृष्ट की आशंका में डूबी हुई विरह के दर्दीले गीत गाती है, जिनमें हृदय की तड़पन, भावों की लड़खड़ाहट, आकुल प्राणों की कसक और आन्तरिक आवेगों का संघात है—महादेवी के भावोद्वेगों में मीठी कचट होते हुए भी वचन-विदग्धता अमूर्त्त व्यंजना और बिखरती, मचलती भाव-प्रवणता है, जो हृदय की गहराई में उतरती चलती है और जिसमें उठती-गिरती विपुल तरंगावालियों की सी अविराम धड़कन सुन पड़ती है। इन सब विषमताओं के बावजूद इन दोनों के ही काव्य विषाद की हल्की, झीनी धूमिलता से आच्छन्न हैं, जो उत्तरोत्तर सघन होती जाती है और जिसके अनल में न जाने कितने अन्तःस्वर अवाक् होकर उनके अन्तर के मूक हाहाकार में एकाकार होने के लिए छटपटा रहे हैं।"[1]

ऐतिहासिक समीक्षा-शैली का विशेष महत्व इसीलिए माना जाता है कि किसी भी कृति के परीक्षण के पूर्व ऐतिहासिक आधारों पर दृष्टिपात करना नितान्त आवश्यक है। चूंकि साहित्य समाज का प्रतिबिंब है अतः उस पर राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का स्वाभाविक ही प्रभाव पड़ता है। समालोचना के लिए ऐतिहासिक अनुशीलन की विशेष आवश्यकता होती है क्योंकि किसी भी कृति की समीक्षा करते समय उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से अपरिचित रहने पर बहुत सी त्रुटियाँ हो सकती हैं। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किसी कृति का परीक्षण करते समय इस प्रकार की त्रुटियाँ कदापि न हो सकेंगी। ऐतिहासिक समीक्षा-शैली का आधार न लेने पर अन्य प्रकार की प्रणालियाँ अपूर्ण ही मानी जाती हैं। व्याख्यात्मक समीक्षा में विश्लेषण करते समय ऐतिहासिक तथ्यों का भी आधार लिया जाता है और तुलनात्मक तथा निर्णयात्मक प्रणालियों में भी उन तथ्यों की आवश्यकता पड़ती है। सैद्धांतिक समीक्षा में तत्कालीन लोक-रुचि तथा आदर्शों को ही ध्यान में रखकर सिद्धांत निर्धारित किए जाते हैं और मनोवैज्ञानिक तथा आत्मप्रधान समालोचना-पद्धति में भी ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा नहीं की जाती। मनोवैज्ञानिक समीक्षा-शैली का क्षेत्र अंतर्जगत माना जाता है किन्तु ऐतिहासिक समीक्षा से प्रभावित बाह्य जगत का अनुभूत ज्ञान ही आभ्यंतरिक

---

१. साहित्य-दर्शन—श्रीमती शचीरानी गुर्टू

जगत का मूलाधार है। ऐतिहासिक समीक्षा-शैली में युग विशेष की परिवर्तित होती हुई भावनाओं, धारणाओं और परिस्थितियों के आलोक में ही किसी कृति की विवेचना की जाती है तथा उस पर तुलनात्मक दृष्टिकोण और चिंतन-पद्धति का प्रभाव पड़ने से उसमें वैज्ञानिकता का भी समावेश हो जाता है। ऐतिहासिक समीक्षा-शैली का निखरा हुआ रूप हिन्दी साहित्य के कई समालोचकों की कृतियों में दृष्टिगोचर होता है। एक उदाहरण देखिए—

"इस प्रकार सूफी मत का उदय अरब में और विकास फारस में बहुत कुछ भारतीय संस्कृति के प्रभाव से हुआ। उनका अद्वैत मूलक सर्वात्मवाद भारतीय दर्शन का दान है। नियोप्लेटौनिक सिद्धान्तों ने उनकी दार्शनिक तृषा को उभाड़ा अवश्य होगा, परन्तु उनके सिद्धान्तों के अध्ययन से जान पड़ता है कि उसकी शांति भारतीय सिद्धांतों से ही हुई। जन्मांतरवाद, विरक्त जीवन, फरिश्तों के प्रति पूज्य भाव (बहुदेववाद) ये सब इस्लाम के विरुद्ध हैं और सूफी सम्प्रदाय को बाहरी संसर्ग से प्राप्त हुए हैं। इनमें से विरक्त जीवन तथा फरिश्ता-पूजन में ईसाई प्रभाव मानना ठीक है परन्तु जन्मांतरवाद स्पष्ट ही भारतीय है। उनका 'फना' भी बौद्ध 'निर्वाण' का प्रतिरूप है। परन्तु बौद्ध निर्वाण की तरह स्वयं साध्य न होकर वह 'मन मारण' के द्वारा द्वैतभावना का नाश कर 'बक़ा' अथवा 'अपरोक्षानुभूति' का साधन है। प्रसिद्ध सूफी फकीर बायजीद ने 'फना' का सिद्धांत अबू अली से सिंध में सीखा था। अबू अली को प्राणायाम की विधि भी मालूम थी, जिसे वे पास-ए-अनफ़ास कहते थे। सूफियों पर भारतीय संस्कृति का इतना प्रभाव पड़ा था कि उनको दिल की मूर्ति के लिए भी विरोध न रह गया था और वे 'बुत' के पर्दे में भी खुदा को देख सकते थे। प्रभाव चाहे जहाँ से आया हो, इतना स्पष्ट है कि हिन्दू विचार परम्परा और सूफी विचार परम्परा में अत्यन्त समानता है।"[1]

मनोवैज्ञानिक समीक्षा-शैली में मनोविज्ञान की प्रधानता रहती है तथा इसमें कवि और काव्य या किसी अन्य कृति के मूल में स्थित उन भावों, आदर्शों और उद्देश्यों की विवेचना की जाती है जिनसे प्रभावित होकर उनका सृजन हुआ है। बाह्य जगत की आभ्यंतरिक जगत को प्रभावित करनेवाली परिस्थितियों का भी यह पद्धति विश्लेषण करती है। वर्तमान युग मनोवैज्ञानिक युग कहा जाता है और फ्रायड, युंग तथा एडलर के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत तो अब बहुत अधिक प्रचलित हो गए हैं। वर्तमान युग में पाश्चात्य समीक्षक तो विशेष रूप में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही साहित्य का मूल्यांकन करते हैं और इस प्रकार व्यक्तिगत स्वभाव तथा सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और पारिवारिक परिस्थितियों से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं के आलोक में ही कवि या कलाकार की कृतियों को देखा जाता है। हिन्दी साहित्य में डॉ० रामविलास शर्मा, श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री अज्ञेय, श्री शांतिप्रिय द्विवेदी आदि की समीक्षाएँ इसी कोटि की हैं। मनोवैज्ञानिक समीक्षा शैली का एक उदाहरण देखिए—

"पंत में वह आत्मस्थता है जो बाहरी तूफानों में भी प्रकृतिस्थ रहती है। इसीलिए उनमें उद्वेलन नहीं, सुस्पन्दन है। गर्जन तर्जन और कोलाहल उनके स्वभाव में नहीं। उपवन में तूफान के आने पर बड़े-बड़े वृक्षों की जो चरमराहट होती है वह एक कलित कोमल कुसुम

---

[1] हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

की नहीं, उसका तो हिल भर जाना काफी है। 'बह्नि बाढ़, झंझा के भूपर' पंत का भी 'कोमल मनुज कलेवर' हिलाडुल गया है। जहाँ मानसिक संघर्ष उनकी चेतना को आलोड़ित कर गया है, वहाँ उनकी अभिव्यक्ति में तीव्रता भी आ गई है, यथा 'परिवर्तन' में तथा यत्र-तत्र नवीन रचनाओं में। किन्तु उत्क्रांति को अंगीकार करके भी वे सृजन के प्रति तन्मय हैं। अन्य प्रगतिशील कवि जबकि क्रांतमुख हैं, पंत निर्म्माणोन्मुख भी। क्रांति के बाद जो उत्तरदायित्व कवि पर आता है, पंत ने उसे सँभाला है।"[१]

प्रभाववादी समीक्षा-शैली वस्तुतः स्वतंत्र अथवा आत्मप्रधान आलोचना का ही परिवर्द्धित रूप है और इस प्रकार उसमें भी व्यक्तिगत भावनाओं तथा रुचि को ही प्रधानता दी जाती है। इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि यदि समीक्षक की निजी भावनाएँ और अभिरुचि व्यापक हुई तो वह अपने समीक्षात्मक विचारों को सुन्दरतम प्रभावशाली शैली में अभिव्यक्त कर सकता है परन्तु यदि उसकी रुचि और भावनाएँ संकुचित हुईं तो फिर न तो शैली ही प्रभावपूर्ण हो सकती है और न विवेचना ही गंभीर जान पड़ती है। इस प्रकार एक आंग्ल आलोचक ने प्रभाववादी समीक्षा-पद्धति को 'अपनी ही भावनाओं की ओजपूर्ण गद्य में विशद अभिव्यक्ति' (Eloquently exhibiting his own sensibilities in animated prose) मानकर उचित ही किया है। सौन्दर्यवादी समीक्षा-शैली में समालोचक केवल साहित्य के सुन्दरम् पर ही प्रकाश डालता है चाहे फिर वह सौन्दर्य कल्पना, भाव और शैली किसी का भी क्यों न हो। इसी प्रकार प्रशंसावादी समालोचना में न तो सिद्धांतों को ही निर्धारित किया जाता है और न कृति का विश्लेषण ही किया जाता है बल्कि स्वानुभूति को अंकित करने का प्रयास किया जाता है। अध्ययनात्मक समीक्षा-शैली वस्तुतः कोई नवीन शैली नहीं है बल्कि व्याख्यात्मक समीक्षा-शैली का ही परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप है।

मार्क्सवादी समीक्षा-शैली को प्रगतिवादी या समाजवादी समालोचना भी कहा जाता है। श्री अमृतराय के शब्दों में—"मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की वह समाज शास्त्रीय आलोचना है जो साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए समाज और साहित्य के अन्योन्याश्रय तथा गतिशील सम्बन्ध का उद्घाटन करती है और सचेतन रूप में समाज को बदलने वाले साहित्य की सृष्टि की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करती है।" मार्क्सवाद को वस्तुतः जीवन का एक सर्वांग सम्पूर्ण गतिशील दर्शन माना जाता है। मार्क्स ने साहित्यानुशीलन में सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक माना है और मानव-जीवन तथा समाज की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत की है। मार्क्सवादी व्याख्या चाहे एकांगी और अपूर्ण अवश्य हो तथा उसमें मानव-मनोवृत्तियों और उसके विभिन्न रूपों की कल्पना भी उचित ढंग से न की गई हो, परन्तु इतना अवश्य है कि मार्क्सवादी समीक्षकों ने समालोचना के लिए साहित्य की कसौटी जीवन ही मानी है और जीवन रूपी कसौटी पर जो साहित्य खरा उतरे उसे ही वे सत्साहित्य मानते हैं। मार्क्सवादी समीक्षक किसी भी कवि या कलाकार की समालोचना करते समय उसको उसकी सम-सामायिक सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर यह जानना चाहते हैं कि उसने अपने युग द्वारा उठायी गयी मानवीय समस्याओं को समझाने या सुलझाने का प्रयत्न किया है

---

[१] सामयिकी—श्री शांतिप्रिय द्विवेदी

या नहीं और यदि वह कवि या कलाकार अपने युग की मूलभूत समस्याओं की उपेक्षा करता है तो वे उसे निम्न स्तर का तथा हीन कोटि का समझते हैं।

मार्क्सवादी समालोचना की इधर बहुत से साहित्यकारों ने कटु आलोचना भी की है। सामाजिक जीवन की जटिलता स्वीकार करते हुए भी बहुत से विद्वान इस बात से सहमत नहीं हैं कि सामाजिक जीवन की व्याख्या में केवल आर्थिक तत्वों को ही महत्व दिया जाय तथा अन्य सांस्कृतिक, धार्मिक और बौद्धिक तत्त्वों की निरी उपेक्षा ही की जाय। मार्क्सवादी समीक्षक बहुधा आलोच्य कृति में केवल यही देखने का प्रयत्न करते हैं कि उसमें शोषक और शोषित वर्गों का संघर्ष चित्रित किया गया है या नहीं तथा शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गई है या नहीं और शोषक वर्ग पर उसकी विजय चित्रित की गई है या नहीं। यदि इन सबका उत्तर उसे 'हाँ' में मिलता है तो वह उसे साहित्य की श्रेष्ठतम कृति समझता है। परन्तु इस प्रकार के दृष्टिकोण से समीक्षक का निष्पक्ष बना रहना असंभव रहता है और यही कारण है कि बहुत से प्रगतिवादी आलोचकों की समालोचनाओं में 'टीटोवाद', 'ट्राटस्कीवाद', 'स्टालिनिस्ट पद्धति' आदि शब्दावलियों का प्रयोग दीख पड़ता है तथा कई प्रसिद्ध साहित्यकारों की कृतियों की चाहे फिर उनकी रचनाएँ शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति ही क्यों न रखती हों 'टीटोवादी' और 'ट्राटस्कीवादी' मानकर उपेक्षा की जा रही है। इस प्रकार मार्क्सवादी समीक्षक साहित्य का भावात्मक और कलात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करना तो दूर रहा केवल अधूरे या एकांगी दृष्टिकोण से ही राजनैतिक धरातल पर किसी भी कवि या कलाकार की कृतियों का परीक्षण करते हैं और उनकी प्रगतिशीलता तथा अप्रगतिशीलता का निर्णय किया करते हैं। बर्ट्रेंड रसेल ने तो मार्क्स की भौतिकवादी ऐतिहासिक व्याख्या की भी आलोचना की है और उसे त्रुटिपूर्ण मानते हुए लिखा भी है "न तो यंत्र और उससे उत्पन्न अर्थ-तंत्र को ही इतिहास में निर्णयात्मक स्थान प्राप्त हो सकता है और न ही व्यक्ति तथा उसकी विभिन्न मनोवृत्तियाँ उसकी दास बनायी जा सकती हैं।" इस प्रकार मार्क्सवादी समीक्षक जब कला और कलाकार को अर्थ-तंत्र का दास मानकर उसकी आलोचना केवल भौतिक और आर्थिक आधार पर करते हैं तो उनकी आलोचना स्वाभाविक ही एकांगी तथा अपूर्ण ही रहती है। अध्ययन और आलोचना में जीवन के विशाल रूप पर दृष्टिपात करना ही उचित है; केवल एकांगी रूप पर नहीं। इसीलिए श्री नंददुलारे वाजपेयी ने भी मार्क्सवादी समीक्षा-शैली को अनुपयोगी मानते हुये लिखा है—"जिस प्रकार हम क्रिश्चियन धर्म के बिना भी धार्मिक और सभ्य बने रहे, उसी प्रकार मार्क्स-दर्शन के बिना दार्शनिक और प्रगतिशील बने रह सकते हैं, यदि हम अपनी प्रगतिशील परम्परा को पहचान सकें और अपनी दार्शनिक और संस्कृति विरासत के प्रति ईमानदार रह सकें।" मार्क्सवादी समीक्षकों में श्री शिवदान सिंह चौहान, डॉ० रामविलास शर्मा, श्री मन्मथनाथ गुप्त, श्री अमृतराय तथा श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त का उल्लेखनीय स्थान है। मार्क्सवादी समीक्षा-शैली का एक उदाहरण देखिए—

"कोई भी लेखक अगर अपनी कला के प्रति ईमानदार बनना चाहता है तो उसे शोषित वर्ग का बनना होगा। वरना उसका समाजवाद पर, मजदूर पर, किसान पर, शोषण पर कलम चलाना अनधिकार चेष्टा छोड़ और कुछ नहीं है। यदि कोई लेखक या कवि अपनी ईमानदारी के बावजूद शोषितों के बीच नहीं जा पाता तो उसे अपने मध्यवित्त वाले लोगों के

विषय में लिखना चाहिए। उसके सामने चेखोव की बहुत बड़ी मिसाल रहेगी। वह लिखे निम्न मध्यवर्ग की रोज-ब-रोज बढ़ती हुई दरिद्रता पर, दिखलाये कि कैसे ऐतिहासिक कारणों से, निम्न मध्यवर्ग की आर्थिक और सामाजिक अवनति हो रही है और वह उत्तरोत्तर सर्वहारा की श्रेणी में समाता जा रहा है। उसे चाहिए कि वह इस श्रेणी के लोगों की एक रस और नीरस जिन्दगी की ऊब और थकान के बारे में लिखे, उस बेमतलब सी जिन्दगी के बारे में जिससे आह्लाद कभी का बिदा हो चुका, जिसमें औत्सुक्य की जगह अहर्निशि नोचनेवाली व्यर्थता ने ले ली। वह तसवीर खींच सकता है निम्न मध्यवर्ग के एक किरानी की जिसके जीवन का प्रत्येक पल जैसे एक भारी लाश की तरह उसके काँधों पर बैठा रहता है। ऐसे ही अनेक विषय किसी भी प्रगतिशील लेखक को सहज ही मिल जायेंगे।"[१]

इस प्रकार हिंदी साहित्य में समालोचना की विविध प्रणलियाँ प्रचलित हैं तथा अपने अपने क्षेत्र में वे सभी उपयोगी भी प्रमाणित हो रही हैं किन्तु आजकल प्रायः अधिकांश समीक्षकों की समीक्षा-पद्धति में इन सभी विविध शैलियों का आवश्यकतानुसार सम्मिश्रण सा पाया जाता है और उनकी समालोचना में अन्य सभी समीक्षाओं के विविध आवश्यक तत्त्वों का समावेश हो जाता है। व्याख्यात्मक दृष्टि से कृतियों का विश्लेषण करना, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कवि या कलाकार की मानसिक स्थिति और उसकी कृतियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना, तुलनात्मक दृष्टि से देश तथा काल की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का आलोच्य कलाकार या कृति का पूर्ववर्ती और समसामयिक कलाकारों या कृतियों के साथ तुलनात्मक विवेचना करना, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियों, प्रचलित विभिन्न आदर्शों और उद्देश्यों पर प्रकाश डालना, सैद्धांतिक दृष्टिकोण से प्राचीन तथा अर्वाचीन सिद्धान्तों के आधार पर किसी भी कृति या कलाकार का मूल्यांकन करना तथा इस प्रकार अपने अध्ययन में व्यापकता एवं समीचीनता लाकर किसी एक निर्णय पर पहुँचना अब प्रत्येक समालोचक का कार्य हो गया है। अतएव साहित्य-समीक्षा के इन विविध मानदंडों का सम्मिश्रण स्वाभाविक ही प्रायः प्रत्येक समालोचना में देख पड़ता है यद्यपि कभी कभी अपनी व्यक्तिगत रुचि के फलस्वरूप समीक्षक किसी एक प्रणाली को ही प्रधानता दे देता है जिससे कि उसकी समीक्षा में संतुलन का अभाव दृष्टिगोचर होने लगता है।

(अक्टूबर १९५३)

---

[१] नयी समीक्षा—श्री अमृतराय

कहानी में कथा-तत्त्व

मानव शरीर कुछ तत्त्वों से निर्मित है और यदि उनमें से किसी एक का भी अभाव हो जाय तो सारा शरीर ही मिट्टी में मिल सकता है अतः स्वाभाविक ही इन तत्त्वों का अत्यन्त महत्व माना जाता है। इसी प्रकार साहित्य के प्रत्येक अंग-उपांग के भी कुछ निश्चित तत्त्व रहते हैं और अपने मनोवांछित अभिप्राय तक पहुँचाने के हेतु कलाकार को कलासृजन में जो प्रक्रिया करनी पड़ती है उसे टेकनिक, शिलपविधान या रूप-विधान कहा जाता है और उसके लिए जिन उपकरणों को वह एकत्र करता है वे समस्त उपकरण उसके मूल तत्त्व कहलाते हैं। आधुनिक कहानी के शिलपविधान पर विचार करते समय विचारकों ने उसके तत्त्वों की भी चर्चा की है और इस प्रकार कहानी का निर्माण कुछ विभिन्न तत्त्वों के आधार पर ही होता है परन्तु समीक्षकों में इस सम्बन्ध में मत विभिन्नता सी पाई जाती है कि वस्तुतः कहानी के कितने तत्त्व माने जायँ ? यों तो उपन्यास की भाँति कहानी के भी कथानक या कथावस्तु, पात्र और चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, वातावरण, शैली और उद्देश्य नामक छः तत्त्व माने जाते हैं तथा शरीर के अवयवों की भाँति इन तत्त्वों का भी अन्योन्याश्रित होना आवश्यक कहा जाता है परन्तु यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि कृति के रूप-विशेष के कारण इन तत्त्वों के प्रयोग में भी कुछ विभिन्नता सी रहती है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अधिकांश विचारक इन छः तत्त्वों को ही कहानी के प्रमुख तत्त्व मानते हैं और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री गुलाबराय, डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, डॉ० भगीरथ मिश्र प्रभृति विचारक इन छः तत्त्वों को ही कहानी-निर्माण में आवश्यक समझते हैं परन्तु डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० विनयमोहन शर्मा और श्री मोहनलाल 'जिज्ञासु' आदि समीक्षकों ने तो कहानी के केवल पाँच तत्त्व ही माने हैं। स्मरण रहे कि डॉ० रामकुमार वर्मा का मत है कि "कहानी मुख्यतः पाँच अंगों में विभाजित की जाती है। प्रथमतः कहानी उन घटनाओं और कार्यों से सम्बन्ध रखती है जो पात्रों द्वारा किए जाते हैं और वही कथानक का रूप ले लेते हैं। दूसरे, ऐसी घटनाएँ जिन व्यक्तियों पर घटित होती हैं अथवा जो व्यक्ति कथानक का कार्य करते हैं—वे ही पात्र कहलाते हैं। पात्र जो वार्तालाप करते हैं वही कथोपकथन कहलाता है। जिस भाषा अथवा रीति से कथानक सज्जित होता है उसी में शैली का अस्तित्व रहता है और लेखक जो जीवन का लक्ष्य दिखलाना चाहता है वही आदर्श कहानी के सम्मुख रहता है।"[1] इतना ही नहीं कतिपय समीक्षकों ने तो कथा-साहित्य के विधायक तत्त्वों की संख्या देने की अपेक्षा कहानी का स्वरूप उसकी विशिष्टाओं को अंकित करते हुए स्पष्ट किया है और इस प्रकार जैसा कि सुप्रसिद्ध कवि श्री अंचल जी का कहना है कि "कहानी में सुखान्त—दुखान्त का सम्मिश्रण, प्राचीनता-नवीनता, स्नेह-सिद्धान्त का संघर्ष और इतिहास के स्मरणीय युगों के—नये विचारों की तूफानी मनोवृत्तियों के सूक्ष्मतम अध्ययन, स्त्रियों के कोमल और कठोर हृदयों का—पुरुषों के प्रति उनके आकर्षण-विकर्षण का—उनके उद्दीप्त हृदयान्दोलन

---

[1] साहित्य-समालोचना—डॉ० रामकुमार वर्मा (पृष्ठ ४५)

का और उसी प्रकार पुरुषों के मन में उठने वाली स्पन्दनशील भावनाओं का सच्चा अवलोकन—सभी कुछ मिलता है। भाव-जगत और उसकी समस्त क्रियाओं, प्रति-क्रियाओं का फल कहानी का आधार है। जीवन के आदर्श और यथार्थ दोनों का चित्रण कहानी में होता है। कहानी की बड़ी से बड़ी शक्ति उसकी कला है—प्रभाव को एक नाटकीय और आघातकारी रूप में उत्पन्न करने की क्षमता। कहानी में आदर्श और यथार्थ दोनों कला से अनुप्राणित होने पर ही जीवित रहते हैं। कलाविहीन आदर्श और यथार्थ दोनों नश्वर हैं।"[1] परन्तु अंचल जी का सा दृष्टिकोण अन्य सभी विचारकों का नहीं है और फिर वास्तव में सैद्धांतिक चर्चा के लिए यह नितान्त आवश्यक भी नहीं है अतः कहानी के विधायक तत्त्वों पर चर्चा हमेशा ही होती रही है तथा न केवल समीक्षकों अपितु कहानीकारों ने भी अपने-अपने मत व्यक्त किए हैं और इस प्रकार श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी की दृष्टि में "यों तो कहानी को हम कई अंगों में विभाजित कर सकते हैं जैसे कथानक, दृश्य, कथोपकथन, दुविधा की तीव्रता तथा चरम परिणति। किंतु इनमें कथानक, दृश्य, दुविधा की तीव्रता तथा चरम परिणति का निर्वाह अपेक्षाकृत असाधारण होता है।" इसी प्रकार सेंटसबरी तो कथानक (Plot), चरित्र-चित्रण (Character), संवाद (Dialogue) और वर्णन या वातावरण (Description) नामक चार अंग ही कहानी के आवश्यक मानते हैं परंतु डॉ० प्रभाकर माचवे का कहना है कि "कहानी के आवश्यक तत्त्व निम्न माने गए हैं—

(१) कहानी छोटी हो (२) एक ही भावना का उसमें उद्रेक हो (३) कहानी लिखने में जितनी आवश्यकता स्मृति की है, उतनी ही विस्मृति की भी है, यानी कहानी में चुनाव बहुत जरूरी चीज है (४) कथानक, वृत्त या वस्तु--पात्रों द्वारा किए जाने वाले कार्य या घटनाएँ (५) ऐसी घटनाएँ जिन पर घटित होती हैं, वे पात्र और उनका चरित्र-चित्रण (६) कथोपकथन या संवाद (७) जिस रीति से कथानक विकसित होता है, वह रचनाक्रम (८) भाषा-शैली, वर्णन या वातावरण-निर्मित तथा उन पर लेखक के विचार (९) शीर्षक; आरम्भ और अंत (१०) कहानी का समग्र, प्रभाव और मूल हेतु, उद्देश्य या आदर्श का निर्वाह।"[2] हमारी दृष्टि में कथानक, पात्र और चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, वातावरण, शैली तथा उद्देश्य नामक छः तत्त्व ही कहानी के मूल तत्त्व हैं और इनमें कथानक का सर्वप्रमुख स्थान है।

कथानक को कथावस्तु तथा वृत्त के अतिरिक्त अँग्रेजी में प्लाट कहते हैं और एक विचारक ने तो यह लिखकर कि "कहानी के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है घटनासंबंधित कथानक का ऐसा प्रसार, जो अपनी सीमा में, एक प्रभावशाली और असाधारण जीवनमर्म को पूरा-पूरा व्यक्त कर दे"[3] कहानी में कथावस्तु का वही महत्व माना है जो कि शरीर में अस्थियों का है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कहानी में कथानक का स्थान मुख्य है क्योंकि उसी पर सम्पूर्ण कहानी आधारित रहती हैं और यह भी कहा जाता है कि यदि कहानी में भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण, शैली तथा वातावरण आदि सभी तत्त्व हों लेकिन कथावस्तु न हो तो वह अस्थिरहित तन के सदृश्य प्रतीत होगी। रिचार्डस् ने तो कहानी को सृजनात्मक साहित्य का

---

१. रेखा-लेखा—श्री अंचल (पृ० ७८-७९)

२. संतुलन—डॉ० प्रभाकर माचवे (पृ० १८८-१८९)

३. आधुनिक साहित्य—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी (पृष्ठ १८९-९०)

बीज मानते हुए वस्तु तत्त्व को अत्यन्त महत्व दिया है परन्तु यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि ऐसे समीक्षकों की भी संख्या कुछ कम नहीं है जो कि कहानी में कथा-तत्त्व की प्रमुखता को स्वीकार नहीं करते। कुछ विचारकों ने तो किसी निश्चित कथा का आधार लेकर कहानी में किसी भी प्रकार का वस्तु-विन्यास उचित नहीं समझा है।[1] उनकी दृष्टि में किसी पूर्व निश्चित व्यवस्था योजना में आस्था रखना आवश्यक नहीं है क्योंकि बिना इस प्रकार की किसी आरंभिक योजना के भी कहानी का सृजन हो सकता है। स्मरण रहे कि कहानी में कथा-तत्त्व की भर्त्सना करनेवाले समीक्षकों के विचारों में विरोधाभास भी है लेकिन कथावस्तु की अनिवार्यता स्वीकार न करनेवाले विचारकों की विचारधारा को निरा महत्वहीन ही नहीं कहा जा सकता। शेरवुड एन्डरसन (Sherwood Anderson) ने कथानक को कहानी का विष कहा है और शोन ओ फाउलेन (Seon o' Faolain) का कहना है कि आधुनिक कहानी लेखकों ने घटना अथवा किस्सा या कथानक और उसके सब साथ के तत्त्वों को छोड़ा नहीं है अपितु केवल उनका स्वभावमात्र परिवर्तित कर दिया है। आधुनिक कहानियों में भी घटनाएँ रहती हैं किन्तु वे केवल मन की यात्राएँ होती हैं। उनकी दृष्टि में तो आधुनिक कहानीकार के लिए यात्राएँ मानव-स्वभाव के जंगल में होती हैं। कतिपय आलोचकों ने तो कथानक को कहानी के विभिन्न तत्त्वों में सिन्ड्रैला अर्थात् सौतेली पुत्री माना है लेकिन अरस्तू ने तो कथानक को ही कहानी में विशेष महत्व प्रदान किया था। उनकी दृष्टि में तो ट्रैजिडी का अस्तित्व चाहे बिना पात्रों के सम्भव भी हो लेकिन कथानक के बिना असंभव था। कथानक उनकी दृष्टि में चित्र की रेखाओं के समान था और अन्य तत्त्व रंगों के सदृश्य थे जो कि चित्र में सुन्दरता अवश्य ला देते हैं किंतु अनिवार्य नहीं हैं। इस प्रकार कथावस्तु का कहानी में अपना विशिष्ट स्थान अवश्य है।

जैसा कि एक विचारक का मत है "कथावस्तु का जन्म कहानीकार की उन अनुभूतियों और लक्ष्यात्मक प्रवृत्ति से होता है जिसके धरातल अथवा मूल प्रेरणा से कहानीकार अपनी कहानी का निर्माण करने बैठता है।"[2] इसमें कोई संदेह नहीं कि जितनी भी कहानियाँ निर्मित होती हैं, उनके मूल में कोई कल्पना, भावना, अनुभूति, विचार या तथ्य अवश्य विद्यमान रहता और उसी से कहानीकार को कथा-निर्माण की चेतना या प्रेरणा होती है। कहानीकार के अंतःकरण में जब प्रेरणा उठती है तब वह कहानी का निर्माण कार्य प्रारंभ कर देता है और कथा-वस्तु के मूल में उन्हीं भावों का निवास रहता है जो कि उसके मानस में रहकर हिलोरें लेते हैं और इस प्रकार हम इन भावों को कथावस्तु का बीज कह सकते हैं। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए

---

[1] "With or without your kind permission I will kick the word *plot* right into the sea, hoping that it will sink and never reappear. It is the most deceptive word in the jargon of the art, craft, or what would you. As a *noun* it usually means nothing more or less than *story-outline* or *synopsis* As a *verb* it means *to shape* or *plan.*

I had ambiguities, and so I am substituting 'story outline' for the noun, and 'devise' for the verb.

—*Creative Technique in Fiction by Francis Vivian; pp. 42—43*

[2] हिंदी कहानियों की शिलपविधि का विकास—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल (पृष्ठ ३२४)

कि ये बीजभाव अनेक प्रकार के और अनेक रूप के होते हैं तथा इन्हीं के संयोग से कहानीकार कथानक को साकार रूप देकर अपनी कहानी का निर्माण करता है तथा पाश्चात्य समीक्षकों ने तो इन्हें अत्यधिक महत्व देते हुए इन्हीं को प्रेरणा (motive)[१] या कहानी का बीजभाव (जर्मिनल आइडिया)[२] माना है। स्मरण रहे कि स्वयं प्रेमचंद जी ने भी इसका महत्व स्वीकार करते हुए कहा है कि "आज का लेखक कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नही बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौंदर्य नहीं है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमें सौंदर्य की झलक हो और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।"[३]

यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि आधुनिक कहानीकार जो कुछ भी कहना चाहता है उसे अपनी कथावस्तु का विषय बना लेता है और इस प्रकार आधुनिक कहानी की विषय-सीमा के अंतर्गत एक निरीह अश्व की मृत्यु से लेकर एक युवा तरुणी के प्रेम-व्यापार तक की घटनाएँ चित्रित की जा सकती हैं। एक ओर तो ऐसी कथावस्तु भी अंकित की जा सकती है जिसमें चलित मशीनें और कैमरे की परिधि में आनेवाली अनेक कथाएँ या घटनाएँ आदि आ सकती हैं तथा दूसरी ओर जिनमें कोई कथावस्तु या कथानक स्थूल रूप से उत्पन्न ही न होता हो अतः आधुनिक युग में कथानक की विषय-सीमा व्यापक सी हो गई है जिसके फलस्वरूप कहानी के शिल्प-विधान में भी वैविध्यता सी आ गई है।[४] साथ ही कहानी की कथावस्तु

---

1. "Plot starts most commonly with an idea originating in the impression made by a single incident, in a situation experienced or invented in a chance mood or fancy, or in a conception of character. The starting point for the plot may be called the story *theme*, the idea, the *plot-germ* or the *motive*. By the term *motive*, is meant whatever in the material has served as the spur of stimulus to write, the moving force of a story in short, its reason for existence"

—The Short Story By E. M. Albright pp. 28.

2. "A dramatic incident or situation; a telling scene; a phase of character; a bit of experience; an aspect of life; a moral problem any one of these, and innumerable other motives which might be added to the list, may be made the nucleus of a thoroughly satisfactory story."

—An Introduction to the Study of Literature By W. H. Hudson pp. 475.

३. कुछ विचार—श्री प्रेमचन्द (पृष्ठ ५६)

4. "The short story can be anything the author decides it shall be. It can be anything from the death of a horse to a young girl's first love affair, from the static sketch without plot to the swiftly moving machine of bold action and climax, from the prose poem, painted rather than written, to the piece of straight reportage in which style, colour and elaboration have no place, from the piece which catches like a cob-web the light subtle iridescence of emotions that can never be really captured of measured to the solid tale in which all emotions, all actions, all reactions is measured....."

—Modern Short Story By H. E. Bates pp. 15.

में मौलिकता का होना भी नितान्त आवश्यक है परन्तु कथावस्तु की मौलिकता लेखक की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति पर निर्भर रहती है और वही कथानक पाठकों के मानस पर अधिकाधिक प्रभाव डालने में सफल भी हो सकता है जिसमें कि कहानीकार की अंतर्दृष्टि मानव-प्रकृति के विभिन्न रूपों की ओर गई हो । मोपांसा का तो यही मत है कि वस्तुओं का चित्रण करते समय उनका पूर्णतः निरीक्षण आवश्यक है और अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षणी शक्ति द्वारा ही हम इन वस्तुओं की वह नूतनता देख सकते हैं जिसका न तो किसी ने अवलोकन ही किया है और न अनुशीलन ही किया है ।

यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि विचारकों का मत है कि फ्लाबर्ट ने मोपांसा को भी मौलिकता के संबंध में इसी प्रकार का उपदेश दिया था । देखिए—

Everything which one desires to express must be looked at with sufficient attention, and during a sufficiently long time, to discover in it some aspect which no one has yet seen or described. In everything there is still some plot unexplored because we are accustomed only to use our eyes with the recollection of what others before us have thought on the subject which we contemplate. The smallest object contains some thing unknown, find it. To describe the fire that flames and a tree on plain, look, keep looking at the flames and that tree untill in your eyes they have lost all resemblance to any other tree or any other fire.

This is the way to become original.

When you pass a grocer seated at his shopdoor, a janitor smoking his pipe, a stane of hackney coaches, show me that grocer and janitor—their attitude, their whole physical appearance—embracing likewise, as indicated by the skilfulness of the picture, their whole moral natures so that I can not confound them with any other grocer or any other janitor. Make me see in one word, that a certain cobhorse does not resemble the fifty others that follow or precede it.

वस्तुतः विश्व की प्रत्येक वस्तु में कोई न कोई रहस्य निस्संदेह अंतर्हित है लेकिन वह अपने निजी चक्षुपटल द्वारा ही दृष्टिगोचर हो सकता है ।[1] जैसा कि कहा जा चुका है कहानी के प्रारंभिक युग में कथानक को ही विशेष महत्व दिया जाता था परन्तु शनैः शनैः ज्यों-ज्यों कहानी-कला विकसित होती गई त्यों-त्यों उसका स्थान गौण होता गया और "सबसे उत्तम

---

[1] "Everything which one deserves to experss must he looked at with suffi

कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो "[1] सदृश्य विचारों द्वारा जब से कहानियों में मनोवैज्ञानिक अनुभूति और मनोविश्लेषण को प्रधानता दी जाने लगी तब से कथावस्तु की प्रमुखता अपेक्षाकृत कम हो गई क्योंकि कथानक का उद्‌भव कहानीकार की उन अनुभूतियों तथा लक्ष्यात्मक प्रवृत्ति से ही होता है जिसकी मूल प्रेरणा या धरातल से वह अपनी कहानी का निर्माण करने बैठता है। प्रारम्भ में जब उसकी अनुभूतियाँ घटनाओं या कार्य-व्यापारों की शृंखला से निर्मित हुई तब वह उनके आलोक में सहज ही कथानक को प्रमुखता देने लगा और इस प्रकार कथावस्तु पूर्णतः इतिवृत्तात्मक तथा स्थूल ही रही परन्तु जब उसकी अनुभूतियाँ मनोवैज्ञानिक सत्य तक अन्तर्द्वन्द्व एवं मनोविश्लेषण के धरातल से आविर्भूत हुई तब स्वाभाविक ही कथावस्तु का रूप सूक्ष्मातिसूक्ष्म और गौण होता गया तथा कभी-कभी तो बहुत से आधुनिक कहानीकार उसे बिलकुल ही परोक्ष में रखकर एकमात्र पात्रों के चरित्र या परिस्थितियों के अंकन से ही कहानियाँ प्रस्तुत करने लगे लेकिन जैसा कि हम कह चुके हैं इतना होते हुए भी कथानक के सर्वथा अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि किसी न किसी रूप में कहानीकार को उसका अवलम्ब ग्रहण करना ही पड़ता है। वस्तुतः मानव जीवन ही कथानक का आधार है तथा कहानीकार अपनी कथावस्तु का बीज उन्हीं अनंत अनुभूतियों से ग्रहण करता है जिन्हें वह दैनिक जीवन से संचित करता है। स्मरण रहे जीवन की विविध समस्याएँ तथा कार्य-व्यापारों का ही कहानी में चित्रण होता है अतः कहानीकार की अन्तर्दृष्टि जीवन जगत की गूढ़तम समस्याओं की ओर जानी चाहिए जिससे कि उसका कथानक जीवन से ओतप्रोत हो सके। वस्तुतः प्रत्येक उत्कृष्ट कहानी की कथावस्तु मानव जीवन में इस प्रकार सम्बद्ध रहती है कि वह ऐसा प्रतीत होती है मानों कि वह उसका ही एक अंग हो। कदाचित इसीलिए उसमें मानव-जीवन के चित्रण के साथ-साथ सासारिक दुःख-सुख की वेदना एवं हर्षध्वनि की हिलोरें भी रहती हैं और वे पाठकों के मानस में सर्वदा के लिए अपनी स्मृति छोड़ जाती हैं। यहाँ प्रेमचन्द की सुपरिचित कहानी 'रानी सारन्धा' का अन्तिम अंश उद्‌धृत करना आवश्यक है क्योंकि उसमें कहानीकार ने अत्यन्त निपुणता के साथ यह बतलाया है कि रानी सारन्धा का अंत जीवन की अनंत वेदनाओं से परिपूर्ण था और इसीलिए वह पाठकों को अत्यधिक हृदयस्पर्शी भी जान पड़ता है। देखिए—

> "रानी ने जिज्ञासा-दृष्टि से राजा को देखा। वह उनका मतलब न समझी।
> राजा—मैं तुमसे एक वरदान माँगता हूँ।
> रानी—सहर्ष माँगिये।
> राजा—यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा करोगी ?

---

cient attention, and during a sufficiently long time, to discover in it some aspect which no one has yet seen or described. In everything there is still some plot unexplored, because we are accustomed only to see out eyes with the recollection of what others before us have thought on the subject which we contemplate, the smallest object contains something unknown, find it."

[1] कुछ विचार—श्री प्रेमचन्द (पृष्ठ ३०)

रानी—सिर के बल करूँगी।

राजा—देखो तुमने वचन दिया है। इनकार न करना।

रानी—(काँप कर) आपके कहने की देर है।

राजा—अपनी तलवार मेरी छाती में चुभा दो।

रानी के हृदय पर वज्रपात-सा हो गया। बोली—जीवननाथ! इसके आगे वह और कुछ न कह सकी, आँखों में नैराश्य छा गया।

राजा—मैं बेड़ियाँ पहनने के लिए जीवित नहीं रहना चाहता।

रानी—मुझसे यह कैसे होगा?

पाँचवाँ और अंतिम सिपाही धरती पर गिरा। राजा ने झुँझलाकर कहा—इसी जीवट पर आन निभाने का गर्व था?

बादशाह के सिपाही राजा की तरफ लपके। राजा ने नैराश्यपूर्ण भाव से रानी की ओर देखा। रानी क्षण भर अनिश्चित रूप से खड़ी रही। लेकिन संकट में हमारी निश्चयात्मक शक्ति बलवान हो जाती है। निकट था कि सिपाही लोग राजा को पकड़ लें कि सारन्धा ने दामिनी की भाँति लपककर अपनी तलवार राजा के हृदय में चुभो दी।

प्रेम की नाव प्रेम के सागर में डूब गई। राजा के हृदय से रुधिर की धारा निकल रही थी, पर चेहरे पर शांति छाई हुई थी, कैसा करुण दृश्य है! वह स्त्री जो अपने पति पर प्राण देती थी, आज उसकी प्राण-घातिका है। जिस हृदय से आलिङ्गित होकर उसने यौवन सुख लूटा, जो हृदय उसकी अभिलाषाओं का केन्द्र था, जो हृदय उसके अभिमान का पोषक था, उसी हृदय को आज सारन्धा की तलवार छेद रही है। किसी स्त्री की तलवार से ऐसा काम हुआ है?

आह! आत्माभिमान का कैसा विषादमय अन्त है? उदयपुर और मारवाड़ के इतिहास में भी आत्मगौरव की ऐसी घटनाएँ नहीं मिलतीं।

बादशाही सिपाही सारन्धा का यह साहस और धैर्य देखकर दंग रह गए। सरदार ने आगे बढ़कर कहा—रानी साहबा! खुदा गवाह है; हम सब आपके गुलाम हैं। आपका जो हुक्म हो उसे बसरोचश्म बजा लायेंगे।

सारन्धा ने कहा—अगर हमारे पुत्रों में से कोई जीवित हो तो ये दोनों लाशें उसे सौंप देना।

यह कहकर उसने वही तलवार अपने हृदय में चुभा ली। जब वह अचेत होकर पृथ्वी पर गिरी तो उसका सिर राजा चम्पतराय की छाती पर था।"[1]

स्मरण रहे कि इसी प्रकार के हृदयस्पर्शी उदाहरण अधुनातन कहानियों में भी दृष्टिगोचर होते हैं; उदाहरणार्थ—

"पहलवान को बाहर निकले दो मिनट भी नहीं होते कि श्यामलाल भीतर पहुँच जाता है और जमुना फर्श पर बिछी हुई एक मैली दरी के ऊपर हाथ-पाँव फैलाकर प्रायः अधमरी सी अवस्था में लेटी है। बुझती हुई बत्ती के बहुत ही जीर्ण प्रकाश में श्यामलाल कुछ

---

[1] रानी सारन्धा—प्रेमचन्द

क्षणों तक उसके उस भयावने रूप की ओर देखता रह जाता है। आतंक की एक ठंडी सिहरन क्षण भर के लिये उसकी रीढ़ से होकर दौड़ जाती है। पर फिर दूसरे ही क्षण अपनी उस भावना को झाड़ फेंकता है और फर्श पर जमुना के निकट उकड़ूँ बैठकर वह कहता है, 'ला पहलवान ने क्या दिया तुझे ? मैंने ही उसे तेरे पास भेजा था। मुझे इस समय रुपयों की सख्त जरूरत है। चुपचाप से मेरे हाथ में दे दे। मैं तुझसे आज फिर कुछ नहीं माँगूगा। इसके बाद वाला गाहक तुझे जो कुछ देगा उसे तू ही रख लेना। उसमें से मैं एक पैसा भी नहीं लूँगा। जल्दी दे।' वह अपेक्षाकृत नम्र स्वर में कहता है और हाथ से उसे हिलाने लगता है।

जमुना चौंककर उठ बैठती है। स्पष्ट ही वह इतनी देर तक या तो बेहोशी की सी हालत में पड़ी थी या खोई हुई थी। कमरे के क्षीण प्रकाश में श्यामलाल को देखते ही वह बौखला उठती है। उसकी सारी मानसिक और शारीरिक थकावट पल भर के लिए लुप्त हो जाती है। सिरहाने के नीचे रखे हुए रुपयों को अंटी में छिपाकर वह पूरी ताकत से चिल्लाकर कहती है—'तुम फिर आ गये ? यहाँ से इसी क्षण चले जाओ, नहीं तो मैं तुम्हारा बड़ा बुरा हाल कर दूँगी।' और उठकर अलग खड़ी हो जाती है।

श्यामलाल का स्वर फिर कठोर हो जाता है। वह दाँतों को किटकिटाता हुआ लपककर उसके पास जाता है और उसकी अंटी टटोलने का प्रयत्न करता है। उसके मुँह से कच्ची शराब की तीव्र गंध आ रही है।

'मैं यह रुपये हरगिज नहीं दूँगी। हरगिज नहीं दूँगी।' वह चीखती हुई रोने-के से स्वर में कहती है। 'इन्हें मैंने बच्चों की दवा-दारू और डाक्टर की फीस के लिए रख छोड़ा है।'

वह उसके दोनों हाथों को अपने बायें हाथ की मुट्ठी से कसकर पकड़ लेता है और दाहिने हाथ से उसकी अन्टी से रुपये निकालने का प्रयत्न करता है। वह छटपटाती है, अपने दाँतों को उसके बायें हाथ पर गड़ा कर पूरी ताकत से काटती है। पीड़ा के कारण एक धीमी-सी कराह श्यामलाल के मुँह से निकलती है, पर फिर भी वह मुट्ठी नहीं छोड़ता। वह काट-काट कर उसके हाथ से खून निकाल देती है पर कोई फल नहीं होता। अन्त में वह उसके हाथों को छोड़ देती है। वह नाखूनों से उसका मुंह नोचने लगती है पर तब तक श्यामलाल उसकी अन्टी से रुपये निकाल कर बाहर से साँकल चढ़ा कर अट्टहास करता है। चिल्लाकर कहता है 'पहलवान बड़े-बड़े बाबुओं से भी दरियादिल निकला। दस रुपये दिये, उसने पूरे दस ! कच्ची पीकर तबीयत खराब हो गई थी, अब जाकर 'थ्री एक्स' पीऊँगा। गिब्बन के यहाँ अब भी मिल जाएगी, एक रुपया ज्यादा देकर ! हा ! हा ! रात भर बन्द रहो। आराम करो, बहुत थक गई होगी……।'

जमुना भीतर से दरवाजे पर पूरी ताकत से हाथ से धक्के देती रहती है और चिल्लाती है 'शैतान, जल्दी खोल दरवाजा, जल्दी खोल ! मेरे रुपये वापस कर दे ! बच्चे पर रहम कर !' और वह गुहार मारकर रोने लगती है।

बहुत देर तक वह इसी तरह रोती हुई किवाड़ पर धक्के देती रहती है पर न कोई उत्तर मिलता है, न दरवाजा खुलता है। वह अपना सिर किवाड़ पर पटकने लगती है, पर किवाड़ को रहम नहीं आता। अन्त में थक कर वह फर्श पर पछाड़ खाकर गिर पड़ती है। काफी देर तक उसी अवस्था में पड़ी रहती है। उसके बाद सहसा उठकर लड़खड़ाते हुए पाँवों

से उस खटिया पर जाती है जहाँ बच्ची पड़ी है। किसी तरह उसकी बगल में जाकर लेट जाती है। पिछले कुछ घन्टों के सारे चक्कर से अपने को इस कदर थकी हुई महसूस करती है कि उसे लगता है कि उसे मूर्च्छा आ जायगी। उसे सब कुछ घूमता हुआ सा मालूम होता है। लालटेन की बत्ती की लौ धीरे-धीरे बुझती जा रही है। उसे नींद मालूम होने लगती है। आँखें झँपने लगती हैं और वह सो जाती है।

काफी देर बाद जब एक दुःस्वप्न देखने के कारण उसकी नींद उचटती है तब वह बच्ची की ओर करवट बदलती है। अभ्यासवश अनमने भाव से बच्ची की पीठ थपथपाती जाती है, जैसे उसे सुला रही हो। उसके थके हुये निःशक्त शरीर और अशक्त मन पर नींद का खुमार अभी तक ऐसा छाया है कि बच्ची देर से मरी हुई पड़ी है इसकी कुछ सुध ही उसे नहीं है। वह अभ्यासवश उसकी पीठ थपथपाती हुई लोरी के स्वर में कहती जाती है, आ-आऽ! आ-आऽ! आ-आऽ! आऽऽऽ!"[१]

यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि कहानीकार के मानस-पट पर जिस घटना का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है उसे ही वह कथानक का रूप दे देता है, चाहे फिर वह घटना उसके निजी जीवन में घटी हो या दूसरों के और अन्य व्यक्तियों के जीवन-घटनाओं को वह देखकर, पढ़कर या सुनकर ही जान पाता है। इसीलिए प्राचीन भारतीय आचार्यों ने प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्रित नामक तीन भेद कथानक के माने हैं। जिस कथावस्तु का मूल स्रोत पुराण, इतिहास या जनश्रुति हो वह प्रख्यात कहलाती है तथा उसमें कथानक की अभिव्यंजना-प्रणाली चाहे किसी भी रूप में क्यों न हो लेकिन पूर्णतया वह मूल कथा के अनुरूप ही होती है और उसमें घटनाओं के तथ्य परिवर्तित नहीं हो सकते। उत्पाद्य कथावस्तु पूर्णतः मौलिक होती है तथा उसका प्रेरणा स्रोत कहानीकार की मानसिक अनुभूतियाँ ही हैं और कथानक की पृष्ठभूमि में प्रख्यात की सी वास्तविकता नहीं होती तथा लेखक के सम्मान्य सत्य पर ही वह आधारित रहता है। वस्तुतः प्रख्यात कथावस्तु के वातावरण-चित्रण में लेखक युग-विशेष की संकीर्ण परिधि में ही बंधा रहता है परंतु उत्पाद्य कथानक में वह कल्पनाशक्ति के सहारे किसी भी घटना को अतीत, वर्तमान एवं भविष्य और भविष्य ज़ीवन का वर्ण्य-विषय बनाकर अंकित कर सकता है तथा उसे काल्पनिक वातावरण के सृजन में भी पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। जब कोई कहानीकार प्रख्यात कथावस्तु को लेकर अपनी इच्छानुसार उसमें कलात्मक परिवर्तन, परिवर्धन या संशोधन करता है तब वह कथानक मिश्रित कहलाता है। कुशल कलाकार अपनी प्रतिभा शक्ति के बल पर प्रसिद्ध तथा नीरस घटनाओं को भी भावनाओं की सुघरता के योग से मौलिक, नवीन, भव्य और रुचिकर बना देता है तथा साधारण से साधारण बातों में भी असाधारणता और लौकिक घटनाओं में भी अलौकिकता ला देता है।

कथानक प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्रित नामक उक्त तीनों भेदों में से चाहे किसी भी प्रकार का हो परंतु स्वरूप की दृष्टि से उसके घटनाप्रधान, चरित्रप्रधान, भावप्रधान और वर्णनात्मक नामक चार प्रकार ही होते हैं। घटनाप्रधान कथानक में घटनाओं या कार्य-व्यापारों की ही प्रधानता होती है तथा प्रत्येक घटना या कार्य-व्यापार की पारस्परिक सम्बद्धता भी

---

[१] डाक्टर की फीस—श्री इलाचंद्र जोशी

अपेक्षित है। इस प्रकार की कहानियों में चरित्र-विकास की ओर विशेष ध्यान न देकर घटनाओं को रोचक और कूतूहल-वर्धक बनाकर पाठकों का मनोरंजन करने की चेष्टा की जाती है तथा दैवी घटनाओं और अति मानवीय प्रसंगों के योग से उनमें कार्य-व्यापारों की सीमा, स्वाभाविकता से बहुत आगे बढ़ जाती है। पाठकों की जिज्ञासा-वृत्ति चाहे इस प्रकार की कहानियों से शांत होती हो किन्तु उनमें कला-चरित्र का सौंदर्य नाम-मात्र का होने से उन्हें निम्नकोटि की समझा जाता है। जासूसी कहानियों की कथावस्तु इसी प्रकार की होती है और गोपालराम गहमरी, जी. पी. श्रीवास्तव, दुर्गाप्रसाद खत्री आदि की अधिकांश कहानियों का कथानक इसी श्रेणी का है।

जैसा कि डॉ० श्रीकृष्णलाल का मत है "चरित्रप्रधान कहानियों में लेखक का मुख्य उद्देश्य किसी चरित्र का सुंदर चित्रण होता है"[1] अतः चरित्रप्रधान कथानक में चरित्र-चित्रण और विश्लेषण को ही प्रधानता दी जाती है तथा घटना और संयोग का महत्त्व गौण ही रहता है और कहानीकार किसी एक पात्र-विशेष के सुंदर चरित्रांकन पर ही अपना ध्यान देता है। चूँकि संक्षिप्तता के कारण मानव-चरित्र के सभी अंगों और पक्षों का विशद चित्रण संभव नहीं रहता अतः कहानीकार केवल एक पक्ष विशेष का ही इस प्रकार अत्यंत सावधानी के साथ चित्रण करता है कि चरित्र पूर्णतः अंकित हो जाता है और अन्य सभी पक्ष अछूते बच जाते हैं। साथ ही कहानीकार उसी पक्ष का चित्रण करता है जो कि चरित्र के मुख्यतम गुण विशेष का द्योतक होता है। चरित्रप्रधान कथावस्तु में आत्म-त्याग, वीरता, प्रेम, लोभ, कायरता इत्यादि विशिष्ट गुणों या अवगुणों के प्रतीक पात्रों का ही चरित्र अंकित किया जाता है; संश्लिष्टतम शब्दों के प्रयोग से आरोहावरोह के कलात्मक क्रम द्वारा कुशल कहानीकार अत्यन्त निपुणता के साथ मानव की चारित्रिक उलझनों और विभिन्न परिस्थितियों में अभिव्यक्त होनेवाली उसकी चारित्रिक विशेषताओं को वर्ण्य-विषय बनाता है और जैसा डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने चरित्र-प्रधान कथानक के विषय में कहा है "इसका रूप अपेक्षाकृत सूक्ष्म और पूर्ण कलात्मक होता है क्योंकि ऐसे कथानकों के निर्माण में बाह्य घटनाएँ, कार्य-व्यापार बिलकुल प्रयुक्त नहीं होते, वरन् चारित्रिक अंतर्द्वन्द्व पात्रों की मानसिक ऊहापोह और विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्त होनेवाली उनकी समस्त चरित्रगत विशेषताएँ उसके निर्माण में चरितार्थ होती हैं।"[2] प्रेमचंद की दफ्तरी, आत्माराम, बूढ़ी काकी, दीक्षा, शंखनाद, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की उसने कहा था, प्रसाद की भिखारिन, देवदासी, गुंडा, कौशिक की ताई, जैनेंद्र की निर्मम, जाह्नवी, अज्ञेय की खोज, छाया, पुरुष का प्रभाव आदि कहानियों की कथावस्तु चरित्रप्रधान ही है।

भावप्रधान कथावस्तु में मनोभावों का विश्लेषण किया जाता है तथा कथानक में प्रेम, सहानुभूति, करुणा आदि चिरंतन भावों में से किसी एक की अभिव्यक्ति की जाती है और घटना तथा चरित्र को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। इसमें कथावस्तु का रूप अत्यंत सूक्ष्म तथा अमूर्त हो जाता है और वर्णनात्मकता एवं इतिवृत्तात्मकता का अभाव रहता है तथा कथासूत्र की स्थापना व्यंजना और संकेतों द्वारा की जाती है। अंतर्द्वन्द्वों का अंकन होते हुए भी इसमें

---

१. **आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास—डॉ० श्रीकृष्णलाल (पृष्ठ ३३०)**

२. **हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल (पृष्ठ २१७)**

अभीष्ट भाव की धारा अविरल रूप से प्रवाहित होती हुई जान पड़ती है और उस भावविशेष की अभिव्यंजना कथावस्तु की आधार शिला होते हुए भी अपने आप में पूर्ण होती है। प्रसाद जी तथा अज्ञेय की अधिकांश कहानियों में कथावस्तु इसी प्रकार की है। वर्णनप्रधान कहानियों की जिन्हें कि वातावरणप्रधान कहानियाँ भी कहा जाता है कथावस्तु में वर्णनों की ही प्रधानता रहती है। श्री बुद्धिनाथ झा 'कैरव' के शब्दों में "वातावरण प्रधान कहानियों में कथानक और चरित्र के विकास के लिए परिस्थितियों को संयोग प्रधान बना दिया जाता है। लेखक अपनी निर्दिष्ट भावना को अभिव्यक्त करने के लिए पात्रों की मनोनुकूल योजना कर लेता है और उसके लिए उनसे ऐसे कार्य कराता है जो उस विशेष भावना की पुष्टि करने वाले हों। पात्रों की चरित्रगत विशेषता उस वातावरण के अनुकूल भावना की समर्थक होती है और उसमें ऐसी सामर्थ्य नहीं होती कि वातावरण के प्रतिकूल अपना कोई कार्य दिखला सके। मनुष्य परिस्थितियों का दास होकर किस प्रकार विशेष वातावरण में अपना जीवन तक व्यर्थ नष्ट कर लेता है, यही दिखलाना ऐसी कहानी का लक्ष्य रहता है।"[१] साथ ही, इस प्रकार की कहानियों में दृश्यचित्रण एवम् वातावरण की सृष्टि हेतु कहानीकार चित्रमय शब्दों का प्रयोग करता है तथा कभी-कभी परिपार्श्व पर भी बहुत जोर दिया जाता है। इस प्रकार की कथावस्तु में घटना-वैचित्र्य, चरित्र-विश्लेषण और भावसिद्धि की अपेक्षा वर्णन-वैचित्र्य को ही महत्ता दी जाती है तथा चूँकि कहानीकार को अपनी कलानिपुणता के प्रदर्शन के लिए उचित अवसर मिल जाता है अतः वह कवित्वपूर्ण, लाक्षणिक सौंदर्य से युक्त वातावरण का चित्रण सफलता के साथ कर सकता है। चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की योगिनी, उन्माद, प्रेमपरिणाम तथा प्रेमचंद की शतरंज के खिलाड़ी, जयशंकर 'प्रसाद' की आकाशदीप, बिसाती, स्वर्ग के खंडहर में, समुद्र-संतरण, गोविन्दवल्लभ पंत की जूठा आम, सुदर्शन की हार की जीत इत्यादि कहानियों की कथावस्तु वर्णनप्रधान ही है। इन चार श्रेणियों की कथावस्तु के अतिरिक्त कथानक के हास्यप्रधान, ऐतिहासिक, प्राकृतवादी नामक कुछ अन्य प्रकार भी कहे जाते हैं लेकिन यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इन चार श्रेणियों में ही शेष प्रकार भी आ जाते हैं अतः उनका स्वतंत्र विवेचन अप्रासंगिक ही है।

कहानी की कथा-वस्तु का संक्षिप्त होना अत्यंत आवश्यक है और उसकी रचना अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से तथा क्रमिक विकास के रूप में ही होनी चाहिए। चूंकि उसमें एक या अधिक घटनाएँ क्रमबद्ध रूप में संश्लिष्ट रहती हैं अतः घटनाओं का परस्पर सम्बद्ध रहना भी आवश्यक है तथा कहानीकार का भी मूलमंत्र addmittance except on business must be the short story writer's motto यही होना चाहिए। वस्तुतः कुशल कहानीकार का यही लक्ष्य रहता है। स्मरण रहे जिस कथानक के अंग छिन्न-भिन्न होते हैं उसमें भिन्न-भिन्न घटनाएं एक कच्चे धागे के सहारे गूँथी हुई प्रतीत होती हैं। उनमें पारस्परिक सम्बन्ध रहता ही नहीं तथा कथावस्तु का विकास कार्य-विकास पर न होकर किसी ऐसे रूपक अथवा ऐसी घटना पर होता है जिसके चारों ओर बिखरी हुई घटनाएँ कच्चे धागे से जुड़ी रहती हैं। वस्तुतः ऐसी कहानी किसी व्यक्ति विशेष के कार्यों के इतिहास का रूप ग्रहण कर लेती है। उदाहरणार्थ—

---

१. साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि—पं० बुद्धिनाथ झा 'कैरव' (पृष्ठ ३२४)

"कमला ने मायके में एक बात सीखी थी कि धन मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र है। किन्तु बाबू साहब इस सिद्धांत से सहमत नहीं थे। वह धन को आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन ही नहीं, वरन् उपासना की वस्तु भी समझते थे।

मायका विशेष सम्पन्न न था, किन्तु वहाँ कमला को वे सभी सुख थे जो साधारणतया लड़कियों को माता-पिता के घर प्राप्त होते हैं। अपने माता-पिता की अकेली बेटी होने के कारण मायके में कमला का विशेष मान था। उसे पूर्ण स्वतंत्रता थी, उसकी इच्छाशक्ति पर किसी दूसरे का आधिपत्य न था, किन्तु ससुराल में परिस्थिति और थी। वहाँ स्वतन्त्रता नहीं पराधीनता थी।

हृदयनारायण के स्वभाव में सुरुचि का अभाव था। एक वेशभूषा को ही ले लीजिये। आपका कोई वस्त्र ऐसा न था जो अपने जीवन की अंतिम घड़ियाँ न गिन रहा हो।

अपने चिर-संचित स्वप्नों का इस प्रकार खून होता देखकर कमला रो पड़ी। घर काटे खाता था। उसका चित्त हर समय मुरझाया हुआ सा रहता, किसी से बात-चीत करना अच्छा न लगता। अन्नजल से अरुचि होने लगी।

शनैः शनैः दिन बीतने लगे। जब कमला का स्वभाव पति के स्वभाव से लड़ते-लड़ते पूर्णतया शिथिल हो गया तो प्रतिक्रिया का आरम्भ हुआ। घर की काट खानेवाली प्रवृत्ति मंद पड़ने लगी। धीरे-धीरे वह उस घर से हिलमिल गई और वहाँ के जीवन से भी। नारी सुलभ समर्पण की सद्वृत्ति ने पुरुष के रौद्ररूप के सम्मुख सिर झुका दिया।"[1]

यहाँ कमला का स्वभाव, मायके का दिग्दर्शन, हृदयनारायण का स्वभाव, कमला की निराशा और अंत में उसका संतोष आदि सभी घटनाएँ एक कच्चे धागे से बाँधकर आगे बढ़ाई गई प्रतीत होती हैं अतः सम्पूर्ण कथा में वह आकर्षण नहीं है जो कि उसमें रहना चाहिए था। परंतु जिस कथावस्तु के अंग परस्पर सम्बद्ध रहते हैं वे स्वाभाविक रूप से ही आगे बढ़ते हैं और प्रत्येक अंग से पूर्ण एवं घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है तथा यदि एक घटना भी रह जाए तो सम्पूर्ण कथानक छिन्न-भिन्न शृंखला की भाँति झूलने लगता है। स्मरण रहे समस्त घटनाओं के पीछे एक शक्ति रहती है जो उनको यथा-स्थान सजाकर सेनापति की भाँति संचालित करती है और घटना में पात्र सजे रहते हैं तथा पात्रों में घटनाएँ। ये सभी शक्तियाँ परस्पर मिलकर अंतिम फल की ओर बढ़ती हैं और अंत में उसे प्राप्त भी कर लेती हैं। एक उदाहरण देखिए—

"नजर उठाकर नाथ की ओर देखा—आपकी दृष्टि लालटेन के चित्रों की ओर न थी, आप बाईं ओर पहिली तीन आधी लाइनों में बैठी हुई महिलाओं की ओर देख रहे थे। विशेष निरूपण करने पर जान पड़ा, पहिली लाइन की पहिली कुर्सी पर ही उसका लक्ष्य था।

कोहनी से टोहका देकर मैंने पूछा—'क्या यही लेक्चर सुन रहे हो ?

मेरे प्रश्न का उत्तर न दे उसने पूछा—"जानते हो वह कौन है ?'

वह चेहरा मेरा विशेष परिचित नहीं था। पूछा—'क्यों ?'

एक गंभीर निश्वास छोड़ नाथ ने कहा—'देखते नहीं आधुनिक रमणी समाज में जिन

---

[1] अंतर्द्वन्द्व—श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह

तीन 'तकारों' सुशिक्षिता, सुसंस्कृता और सुलंकृता का होना जरूरी है उनका इसमें कितना प्राचुर्य है।

नाथ का कहना ठीक था। आयु, शास्त्र की व्यवस्था से मुग्धावस्था को पार कर जाने पर भी वहाँ मोह की मात्रा यथेष्ट थी। जल के किनारे उगे फूले हुए, वायु के झोंके से लहराते हुए कास के समान पग-पग पर लचकते हुए उसके नेत्र लता के समान लचीले शरीर से लावण्य झड़ा पड़ रहा था। मुख के उस कच्चेपन से—मैं नहीं समझता वह पाउडर होगा—कौमार्य की पुष्टि हो रही थी। उस पर वह झीनी पोशाक, बिना फ्रेम की चिमटीदार ऐनक, संस्कृति के सब चिन्ह मौजूद थे।

नाथ की ओर देखकर मैंने पूछा—'प्रेम-तरंग' (Love Wave) का जोर हो रहा है?'

गंभीर मुद्रा से उसने उत्तर दिया—'चुप रहो।'

व्याख्यान समाप्त होने पर जब वह रमणियों में श्रेष्ठ रमणी, ललित उपेक्षा से आधे सिर पर अंचल टिकाये, बिना बाँह का ब्लाउज पहिरे नाक पर चिमटीदार ऐनक को सँभालते हुए चली तो नाथ सचमुच मंत्रमुग्ध की भाँति उसकी ओर देख रहा था।

उपस्थित जनता में हम लोगों के परिचित श्रीयुत विष्णु और श्रीमती विष्णु थे। पूछने पर पता लगा, उस भव्य रमणी रत्न का नाम था—कुमारी उषा मेहता।

विष्णु से नाथ ने पूछा—'क्या उनसे परिचय नहीं हो सकता?'

विष्णु ने परिचय का कारण जानना चाहा। मैंने समझाया कि नाथ पर प्रेम-बाण चल गया है और वह भी प्रथम दृष्टि में।

विष्णु ने निरुत्साह की हँसी हँसकर कहा—'असम्भव! वह देखने में जैसे संगमर्मर की मूर्ति है भीतर से भी वैसे ही ठंडी और उद्रेक शून्य।'

श्रीमती विष्णु ने अभिमान से जरा सिर ऊँचा कर कहा—'उसने विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर ली है। कितनी ही जगह वह इनकार भी कर चुकी है।'

विष्णु ने विद्रूप से कहा—'वह कामिनी का आधुनिक संस्करण है। पुराने जमाने के काम के पाँचों बाण उस पर व्यर्थ हैं।'

श्रीमती विष्णु ने नारी-जाति के सम्मान की रक्षा के अभिप्राय से विरोध में कहा—'स्त्री-समाज की सेवा को उसने अपने जीवन का व्रत बना लिया है। उसी में वह अपनी आयु लगा देना चाहती है। इसमें बुराई क्या है?'—और भी अधिक उत्साह से उन्होंने कहा—'भाई विवाह वह कभी नहीं कर सकती। विवाह किस लिए किया जाता है, यह वह जानती ही नहीं।'

सहानुभूति से मैंने नाथ की ओर देखा, वह पर्वत की भाँति अचल था। उसने कहा—'आप एक दफे उन्हें अपने यहाँ निमंत्रित कीजिए, शेष देखा जायगा।'

निमंत्रण किस बहाने दिया जाय? यही बड़ी भारी समस्या हो गई। नाथ को कभी-कभी ऐसी सूझ जाती है कि जिस पर किसी राष्ट्र का बनना बिगड़ना निर्भर हो सकता है। विष्णु के कंधे पर हाथ रख उसने कहा—'क्यों नहीं तुम मेरे विदेश से लौटने के उपलक्ष में एक पार्टी दे देते?'

* * * *

निमंत्रितों की संख्या परिमिति थी। मिस मेहता समय से कुछ देर बाद एक मोटर पर उपस्थित हुईं। नाथ पहिले ही मालूम कर चुका था कि मिस मेहता के यहाँ अपनी कार नहीं है। इससे अंदाजा यह हुआ कि कार मँगनी की है। मिस मेहता के हाथ में अँग्रेजी का वह साप्ताहिक था जो शायद ही कोई गंभीर पाठक पढ़ता हो। इससे कुमारी जी की साहित्यिकता का भी अनुमान हो गया।

कुमारी जी ने आधी अँग्रेजी और पंजाबी में कहा—'So sorry मैं लेट हो गई'—और उपस्थित लोगों को झुककर अभिवादन किया। श्रीमती विष्णु ने परिचय कराया—'मिस उषा मेहता, जलविद!' और फिर नाथ की ओर देखकर कहा—'मि० प्रमोदनाथ शुक्ल, आप दक्षिण द्वीपों में छः मास भ्रमण करके आये हैं।'

नाथ की प्रशान्त गंभीरता और भद्रता की सीमा न थी। उसने विनय से मेज तक झुककर परिचय ग्रहण किया और जब तक मिस मेहता बतख की गर्दन की तरह लचक कर बैठ नहीं गईं तब तक खड़ा ही रहा।

चाय की पहिली प्याली समाप्त होते न होते गोष्ठी में प्रसंग चल पड़ा दक्षिण द्वीपों का। नाथ ने कहा—योरप की अपेक्षा उसकी सहानुभूति एशिया की संस्कृति से ही अधिक है, इसीलिए उसने यूरोप न जाकर प्राचीन सभ्यता के इतिहास के 'एलबम' इन द्वीपों की ही यात्रा की, और जो कुछ उसने इन महत्वपूर्ण द्वीपों में देख पाया वह संसार के किसी भी अन्य देश में अप्राप्य है। उसने बोलते-बोलते इन द्वीपों की सामाजिक समस्याओं से विशेष जानकारी प्रकट की।

मिस मेहता ने अत्यंत गंभीरता से प्रश्न किया—Indian Women (भारतीय स्त्रियों) की अपेक्षा आपने वहाँ की Women (स्त्रियों में) क्या फरक देखा?,

उत्तर में निहायत वाक्पटुता से नाथ ने योरप और अमेरिका की सभी स्त्री संस्थाओं का वर्णन शुरू किया। मजा यह कि किसी गधे ने न पूछा कि तुम योरप या अमेरिका कब गये और उसका यहाँ के प्रसंग से क्या सम्बन्ध है?

नाथ ने मौका देख मिस मेहता को कई दफे 'मिस ऊषा' और 'ऊषा जी' कह कर सम्बोधन किया और फिकरे के फिकरे अँग्रेजी में बोल कर यह प्रकट कर दिया कि इस यात्रा के बाद से अँग्रेजी में बोलना ही उसके लिए अधिक स्वाभाविक है। वह यदि पंजाबी बोलता है तो केवल दूसरों की सुविधा के लिये।

नाथ ने कहा—'जितना धन और श्रम देश में राजनैतिक आन्दोलन और दूसरी समस्याओं पर व्यय हो रहा है यदि उसका आधा भी स्त्रियों की उन्नति पर हो तो फल चौगुने से अधिक हो सकता है।' मिस मेहता सुनकर फड़क उठीं। नाथ ने कहा—'सुविधा होते ही वह इस विषय पर एक पुस्तक लिखने वाला है। लेकिन यह काम दरअसल स्वयम् स्त्रियों के करने का है। पुरुषों का अधिकार केवल सहायता करने का है।'

नाथ की यह वक्तृता मिस ऊषा को देववाणी के समान जान पड़ी। नाथ ने कहा—इस कार्य के लिए देशव्यापी आंदोलन और संगठन की आवश्यकता है। श्रीमती विष्णु को सम्बोधन कर, मिस मेहता के अभिप्राय से उसने कहा—'स्त्रियाँ केवल पुरुषों की सेवा का ही

साधन क्यों बनी रहें, उनका अपना स्वतंत्र जीवन क्यों न हो ? इस आन्दोलन की धुरी लेकर आप लोगों को आगे बढ़ना चाहिये ।'

नाथ के इस व्याख्यान से श्रीमती विष्णु भी बहुत प्रभावित हुईं । मिस मेहता ने कोमल स्वर में कहा—'मैं भी कुछ लिख रही हूँ । यदि आपको समय हो तो कुछ मेरी सहायता कीजियेगा ।'

मैं नाथ के समीप ही था । खांसने का बहाना कर रूमाल मुँह के सामने कर मैंने धीरे से उसके कान में कहा—'मान गये गुरू ।'

नाथ को उत्तर देने की फुर्सत नहीं थी । मिस मेहता के उत्तर में नाथ ने जो कुछ कहा उससे मालूम हुआ कि उसने अपना जीवन सामाजिक क्रांति के लिए अर्पण कर दिया है । इस प्रकार के किसी भी कार्य में सहयोग देने के लिए वह 'सर्वतोभावेन' तत्पर है ।

गोष्ठी समाप्त हुई । आमंत्रित लोग चलने को तैयार हुए । नाथ ने मिस मेहता की ओर देखकर कहा—'आपकी कार तो आई नहीं अभी तक ।'

मिस मेहता ने उपेक्षा से उत्तर दिया—'ऐसी क्या जरूरत है, धूप तो चली ही गई है, मुझे समीप ही एक फ्रेन्ड के यहाँ होते हुए जाना है ।'

नाथ यह तो जान ही चुका था कि मिस मेहता पुरानी अनारकली में रहती हैं । उसने अपने सोने की रिस्टवाच की ओर देख कर कहा—'समय तो अधिक है नहीं, मुझे दो एक जगह जाना है, चौबुर्जी भी जाना है । एक टैक्सी मँगवा लो ।'

यह चपरासी का काम मेरे सिर पड़ा । उसे कोसते हुए समीप के मकान से फोन कर एवं टैक्सी मँगा कर मैंने हाजिर कर दी । मेरी अनुपस्थिति में ही उन दोनों के गाड़ी में एक साथ जाने की बात तय हो गई ।

× × × ×

गाड़ी की आवाज आते ही मिस मेहता हाथ में टिफन लिए बरामदे में प्रकट हुईं । नाथ ने मुस्कराकर कहा—'भय था लेट हो जाऊँगा परन्तु शोफर समय पर ले ही आया ।'

अपनी कलाई को ऊपर उठाते हुए मिस मेहता ने कहा—'आप तो बिलकुल ठीक समय पर ही आये हैं ।'

नाथ ने उत्तर दिया—'विदेश में समय का इतना ख्याल रखना पड़ता है कि मुझे अब उसकी आदत हो गई है । जरा भी अव्यवस्था होने से बड़ी कलख सी होने लगती है ।'

समय के पश्चात मौसम की चर्चा चली । नाथ ने बताया लाहौर की अपेक्षा सहारनपुर का मौसम कहीं अच्छा है ।

तब काम की बात शुरू हुई । नाथ ने जापान के स्त्री-समाज से भारत के स्त्री-समाज की तुलना कर कई तजवीजें सुधार की पेश कीं । हिन्दू समाज के पारिवारिक जीवन की आलोचना हुई । इस गंभीर विवेचना को मिस मेहता ने जिज्ञासु भाव से सुना । बातचीत का काँटा बदला, दूसरी लाइन आई ।

नाथ ने चाय की प्याली की ओर देखकर कहा—'यह देखिये, छोटी-छोटी बातों से जीवन का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है । यह प्याली कितनी मामूली चीज है परन्तु इसका भी हम पर कितना प्रभाव पड़ता है । कितनी देर से मैं इसे देख रहा हूँ और इसे चुनने वाले

की कला, सूझ और परख की सराहना कर रहा हूँ। इससे चाय पीने में एक प्रकार का विशेष संतोष होता है। एक मेरा जीवन है जिसमें सब काम मशीन की तरह होता है और कला सौंदर्य की उसमें चर्चा नहीं। कोठी है शायद आवश्यकता से कुछ बड़ी है परन्तु मेरे रहने लायक चार कमरे भी ढंग के नहीं। बहरे को मतलब है अपनी तनख्वाह से । बंगले के चारों ओर माली फूल न बोकर तरकारी बोता है, शायद इससे कुछ आमदनी उसे हो जाती हो। इस इस दफे यह निश्चय करके आया था कि घर को घर बनाऊँगा परन्तु सोचता यह हूँ कि अपनी परख से जो कुछ चुनकर लूंगा उसे स्वयम् भी पसन्द कर सकूँगा या नहीं। मेरा हिसाब तो यह है कि दुकानदार ने जो कुछ सबसे अच्छा बता दिया ले लिया। लेकिन दुकानदार को मतलब रहता है सबसे पहिले भद्दी चीज निकाल देने से।'

'आज कुछ फर्नीचर खरीदने गया था। शौक जरूर है परख हो न हो। आपके यह ढंग और सिस्टम देखकर ईर्ष्या होती है। काश मेरी भी जगह ऐसी ही होती । इस कालीन को ही देखिये, क्या खूब टेस्ट है ! और फिर जिस वजह से बिछाया गया है ?

मैंने भी एक कालीन खरीदा है, जेब से बिल निकालते हुए—यह देखिये दूकानदार ने असली ईरानी बताया है आगे उसका ईमान जाने—मिस मेहता ने बिल की ओर देखा, उनकी आँखें चढ़ गईं—फर्नीचर के बारे में भी मुझे दुकानदार की ही मान लेनी पड़ी। यह देखिए, ओफ ! वह शायद गाड़ी है, हाँ यह देखिये—अच्छा आप गाड़ी कौन सी पसन्द करती हैं ?'

मिस मेहता की कनपटियों पर खून का वेग बढ़ गया। उसकी एक सहेली के यहाँ 'ओवर लैण्ड' गाड़ी थी और दूसरी के यहाँ 'बूइक'। झेंपते हुए उसने कहा—'ओवर लैण्ड' भी कुछ बुरी नहीं वैसे बूइक सस्ती रह सकती है।'

नाथ ने कहा—'ठीक, परन्तु मेरी हालत देखिये ! पिता जी ने एक फोर्ड खरीदी थी। उसी छकड़े पर संतोष किये बैठा था। अब एक आस्टिन और एक बूइक सैलून ले चला हूँ। आस्टिन घूमने-फिरने के लिये और बूइक सेलून मेरठ, देहली और देहरादून आने-जाने के लिये। यह नहीं कि मैं निरा जड़ हूँ परन्तु केवल अपनी एक जान के लिये कुछ करते ग्लानि सी होती है।'

इस सरलता से मिस मेहता की समवेदना पिघल पड़ी। उन्होंने एक दीर्घ निश्वास छोड़ कर कहा—'अकेला जीवन वास्तव में नीरस होता है।'

उन्होंने पुकारा—'माया।'

नौकर हाजिर हुआ। उन्होंने कहा—'यह चाय ठंडी हो गई नये सिरे से बना लाओ। लज्जा से नाथ ने कहा—यही देख लीजिये, यही मेरा हाल है। सभी काम इस ढंग से होते हैं। यहाँ आपकी समवेदना ने मुझे बचा लिया। वर्ना दो ही रास्ते थे। या तो ठण्डी पी जाता या, फिर बिना पिये ही रह जाता।

एक विचित्र अनुभूति से मिस मेहता के चेहरे की त्वचा झमझमा उठी और आँखें उन्मीलित प्रायः हो गई।

सोचा था—साढ़े पाँच तक नाथ लौट आएगा परन्तु जाकर कहीं लगभग दस बजे के आप आये। पूछा—'गुरू इतनी देर कहाँ थे ?'

उत्तर मिला—'मिस मेहता के साथ सिनेमा चला गया था।'

तीन दिन तक नाथ प्रायः गायब-सा रहा। चौथे रोज सहारनपुर जाने से पहले उसने अत्यंत गंभीरता से कहा—'कम से कम जाकर मुझे कोठी का रंग-रूप तो ठीक करना है। तुम कचहरी खुलते ही मेरी दर्खास्त सिविल मैरिज के लिए दे देना।

मैने विस्मय से पूछा—'क्या ?' उसने गंभीर भाव से कहा—'यही।'

इस समाचार से मेरे पेट का पानी उबलने लगा। दौड़ा-दौड़ा श्रीमती विष्णु के यहाँ पहुँचा और खबर सुनाकर कहा—देख लिया भाभी ?' उन्होंने अपनी भूल स्वीकार न कर कहा—'तो इसमें हर्ज ही क्या ? दोनों मिलकर खूब समाज-सेवा करेंगे ?"[१]

इस कहानी में घटना की प्रत्येक बात पात्रों से इस प्रकार का सम्बन्ध रखती है कि उनका अभिन्न अस्तित्व ही जान पड़ता है और वास्तव में यही कहानी की कथावस्तु की सफलता एवं उत्कृष्टता का लक्षण भी है।

साथ ही कथानक का प्रवाह सुन्दर और स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ना चाहिए तथा घटनाओं में इस प्रकार का तारतम्य रहे कि वे बिखरी हुई न जान पड़े और न बलात् ढकेली गई प्रतीत हों। कहानीकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रत्येक घटना को क्रमशः उपस्थित करे अतएव मनोवेगों को तरंगित करने के लिए और कहानी को कलात्मक रूप देने के हेतु वह कथानक के प्रारंभ, मध्य या अन्त की किसी भी घटना को सर्वप्रथम अंकित कर सकता है क्योंकि घटनाओं के क्रमविपर्यय द्वारा कथावस्तु में औत्सुक्यता और कौतूहलता की अभिवृद्धि होती है अन्यथा कहानी नीरस और आकर्षणहीन ही प्रतीत होगी। यद्यपि विचारकों ने वस्तुविन्यास की दृष्टि से कथावस्तु के आरंभ, मध्य और अंत नामक तीन मुख्य अंग माने हैं लेकिन कथानक पर विचार करते समय प्रारंभ में हमें कहानी के शीर्षक पर ही विचार करना चाहिए क्योंकि शीर्षक देखकर ही बहुत से व्यक्ति कहानी की सुन्दरता का अनुमान कर लेते हैं। कहानी का शीर्षक सुन्दर, मोहक और आकर्षक होना चाहिए तथा उसमें न केवल कथावस्तु का ही कोई उद्देश्य साधन हो अपितु साथ ही विशिष्टता भी अपेक्षित है। कहा जाता है कि जिस प्रकार किसी बड़ी दूकान में वातायनों तक को सजाना पड़ता है उसी प्रकार कहानियों में भी शीर्षक का आकर्षक होना परमावश्यक है।[२] कहानी का शीर्षक कितने शब्दों का हो इसके संबंध में कोई भी निश्चित नियम नहीं है और एक शब्द से लेकर कभी-कभी 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी', 'गंगा, गंगदत्त और गांगी,' 'कुछ समझ न सका,' 'पन्द्रह रुपये बारह आने' जैसे बड़े शीर्षक भी कहानियों के रहते हैं। किसी भी कहानी का शीर्षक कहानी के मुख्य पात्र के नाम पर या प्रधान विषय, भाव या रस के आधार पर, अथवा प्रधान घटना या मुख्य वस्तु अथवा दृश्यावली के अनुसार रखा जा सकता है। कभी-कभी वह किसी स्थान विशेष का भी द्योतक होता है और कभी-कभी किसी प्रचलित कहावत या लोकोक्ति को ही कहानीकार शीर्षक के रूप में चुन लेते हैं जैसे कि 'घूंघट के पट खोल री' तथा 'कोयला भई न राख।' स्मरण रहे, केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि शीर्षक आकर्षक रोचक और कौतूहलप्रद हो अपितु उसका

---

[१] **समाज-सेवा—श्री यशपाल**

[2] A good title is apt, specifiic, attractive, new and short.

——*Short Story Writing By Charles Barret; pp. 67*

कथावस्तु के साथ सामंजस्य भी अपेक्षित है। साथ ही शीर्षक और कहानी का अन्योन्य सम्बन्ध भी आवश्यक है तथा कहानी के कथानक के अनुरूप ही शीर्षक होना चाहिए और शीर्षक के अनुसार विषय-वस्तु का प्रसार भी होना चाहिए।[1]

वस्तुतः शीर्षक के पश्चात कहानी आरंभ कर दी जाती है और यों तो कहानियों को आरंभ करने की प्रणालियाँ पाँच प्रकार की मानी जाती हैं जिन पर कि शैली तत्त्व पर विचार करते समय ही विस्तृत प्रकाश डालना चाहिए[2] परन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि एडगर एलन पो (Adgar Allan Poe) ने—"If his very initial sentence is not to the out-bringing of this effect, then he has failed in his first step" नामक उक्ति के अनुसार स्पष्ट रूप से कहा है कि यदि कहानी का प्रथम वाक्य ही उसके प्रभाव की ओर संकेत करनेवाला नहीं है तो फिर कहानीकार को अपने प्रथम प्रयास में ही असफल समझना चाहिए। वस्तुतः कहानी का आरम्भ ही उसका प्रवेश-द्वार है तथा उसमें हमारी कौतूहलता को जाग्रत करने की पर्याप्त क्षमता होनी चाहिए जिससे कि वह ऐसा आकर्षण उपस्थित कर सके कि हमारा मानस उसको पढ़ने के लिए स्वाभाविक ही उत्प्रेरित हो उठे। जैसा कि कहा जाता है "The first few lines of a story have been well described as the author's letter of introduction to the reader" अर्थात् कहानी का यह भाग पाठकों को उसका परिचय देता है अतः परिचय ऐसा होना चाहिए कि पाठकों पर कहानी का प्रभाव पड़ सके इसलिए प्रारम्भ की कुशल अभिव्यक्ति पर ही कहानीकार का हस्तलाघव निर्भर रहता है। डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री के शब्दों में "जिस प्रकार ढोल के अग्रभाग पर प्रहार होते ही उसका सारा पोल मुखरित हो उठता है, इसी प्रकार कहानी की नोक पर आँख पड़ते ही उसकी समग्र देहयष्टि फड़फड़ा उठनी चाहिए।"[3]

कहानी का यह अंग कथावस्तु का प्रस्तावना भाग भी कहलाता है अतः उसमें कथानक के प्रायः समस्त बीज निहित रहते हैं तथा साथ ही मुख्य पात्रों का परिचय और परिस्थितियों का चित्रण भी किया जाता है। विचारपूर्वक देखने पर हमें वास्तविक समस्या का संकेत भी इसी प्रस्तावना भाग में मिल जाता है। स्मरण रहे कहानी के प्रारम्भ के लिए यह आवश्यक

---

1. While a good title is essential, it is a great mistake to have a starting or sensational title followed by a quiet little character sketch. Keep the title in its proper proportion to the nature and interest of the story.

——*The Craft of the Short Story By D. Maconochie; pp. 25*

२. कहानी प्रारंभ करने की पाँच प्रणालियाँ इस प्रकार हैं—

(१) किसी दृश्य विशेष को चित्रित करते हुए।
(२) घटनाओं को अंकित करते हुए।
(३) पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप द्वारा।
(४) किसी सिद्धान्त विशेष के अनुरूप।
(५) किसी पात्र विशेष के जीवन का परिचय देते हुए।

३. साहित्य-मीमांसा—डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री (पृष्ठ २३८)

नहीं है कि वही वास्तविक आरम्भ हो अपितु उत्कृष्ट कहानी की कथावस्तु के प्रारंभिक भाग में आकर्षण की प्रतिष्ठा ही उसकी प्राथमिक आवश्यकता कही जाती है क्योंकि उसी की प्रेरणा से पाठक मंत्रमुग्ध सा होकर संपूर्ण कहानी को पढ़ने के लिए उत्सुक हो उठता है। जैसा कि हम कह चुके हैं कहानी का प्रारम्भ चाहे किसी विशेष स्थिति, घटना, वातावरण, चरित्र-विशेष के वर्णन द्वारा हो या फिर किसी महत्वपूर्ण कथोपकथन द्वारा लेकिन उसमें कुछ ऐसा आकर्षण अवश्य होना चाहिए कि हममें कहानी को पढ़ने की उत्सुकता उत्पन्न हो और रहस्योद्घाटन की आकांक्षा से हम उसे अवश्य पढ़ें। इस प्रकार कहानी का यह भाग कलात्मक दृष्टि से कहानीकार की कुशलता की दृष्टि का द्योतक है। कहानियों के प्रारम्भ करने की प्रणाली के कुछ उदाहरण देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

वर्णन के साथ आरम्भ होनेवाली कहानियों में किसी भी दृश्य, व्यक्ति या वस्तु के वर्णन से कथा आरम्भ की जाती है। प्रसाद जी ने अपनी कई कहानियों के प्रारंभिक भाग में आकर्षक वातावरण प्रस्तुत कर शनैः शनैः कहानी के विषय से पाठकों को परिचित करा दिया है जिससे कि पाठक मंत्रमुग्ध सा होकर कहानी के अध्ययन के लिए प्रस्तुत हो उठता है। एक उदाहरण देखिए—

"आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव दुन्दुभि का गंभीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में, समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर तोरण से जयघोष हुआ; भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा। हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोरें मारता हुआ आगे बढ़ने लगा।"[1]

प्रसाद जी की यह परम्परा नई कहानियों में भी विद्यमान है और वातावरण का आकर्षक चित्र प्रस्तुत कर कहानी प्रारंभ करने की प्रवृत्ति कई अधुनातन कहानीकारों में भी पाई जाती है। एक उदाहरण देखिए—

"रात हो गई। महल की भव्य छाया में अनगिनत दीपक जल उठे। उनकी लौ अँधेरे से लड़ने लगी। गुलाम लड़कियों ने उन पर शीशे के ढक्कनों को लगा दिया। उनके हाथ उठते ही फूले-फूले वक्षस्थल दिखने लगे और हाथों में बँधे सोने के गहने बजने लगे, जिससे महल में घूमती हुई लोहबान से सुगंधित वायु झंसृत हो उठी। चारों ओर नृत्य करती कामिनियों के नूपुरों का रव मुखरित हो उठा। उनकी सुडौल मांसल जंघाएँ रेशम के झलमल लँहगों में से चमकने लगीं। यौवन के उन उन्मत मादक विलास से युवतियों के नयन अनेक दीपकों की भाँति जगमग करने लगे और वे कामातुर सी बादशाह के आने की प्रतीक्षा करने लगीं।

इसी समय दो अर्द्धनग्ना युवतियों के कंधे पर हाथ रखे बादशाह ने धीरे-धीरे प्रवेश किया। भूमि उनके जल्दी-जल्दी पग-विशेष से प्रताड़ित होकर गूँज उठी और बादशाह के मदिरा प्यालों की तरह छायाओं से आक्रांत होकर काँपने लगी।"[2]

---

[1] पुरस्कार—श्री जयशंकर 'प्रसाद'

[2] चकाबू का किला—डॉ० रांगेय राघव

प्रसाद जी की भाँति प्रेमचन्द आदि कई कहानीकारों की कहानियों के आरंभिक भाग में प्राकृतिक चित्रण या दृश्यों का वर्णन प्रायः नहीं होता लेकिन उनमें सम्पूर्ण कहानी के सभी तत्त्व बीजरूप से विद्यमान रहते हैं और कहानी की मुख्य समस्या भी प्रायः स्पष्ट हो जाती है।[1] देखिए—

"हरिधन जेठ की दुपहरी में ऊँख में पानी देकर आया और बाहर बैठा रहा। घर में से धुँआ उठता नजर आता था। घन घन की आवाज भी आ रही थी। उसके दोनों साले उसके बाद आये और घर में चले गये। दोनों सालों के लड़के भी आये और उसी तरह अंदर दाखिल हो गये पर हरिधन अंदर न जा सका। इधर एक महीने से उसके साथ यहाँ जो बर्ताव हो रहा था और विशेषकर कल उसे जैसी फटकार सुननी पड़ी थी, वह उसके पाँव में बेड़ियाँ सी डाले हुई थी। कल उसकी सास ही ने तो कहा था, मेरा जी तुम से भर गया, मैं तुम्हारी जिंदगी भर का ठीका लिये बैठी हूँ क्या और सबसे बढ़कर अपनी स्त्री की निष्ठुरता ने उसके हृदय के टुकड़े कर दिये थे। वह बैठी यह फटकार सुनती रही, एक बार भी उसके मुँह से न निकाला, अम्मा तुम क्यों इनका अपमान कर रही हो ?"[2]

और भी—

"संघमित्रा ने क्षण भर के लिए भी अपनी दुर्बलता को अशोक के सामने प्रकट नहीं होने दिया, तब भी नहीं, जब अपने स्वभाव के अनुसार अशोक ने कलिंगकुमार को सूर्योदय से पूर्व प्राणदंड दिये जाने की आज्ञा दी, लेकिन एक बात वह स्पष्ट रूप से देख रही थी कि कई दिन से अशोक के स्वभाव में परिवर्तन होता आ रहा है। रक्त-पिपासु अब रक्त से कुछ भय खाने लगा है। अपने हाथों को रक्त से सना देखकर वह रह रह कर चौंक उठता है। विशेषकर कलिंगकुमार को मृत्युदंड देने के बाद, तो उसके मस्तिष्क की अवस्था बहुत विचित्र हो गई है।"[3]

और भी—

---

[1] इधर नई कहानियों में तो प्राकृतिक चित्रण या दृश्य वर्णन और भी संक्षेप में किया जाता है तथा कभी-कभी तो एक दो पंक्तियों में ही वातावरण का उल्लेख कर कहानी प्रारम्भ कर दी जाती है। देखिए—

"शाम के झुटपुटे में, पार्क के किनारे खड़ा एक सोलह साल का लड़का दोनों हाथों से तड़-तड़ करके अपना पेट बजा रहा था। पुरवइया हवा मंदगति से बह रही थी और उत्तर के किनारे से काली घटाएँ उमड़-घुमड़ रही थीं। लड़का पेट बजाकर मस्ती भरे स्वर में गा रहा था—तेरे कूचे में अरमानों की दुनिया लेके आया हूँ............रविवार था और शहर के बाजार बन्द थे। दस-पाँच राह चलनेवाले रुक गये थे; वहाँ एक और लड़का तड़-तड़ करके पेट पर ताल देता; पार्क की छड़ों से सिर टेके, आँख मूँदे गाये जा रहा था—जरा तू देख ले आकर............"

—भूखे और प्यासे : श्री द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'

[2] घरजमाई—श्री प्रेमचन्द

[3] जीवनदीप—श्री विष्णु प्रभाकर

"कुहरे की वजह से खिड़कियों के शीशे धुँधले पड़ गये थे । गाड़ी चालीस मील की रफ्तार से सुनसान अँधेरे को चीरती चली जा रही थी । खिड़की से सिर हटाकर भी बाहर कुछ दिखाई नहीं देता था, फिर भी मैं आँखें गड़ाकर देखने का प्रयत्न कर रहा था । कभी किसी पेड़ की हल्की गहरी रेखा ही पास से गुजर जाती तो कुछ देख लेने का संतोष होता । मन को उलझाए रखने के लिए इतना ही काफी था ।"[१]

प्राय: वार्तालाप से आरंभ होनेवाली कहानियों में साधारण वार्तालाप से ही कहानी का प्रारंभ किया जा सकता है और यदि हम विचारपूर्वक देखें तो यह प्रणाली अत्यधिक कलात्मक है तथा इसमें नाटकीयता की प्रधानता रहती है और कथानक स्वयं कथोपकथन के साथ साथ बढ़ता चला जाता है । कुछ उदाहरण देखिए—

'अभी तो पहना गई हो ।'

'बहू जी बहुत अच्छी चूड़ियाँ हैं, सीधे बम्बई से पारसल मँगाया है । सरकार का हुक्म है, इसलिये नई चूड़ियाँ आते ही चली आती हूँ ।'

'तो जाओ सरकार को ही पहनाओ, मैं नहीं पहनती ।'

'बहू जी जरा देख तो लीजिये ।"[२]

और भी—

'बाहर शोर-गुल मचा । डोढ़ी ने पुकारा-कौन है ?'

कोई उत्तर नहीं मिला । आवाज आयी-'हत्यारिन तुझे कत्ल कर दूंगा ।'

स्त्री का स्वर आया—'करके तो देख ! तेरे कुनबे को डायन बनकर न खा गयी, निपूते !'

डोढ़ी बैठा न रह सका । बाहर आया ।

—'क्या करता है, क्या करता हैं, निहाल ?'—डोढ़ी बढ़कर चिल्लाया—'आखिर तेरी मैया है ?'

—'मैया है ?'—कहकर निहाल हट गया ।

'—अरे तू हाथ उठा के तो देख ।'—स्त्री ने फुफकारा—'कढ़ी खाये । तेरी सींक पर बिलियाँ चलवाँ दूँ । समझ रखियो ! मत जान रखियो, हाँ तेरी आसरतू नहीं हूँ ।'

'—भाभी ।'—डोढ़ी ने कहा—क्या बकती है ! होश में आ ।'

वह आगे बढ़ा ! उसने मुड़कर कहा—'जाओ सब ! तुम सब लोग जाओ ।"[३]

और भी—

"अरे अभी तू आटा ही गूँध रही है ?

सहसा यह सुनकर वह अचकचा उठी । जरा पीछे की ओर मुड़कर जो देखा, तो वह ! उसका विस्मय उल्लास में बदल गया । लज्जित हास से वह बोल उठी—'क्यों आज इतनी जल्दी कैसे आना हुआ ? कोल्हू-आड़े का काम निबट गया क्या ? साँझ हुई नहीं कि पेट

---

१. **अपरिचित—श्री मोहन राकेश**

२. **चूड़ीवाली—श्री जयशंकर 'प्रसाद'**

३. **गदल—डॉ० रांगेय राघव**

में चूहे दौड़ने लगे ?' फिर उसने एक बार अपनी विनोद भरी आँखों से उसकी ओर देख लिया।

'तुम्हें मालूम नहीं क्या ?' उसी उतावलेपन में उसने पूछा।

'क्या ?' स्त्री ने पूछा। उसकी आँखों में उत्सुकता झलक पड़ी।

'वाह सारे गाँव में कोलाहल मचा है, और तुम्हें...........

'अरे, बोलो भी तो, क्या हुआ ?'

'आज फिर दीपक जल रहा है ?'

पीपल के उसी खोखले में ?'

'हाँ, हाँ !'

'सच ?'—उसकी आँखें हर्षातिरेक से चमक उठीं।''[१]

बहुत से कहानीकार अपनी कहानी का प्रारंभ किसी घटना के चित्रण द्वारा कर देते हैं और इस प्रकार उसमें प्रारंभ में ही पाठकों की उत्सुकता जाग्रत कर दी जाती है। देखिए—

''शान्ति ने ऊबकर कागज के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और उठकर अनमनी सी कमरे में घूमने लगी। उसका मन स्वस्थ नहीं था, लिखते-लिखते उसका ध्यान बँट जाता था। केवल चार पंक्तियाँ वह लिखना चाहती थी, पर जो कुछ वह लिखना चाहती थी उससे लिखा न जाता था।.............''[२]

और भी—

''परेश बाबू ने दफ्तर से आकर नौकर को बुलाकर पूछा, एक बार, दो बार पर उसने वही बात कही, छोटे सरकार जल्दी-जल्दी किताबें पटक कर एक भीड़ के साथ चले गये। परेश बाबू की कुछ समझ में नहीं आया कि मामला क्या है ?''[३]

और भी—

''बाबू श्यामचरण के भाई, पं० लोकमणि की स्त्री का जिस दिन स्वर्गवास हुआ, तो घर जैसे फाड़ खाने को दौड़ने लगा। यद्यपि इतनी बात तो वह लोग भी जानते ही थे कि जीवन और मरण यह दो बातें विधाता के हाथ में हैं, मनुष्य हाथ मलकर केवल चुप देखते रह जाने की ही सामर्थ्य रखता है और कुछ नहीं। किन्तु फिर भी खूँटी-खूँटी पर स्वर्गता के कपड़े और आले आले में उसके हाथ की रक्खी हुई चीजों को अब लोकमणि देखते तो जैसे उनका हृदय अन्दर ही अन्दर घुट-घुट कर भस्म होने लगता।''[४]

स्मरण रहे कि कहानी के प्रारम्भिक भाग की भाँति उसका मध्य भाग भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि आरम्भ तो परिचयमात्र ही होता है तथा उस परिचय की विस्तारपूर्वक व्याख्या मध्य भाग में ही संभव होती है और उसमें समस्या का परम विस्तार तथा अन्तर्द्वन्द्व

---

[१] महान संगीत—श्री भैरवप्रसाद गुप्त

[२] पिंजरा—श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

[३] देशभक्त का अंत—श्री मन्मथनाथ गुप्त

[४] करनी का फल—सुश्री होमवती

का आरोहावरोह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है।[1] जैसा कि डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का विचार है "इसी अंग में कहानी की वास्तविक आत्मा प्रस्फुटित होती है और कहानी के लक्ष्य की पूर्ण पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है क्योंकि रचना-विधान की दृष्टि से वस्तु विकास का मध्य भाग ही कहानी का विकास भाग है और विकास भाग कहानी का मूल शरीर है।"[२] इस प्रकार कहानीकार के लिए विकास का सुचारु रूप से निर्वाह करना एक दुस्तर कृत्य समझा जाता है परंतु यदि वह कुछ आवश्यक बातों की ओर ध्यान दे तो उसकी बहुत सी कठिनाइयाँ सहज ही दूर हो सकती है। कहानीकार को कलातमक दृष्टि से विकास का विस्तार आवश्यकता से अधिक कदापि न करना चाहिए और उसका विस्तार वहीं तक सीमित होना चाहिए जहाँ तक कि वह पात्रों एवं घटनाओं को आगे बढ़ाने में सहायक हो तथा पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न होने के पश्चात् उसका रुक जाना ही आवश्यक है अन्यथा न केवल कथावस्तु की स्वाभाविकता नष्ट हो जाएगी अपितु कहानी का स्वरूप ही विकृत हो जाएगा। साथ ही विकास का विस्तार करते समय कहानी लेखक को कौतूहल वर्द्धक प्रसंगों के लिए अपनी पृष्ठभूमि भी तैयार कर रखनी चाहिए जिससे कि कहानी का विकास स्वाभाविकं गति से हो सके। जैसा कि डॉ० रामकुमार वर्मा का मत है "प्रारम्भ तो एक कंकाल की भाँति रहता है। इतनी घटनायें—इतने पात्र—ऐसा वातावरण—इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। उस कंकाल को सजीव मांस से अथवा मखमल के समान कोमल त्वचा से सुसज्जित करने में विकास का ही विशेष भाग रहता है। ऐसे विकास का निर्वाह कितने सुन्दर रूप से होना चाहिये यह कहने की आवश्यकता नहीं। कई लेखक विस्तार आवश्यकता से अधिक कर देते हैं। उस कंकाल को अधिक मांसल अथवा स्थूल बना देते हैं। वे सुन्दरता (?) लाने के लिए विकास के रास्ते पर लेखनी दौड़ाते चले ही जाते हैं। फिर उन्हें यह ध्यान नहीं रह जाता कि कहानी का कलेवर बेढंगा हो रहा है।"[3] इस प्रकार की स्थिति में न तो कहानीकार कुतूहलवर्द्धक घटनाओं की सृष्टि ही कर पाता है और न चरम सीमा की तथा कभी-कभी कहानी का अन्त एक निबंध के समान हो जाता है। कहानी के विकास का सुन्दर उदाहरण निम्नांकित कहानी में देखते ही बनता है। प्रवेश के बाद विकास कितनी सुन्दरता से सम्बद्ध है—

(प्रवेश)

"जीवन भर अभावों और बेचैनियों से लड़ते-लड़ते एक दिन रामदीन ने देखा कि उसके जीर्ण नष्टप्रायः झोपड़े के सामने का तालाब भी सूख चला है।

यह तालाब रामदीन का बड़ा पुराना साथी, सच्चा हमदर्द था। एक दुःखद धुंधलेपन के साथ उसे याद आया कि इसी तालाब के किनारे बचपन में उसने दिन भर मस्ती के साथ समय बिताया है। जेठ-बैशाख की उबलती दोपहरियों में सावन-भादों की उमड़ती बदली और धुआँधार बारिश में शरद के प्रभातों की बिखरी रोशनी में, और हेमन्त की दाँत बजानेवाली नग्न ठिठुरन में इसी तालाब में उसने अपने काले पक-पूरित शरीर को जी-भर डुबोया है। इसी

---

1. The Craft of the Short Story by D. Machonochie, pp 20.
२. हिंदी कहानियों की शिल्पविधि का विकास—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल (पृष्ठ ३२६)
३. साहित्य-समालोचना—डॉ० रामकुमार वर्मा (पृष्ठ ६३-६४)

तालाब के किनारे नित्य बर्तन माँजते-माँजते उसकी औरत मरी। जवानी में एक अधमरा-सा माँसपिण्ड प्रसव करके अपने भगवान के घर चली गयी। आज भी उसकी बेवा अन्धी बहू बिंदिया इसी तालाब के किनारे बैठकर मूक, मन्थर-संचारहीन यंत्र सी जीवन के निर्जीव संस्मरणों को चमकाया करती है। रामदीन ने वे दिन भी देखे हैं, जब इसी तालाब के चारों ओर सिंघाड़े की बेलों का संसार छाया रहता था। कुछ नीला, कुछ सफेद पानी बड़ी-बड़ी बूंदों में चारों ओर टुकुर-टुकुर निहारा करता था। आज रामदीन ने भले ही जीवन और प्रतिक्षण घटित होनेवाले परिवर्तन पर विजय पा ली हो, भले ही वह इन्किलाब की दुनिया से निकलकर कठोर जड़ता, शेष जीवन-व्यापिनी एकरसता का दुखता हुआ अंग बन गया हो; पर यह तालाब तो जीवित रहने के लिए नहीं जी रहा था। भले ही रामदीन के सामने उसका हाथी-सा जवान लड़का मेंढक की तरह दम-तोड़कर उसकी छाती पर अपनी चट्टान रखकर भूखे-प्यासों की इस बेहया बस्ती से दूर निकल गया हो, और रामदीन को अपने दैनिक कार्यक्रम में एक निदारुण कर्कशता, एक टीसभरी टंकार के अतिरिक्त अब और कुछ अवशेष न हो, पर ऐसी शीतल छाती वाले इस मुक्त जग-कल्लोल प्रवाह में कौन-सी आँच पहुँच गयी।"

(विकास)

"शाम को जब रामदीन लौटा, बिंदिया और उसका तीन साल का बच्चा आकर दरवाजे पर खड़े हो गये। यही वह स्थल होता है जब एक भिखारी भी बादशाह हो जाता है। उसे प्रतीत होता है, उसमें भी कुछ शक्ति, बल और क्षमता है। वह भी दो को खिलाकर खाता है। पर आज तो रामदीन दिनभर में एक पैसे की बीड़ी उधार लेकर पी गया था, कहीं भी कुछ काम न मिला। घर में कुछ था ही नहीं। बिंदिया उसकी जड़, मौन पत्थर-चेष्टा देखकर समझकर जान गयी—आज की रात कालरात्रि होनेवाली है। यह उसके जीवन में पहला मौका नहीं था। जीवन की कितनी ही रातें उसने इसी मौत जैसी ठंडी निराशा में भिगो डाली हैं और सारी रात उसी के गीलेपन में अपनी दृष्टिहीन आँखों की तरी को एकाकार करती रही है। वह भूखी रह सकती थी। रामदीन भी यदि औसत लगाया जाये तो करीब-करीब आधी ही जिन्दगी भूखा रहा होगा। पर तीन साल वाला टीपू नन्हा और जीवन के नरक से अपरिचित !

बिंदिया काँप उठी। घर में एक पैसा नहीं है। आस-पास दूर-दूर तक कोई झोपड़ी नहीं है। रात में उसने गेहूँ पीसे थे। मजदूरी के पैसे पहले ही मिल चुके थे। यदि ज्ञात होता तो उसमें से पाव-आध सेर आटा निकाल लेती। अपने लिये नहीं, अपने उस सजीव मांसपिण्ड के लिये जिसे उसने पौन साल अपने अधभूखे पंजर में पाला था। रातभर झोपड़ी के अन्दर एक तरफ रामदीन पड़ा खाँसता रहा, और दूसरी ओर बिंदिया अपने तीन साल के भूखे बच्चें को समेटे ज्यों की त्यों पड़ी रही। रात को चौथे पहर उसे हाहाकार बुखार चढ़ आया। उसकी कराहों से मासूम बच्चा भी जगकर-घबराकर रो उठा।

रामदीन ने जब सुबह उठकर झोपड़ी का चद्दर एक ओर हटाया तो तालाब की ओर देखते ही वह फिर उदास हो गया। उसे रह रहकर यही मालूम होता, जैसे यह कोई बड़ी आग है, जो धरती के भीतर-ही-भीतर सुलग रही है। अगर इतना बड़ा और इतना पुराना तालाब उसके अगोचर, अविजानित आँच में सूख जा सकता है तो इस बस्ती, इन मकानों, मंदिरों के जलाने में भी अब देर नहीं है। वह भयभीत भी होने लगा।

रोज की तरह वह फिर अपना टोकरा सँभाल कर काम की तलाश में निकला। एक मजदूर की जिन्दगी ही क्या ! न घर में आटा था, न पास में पैसा। बिंदिया घर में पीसकर कुछ पैसे पा सकती थी। आज वह अपनी ही यंत्रणा में झुलसी जा रही थी। बनिये के कई रुपये हो गये थे, जो रोज तकाजा करता था मारने की धमकी के साथ-साथ। सोचा, चलूँ जाते ही जो कुछ मिलेगा, उसे घर में लाकर पहले टीपू को खिला दूँगा फिर बोझा ढोकर शाम को अपने और बिंदिया के लिये पकाऊँगा।

मगर पूरा दिन उसी तरह बीत गया। उसी सरलता और सद्भावना से। दिन भर तलाश में रहा। न जाने कितनों से याचना की भीख माँगी। मगर एक पैसा भी न मिला। एक-एक क्षण आग का तिनका हो रहा था। आत्मा और कलेजे को जलाता हुआ वेग के साथ चला जाता। शाम को भूखा, निराश, थका हुआ घर लौटा। टीपू भूख से व्याकुल होकर बिंदिया से रोटी माँग रहा था और रो रहा था। उसका मुँह सूखकर छोटा-सा हो गया था। आँखों में भूख, तृष्णा। मगर रोटी वहाँ कहाँ ? वह गरीब तो स्वयं रो रही थी। अपनी पीड़ा भूख से नहीं, वरन् अपने कलेजे के टुकड़े को बिलखते देखकर। वह अन्धी थी दुनियाँ को तो न देख सकती थी, पर उसके शरीर का कोई भाग-भले ही अब वह स्वतंत्र अस्तित्व बन गया हो—तो भी उससे छिपा न था।

उसके रोम-रोम से धुआँ निकल रहा था। रामदीन को देखते ही टीपू उससे लिपट गया और कुर्त्ता उठाकर अपना धँसा हुआ, सिकुड़ा पेट दिखाने लगा। रामदीन तो उस समय बेहोश था। उसे यह भी न मालूम हुआ कि कब उसके सीने से लिपटा हुआ बच्चा सो गया, जिसके गालों पर आँसुओं की नीली रेखायें अपनी शुष्क प्रगति छोड़ गयी थीं।

सोकर उठते ही फिर सुबह काम की खोज में निकला। टीपू को सोते से जगाने की हिम्मत नहीं पड़ी। अगर उसने रोटी माँगी, तो क्या दूँगा ? मगर क्या होनेवाला था ! उस दिन भी कोई काम नहीं मिला। वह पागल की तरह सड़कों पर घूमता रहा। किसी ने उसकी ओर नहीं देखा। एक बाबू साहब अपने बच्चे को लिये जा रहे थे। उसके हाथ में बिस्कुट थे। वहीं पर बच्चे का एक बिस्कुट गिर पड़ा। रामदीन ने झपटकर उसे उठा लिया और तेजी से घर की ओर भागा। टीपू भूख से तड़पकर सो गया था। बिंदिया पड़ी थी। आँखें बरसाती नाले-सी चल रही थीं। तीन दिन से महीनों की-सी बीमारी घेरे थी, जैसे टूट गयी हो। मुँह से बोल नहीं निकलता था। बच्चे को जगाया। बिस्कुट खाने को दिया। दो दिन की भूखी रोगिणी और भूखा रामदीन गम खाकर लेट गये।

तीसरे दिन भूख की ज्वाला में स्वतः झुलसता हुआ, जब रामदीन घर लौटा तो उसके पैर काँप रहे थे। अंगों से शोले निकल रहे थे। लड़खड़ाता हुआ वह घर में घुसा। बच्चा जमीन पर पड़ा था—आँखें गड्ढे में धुस गयी थीं। खाट पर पड़ी बिंदिया शिथिल कातर थी। अन्धी थी पर बच्चे की तरफ ही देख रही थी। बीच-बीच में टीपू आर्तनाद करता हुआ उसकी ओर देख लेता था। बिंदिया ने रामदीन की मूक वापसी से कुछ जान लिया।

टीपू रामदीन को देखते ही झटपट उठा—'बाबा, रोटी लाये ? दो-अभी दो। जल्दी ही दो !'

निरीह झोपड़ी की गोद। रात काली और भयानक। तारे खिसक आकाश में रहे थे। नीचे हाहाकारमयी यंत्रणा में ये प्राणी। कुशल इतनी थी कि झोपड़ी की छत से टकराकर उनका आर्तनाद भीतर उमसकर रह जाता था। बाहर नहीं निकल पाता था। नहीं तो........ जाने भी दो।

रामदीन का रक्त प्रवाह भी रुक-सा रहा था। झोपड़ी की छत की साँसों से जो आसमान दिखायी देता था, वह भी थरथरा रहा था। टीपू उसके पास ही लेटा था। रामदीन की पूरी जिन्दगी अपनी सारी तस्वीरें लेकर उसकी आँखों में घूम चली। बीच-बीच में जब टीपू धीरे से क्षीणप्राय कण्ठ से 'रो-टी' कह उठता उस समय रामदीन के सामने चलचित्रों का सिलसिला खट से टूट जाता। 'तीन दिन का भूखा टीपू' रामदीन आगे न सोच सका। भूख में घुटता हुआ अबोध शिशु और दूसरी ओर अन्धी बहू की असह्य वेदना। रामदीन टीपू के शरीर पर हाथ फेरने लगा। टीपू ने कुम्हलाकर आँखें खोलीं। उस सूखे तालाब-सी ही जड़ता और स्थिरता उनमें भी आ चली थी। पुतलियाँ ऊबड़-खाबड़ मिट्टी की ऐंठी अकड़ी दरारों की भाँति ही भयावह हो रही थीं।

रामदीन को ज्ञात हुआ जैसे वह शराब के नशे में है। अचेतन, अवसादपूर्ण असार। अपने शरीर, हाथ, आँख, दिल किसी पर उसका अधिकार नहीं। सब उसके हाथ से बाहर निकले जा रहे हैं। टीपू ने फिर एक बार कोशिश करके रोटी माँगी। रामदीन के दुर्बल, गतिहीन हाथ टीपू के गले पर दौड़े। उसकी वक्र, निःसत्व उँगलियाँ कफन का ताना बाना गूँथ चलीं।

कई मिनिट वह ऐसे ही स्तब्ध और पत्थरवत् खड़ा रहा। नशा अभी खतम नहीं हुआ था। तीन दिन का भूखा टीपू तो अपनी मंजिल की ओर चल पड़ा था।

नशा उखड़ा, सपना टूटा। और चेतना में भूडोल आया। रामदीन तीर की तरह उठ बैठा और बिंदिया के पास चला गया। आधी बेहोश और आधी सोयी हुई वह तीन दिन की भूखी अन्धी मानों सपने में टीपू को भर पेट मिठाई खिला रही थी। रामदीन ने पास आकर उसे झकझोर डाला; परन्तु फिर भी कदाचित उसका यह समाँ न टूटा। लेकिन रामदीन ने जब मतवालेपन की-सी मादकता में उसका गला घोंटा तब तो वह उसी प्रकार कें कें कर उठी, जैसे सड़क पर कुत्ते ऊपर से लारी निकल जाने पर चीख उठते हैं।"[1]

वस्तुतः कहानी के विकास में कौतूहलता का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इसी विकास भाग से चरम सीमा भी पूर्ण रूप से सम्बद्ध रहती है और कुशल कहानीकार का यह उत्तरदायित्व है कि वह अपने पाठकों को वहाँ तक सहजगति से पहुँचा दे। विकास का विस्तार करते समय कहानीकार को प्रत्येक शब्द और वाक्य प्रसंगानुकूल ही प्रयोग करना चाहिये तथा शब्दों का भाव-विशेष की अभिव्यंजना और सौंदर्यवृद्धि में महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है चूँकि प्रत्येक सफल कहानी में कौतूहलता अपेक्षित है तथा उसी के द्वारा कथावस्तु में चमत्कार और रोचकता का प्रादुर्भाव भी होता है अतः कौतूहल-सृष्टि किस रूप और किस स्तर से हो यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। विचारकों की दृष्टि में कौतूहलता का प्रभाव स्वाभाविक और शांत होना चाहिये

---

[1] हत्यारा—श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

क्योंकि शीघ्रता करने से उसका समूचा सौंदर्य विनिष्ट हो सकता हैं अतः कौतूहलता जाग्रत करने के लिये कुशल कहानीकार किसी एक या अनेक ऐसी घटनाओं का चयन करता है जो न केवल महत्त्वपूर्ण हों अपितु जिनमें एक विशिष्ट प्रकार का आकर्षण भी हो। साथ ही पात्रों का चित्रण इसी प्रकार करना चाहिए कि वे स्वाभाविक प्रतीत हों तथा कौतूहलता नष्ट न करें और कौतूहल की सृष्टि इस रूप में हो कि पाठकों को आगे होने वाली घटनाएँ पहले ही से न ज्ञात हो जाएँ अन्यथा हमें कथा से पूर्णतः आनन्द प्राप्त न हो सकेगा। स्मरण रहे चरित्र-प्रधान कथानक में तो कौतूहलता की सृष्टि सहज ही संभव हो सकती है क्योंकि उसमें पात्र-विशेष के चरित्रांकन को ही महत्व दिया जाता है अतः उसके अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक घात-प्रतिघातों के चित्रण में कौतूहलता का समावेश स्वाभाविक ही हो जाता है परन्तु घटना-प्रधान कथावस्तु में भ्रम, विपत्ति और उत्तेजनाजनक परिस्थितियों को अंकित करते समय कभी-कभी कौतूहलता का आवेग द्रुतगति से बढ़ने लगता है अतः कहानी-लेखक द्वारा उसका संतुलन करना निस्संदेह आवश्यक है अन्यथा कलागत सौंदर्य अक्षुण्ण न रह सकेगा। वस्तुतः कौतूहलता से आगे बढ़ने पर ही कहानी में चरम सीमा—अन्त—की व्यवस्था आती हैं अतः कहानी-लेखक द्वारा उपर्युक्त बातों पर ध्यान रखते हुए ही कौतूहल सृष्टि करनी चाहिए और पाठकों की उत्सुकता को बढ़ाने में सतर्कता के साथ ध्यान देना चाहिए अन्यथा चरम सीमा की अवस्था में कथानक का एकांतिक प्रभाव नष्ट हो सकता है। डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "अच्छी कहानियों में कुतूहलता का आविर्भाव अनेक बार होता है। पर प्रत्येक बार वह कुतूहलता पैनी होती जाती है। यदि पहला कौतूहल एक भावना को जाग्रत करता है तो दूसरा और तीसरा अनेक भावनाओं को। प्रत्येक बार भावना तीव्र भी होती जाती है। यदि ऐसा न हो तो कहानी का विकास नहीं हो सकता और उसकी चरम सीमा में तीव्रता नहीं हो सकती। पहला कौतूहल प्रारंभ उत्सुकता की सृष्टि करता हुआ कहानी को चरम सीमा की ओर बढ़ाता है। चरम सीमा तक पहुँचने के पूर्व उसकी गति को तीव्र करने के लिये दूसरे और तीसरे कौतूहल की सृष्टि करने की आवश्यकता पड़ती है जिससे चरम सीमा में आने की स्थिति तक कहानी अनेक प्रकार की भावनाओं के संघर्ष से इतनी भारी और विस्तृत बन जाती है जैसे वर्षा की काली वारिदमाला जिसमें अपरिमित जलकण छिपे रहते हैं। फिर केवल चरम सीमा की विद्युत के चमकने और प्रचंड शब्द करने ही की देर रह जाती है। जैसे ही इस उत्सुकता से परिपूर्ण भावनाओं की संघर्षपूर्ण स्थिति में चरम सीमा का विद्युत संचार हुआ वैसे ही सारी कहानी का सौंदर्य एक क्षण भर में एक अनुपम आनन्द के आलोक से प्रकाशित हो उठता है।"[1]

जैसा कि राय कृष्णदास ने लिखा है "सच पूछिए तो आधुनिक कहानी की सबसे बड़ी सफलता उसके अन्त में है। प्रारंभ चाहे थोड़ा शिथिल और दूभर हो तो किसी प्रकार चल भी सकता है, किन्तु उसकी समाप्ति तो दुर्बल होनी ही न चाहिए क्योंकि कलाकार उसे ठेठ अन्त तक तो पहुँचाता नहीं, केवल एक पराकाष्ठा (क्लाइमेक्स) तक पहुँचाकर छोड़ देता है। बस वह पराकाष्ठा न बन पड़ी कि कहानी फेल हो गई।"[2] इसी प्रकार पाश्चात्य विचारकों ने भी आधुनिक

---

१. साहित्य समालोचना—डॉ० रामकुमार वर्मा (पृष्ठ ७३)

२. इक्कीस कहानियाँ—श्री राय कृष्णदास और श्री वाचस्पति पाठक (आमुख, पृष्ठ ३)

कला में कहानी के आदि और अंत भाग पर ही विशेष ध्यान देना आवश्यक समझा है[1] तथा श्री गुलाबराय जी के शब्दों में भी "कहानी के अन्त की झंकृति जितनी देर तक हमारे मानस गगन में गूँजे उतना ही हम कहानी को सफल समझेंगे।"[२] वस्तुतः कौतूहलता के अन्त में चरम सीमा की अवस्था आती है और इस प्रकार चरम सीमा की स्थिति में पहुँचने पर कहानी का कार्य संपूर्ण हो जाता है अतः कहानीकार को उसका निर्वाह भी पर्याप्त सावधानी और सतर्कता के साथ करना चाहिए अन्यथा जिस प्रकार ऊँचे पहाड़ की शिखर पर पहुँच कर सावधानी से चरण न रखने पर फिसल कर नीचे आ गिर पड़ने का भय रहता है उसी प्रकार कहानीकार के समस्त परिश्रम पर पानी फिर सकता है। कहानी-लेखक पात्रों की भावनाओं को उत्तेजना देकर उन्हें एक निश्चित स्थल पर पहुँचा देता है और कथावस्तु की सारी सुन्दरता को पूर्णरूप से स्पष्ट करते हुए चरम सीमा के हेतु कहानी से मूलतः संबंधित एक ऐसी घटना की उद्भावना करता है जो कि चरम सीमा की अवस्था का उचित रूप से निर्वाह कर सके।[3] स्मरण रहे घटना-प्रधान कथावस्तु की चरम सीमा चूँकि घटनात्मक ही होती है और उसमें संयोग या अप्रत्याशित कार्य-व्यापार की अवतारणा स्वाभाविक रूप से ही होगी अतः घटनाप्रधान कहानी लेखक को अपनी कहानियों की चरम सीमाओं पर पहुँचने में उतनी अधिक कठिनाई नहीं होती जितनी कि भावप्रधान कहानियों के प्रणेता को होती है। भावप्रधान कहानियों के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि उनका अंत वहीं कर दिया जाए जहाँ कि चरम सीमा की अवस्था आई हो क्योंकि इस प्रकार पाठकों के मानस पर एक विशिष्ट प्रभाव पड़ता है तथा कहानी को पढ़ने के पश्चात भी उसके विषय में कुछ सोचने के लिए उन्हें सामग्री प्राप्त हो जाती है। भावप्रधान कहानियों के अंत को किसी भी प्रकार आगे न बढ़ाना चाहिए तथा केवल कुछ गोपनीय ढंग से आशय की ओर संकेत मात्र कर देने से उसका सौंदर्य बढ़ जाता है और यदि कहानीकार ने व्यर्थ ही उसे आगे बढ़ाकर व्याख्या करने की चेष्टा की तो उसका स्वरूप विकृत और असंगत ही प्रतीत होगा। किसी भी भावप्रधान कहानी को पढ़कर यह कहना कि उसका अंत ठीक नहीं हुआ तथा उसके आगे कुछ और होना चाहिए था उचित नहीं है क्योंकि प्रायः सर्वसाधारण तो भावप्रधान कहानी के अंत की कलात्मक सुन्दरता को समझ ही नहीं पाते। यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो इस श्रेणी की कहानियों का अंत अन्य प्रकार की कहानियों से

---

1. Mr. Bllery Sedgewich held that "A story is like a horserace. It is the strart and finish that count most."

२. काव्य के रूप—श्री गुलाबराय (पृष्ठ २२८–२२९)

३. "ऐसी पराकाष्ठा के लिए कभी-कभी कहानी नदी के प्रवाह की भाँति अतर्कित घुमाव घूम जाती है, जिसके कारण हमारे सामने एक बिलकुल नई दुनिया आ खड़ी होती है। किंवा; हमारा हृदय अंत में जिस गंभीर परिणाम की आशंका से धड़कता रहता है उसके विपरीत एक बिलकुल हलके परिणाम में, कभी कभी तो एक मजाक में कहानी की पूर्ति होती है मानों पहाड़ खोदने पर चुहिया निकल पड़ती है और उससे हमें विशेष चमत्कार होता है।"

—इक्कीस कहानियाँ : रायकृष्णदास (आमुख; पृष्ठ३)

कुछ कम सुन्दर और कलापूर्ण नहीं होता ।[१] यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि बहुत सी कहानियों की चरम सीमाओं के उपरान्त छोटे-छोटे उपसंहार और उपदेशात्मक वाक्य भी जुड़े मिलते हैं परन्तु उत्कृष्ट कहानियों की चरम सीमाएँ मनोवैज्ञानिक अनुभूति के सत्य पर ही प्रतिष्ठित रहती हैं और इस प्रकार उन्हें कलात्मक ही कहा जाता है; देखिए—

"घूँघट के भीतर, जहाँ आँखें होनी चाहिए वहाँ कुछ गीलापन दिखा ।

'देखो मैं तुम्हारे प्रेम के बिना जी नहीं सकती । मेरा उस दिन का रूखापन और जंगलीपन भूल जाओ । तुम मेरे प्राण हो, मेरा काँटा निकाल दो ।'

रघुनाथ ने एक हाथ उसकी कमर पर डालकर उसे अपनी ओर खींचना चाहा । मालूम पड़ा कि नदी के किनारे का किला नींव के गल जाने से धीरे-धीरे धँस रहा है । भागवन्ती का बलवान शरीर, निस्सार होकर रघुनाथ के कंधे पर लग गया । कधा आँसुओं से गीला हो गया ।

'मेरा कसूर—मेरा गँवारपन—मैं उजड्ड—मेरा अपराध—मेरा पाप—मैंने क्या क्या कह-डा-डा-डा आ' घिग्घी बँध चली ।

उसका मुँह बंद करने का एक उपाय था । रघुनाथ ने वही किया ।"[२]

प्रेमचन्द की कुछ कहानियों की चरम सीमाओं का आधार न तो कोई घटना है और न संयोग अपितु वे मनोवैज्ञानिक सत्य पर ही आधारित हैं । अतएव इस प्रकार की चरम सीमाओं का विस्तार फैला सा प्रतीत होता है; अन्यथा एक पंक्ति में ही चरम सीमा प्रतिष्ठित हो जाती । वस्तुतः इस प्रकार की चरम सीमाएँ नितान्त कलात्मक ही हैं और प्रेमचंद की 'कफन' नामक कहानी की चरम सीमा हमारे इस कथन का सुन्दर उदाहरण है । देखिए—

'तब दोनों न जाने किस दैवी प्रेरणा से एक मधुशाला के सामने आ पहुँचे । और जैसे किसी पूर्व निश्चित व्यवस्था से अन्दर चले गये । वहाँ जरा देर तक दोनो असमंजस में खड़े रहे । फिर घीसू ने गद्दी के सामने जाकर कहा—'साहु जी एक बोतल हमें भी देना ।'

---

[१] इस प्रकार के कुछ सुन्दर उदाहरण देखिए—

"बिसाती अपना सामान छोड़ गया, फिर लौट कर नहीं आया । शीरीं ने बोझ तो उतार लिया पर दाम नहीं दिया ।"

—बिसाती : जयशंकर 'प्रसाद'

और भी—

"साल में एक बार आम्र मंजरियों की आड़ से झाँककर माया मुझे दर्शन देती है। उससे कहता हूँ—'माया ।'

वह लज्जित हो जाती है और पत्तों के घूँघट को अधिक खींच लेती है । मैं कहता हूँ—'क्यों माया इतनी लज्जा क्यों ।'

वह कहती है —"अब मेरा विवाह हो गया ।"

—जूठा आम : गोविंदवल्लभ पंत

[२] बुद्धू का काँटा—श्री चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी'

इसके बाद कुछ चिखौना आया, तली हुई मछलियाँ आईं और दोनों बरामदे में बैठकर शांतिपूर्वक पीने लगे। कई कुज्जियाँ ताबड़तोड़ पीने के बाद दोनों सरूर में आ गये।

घीसू बोला—'कफन लगाने से क्या मिलता? आखिर जल ही तो जाता। कुछ बहू के साथ तो न जाता।' माधव आसमान की तरफ देखकर बोला, मानों देवताओं को अपनी निष्पक्षता का साक्षी बना रहा हो—दुनिया का दस्तूर है, नहीं तो लोग बाँभनों को हजारों रुपये क्यों दे देते हैं? कौन देखता है, परलोक में मिलता है या नहीं।'

'बड़े आदमियों के पास धन है, फूंकें! हमारे पास फूंकने को क्या है?'

'लेकिन लोगों को जवाब क्या दोगे? लोग पूछेंगे नहीं, कफन कहाँ है?'

घीसू हँसा—'अबे कह देंगे कि रुपये कमर से खिसक गये। बहुत ढूंढ़ा, मिले नहीं। लोगों को विश्वास न आयेगा, लेकिन फिर वही रुपये देंगे।

माधव भी हँसा—इस अनपेक्षित सौभाग्य पर। बोला—'बड़ी अच्छी थी बेचारी। मरी तो खूब खिला-पिलाकर।' आधी बोतल से ज्यादा उड़ गई। घीसू ने दो सेर पूड़ियाँ मँगाई। चटनी, अचार, कलेजियाँ। शराबखाने के सामने ही दूकान थी। माधव लपककर दो पत्तलों में सारे सामान ले आया। पूरा डेढ़ रुपया खर्च हो गया। सिर्फ थोड़े-से पैसे बच रहे।

दोनों इस वक्त इस शान से बैठे पूड़ियाँ खा रहे थे जैसे जंगल में कोई शेर अपना शिकार उड़ा रहा हो। न जवाबदेही का खौफ था, न बदनामी की फिक्र। इन सब भावनाओं को उन्होंने बहुत पहले ही जीत लिया था।

घीसू दार्शनिक भाव से बोला—'हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है, तो क्या उसे पुन्न न होगा?'

माधव ने श्रद्धा से सिर झुकाकर तसदीक की—जरूर से जरूर होगा। भगवान्, तुम अंतर्यामी हो। उसे वैकुण्ठ ले जाना। हम दोनों हृदय से आशीर्वाद दे रहे हैं। आज जो भोजन मिला वह कभी उम्र भर न मिला था।'

एक क्षण के बाद माधव के मन में शंका जागी। बोला—'क्यों दादा, हम लोग भी तो एक न एक दिन वहाँ जायेंगे ही?'

घीसू ने इस भोले-भाले सवाल का कुछ उत्तर न दिया। वह परलोक की बातें सोचकर आनन्द में बाधा न डालना चाहता था।

'जो वहाँ हम लोगों से पूछे कि तुमने हमें कफन क्यों नहीं दिया तो क्या कहोगे?'

'कहेंगे तुम्हारा सिर!'

पूछेगी तो जरूर।'

'तू कैसे जानता है कि उसे कफन न मिलेगा? तू मुझे ऐसे गधा समझता है? साठ साल क्या दुनिया में घास खोदता रहा हूँ? उसको कफन मिलेगा और इससे बहुत अच्छा मिलेगा।'

माधव को विश्वास न आया। बोला—'कौन देगा? रुपये तो तुमने चट कर दिये। वह तो मुझसे पूछेगी। उसकी माँग में तो सेंदूर मैंने डाला था।'

घीसू गर्म होकर बोला—मैं कहता हूँ, उसे कफन मिलेगा, तू मानता क्यों नहीं?

'कौन देगा, बताते क्यों नहीं?

'वहीं लोग देंगे, जिन्होंने कि अबकी दिया। हाँ, अबकी रुपये हमारे हाथ न आयेंगे।'

ज्यों-ज्यों अँधेरा बढ़ता था और सितारों की चमक तेज होती थी, मधुशाला की रौनक भी बढ़ती जाती थी। कोई गाता था, कोई डींग मारता था, कोई अपने संगी के गले लिपटा जाता था। कोई अपने दोस्त के मुँह में कुल्हड़ लगाये देता था।

वहाँ के वातावरण में सरूर था, हवा में नशा। कितने तो यहाँ आकर एक चुल्लू में मस्त हो जाते थे। शराब से ज्यादा यहाँ की हवा उन पर नशा करती थी। जीवन की बाधाएँ यहाँ खींच लाती थीं और कुछ देर के लिए यह भूल जाते थे कि वे जीते हैं या मरते हैं। या न जीते हैं, न मरते हैं।

और यह दोनों बाप-बेटे अब भी मजे ले-लेकर चुसकियाँ ले रहे थे। सबकी निगाहें इनकी ओर जमी हुई थीं। दोनों कितने भाग्य के बली हैं। पूरी बोतल बीच में है।

भर पेट खाकर माधव ने बची हुई पूड़ियों का पत्तल उठाकर एक भिखारी को दे दिया, जो खड़ा इनकी ओर भूखी आँखों से देख रहा था। और 'देने' के गौरव, आनन्द और, उल्लास का अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया।

घीसू ने कहा—'ले जा खूब खा और आशीर्वाद दे। जिसकी कमाई है, वह तो मर गई। मगर तेरा आशीर्वाद उसे जरूर पहुँचेगा। रोयें रोयें से आशीर्वाद दो, बड़ी गाढ़ी कमाई के पैसे हैं।'

माधव ने फिर आसमान की तरफ देखकर कहा—'वह बैकुण्ठ में जायगी दादा, बैकुण्ठ की रानी बनेगी।'

घीसू खड़ा हो गया और जैसे उल्लास की लहरों में तैरता हुआ बोला—'हाँ बेटा बैकुण्ठ में जायगी। किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं। मरते-मरते हमारी जिन्दगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गई। वह न बैकुण्ठ में जायगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जाएँगे, जो गरीबों को दोनों हाथ से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते हैं और मंदिरों में जल चढ़ाते हैं।'

श्रद्धालुता का यह रंग तुरंत ही बदल गया। अस्थिरता नशे की खासियत है। दुःख और निराशा का दौरा हुआ।

माधव बोला—'मगर दादा, बेचारी ने जिन्दगी में बड़ा दुःख भोगा। कितना दुःख झेलकर मरी।'

वह आँखों पर हाथ रखकर रोने लगा, चीखें मार-मार कर।

घीसू ने समझाया—'क्यों रोता है बेटा, खुश हो कि वह माया-जाल से मुक्त हो गई। जंजाल से छूट गई, बड़ी भाग्यवान थी जो इतनी जल्दी माया-मोह के बंधन तोड़ दिये।'

और दोनों खड़े होकर गाने लगे—

ठगिनी क्यों नैना झमकावे! ठगिनी०।

पियक्कड़ों की आँखें इनकी ओर लगी हुई थीं और यह दोनों अपने दिल में मस्त गाये जाते थे। फिर दोनों नाचने लगे। उछले भी, कूदे भी, गिरे भी, मटके भी। भाव भी बनाये अभिनय भी किये। और आखिर नशे से बदमस्त होकर वहीं गिर भी पड़े।"[१]

---

[१] कफन—श्री प्रेमचंद

स्मरण रहे कथानक का अंत करते समय यह भी आवश्यक है कि स्वप्न में भी न सोची जाने वाली बात अकस्मात् सामने रखकर कुतूहलता बढ़ा दी जाए तथा पाठक चाहे कुछ और ही सोच रहा हो लेकिन कुशल कहानीकार बड़ी मनोहरता से सामने एक ऐसी बात रख दे कि आश्चर्य एवं कौतूहल से पाठक का चित्त फड़क उठे। अँग्रेजी कहानीकारों में ओ हेनरी की कहानियों का अंत इसी प्रकार हुआ है। कोनन डायल ने भी एक छोटी सी कहानी How it happened (यह कैसे हुआ ?) लिखी है जिसमें कि मोटर टूटने की घटना एक मीडियम द्वारा कहलाई गई है। देखिए—

Going at. fifty miles on hour, my right front wheel struck full on right hand pillar of my own gate, I heard the crash. I was conscious of flying through the air and then—and then—!

When I became aware of my own existence once more I was among some brush wood in the shadow of the oaks upon the lodge side of the drive. A man was standing beside me. I imagined at first that it was Perkins, but when I looked again I saw that it was Stanely, a man whom I had known at college some years before, and for whom I had a really genuine affection........

"No pain of Course ?" said he.

"None", said I.

"There never is", said he.

And then suddenly a wave of amazement passed over me. Stanely ! Why, Stanely had surely died of enteric at Bloemfontein in the Bore war ! "Stanely !" I cried and the words seemed to choke my throat—"Stanely, you are dead."

He looked at me with the same old gentle wishful smile.

"So are you", he answered.

स्टेनली द्वारा कहे गए अंतिम वाक्य ने कहानी में इस प्रकार के कौतूहल और आनन्द की सृष्टि की है कि पाठक मंत्रमुग्ध सा हो जाता है। हिंदी कहानियों में भी इस प्रकार के कई उदाहरण उपलब्ध हैं; जैसे—

"इसके पूर्व कई बार हाशिम अपनी आँखों से देख चुका था कि जमींदार के हबशी जमादार किस बेरहमी से दंडित गुलामों पर कोड़े फटकारते हैं। ५-७ कोड़ों की मार से ही आदमी की पीठ का मांस चीथड़े-चीथड़े होकर उड़ने लगता है। और उसके बाद ? हाशिम उसके बाद कुछ सोच न सका ? केवल दो एक घंटे की समाप्ति पर ही वह स्वयं प्रत्यक्ष कर लेगा कि उसके बाद क्या होता है।

हाशिम सिर झुकाकर यही बातें सोच रहा था कि चंचल गुलशन उसके द्वार के

सींकचों के पास आकर खड़ा हो गया। हाशिम के चिंतित और उदास चेहरे को देखकर बालक का ध्यान स्वयं उसकी तरफ आकृष्ट हो गया। आहट सुनकर हाशिम ने जो सिर उठाया तो उसकी नजर गुलशन पर पड़ी। आज गुलशन को देखकर सबसे पहले उसके दिल में यही भाव आया—यही है वह चपल बालक, जिसकी एक चीख के कारण आज थोड़ी ही देर में बड़ी निर्दयता से मेरे प्राण ले लिये जायँगे।

हाशिम अभागा और बूढ़ा हाशिम बच्चों की तरह से फुफकार कर रो उठा।

हाशिम को रोता हुआ देखकर शायद बालक का दिल भी मसोस उठा। उसने बड़ी सहानुभूति के स्वर में पूछा—'क्यों रोते क्यों हो ? क्या भूख लगी है ?'

हाशिम ने कोई जवाब नहीं दिया, केवल उसके रोने का वेग और भी अधिक बढ़ गया। गुलशन के जेब में पिस्ते भरे हुए थे। एक मुट्ठी पिस्ते हाशिम के सामने डालकर बिजली के समान चंचल वह बालक वहाँ से भाग गया।

इसके थोड़ी देर बाद यम के दूत के समान भयंकर एक हबशी ने हाशिम की कोठरी का दरवाजा खोलकर कहा—'चलो वक्त हो गया।'

गुलशन के फेंके हुए पिस्ते कोठरी के सींकचों के पास अब भी उसी तरह बिखरे हुए पड़े थे।

उन दिनों गुलामों को इस तरह बड़ी-बड़ी सजाएँ देने का काम बड़े समारोहों के साथ किया जाता था—जैसे वह भी कोई त्योहार हो। समझा जाता कि इससे अन्य गुलामों के हृदयों पर बड़े उत्तम मनोवैज्ञानिक संस्कार पड़ते हैं। आज भी आफताबखान के सम्पूर्ण गुलाम कोड़े लगाने की टिकठी को घेर कर कतारों में खड़े किये गये थे। टिकठी से कुछ दूरी पर गुलामों की कतारों के बीच में, एक ऊँचा चबूतरा था। इस चबूतरे पर कालीन बिछाकर एक शाही ढंग की कुर्सी रखी गई थी। इस पर भूमिपति आफताबखान बड़े रोब के साथ बैठा था।

हाशिम को नंगा करके टिकठी से बाँध दिया गया था। पास ही मिट्टी के एक बड़े बर्तन में तेल से भीगे हुए बेंत रक्खे थे। एक हट्टा कट्टा हबशी इन बेतों की जाँच पड़ताल कर रहा था। सहसा जमीदार का हुक्म हुआ—होशियार।

हबशी ज़मादार ने कोड़ा सँभाल लिया और बूढ़ा हाशिम आँखों से आँसू भर कर खुदा की इबादत करने लगा।

जमींदार अगली आज्ञा देने ही वाला था कि बालक गुलशन कहीं से भागा हुआ आ पहुँचा। वह सीधा अपने पिता के पास चला आया। बालक की ओर ध्यान बँट जाने के कारण आफताबखान को अगला फरमान देने में कुछ विलम्ब हो गया। कोड़ों का जमादार अभी तक अपना कोड़ा आसमान में ऊँचा किये खड़ा था।

खुदा से इबदात करते हुए भी हाशिम की दृष्टि इस चंचल बालक पर ही गई। उस बेचारे की आँखों से दो आँसू, उसके सूखे कपोलों को भिगोते हुए नीचे की ओर खिसक गये। हाशिम के हाथ पीछे की ओर बँधे थे। अतः वह इन्हें पोंछ नहीं सका। ठीक इसी समय बालक गुलशन की नजर इस बूढ़े गुलाम पर पड़ी। बालक सहसा मचल पड़ा—'इस आदमी को क्यों बाँधा है ? इसे छोड़ दो। ऊँ ! ऊँ !'

स्मरण रहे कथानक का अंत करते समय यह भी आवश्यक है कि स्वप्न में भी न सोची जाने वाली बात अकस्मात् सामने रखकर कुतूहलता बढ़ा दी जाए तथा पाठक चाहे कुछ और ही सोच रहा हो लेकिन कुशल कहानीकार बड़ी मनोहरता से सामने एक ऐसी बात रख दे कि आश्चर्य एवं कौतूहल से पाठक का चित्त फड़क उठे। अँग्रेजी कहानीकारों में ओ हेनरी की कहानियों का अंत इसी प्रकार हुआ है। कोनन डायल ने भी एक छोटी सी कहानी How it happened (यह कैसे हुआ ?) लिखी है जिसमें कि मोटर टूटने की घटना एक मीडियम द्वारा कहलाई गई है। देखिए—

Going at, fifty miles on hour, my right front wheel struck full on right hand pillar of my own gate, I heard the crash. I was conscious of flying through the air and then—and then—!

When I became aware of my own existence once more I was among some brush wood in the shadow of the oaks upon the lodge side of the drive. A man was standing beside me. I imagined at first that it was Perkins, but when I looked again I saw that it was Stanely, a man whom I had known at college some years before, and for whom I had a really genuine affection........

"No pain of Course ?" said he.

"None", said I.

"There never is", said he.

And then suddenly a wave of amazement passed over me. Stanely ! Why, Stanely had surely died of enteric at Bloemfontein in the Bore war ! "Stanely !" I cried and the words seemed to choke my throat—"Stanely, you are dead."

He looked at me with the same old gentle wishful smile.

"So are you", he answered.

स्टेनली द्वारा कहे गए अंतिम वाक्य ने कहानी में इस प्रकार के कौतूहल और आनन्द की सृष्टि की है कि पाठक मंत्रमुग्ध सा हो जाता है। हिंदी कहानियों में भी इस प्रकार के कई उदाहरण उपलब्ध हैं; जैसे—

"इसके पूर्व कई बार हाशिम अपनी आँखों से देख चुका था कि जमींदार के हबशी जमादार किस बेरहमी से दंडित गुलामों पर कोड़े फटकारते हैं। ५-७ कोड़ों की मार से ही आदमी की पीठ का मांस चीथड़े-चीथड़े होकर उड़ने लगता है। और उसके बाद ? हाशिम उसके बाद कुछ सोच न सका ? केवल दो एक घंटे की समाप्ति पर ही वह स्वयं प्रत्यक्ष कर लेगा कि उसके बाद क्या होता है।

हाशिम सिर झुकाकर यही बातें सोच रहा था कि चंचल गुलशन उसके द्वार के

सींकचों के पास आकर खड़ा हो गया। हाशिम के चिंतित और उदास चेहरे को देखकर बालक का ध्यान स्वयं उसकी तरफ आकृष्ट हो गया। आहट सुनकर हाशिम ने जो सिर उठाया तो उसकी नजर गुलशन पर पड़ी। आज गुलशन को देखकर सबसे पहले उसके दिल में यही भाव आया—यही है वह चपल बालक, जिसकी एक चीख के कारण आज थोड़ी ही देर में बड़ी निर्दयता से मेरे प्राण ले लिये जायँगे।

हाशिम अभागा और बूढ़ा हाशिम बच्चों की तरह से फुफकार कर रो उठा।

हाशिम को रोता हुआ देखकर शायद बालक का दिल भी मसोस उठा। उसने बड़ी सहानुभूति के स्वर में पूछा—'क्यों रोते क्यों हो ? क्या भूख लगी है ?'

हाशिम ने कोई जवाब नहीं दिया, केवल उसके रोने का वेग और भी अधिक बढ़ गया। गुलशन के जेब में पिस्ते भरे हुए थे। एक मुट्ठी पिस्ते हाशिम के सामने डालकर बिजली के समान चंचल वह बालक वहाँ से भाग गया।

इसके थोड़ी देर बाद यम के दूत के समान भयंकर एक हबशी ने हाशिम की कोठरी का दरवाजा खोलकर कहा—'चलो वक्त हो गया।'

गुलशन के फेंके हुए पिस्ते कोठरी के सींकचों के पास अब भी उसी तरह बिखरे हुए पड़े थे।

उन दिनों गुलामों को इस तरह बड़ी-बड़ी सजाएँ देने का काम बड़े समारोहों के साथ किया जाता था—जैसे वह भी कोई त्योहार हो। समझा जाता कि इससे अन्य गुलामों के हृदयों पर बड़े उत्तम मनोवैज्ञानिक संस्कार पड़ते हैं। आज भी आफताबखान के सम्पूर्ण गुलाम कोड़े लगाने की टिकठी को घेर कर कतारों में खड़े किये गये थे। टिकठी से कुछ दूरी पर गुलामों की कतारों के बीच में, एक ऊँचा चबूतरा था। इस चबूतरे पर कालीन बिछाकर एक शाही ढंग की कुर्सी रखी गई थी। इस पर भूमिपति आफताबखान बड़े रोब के साथ बैठा था।

हाशिम को नंगा करके टिकठी से बाँध दिया गया था। पास ही मिट्टी के एक बड़े बर्तन में तेल से भीगे हुए बेंत रक्खे थे। एक हट्टा कट्टा हबशी इन बेतों की जाँच पड़ताल कर रहा था। सहसा जमीदार का हुक्म हुआ—होशियार।

हबशी ज़मादार ने कोड़ा सँभाल लिया और बूढ़ा हाशिम आँखों से आँसू भर कर खुदा की इबादत करने लगा।

जमींदार अगली आज्ञा देने ही वाला था कि बालक गुलशन कहीं से भागा हुआ आ पहुँचा। वह सीधा अपने पिता के पास चला आया। बालक की ओर ध्यान बँट जाने के कारण आफताबखान को अगला फरमान देने में कुछ विलम्ब हो गया। कोड़ों का जमादार अभी तक अपना कोड़ा आसमान में ऊँचा किये खड़ा था।

खुदा से इबदात करते हुए भी हाशिम की दृष्टि इस चंचल बालक पर ही गई। उस बेचारे की आँखों से दो आँसू, उसके सूखे कपोलों को भिगोते हुए नीचे की ओर खिसक गये। हाशिम के हाथ पीछे की ओर बँधे थे। अतः वह इन्हें पोंछ नहीं सका। ठीक इसी समय बालक गुलशन की नजर इस बूढ़े गुलाम पर पड़ी। बालक सहसा मचल पड़ा—'इस आदमी को क्यों बाँधा है ? इसे छोड़ दो। ऊँ ! ऊँ !'

परन्तु यह समय लाड़-प्यार का नहीं था । यह समय था सैकड़ों गुलामों के मालिक आफताबखान के रोब की परीक्षा का । जमींदार ने बालक की परवाह नहीं की । बायें हाथ से गुलशन को पकड़कर, दायाँ हाथ ऊँचा उठाकर वह कोड़ों की मार शुरू करने का आदेश देने ही वाला था कि बालक और भी अधिक ऊँचे स्वर में मचल उठा—ऊँ ! ऊँ ! छोड़ दो नहीं मानता । छोड़ दो । ऊँ ! ऊँ ।'

पिता ने अब भी अपने लाड़ले पुत्र की तरफ ध्यान नहीं दिया । उसने अपना दाँया हाथ उठा ही दिया । अभागे हाशिम की पीठ पर पहला कोड़ा पड़ने ही वाला था कि बालक गुलशन जमीन पर लोट-लोट कर ऊँचे स्वर में रोने लगा—ऊँ ! ऊँ ! ऊँ !

जमींदार का उठा हुआ हाथ स्वयं नीचे झुक गया । उसने कहा—'बड़ा जिद्दी लड़का है ।' अगले ही क्षण आफताबखान ने गुलशन को अपनी गोदी में उठा लिया । इसके बाद हाशिम की ओर मुखातिब होकर कहा—'तुम्हारे छोटे आका के हुक्म से तुम्हें इस बार माफ किया जाता है ।'

दोनों हबशी जमादारों नें शीघ्रता से हाशिम को टिकठी से खोल दिया ।

बालक गुलशन अपने पिता की गोद से उतर कर हाशिम के पास पहुँचा । अबोध बालक ने अत्यधिक सरल मुस्कराहट के साथ पूछा—'बुढ्ढे । तूने पिस्ते खा लिये थे या नहीं ?”[1]

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि प्रारम्भिक कहानियों की अपेक्षा आधुनिक कहानियों के वस्तु-विन्यास में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए हैं । आज की कहानी केवल समस्याएँ ही प्रस्तुत करती है तथा उनके समाधान के विषय में वह पाठकों को सोचने के लिये बाध्य करती है । यों तो आज की कहानियों में भी कथानक, घटनाएँ, संघर्ष उसी प्रकार हैं और विकास में औत्सुक्यता तथा तीव्र जिज्ञासा भी विद्यमान है परन्तु उनका स्तर अब पिछली भावुकता से हटकर बौद्धिक हो गया है अतः उनमें कौतूहलता के साथ-साथ स्वाभाविकता और चरम सीमा भी है परन्तु आधुनिक कहानियों की चरम सीमा रस, घटना या संयोग पर अभिव्यक्त नहीं होती कि कोई स्त्री अपने गुमे हुए अलंकार किसी हैट बाक्स से अचानक पा ले अपितु उसमें उस नारी की मनोदशा की चरम सीमा को यह स्वरूप दिया जाता है कि वह अचानक ही अपनी स्मृति में विगत आनन्द और शांति को प्राप्त कर लेती है ।[2] इस प्रकार आधुनिक कहानियों में मानव संघर्षों और अन्तर्द्वन्द्वों की स्वाभाविक अभिव्यंजना की जाती है जिससे कि पाठकों के हृदय में बार बार उनको पढ़ने की इच्छा जाग्रत होती है । इस प्रकार की चरम सीमाओं के कुछ उदाहरण देखिए—

---

[1] बचपन—श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार

[2] "The Modern story tellers have changed their nature. There is still adventure but it is now an adventure of the mind. There is suspense, but it is less a nervous suspense than an emotional or intellectual suspense. There is a climax, but it is not the climax of a woman who discovers her last jewells in the hat-box, but the climax of the woman who discovers her last happiness in a memory."

——The Short Story—Seon O' Faolain (Page 164)

"कभी कभी रात के घोर सन्नाटे में स्वप्नाविष्ट सा मैं कुछ अस्पष्ट ध्वनियाँ सुनने लगता हूँ। कोई खिलखिल हँस रही है। कोई धमकी देकर कह रही है—गारी पत्ती और चूरियाँ खनक उठती हैं, घन कुटने लगती है और एक कोमल, अत्यन्त कोमल गायन-स्वर फूट पड़ता है—निंदिया लगी…………।

और उसके हाथों में जो छाले पड़ गये हैं, वे वहाँ से उठकर मेरे हृदय से आकर चिपक गये हैं।"[१]

और भी—

"नींद नहीं आ रही और मुँदी आँखों के सामने अभी कुछ दिन पहले की कल्पना दिखाई दे रही—छोटे से बँगले के सामाने लान पर दो हल्की आराम-कुर्सियाँ और खेलता हुआ छोटा बालक।…………खर्च उसके पास है परन्तु दूसरी कुर्सी रखने का अधिकार उसे नहीं है।

और वह शिथिल शरीर, नवप्रसूता एक नवजात शिशु को छाती से लगाए छिपने के लिए भाग रही है। पीछा करनेवाले लोग चिल्ला रहे हैं………यह किसका है? उसे क्या अधिकार है? कौन जिम्मेदार है?

इस वीभत्स कल्पना का उत्तर था—'अपनी अपनी जिम्मेदारी।"[२]

और भी—

"एक अंधड़ उठा। वे मिल गये—नहीं मिलने के लिये प्रस्तुत हुए।

दिलारा के मुख से मदिरा की तीव्र दुर्गन्ध आ रही थी। मणिधर घबड़ा उठा था। उसे प्रतीत होता था कि जैसे किसी हड्डियों के भयंकर ढाँचे ने उसे दबोच लिया है। सहस्रों भयंकर बीमारियों के जंतु उसके शरीर में प्रविष्ट होने के लिए, उसकी ओर बढ़े चले आ रहे हैं।

सहसा मणिधर उसके बाहु-पाश से छिटक पड़ा। घृणा के उद्रेक में वह बुदबुदाया—क्या इसी को आनन्द कहते हैं?

मूर्छित होती दिलारा ने देखा—मणिधर कपड़े पहन भागा चला जा रहा है।"[३]

(जनवरी १९५९)

---

१. निंदिया लागी—श्री. भगवतीप्रसाद वाजपेयी

२. जिम्मेवारी—श्री. यशपाल

३. प्रणय-पिपासा—श्री. अमृतलाल नागर

गोरखनाथ और उनकी योग-साधना

वस्तुतः गोरखनाथ या गोरक्षनाथ या गोरक्षपानाथ नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक कहे जाते हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि नाथ पंथ को संगठित कर सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने का श्रेय उन्हें ही है तथा भारतवर्ष में शंकराचार्य के अतिरिक्त इस प्रकार का प्रभावशाली और महिमान्वित व्यक्तित्व अन्य किसी में नहीं दृष्टिगोचर होता। गोरखनाथ ने उत्तर में काश्मीर से लेकर दक्षिण में महासागर तक के प्रदेशों की यात्राएँ कर नाथ पंथ का प्रचार करते हुए स्थान-स्थान पर केन्द्र स्थापित कर अपने योग्य शिष्यों को प्रचार के लिए नियुक्त किया और इस प्रकार भारतवर्ष की प्रत्येक भाषा में ऐसी कहानियाँ प्रचलित हैं जिनमें गोरखनाथ का उल्लेख है।[1] हो सकता है कि इन कथाओं में पारस्परिक ऐतिहासिक विरोध भी देख पड़ता हो परन्तु इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि गोरखनाथ अपने युग के सर्वप्रधान नेता थे और आगे चलकर दक्षिण से जो वेदान्त-भावित भक्ति-आन्दोलन का तीव्र प्रवाह उत्तर की ओर प्रवाहित हुआ उसके पूर्व गोरखनाथ का योगमार्ग ही भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन था परन्तु बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि गोरखनाथ के संबंध में ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव-सा है और इस प्रकार उनका जीवनवृत्त सरलता के साथ अंकित नहीं किया जा सकता।

गोरखनाथ के जन्मस्थान के विषय में भी मतभेद-सा है। 'योगि सम्प्रदाय विष्कृति' में उन्हें गोदावरी तट पर किसी चन्द्रागिरी नगर में उत्पन्न हुआ माना गया है और नेपाल दरबार पुस्तकालय के 'गोरख सहस्रनाम स्तोत्र' नामक पुस्तक के अनुसार दक्षिण का बड़व नामक देश उनका जन्म स्थान माना गया है तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि कदाचित बड़व देश गोदावरी तीर के प्रदेश का ही वाचक है। क्रुक्स द्वारा लिखित परम्परा को उद्धत करते हुए ग्रियर्सन ने उन्हें सत्युग में पंजाब के पेशावर में, त्रेता में गोरखपुर में, द्वापर में द्वारका के भी आगे हुरभुज में और कलियुग में काठियावाड़ की गोरखमढ़ी में उत्पन्न माना है। बंगाली गोरखनाथ की जन्मभूमि बंगाल मानते हैं तथा नेपाली उनका पंजाब से नेपाल आना स्वीकार करते हैं और श्री जी० डब्यू० ब्रिग्स ने गोरखपुर के एक महंत का उल्लेख करते हुए तथा पंजाब के टिला के संबंध में ही विचारकों के मतों की

---

[1] डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने भारतीय विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि गोरखनाथ का नाम उत्तराखण्ड के जन्त्र और मन्त्रों में भी प्रचुरता के साथ उपलब्ध होता है। डॉ० भगीरथ मिश्र के सम्पादकत्व में प्रकाशित उनके निबन्ध-संग्रह 'मकरन्द' के 'उत्तराखण्ड के मन्त्रों में गोरखनाथ' (पृ० २८-३१) नामक लेख का अनुशीलन करने से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है।

अधिकता देखकर गोरखनाथ को पंजाब का निवासी माना है[१] लेकिन नासिक के नाथपंथियों का विचार है कि गोरखनाथ नेपाल से पंजाब गये तथा फिर वे बाद में नासिक की ओर आए। ग्रियर्सन गोरखनाथ को पश्चिमी हिमालय का निवासी मानते हैं अतः ठीक-ठीक किसी निर्णय पर पहुँचना सहज नहीं है। साथ ही उनके विषय में इतनी अधिक दंतकथाएँ प्रचलित हैं कि उनका जीवनवृत्त तिमिराछन्न-सा प्रतीत होता है। जी० डबल्यू० ब्रिग्स ने तथा सुप्रसिद्ध तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ ने गोरखनाथ को प्रारंभ में बौद्ध साधक ही माना है तथा उनका बाद में शैव होना स्वीकार किया है और यह भी कहा जाता कि उन्होंने अवलोकितेश्वर के प्रभाव से नेपाल की रक्षा कर उसे शैव बनाया, परन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी उन्हें निश्चित रूप से ब्राह्मण जाति में उत्पन्न मानते हैं तथा ब्राह्मण वातावरण में ही उनका पालित-पोषित होना स्वीकार करते हैं।[२] यद्यपि परंपरा से गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य के रूप में प्रसिद्ध हैं परन्तु कुछ ऐसी दंतकथाएँ भी हैं जिनमें कि उन्हें मत्स्येन्द्रनाथ का प्रतिद्वन्दी मानते हुए यह कहा गया है कि उन्होंने मत्स्येन्द्र द्वारा रक्षित नेपाल राज्य को अनेक वर्षों के अथक परिश्रम के उपरान्त अपने संरक्षण में लाने में सफलता प्राप्त की। तिब्बती अनुश्रुतियों के अनुसार गोरखनाथ एक बौद्ध बाजीगर थे तथा उनके सारे कनफटे शिष्य भी बौद्ध ही थे लेकिन बारहवीं शताब्दी के अंत में सेन वंश का नाश हो जाने पर वे शैवालम्बी बन गए।[३] नेपाल की एक दंतकथा के अनुसार यह भी कहा जाता है कि अपने एक साधारण कौशल द्वारा गोरखनाथ ने बारह वर्षों तक वर्षा न होने दी और केवल एक मंत्र द्वारा ही पानी के समस्त उद्गमों को एक ही सूत्र में बाँध दिया तथा जब बारह वर्षों तक वृष्टि नहीं हुई और चारों ओर हाहाकार मच गया तो फिर पानी किस प्रकार मुक्त हुआ इस सम्बन्ध में बौद्ध और ब्राह्मण अनुश्रुतियों में असाम्यता सी है। राजस्थान में तो गोरखनाथ को 'गुग्गा', 'गूग', 'जहरपीर' (क्योंकि उन्होंने अपनी शिशु अवस्था में ही एक सर्प का भक्षण कर लिया था) तथा 'बागर वीर' भी कहा जाता है और कहते हैं कि बागर के शासक की हैसियत से उन्होंने कई युद्ध भी किये थे। यह भी कहा जाता है कि वे अजमेर के शासक पृथ्वीराज चौहान के समकालीन थे और अपने ४५ पुत्र तथा ६० भतीजों सहित मुहम्मद गोरी के साथ युद्ध करते हुए मारे गये।[४] इस प्रकार इन दंतकथाओं के आधार पर तो वास्तबिक तथ्य तक पहुँचना असम्भव ही है परन्तु इतना अवश्य कहा जाता है कि गोरखनाथ का जीवन पूर्ण ब्रह्मचर्यमय था और वे सुन्दर, सुगठित तथा आकर्षक होते हुए भी युवावस्था में ही वैरागी हो गये थे तथा दूर-दूर तक पर्यटन कर उन्होंने नाथ सम्प्रदाय के मतानुसार योग-साधना का प्रचार करते हुए गुरु भक्ति, अनुशासन, सेवा भाव, सरल, सात्विक तथा

---

१. 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज'—जी० डब्ल्यू० ब्रिग्स (रेलिजस लाइफ आफ इण्डियासिरीज) पृ० २२८-२९

२. नाथ सम्प्रदाय—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० ९७)

३. एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग ६, पृ० ३२८

४. रिलीजन एण्ड फोकोलोर आफ नार्दर्न इण्डिया—(डब्ल्यू० क्रुक, १९२६)

संयमशील जीवन के उपदेश दिये थे और उनके मत का प्रभाव भारत में ही नहीं बल्कि भारत के भी बाहर अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, सीलोन तथा पेनांग तक क्रमशः फैलता चला गया। इस आधार पर गोरखनाथ को हिमालयवासी भी कहा जा सकता है क्योंकि हिमालय प्रदेश में अभी तक शिवोपासक कनफटे जोगी दृष्टिगोचर होते हैं तथा इसी प्रकार यह भी माना जा सकता है कि नेपाल को महायान बौद्ध धर्म से शैवमत में रूपान्तरिक करने का श्रेय गोरखनाथ को ही है। गोरखनाथ का ठीक-ठीक काल निर्धारण अभी तक नहीं किया जा सका। डॉ० शहीदुल्ला उनका आविर्भाव वि० सं० ७२२, श्री राहुल सांकृत्यायन वि० सं० ९०२, डॉ० मोहनसिंह विक्रम की नवीं और दसवीं शताब्दी, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी विक्रम की दसवीं शताब्दी, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल सं० १०५०, श्री परशुराम चतुर्वेदी विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी, डॉ० फर्कुहर सं० १२७५, डॉ० रामकुमार वर्मा तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग और जार्ज ग्रियर्सन चौदहवीं शताब्दी मानते हैं। स्मरण रहे कि चौरासी सिद्धों में गोरक्षपा नामक एक सिद्ध का उल्लेख हुआ है और यदि हम इन गोरक्षपा को ही गोरखनाथ मान लें तो भी उनका समय महापंडित राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार सं० ९०२ मानना उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि चौरासी सिद्धों की परम्परा तो सं० १२५७ तक चलती रही है। साथ ही हमें महाराष्ट्र के अमर संत ज्ञानेश्वर की ज्ञानेश्वरी का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संत ज्ञानेश्वर अपने आपको नाथ पंथ की शिष्य परंपरा में मानते हैं। मराठी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान पं० लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर, बी० ए० ने मराठी में 'श्री ज्ञानेश्वर चरित्र' नामक एक पुस्तक लिखी है और प्रसन्नता की बात है कि उसका अनुवाद भी श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे ने किया है तथा वह गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित भी हो चुकी है। पांगारकर जी की 'ज्ञानेश्वर चरित्र' नामक पुस्तक के अनुसार संत ज्ञानेश्वर के प्रपितामह श्री त्र्यंबक पंत गोरखनाथ के समकालीन थे तथा उनके विषय में पांगारकर जी ने इस प्रकार लिखा है—"त्र्यंबक पंत ने यज्ञोपवीत होने के पश्चात् देवगढ़ जाकर वेदशास्त्र का अध्ययन किया। इनकी पूर्व वयस देवगढ़ के यादव राजाओं की सेवा में व्यतीत हुई और उत्तर वयस में इन्होंने श्री गोरखनाथ की कृपा से भगवच्चिन्तन का आनन्द लिया। इन्होंने पाँच वर्ष तक बीड़ के देशाधिकारी का काम किया। शके ११२९ (संवत् १२६४) में प्रभवनाम् संवत्सर चैत्र शुक्ल ५ इन्दुवासर प्रातः-काल घटि ११ का एक राजाज्ञापत्र भिगारकर महादेव ने प्रकाशित किया है। उससे यह मालूम होता है कि जैत्रपाल महाराज ने दस सहस्त्र यादव मुद्रिका पर उन्हें बीड़ देश का अधिकारी नियुक्त किया।[1]" आगे चलकर लेखक ने पुनः उनकी मानसिक दशा का चित्रण करते हुए लिखा है—"इस बात का उन्हें बड़ा पश्चाताप हुआ कि राजसेवा और कुटुम्बभरण में ही सारी आयु गँवा दी। अब उन्होंने शेष जीवन भगवच्चरणों में लगाकर सार्थक करने का निश्चय किया। कर्म धर्म संयोग से ही इसी समय गोरखनाथ महाराज तीर्थाटन करते हुए आपेगांव में पधारे। त्र्यंबक पंत उनकी शरण में गए और उनके अनुग्रह पात्र हुए।"[2] अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि संवत् १२६४ में त्र्यंबक पंत ने बीड़ देश के देशाधिकार का कार्य ग्रहण किया था और चूँकि वे

---

१. श्री ज्ञानेश्वर चरित्र—पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर—हिन्दी अनु० श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे (पृष्ठ ३८)

२. वही, पृष्ठ ४०

केवल पाँच वर्षो तक ही इस कार्य को संभाल सके और उनके मानस में वैराग्य-भावना उठने लगी अतः सं० १२७० के लगभग ही उन्होंने गोरखनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया होगा तथा इससे गोरखनाथ का सं० १२७० में वर्तमान रहना स्पष्ट हो जाता है तथा यह भी ज्ञात होता है कि वे सं० १२७० में प्रसिद्धि भी अवश्य प्राप्त कर चुके होगे। 'श्री ज्ञानेश्वरचरित्र' में यह भी लिखा है कि त्र्यंबक पंत के ज्येष्ठ पुत्र गोविंद पन्त तथा उनकी सहधर्मिणी निराबाई ने गोरखनाथ के शिष्य गैनीनाथ से ब्रह्मोपदेश प्राप्त किया था। अतः इतना तो स्पष्ट है कि त्र्यंबक पंत ने जिन गोरखनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया था वे वस्तुतः नाथ सम्प्रदायी गोरखनाथ ही थे। ज्ञानेश्वरी के एक पद के आधार पर यह निस्संकोच माना जा सकता है कि स्वयं ज्ञानेश्वर ने गोरखनाथ का उल्लेख किया है और उस पद के अनुसार उनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है—मत्स्येन्द्रनाथ—गोरखनाथ—गैनीनाथ, निवृत्तिनाथ तथा ज्ञानेश्वर। पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर ने भी 'श्री ज्ञानेश्वर चरित्र' में ज्ञानेश्वर की गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है—

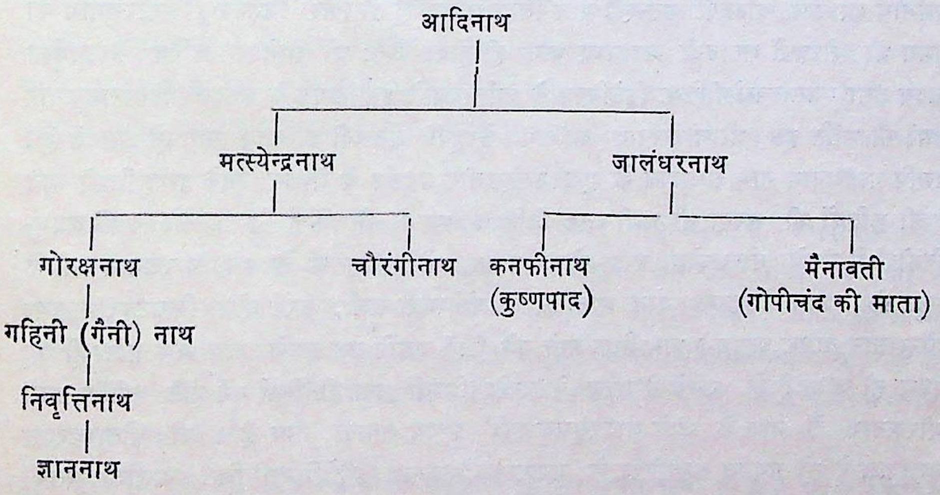

साथ ही ज्ञानेश्वरी में दी गयी गुरु-परम्परा और पांगारकर जी द्वारा प्रस्तुत गुरु-परम्परा में साम्यता सी है तथा यदि हम ज्ञानेश्वर जी की वंशावली पर विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि उसमें और इस गुरु-परम्परा में भी सदृश्यता सी है अतः गोरखनाथ का त्र्यंबक पंत का समकालीन होना निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है। संत ज्ञानेश्वर की वंशावली इस प्रकार है—

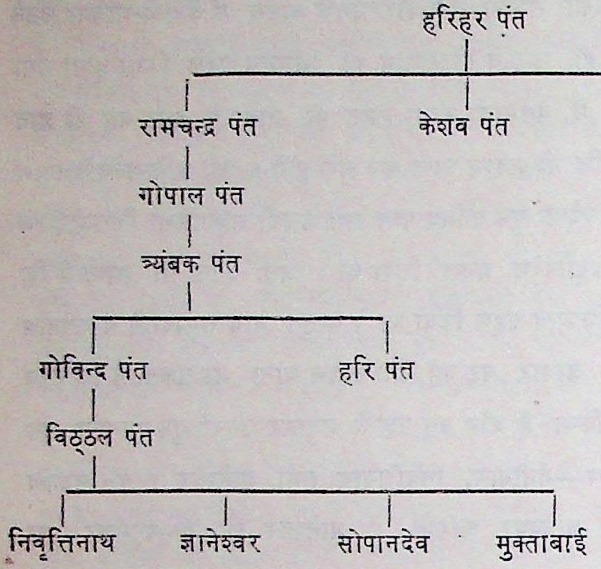

साथ ही यह भी कहा जाता है कि गोरखनाथ के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ था जिसने कि चौदहवीं शताब्दी में कनफटा पंथ का प्रचार कच्छ में किया था[1] और यदि धर्मनाथ का काल चौदहवीं शताब्दी मान लिया जाता हैं तो फिर निश्चय ही गोरखनाथ का समय भी तेरहवीं शताबदी का मध्य भाग ही होगा अतः श्री ज्ञानेश्वर चरित्र के उपर्युक्त साक्ष्य तथा एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के धर्मनाथवाले इस कथन के कारण डॉ० रामकुमार वर्मा की भाँति हम भी गोरखनाथ का समय तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग ही मानते हैं। यद्यपि गोरखनाथ नाथ सम्प्रदाय के एक उल्लेखनीय प्रवर्तक थे लेकिन उनके द्वारा लिखी जाने वाली कृतियों की संख्या भी अभी तक निश्चित रूप से निर्धारित न हो सकी। 'मिश्रबंधु-विनोद' में उनके गोरखबोध, दत्त गोरख संवाद, गोरखनाथ जी के पद, गोरखनाथ जी के स्फुट ग्रंथ, ज्ञान सिद्धान्त योग, ज्ञानतिलक, योगेश्वरी सखी, नरवै बोध विराटपुराण तथा गोरखसार नामक दस ग्रंथ प्रामाणिक माने गये हैं।[2] यद्यपि उन सबके नामकरण द्वारा ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें से बहुत से उनके शिष्यों द्वारा ही लिखे गये होंगे क्योंकि उनमें गोरखनाथ के नाम के आगे आदरसूचक 'जी' प्रत्यय लगाया गया है। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने तो पर्याप्त अनुशीलन के उपरान्त गोरखनाथ की निम्नलिखित चालीस पुस्तकों की सूची प्रस्तुत की है यद्यपि वे इनमें से प्रथम चौदह को ही प्रामाणिक मानते हैं—शब्द, पद, प्रांणसंकली, शिष्यादर्शन, नरवैबोध, आतमबोध, अभयमात्रायोग, पंद्रहतिथि, सप्तवार, मछिन्द्र गोरखबोध, रोमाली, ज्ञानतिलक, ग्यान चौंतीसा, पंचमात्रा, गोरख गणेश गोष्ठी, गोरखदत्त गोष्ठी (ज्ञानदीपबोध), महादेवगोरख गोष्ठी, सिष्टपुरान दयाबोध, जातिभंवरावली, छंद गोरख, नवराशि, बनरात्रि, अष्टपारक्षय, रसराह, ग्यान माला, आतमबोध, व्रत, निरंजन पुरान, गोरख

---

[1] एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, पृष्ठ ३२८-३३०

[2] मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ २४१

वचन, इंद्रियदेवता, मूलगर्भावली, वाणी, गोरखसत, अष्टमुद्रा, चौबीस सिद्धि, षडक्षरी, पंचअग्नि, अष्टचक्र, अवलिसिलूक, काफिर बोध। डॉ० बड़थ्वाल ने इनमें से प्रारंभिक तेरह पुस्तकों का संग्रह हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा गोरखबानी (जोगेसरी बानी, भाग १) के नाम से प्रकाशित भी करवाया था। डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की प्रारंभिक तेरह पुस्तकों की सूची में से 'अभैमात्रा जोग' के अतिरिक्त शेष बारह ग्रंथों को प्रामाणिक मानते हैं और डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सम्प्रदाय' में विभिन्न ग्रंथ सूचियों तथा आलोचनात्मक अध्ययनों के आधार पर गोरख द्वारा लिखित कही जाने वाली अट्ठाइस पुस्तकों की एक तालिका प्रस्तुत की है यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि इनमें से कई पुस्तकें उन्होंने देखी भी नहीं है तथा यह भी संभव हो सकता है कि इनमें की कई पुस्तकें गोरखनाथ द्वारा न भी लिखी गयी हों।[1] इसमें कोई संदेह नहीं कि गोरखनाथ ने अपने नाथ पंथ के प्रचार के हेतु जनसमुदाय की भाषा को ग्रहण कर सराहनीय कार्य किया है क्योंकि इससे न केवल उनके मत का प्रचार सर्वसाधारण में हो सका अपितु जनभाषा को विकसित होने का अवसर भी प्राप्त हुआ। गोरखनाथ जी ने संस्कृत और हिन्दी के साथ-साथ मराठी भाषा को भी अपनाया है तथा मराठी में भी उन्होंने 'अमरनाथ संवाद' और 'गोरक्षगीता' नामक ग्रंथों की सफलतापूर्वक रचना की है। स्मरण रहे श्री लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकार ने 'मराठी वाङ्मयाचा इतिहास (खंड पहिला) के पृष्ठ ४८८, श्री विनायक लक्ष्मण भावे ने महाराष्ट्र सारस्वत के पृष्ठ ४३ और श्री पं० रा० मोकाशी ने 'महाराष्ट्रांतील पांच सम्प्रदाय' के पृष्ठ १४४ में हमारे इसी कथन को स्वीकार किया है और मोकाशी जी ने तो 'ज्ञानेश्वरींतील व अमृतानुभवांतील काहीं दृष्टांत—प्रमेयांशीं असणारे साम्य चटकन डोळयांत भरण्यासारखे आहे' नामक पंक्ति द्वारा यह स्वीकार किया है कि ज्ञानेश्वरी के कुछ स्थल अमृतानुभव के कुछ स्थलों के समान से हैं।[2] मिश्रबन्धु तो गोरखनाथ को

---

[1] १. तथाकथित गोरखनाथ जी की संस्कृत रचनाएँ इस प्रकार हैं—अमनस्क, अमरौघशासनम्, अवधूतगीता, गोरक्षकल्प, गोरक्षकौमुदी, गोरक्षगीता, गोरक्ष चिकित्सा, गोरक्ष पंचम, गोरक्ष पद्धति, गोरक्ष शतक, गोरक्ष शास्त्र, गोरक्ष संहिता, चतुरशीत्यासन, ज्ञानप्रकाशशतक, ज्ञानशतक, ज्ञानामृत योग, नाड़ीज्ञान प्रदीपिका, महार्थमंजरी, योगचिन्तामणि, योगमार्तण्ड, योगबीज, योगशास्त्र, योगसिद्धासन पद्धति, विवेक मार्तण्ड, श्रीनाथसूत्र, सिद्धसिद्धान्त पद्धति, हठयोग, हठ संहिता।

[2] २. यहाँ हम कुछ ऐसे अवतरण प्रस्तुत करेंगे जिनमें कि भावसाम्यता सी पाई जाती है लेकिन स्मरण रहे कि हम भावसाम्यता का अर्थ अमौलिकता से कभी नहीं लेते। वस्तुतः हमारा विचार तो यह रहा है कि भावों की साम्यता साहित्य में हेय नहीं हैं और न उसे साहित्यिक अपहरण की संज्ञा ही दी जा सकती है परन्तु हाँ शैली-साम्यता को हम निंदनीय समझते हैं। अतः गुरु गोरखनाथ और संत ज्ञानेश्वर के भावसाम्यवाले जो उद्धरण हम प्रस्तुत कर रहे हैं उसका अर्थ किसी का महत्व घटाना न समझा जाए बल्कि उससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि ज्ञानेश्वर जी पर नाथ पंथ का प्रभाव पड़ा था और उनके द्वारा प्रस्तुत की गई गुरु परम्परा भी यथार्थ सी है जिसके आधार पर हम गोरखनाथ का काल-निर्धारण कर सके हैं। अब उद्धरण देखिए—

ब्रजभाषा गद्य में एक ग्रंथ लिखने का श्रेय भी प्रदान करते हैं और हिन्दी साहित्य के प्रायः सभी इतिहासकारों ने उनके गद्य-साहित्य का जो अवतरण प्रस्तुत किया है उसमें न केवल

"वृक्षांची पाने झर्डति । आणि माधौति नीगति। परि तेंचि म्हणुं नयेत किं ।
दिवेयापासौनि निघाळिया काजळी । त्वचा पोटिं काई आणि की षाणि असे ।
मग निगालियें नदी उदकें अनित्यें । परि प्रवाही नित्य जाणावी किं ।
तैसा दृश्य प्रपंचु पदार्थु अनित्यु । परि त्या प्रवाही नित्यु जाणावा ।।"

योगसाधना पर मराठी में लिखे गए गोरखनाथ के ग्रंथ 'अमर संवाद' के उक्त उद्धरण की सी विचारधारा 'ज्ञानेश्वरी' के प्रस्तुत अवतरण में भी विद्यमान है—

जैशा वारियांचा झुळका । सांदा ठाउवा नव्हे देखा ।
तैसिया उठती पड़ती शाखा । नेणों किती ।।
एकी देहाची डिरी तुटे । संघ देहोकुरी बहुबी फुटे ।
ऐसेनि भवतरु हा वाटे । अव्ययो ऐसा ।।

—ज्ञानेश्वरी अ. १५. १३१, १३२ ।

साथ ही यह भी कहा जाता है कि ज्ञानेश्वरी में दिए गए "सशाचें शिंग," "मृगजळ" "वाझेचे लेकरूं" "काळी कस्तूरी" आदि दृष्टान्त वस्तुत. 'अमरनाथ संवाद' में पहले ही वर्णन किए जा चुके हैं ।

गोरखनाथ का 'गोरक्षगीता' नामक एक अन्य और मराठी में लिखा गया ओवीबद्ध ग्रंथ कहा जाता है जिसमें दी गई योग विषयक विचारधारा तथा कुंडलिनी जाग्रत करने की प्रक्रिया आदि बहुत कुछ अंशों में ज्ञानेश्वरी अ. ६ के १४ वें श्लोक के सदृश्य ही है । गोरक्षगीता के उदाहरण इस प्रकार है—

तेणें कामशक्ति खुंटली । मय वायूते उर्ध्वगति जाली । आळा मणि पुराजवळिं ।
देखिली बाळा कुंडली । प्राणायाम करितां नेटं । तै कुंडलिनी चिमुटे ।
वेळ उकलुनि सुसाटे । गगन मार्गे ।
आपान मौधाता मुरडला । स्वाधिष्ठावरि चालिला । क्षोभोनिया माजला ।
झुंजे मणिपुरेसी । वाहाठादुळी धाविली त्वरे । कोठयामाजि सचरे । कफपित्तादिकाचे थारे ।
मोडोनि टाकी । वेळे येकायेकी उकली । बहुतां दिवसांची असे भुकेली ।
ऊर्ध्व होउनि सुखे गिळी । वाहादुळी गा । इडा पिंगळा एकमेळी । तिन्हि
नडीची ग्रंथी सुटली । षटचक्राचे पदर मोकळी । करिती झाली ।।

अब "ज्ञानेश्वरी" अध्याय ६ का प्रस्तुत अवतरण देखिए—

जो मुळबधें कोंडला । अपान माधौता मुरडला । तो सवें चिवरी सांकडला घरी फुगू । क्षोभलेपणें माजे । उवाइला नई गाजे । मणिपुरेशी झुंजे । राहोनिया । मग थांबलिये वाहादुळी । सैंध घेउनि घर डहुळी । वाळपणीची कुहीटुळी । बाहेरि भीतरी वळी न घरे । कोठया माजी संचरे । कफ पित्ताचे थारे । उरौ नेदी ।। तंत्र येरीकडे धनुर्धरा । आसना चा उबारा । शक्ति करी उजगरा । कुंडलिनी ते ।।''''तैसी सुबंध आटली । पुटीं झोती दाटली । ते वज्रासनें चिमुटली । सावध होय । सहजें बहुता दिवसांसौ भूक । तरी चेवविली ते होय सिरव ।

गोरख को प्रथम पुरुष में सम्बोधित किया गया है अपितु पूछिबा, कहिबा, आदि राजस्थानी शब्दों की भी बहुलता है जिन्हें कि आचार्य शुक्ल भी राजस्थान के शब्द ही मानते हैं।[1] इस आरोप को तो चाहे अस्वीकृत भी कर दिया जाय कि गोरखनाथ चूँकि पूरब और उत्तर के निवासी थे, अतः उन्हें ब्रजभाषा में न लिखकर पूरबी गद्य का प्रयोग करना चाहिए था क्योंकि हो सकता है गोरखनाथ को अपने देशाटन काल में ब्रजभाषा का भी सम्यक ज्ञान प्राप्त हो चुका हो अन्यथा एक पूरब के निवासी का ब्रजभाषा गद्य में ग्रन्थ लिखना अविश्वसनीय नहीं प्रतीत होता परन्तु चूँकि इस अवतरण में स्वयं गोरखनाथ को प्रथम पुरुष के रूप में मान लिया गया है तथा एक सम्प्रदाय के मान्य प्रचारक का अपने आपको इस रूप में प्रस्तुत करना अनुपयुक्त प्रतीत होता है अतः हो सकता है कि यह अवतरण गोरख के किसी राजपूतानावासी शिष्य द्वारा लिखा गया हो और उसने उसे अपने पंथ के प्रवर्तक गोरखनाथ के नाम से प्रसिद्ध कर दिया हो। स्मरण रहे डॉ० बड़थ्वाल 'सबदी' को ही गोरखनाथ की सर्वाधिक प्रामाणिक कृति मानते हैं परन्तु डॉ० मोहनसिंह की दृष्टि में 'गोरख-बोध' उनकी अधिक प्रामाणिक रचना है लेकिन डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा मत्स्येन्द्रनाथ के कई संस्कृत ग्रंथों में प्रकाशित किए जाने के फलस्वरूप 'गोरखबोध' को प्रामाणिक मानना भी अनुपयुक्त ही जान पड़ता है क्योंकि दोनों में प्रतिपादित सिद्धान्तों में वैषम्यता-सी है। अतएव गोरखनाथ की कृतियों की प्रामाणिकता के विषय में कुछ भी कहना सहज नहीं है। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल इन कृतियों की प्रामाणिकता तथा गोरखनाथ के विषय में बहुत कुछ लिखने वाले थे परन्तु उनके असमय निधन के फलस्वरूप यह कार्य अपूर्ण ही रह गया तो भी उन्होंने अपने भावी विचारों

मग आवेशें पसरी मुख। उर्ध्वउजू ॥....तंव अघ वरौते आकुंचे। उर्ध्व तळौतें खाचे। तया खेवामाजी चक्राचे पदर सुटती ॥

यद्यपि श्री वि. ल. भावे ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'महाराष्ट्र सारस्वत्' में 'गोरक्षगीता' के एक प्रकरण में "हे गोरक्षगीता। गहिनीनाथ संवादू ॥ "नामक पंक्तियों के आधार पर गहिनीनाथ को ही गोरक्षगीता का लेखक माना है क्योंकि उनकी दृष्टि में गोरखनाथ के उपदेशों को गहिनीनाथ ने संभवतः इस कृति में लिपिबद्ध किया है। अतः वे यही मानते हैं कि "याचें कर्तृत्व गोरक्षनाथ पेक्षां गेनीनाथकडेच येतें।" परन्तु पांगारकर जी और श्री पं० रा. मोकाशी आदि कई मराठी भाषाभाषी विद्वानों ने गोरक्षगीता का प्रणेता गोरखनाथ को ही माना है तथा हम भी इन विद्वानों के विचारों से पूर्ण सहमत हैं और गोरखनाथ को ही गोरक्षगीता का निर्माता मानते हैं।

[1] गोरखनाथ द्वारा लिखित कहा जानेवाला गद्य का वह अवतरण इस प्रकार है— "श्री गुरू परमानन्द तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्दस्वरूप हैं शरीर जिन्हिको। जिन्ही के नित्य गायै तैं शरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु है। मैं जु हौ गोरिष सो मछन्दरनाथ को दंडवत करत हौं। हैं कैसे वे मछन्दरनाथ ॥ आत्मा ज्योति ज्योति निश्चल है। जिनिकौ कल्पविरुच्छ अरु मूलद्वार तैं छइ चक्र जिनि नीकी तरह जानै ॥ अरु जुग काल कल्प इनिकी रचना तत्व जिनि गायो। सुगन्ध को समुद्र तिनिको मेरी दंडवत। ।स्वामी तुमे तौ सतगुरु अमहै तो सिव, सबद एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनिन करिबा रोस।"

की झलक पहले ही इस रूप में प्रस्तुत कर दी थी—"नाथ परम्परा में इनके कर्ता प्रसिद्ध गोरखनाथ से भिन्न नहीं समझे जाते थे। मैं अधिक संभव समझता हूँ कि गोरखनाथ विक्रम की ११वीं शती में हुए। ये रचनाएँ जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं ठीक वैसी ही उस समय की हैं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु इनमें भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे कहा जा सकता है कि संभवतः इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती में ही हुआ हो।"[1] गोरखनाथ द्वारा लिखित कही जाने वाली इन कृतियों से एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी प्रकट हो जाता है कि दो साधकों के प्रश्नोत्तररूप में सिद्धान्त प्रतिपादन की शैली वस्तुतः नाथपंथियों द्वारा ही प्रारम्भ हुई है और इस पद्धति का प्रभाव हिन्दी संत-साहित्य पर भी पड़ा है जिसके फलस्वरूप आगे चलकर सम्वाद रूप में अनेक ऐसी कृतियाँ लिखी गईं जिनका उद्देश्य सम्प्रदाय विशेष के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए अपने विश्वास और मत का प्रचार करना रहा है। गोरखनाथ द्वारा लिखे पदों की प्राचीनता पर यद्यपि सन्देह ही किया जाता है परन्तु उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि परवर्ती संत-काव्य वस्तुतः नाथ सम्प्रदाय की इस पद्धति से निश्चय ही प्रभावित हुआ है और संत-काव्य के पदों में जो ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक और मानसिक प्रवित्रता, ज्ञाननिष्ठा, बाह्याचारों का अनादर, आन्तरिक शुद्धि आदि का चित्रण किया गया है उसका मूल स्रोत भी नाथपंथियों के इन पदों में ही देख पड़ता है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि परवर्ती संत-साहित्य को तो वस्तुतः बनी बनाई भूमि ही प्राप्त हुई थी। इस प्रकार गोरखनाथ के कवित्व में चाहे रुक्षता और गृहस्थ जीवन के प्रति अनादर की भावना दृष्टिगोचर होती हो परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने योग की दुस्तर साधनाओं को भी जीवन के लिए अत्यंत हितकर रूप में प्रस्तुत कर धार्मिक भावनाओं को बलवती ही किया है। अब हमें गोरखनाथ की साधना-पद्धति पर भी संक्षेप में विचार करना चाहिए।

यद्यपि श्री परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में "गुरु गोरखनाथ के दार्शनिक सिद्धान्त वेदान्तपरक जान पड़ते हैं और उनकी योग-साधना संबंधी रचनाओं के अन्तर्गत भी अद्वैत सिद्धान्त का ही प्रतिपादन लक्षित होता है।"[2] परन्तु वास्तव में नाथ पंथ में वेदान्त निर्दिष्ट साधना-पद्धति को ग्रहण नहीं किया गया और स्मार्त आचारों को तो तनिक भी महत्व न देकर स्मार्त हिन्दू धर्म का उपहास ही किया गया है। गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह का यह अवतरण दृष्टव्य है—"लोग आचार आचार कहा करते हैं। भला यह आचार अत्याचार होकर कैसे निभता है? चलते समय जो पैरों में जूते पहने जाते हैं, वह भी चमड़े के ही हैं। शयन में जो स्त्री-संग होता है उसकी तो बात ही जाने दो......। सूर्यादि ग्रहण के अवसरों पर मिट्टी के पात्र और जल आदि को अशुचि समझकर त्याग दिया जाता है किन्तु धान्य घृतादि को क्यों नहीं फेंक दिया जाता? बात यह है कि जलाशय में जल तो बहुत प्राप्त हो जाता है और कुम्हार के घर मिट्टी के पात्र भी थोड़े ही पैसों में प्राप्त हो जाते हैं तो फिर क्यों न उन्हें अपवित्र समझकर आचारवान मान लिया जाय। लेकिन घृत और धान्य वगैरह को मोल लेने में अधिक पैसे लगते हैं अतः उन्हें अपवित्र

---

१. गोरखबानी, भूमिका पृ० २०

२. उत्तरी भारत की संत परम्परा—श्री परशुराम चतुर्वेदी (पृ० ६१)

नहीं माना जाता। कहाँ तक इस प्रकार की बातें लिखी जावें। वास्तविकता तो यह है कि आचार वस्तु ही कल्पित है और बुद्धिमान लोग इस पर तनिक भी विश्वास नहीं करते।"[1] साथ ही आचार का खंडन करते हुए, द्वैतवाद अद्वैतवाद, और स्मार्त आदि मतों में दोष-दर्शन कर, शिव-शक्ति में अभेद सिद्ध कर कामत्याग पर जोर देते हुए गोरखनाथ ने ईश्वर की भावना शून्यवाद में मानी है और इसी शून्यवाद का प्रचार किया है।[2] वस्तुतः शून्यवाद की यह भावना बौद्ध धर्म से ही ली गई है और नाथपंथियों द्वारा इसे ग्रहण किए जाने के उपरान्त तो आगे चलकर कबीर आदि ज्ञानमार्गी संतों द्वारा भी इसे अपनाया गया।[3] इस शून्यवाद का प्रचार करने के फलस्वरूप ही गोरख ने योगश्चर्या को

---

१. गोरक्ष सिद्धांत संग्रह (पृष्ठ ६०-६१)

२. श्री क्षितिमोहन संत ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दादू' में इस शून्यवाद के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"महायान शाधनाय शून्य तत्वटि क्रमशः नाना भावे शूखे ओ ऐश्वर्यभरिया उठिते लागिलण क्रमे माध्यमिक मतवादे बुद्ध, धर्म, ईश्वर शबाई शून्य होइया उठिलेन वज्रयान योगाचार प्रभृति मतवादी देर कृपाय शून्यई क्रमे होइया दौड़ाइल विश्वेर मूलतत्व। शून्य छाड़ा विश्वजगत देवदेवी प्रभृति किछइ किछू नय शबई माया।

एइ शून्यइ क्रमे अलख निरंजन होइया नाथ पंथ निरंजन पंथ प्रभृति देइ मध्ये स्थान पाइल। गोरखनाथ प्रभृति योगी देर मतवादेओ इहावेश स्थान जमाइया बशीलि। औघड़ प्रभृति बारपंथी देर मध्येओ शून्यवादेन गौरवमय स्थान। चौरासी शिद्धादेर उपदेशे शून्य एकटि खूब बड़ कथा।"

—दादू : श्री क्षितिमोहन सेन, पृ० १७९

अर्थात् महायान की साधना में शून्य का महत्व ही अनेक प्रकार से सुख और ऐश्वर्य-पूर्ण हो क्रमानुसार परिवर्तित हुआ। इसके बाद बौद्ध धर्म के मध्यकाल में तो शून्य से वह और भी अधिक सम्बद्ध हो गया। वज्रयान के योग और आचार मतावलम्बियों की कृपा से तो शून्यवाद ही आगे चलकर विश्व का मूल तत्व हो गया। शून्य के अतिरिक्त अन्य देवताओं का तो जगत में कुछ अस्तित्व ही न रहा। शून्य को छोड़कर सभी कुछ माया है।

क्रमानुसार यही शून्य अलख निरंजन होकर नाथ-पंथ, निरंजन-पंथ आदि मतों में स्थान पा गया। गोरखनाथ प्रभृति योगियों के मत से इसने विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया। औघड़ प्रभृति वारपंथियों में तो शून्यवाद को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। चौरासी सिद्धों के उपदेशों में भी एकमात्र शून्य की ही गुणगाथा का विस्तार है।

३. वस्तुतः शून्य उस व्यवस्था का नाम है जहाँ कि द्वैतभावना विनष्ट होकर सत् चित् आनंद की अनुभूति साधक को होने लगती है तथा शून्यावस्था को शरीर, मन एवं प्रज्ञा की पहुँच से भी ऊपर समझ उसे ही परम तत्व और परमसुख मानकर उसी की साधना को चरम लक्ष्य समझा जाता। गोरखनाथ ने तो इस 'शून्य' शब्द का अत्यधिक प्रयोग किया है—

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महिं बालक बोलै ताका नोबधर हुगे कैसा॥

अत्यधिक महत्व दिया और जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं कि यह योग-साधना ही नाथ पंथ का आवश्यक अंग समझी गयी । यह भी हम स्पष्ट कर चुके हैं कि योग-साधना का महत्व वेदों तक में प्रतिपादित हो चुका है और पातंजल मुनि के योग दर्शन में तो योग-साधना पर ही प्रकाश डाला गया है । चूँकि गोरखनाथ की हठयोग की साधना पर मुनि पातंजल के विचारों का प्रकाश पड़ा है अतः यहाँ योगदर्शन में उल्लिखित योगश्चर्या पर संक्षेप में विचार करना अप्रासंगिक न होगा । मूल पातंजलदर्शन में केवल १९५ सूत्र हैं तथा वह समाधिपाद, साधनापाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद नामक चार पादों अर्थात् चरणों में विभाजित है । चित्तवृत्तियों के निरोध को योग मानते हुए पातंजल मुनि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि नामक उसके आठ अंग माने हैं । स्मरण रहे चित्त की क्षिप्तावस्था विक्षिप्तावस्था, एकाग्रवस्था तथा निरोधावस्था नामक पाँच अवस्थाएँ और सत्व, रज, तमस नामक तीन गुण भी हैं । इन आठ अंगों की बहिरंग तथा अंतरंग नामक दो भूमिकाओं में धारणा, ध्यान और समाधि का सम्बन्ध अंतःकरण के साथ होने के कारण इन तीनों को एक साथ संयम कहकर इन्हें अंतरंग माना गया है तथा शेष पाँचों को बहिरंग । 'अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पाँच यम कहलाते हैं । 'शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानियमाः' के अनुसार पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान पाँच प्रकार के नियम हैं; आसन के यद्यपि कई विविध प्रकार हैं लेकिन आत्मसंयम के हेतु सिद्धासन, पद्मासन, और स्वस्तिकासन विशेष उपयोगी हैं तथा आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति का अवरुद्ध हो जाना ही प्राणायाम समझा जाता है । प्राणायाम के भी पूरक जिसमें श्वास द्वारा स्वाभाविक गति में अवरोध होता है, कुम्भक जिसमें श्वास और प्रश्वास दोनों ही नहीं रहते तथा रेचक जिसमें प्रश्वास के द्वारा

“गोरखबोध’ में तो मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ के वार्तालाप में शून्य शब्द का प्रयोग बहुत ही अधिक हुआ—

गोरख— कुण बोलै कुण सोवै,
कुण रूप में माया जोवै
कुण रूप में जुगजुग रहे ।
सदगुरु होइ सो पूछै कहै ।

मछंदर— शबद वोलै सुरति सोवैं ।

गोरख— कुणि सूनि उत्पन्ना,
सुमि सूनि गुरि बुझाई ?
कुण सुनमें रहा समाई ?

मछंदर— सहजेन सुनि उत्पन्ना,
संगि सुनि सतगुरु बुझाई,
अजित सुनि में रहा समाई ।

स्मरण रहे कि नाथ सम्प्रदाय में शून्य का संकेत जहाँ ईश्वर की ओर था वहाँ संतों ने शून्य शबद का प्रयोग निर्गुण सर्वात्मा तथा 'सहस्त्रदल कमल' दोनों के लिये किया ।

स्वाभाविक गति में अवरोध उत्पन्न किया जाता है नामक तीन प्रकार माने गये हैं परन्तु साथ ही "बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः" के अनुसार बाह्य और अंतरंग के विषयों के त्याग द्वारा होनेवाला केवल कुम्भक नामक प्राणायाम माना जाता है। 'योगदर्शन' में प्राणायाम को विशेष महत्व दिया गया है तथा "ततःक्षीयते प्रकाशावरणम्" नामक उक्ति द्वारा प्राणायाम के सिद्ध होने पर विवेकज्ञान को आवृत्त करनेवाले पाप एवं ज्ञान का क्षय होना स्वीकार किया गया है तथा इसी प्रकार "धारणासु स योग्यता मनसः" के अनुसार प्राणायाम की सिद्धि से मन का स्थिर होकर धारणाओं के योग्य समर्थ होना समझा गया है। "स्वविषयासप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" नामक योगदर्शन की पंक्ति द्वारा अपने-अपने विषयों के संग से रहित होने पर इंद्रियों का चित्त के से रूप में अवस्थित हो जाना प्रत्याहार माना गया है और "ततः परमावश्यातेन्द्रियाणामः" द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि प्रत्याहार द्वारा इंद्रियों पर पूर्ण अधिकार स्थापित हो जाता है। योगदर्शन के अनुसार "देशबन्धश्चितस्य धारणा" चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके ध्येय के आधार स्थान पर लगाना ही धारणा समझा गया है तथा चूँकि वृत्तियाँ भी दस स्थानों पर लगायी जा सकती हैं अतः 'गरुड़ पुराण' में तो दशविधि धारणा भी मानी गई है—

प्राङ्नाम्या उदये चाथ तृतीये च चथोरसि।
काष्ठे मुखे नासिकाग्रे नेत्र भूमध्यपूर्धसु॥
किंचिस्यातत्परस्मिंश्च धारणा दश कीर्तितः॥

"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" के अनुसार योगदर्शन में ध्येय वस्तु में चित्त प्रवृत्ति की एकतानता का नाम ही ध्यान माना गया है और जिस समय एकमात्र ध्येय स्वरूप का ही भास होता है तथा अपने निजी स्वरूप के भास का अभाव सा प्रतीत होता है उसी समय यह ध्यानावस्था ही समाधि कहलाती है—"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।" समाधि में ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों की एकता सी हो जाती है तथा जब वह स्थूल पदार्थ में होती है तब उसे 'निर्वितर्क' समाधि और जब वह सूक्ष्म पदार्थ में होती है तो उसे 'निर्विचार' समाधि कहते हैं। इस प्रकार योगदर्शन में पातंजल ने अष्टांग योग पर सुन्दर प्रकाश डाला भी है और इन आठ अंगों में से पूर्व के चार अंग हठयोग कहलाते हैं तथा बाद के चार अंग राजयोग और इस प्रकार हठयोग तथा राजयोग में श्रेणी भेद के अतिरिक्त अन्य कोई भेद स्वीकार न करते हुए दोनों को एक दूसरे का अंगाश्रित समझा गया है।

स्मरण रहे गोरखनाथ ने जिस हठयोग की साधना का उपदेश दिया है वह प्राचीन परम्परा से कुछ विशेष भिन्न नहीं है और शास्त्रग्रंथों में तो हठयोग साधारणतः प्राणनिरोध प्रधान साधना को ही कहा गया है तथा सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में 'ह' का अर्थ सूर्य माना गया है और 'ठ' का अर्थ चंद्र तथा सूर्य और चन्द्र के संयोग को ही हठयोग माना गया है—

हकारः कथितः सूर्यष्ठ कारश्चन्द्रं उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगोनिगद्यते॥

लेकिन ब्रह्मानन्द ने सूर्य का अर्थ प्राणवायु और चन्द्र का अर्थ अपानयोग मानकर इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम द्वारा वायु-निरोध को ही हठयोग माना है जब कि कुछ

विद्वान सूर्य इड़ा नाड़ी को तथा चंद्र पिंगला को मानकर इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु का संचरित होना ही हठयोग मानते हैं और उसे 'हठसिद्धि' का प्रदाता भी कहते हैं परन्तु हठयोग का साधारणतः यही अर्थ माना जाता है कि वह एक इस प्रकार का अभ्यास है जिससे कि हठात् सिद्धि प्राप्त होने की आशा की जा सकती है। हठयोग के भी दो भेद माने गए हैं जिनमें से प्रथम में आसन, प्राणायाम, धौति तथा षटकर्म का विधान है जिनसे कि नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं तथा दूसरे में नासिका के अग्रभाग में दृष्टि निषिद्ध कर अंतरिक्ष में कोटि रवि के आलोक को स्मरण कर श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण रंगों का ध्यान करना आवश्यक समझा गया है जिनमें कि साधक चिरायु हो हठात् ज्योतिर्मय होकर शिवरूप हो जाता है। यों तो हठयोग की दो विधियाँ भी मानी गई हैं जिनमें से प्रथम में पातंजल योगदर्शन में उल्लिखिल आठों अंगों को स्वीकार करने के लिए कहा गया है और यह भी कहा जाता है कि गोरखनाथ के पूर्व यही विधि प्रचलित भी थी तथा दूसरी विधि में 'योगदर्शन' के केवल अंतिम छः अंग ही स्वीकार किए गए हैं और गोरखनाथ द्वारा उपादिष्ट साधना भी यही मानी जाती है परन्तु विचारपूर्वक देखने पर यह भेदभाव ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता क्योंकि स्वयं गोरखनाथ के ग्रंथों में अष्टांगयोग तथा षड्ंगयोग दोनों का महत्व है। हठयोग की साधना-पद्धति में सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त महाकुंडलिनी नामक शक्ति को प्रधानता देते हुए कहा गया है कि व्यक्ति में व्यक्त होने पर यही शक्ति कुंडलिनी कहलाती है तथा गर्भ में जीव इसी कुंडलिनी और प्राण शक्ति सहित प्रविष्ट होता है।[1] प्रायः समस्त जीव जागृत, सुषुप्ति एवम् स्वप्नावस्था में रहते हैं अर्थात्

---

[1] कुंडलिनी का महत्व तथा वर्णन भी हमें अनादिकाल से अभी तक उपलब्ध होता है। कुछ अवतरण देखिए—

कुण्डलिनी शक्तेश्वस्थात्रयं विद्यते। यद्यस्मिन् चक्रे कुमारी कुमारावस्थामापत्र प्रथमं सुप्तोत्थिता मन्द्रय मन्द्रंते स्वरं करोति।

पुरं हिरण्यमयी ब्रह्मा विवेशो पराजिता।

(यजुर्वेद)

अपाराजिता कुण्डलिनी शक्तिः षटचक्राणि भित्वा भूयो भूयः प्रविशति।
कुण्डले अस्या स्तः इति कुण्डलिनी।
मूलाधारस्थ बह्नयात्मतेजोमध्ये व्यवस्थिता॥
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराथ तैजसी।
महाकुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी।
शब्द ब्रह्ममयी देवी एकानेकाक्षराकृतिः॥
शक्तिः कुण्डलिनीनाम्न विस्तंत्रुनिमा शुभा॥

(योगकुण्डल्युपनिषद्)

पराशक्तिः कुण्डलिनी विसतन्तु तनीयसी।

(ललितासहस्रनाम)

शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननीव्यापार बद्धोद्यता।

(लघुस्तुति)

यों तो वे जागते रहते हैं या सोते रहते हैं या स्वप्न देखते रहते हैं परन्तु इन तीनों ही स्थितियों में कुंडलिनी निश्चेष्ट ही रहती है और उसके द्वारा शरीर धारण का कार्य होता रहता है। कुंडलिनी की स्थिति समझने के लिए शरीर की बनावट की कल्पना भी यहाँ करनी होगी। कुंडलिनी पीठ में स्थित मेरुदण्ड में है जहाँ कि त्रिकोण चक्र में अवस्थित एक स्वयंभूलिंग है जिसे कि अग्निचक्र भी कहते हैं। वह उस स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन वलयों या वृत्तों में परिवेष्ठित कर सर्पिणी की भाँति अवस्थित रहती है। उसके ऊपर चार दलों का एक कमल है जिसे कि मूलाधार चक्र कहते हैं और इस मूलाधार चक्र के ऊपर नाभि के पास छह दलों के कमल के आकार का स्वाधिष्ठान चक्र है तथा उसके ऊपर दस दलों के कमल के आकार का मणिपुर चक्र और उसके भी ऊपर मानस के पास बारह दलों के कमल के आकार का अनाहत-चक्र है। इनके भी ऊपर कंठ के पास सोलह दल के कमल के आकार का विशुद्धाख्य चक्र है तथा उससे भी ऊपर भ्रूमध्य में केवल दो ही दलों वाला आज्ञा चक्र है। इस प्रकार ये ही षट्चक्र हैं तथा इन चक्रों का भेदन करने के पश्चात् मस्तिष्क में शून्य चक्र दृष्टिगोचर होता है

यदोल्लसति श्रृंगारपीठात् कुटिलरूपिणी।
शिवार्कमंडलं भित्वा द्रवन्तीन्दूमण्डलम्॥

(वामकेश्वर तन्त्र)

अष्टधा कुंडली भूताभृज्वीं कुर्यातु कुण्डलीम्।

(योगशिखोपनिषद्)

कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढ़ानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता।
सा शक्ति श्चलिता येन स युक्तो नात्र संशय॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अधोमुख सर्पिणी निदेली असे...
विद्युल्लतेची विडी। बलि ज्वालां ची घड़ी।
पंधरेकाची घोटीव जैशी॥

(श्री ज्ञानेश्वरी, अ. ६, १२२-२३-२४)

मग कुंडलिनी येघा टेंभा। आधारी केला उभा।
तिया चोजविलया प्रभा। निमथावेरी॥

(श्री ज्ञानेश्वरी अ. १२, ५१-५२)

मगशक्ति जे कां कुंडलिनी। आदिमाया विश्वसंजीवनी॥
शरीर माजीं असे विजोनी। परी शरीर चालवी स्वसना॥
मग जेवि काते नागाचें पिलें। कुंकुम केशरी सर्वांगी। न्हाणलें॥
नातरीते विद्युल्लते ची विडी। कींते अग्नि ज्वाळांची केवल घड़ी।
नातरी बावन कसाची चोखडी। पुतळी ओतिली॥

(स्वानुभाव दिनकर, कलाप ९)

जहाँ कि जीवात्मा को पहुँचा देना ही योगी का चरम लक्ष्य है। शून्य चक्र ही वस्तुतः गगन-मंडल माना गया है और उसे कैलाश भी कहते हैं जहाँ कि शिव का निवास है तथा इस स्थान पर सहस्त्र दलों वाले कमल की कल्पना की गई है जिसे कि सहस्रार चक्र भी कहते हैं।[1] वस्तुतः मेरुदण्ड में प्राणवायु को वहन करनेवाली कई नाड़ियाँ हैं जिनमें से श्वाच्छोश्वास के समय कुछ आभासित भी होती हैं और बाईं ओर की नाड़ी इड़ा तथा दाहिनी ओर की पिंगला कहलाती है। साथ ही दोनों के मध्य सुषुम्ना नामक नाड़ी है जिससे होकर ही कुंडलिनी शक्ति ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। यों तो सुषुम्ना में भी कई नाड़ियाँ हैं और उसके भी अंदर जो ब्रह्मनाड़ी है वही कुंडलिनी शक्ति का वास्तविक मार्ग है। परन्तु प्रायः इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की ही चर्चा की जाती है तथा बहत्तर हजार नाड़ियों के होते हुए भी सुषुम्ना को ही शांभवी शक्ति माना गया है और अन्य नाड़ियों को निरर्थक ही समझा गया है। इस प्रकार हठयोग में प्राणवायु का निरोध कर कुंडलिनी को उद्‌बुद्ध करने के लिए कहा गया है और यह उद्‌बुद्ध कुंडलिनी क्रमशः षट्‌चक्रों को भेदती हुई सातवें अन्तिम चक्र सहस्रार में शिव से जा मिलती है। वस्तुतः इस प्रकार के योग को कुंडलिनी शक्तियोग भी कह सकते हैं क्योंकि कुंडलिनी की सहायता द्वारा ही यह योग-साधना की जाती है। स्मरण रहे श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में योग के कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग नामक तीन भेद माने गए हैं। यद्यपि उसका छठा अध्याय एक प्रकार के हठयोग का समर्थक भी है और सम्मोहनतंत्र में ज्ञानयोग, राजयोग, लययोग, मंत्रयोग और हठयोग नामक पांच विभाग किए गए हैं जबकि योगशिखोपनिषद में मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग नामक चार प्रकार माने गए हैं। लेकिन विचारपूर्वक देखा जाय तो साधन की दृष्टि से इन चारों में अत्यधिक साम्यता है और जैसा कि कुछ लोग हठयोग तथा राजयोग को अलग-अलग समझते हैं वह अनुपयुक्त ही है क्योंकि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, गोरक्षसंहिता तथा हठयोग-प्रदीपिका में हठयोग को राजयोग की नींव कहा गया है। हठयोग की साधना में प्राणायाम और मुद्राभ्यास पर विशेष बल दिया गया है बल्कि इसे यों भी कहा जा सकता है कि उन्हें ही सहायक माना गया है।

वस्तुतः गोरखनाथ का तात्विक सिद्धान्त यह है कि परमात्मा 'केवल' है और वह भाव तथा अभाव दोनों के ही परे है तथा न तो उसे भाव (वस्ती) ही कह सकते हैं और न अभाव (शून्य) अपितु उसका नामकरण तक नहीं किया जा सकता—

बस्ती न शून्यां न वस्ती अगम अगोचर ऐसा।
गगनसिखर महि बालक बोलहि वाका नाँव धरहुगे कैसा॥

साथ ही इसी केवलावस्था तक पहुँचना जीव का मोक्ष माना गया है और साधक के लिए सिद्धान्तों पर उतना ध्यान न देकर सिद्धान्त की अनुभूत सिद्धि तक पहुँचने वाले मार्ग पर ध्यान देना आवश्यक समझा गया है और इस प्रकार गोरखनाथ जी कहते हैं कि 'शरीर के

---

[1] अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रार सरोरुहम्।
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्यं बाह्ये तिष्ठति सर्वदा।
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति॥
—शिवसंहिता ५; १५१-२

नवों द्वारों को बन्द करके वायु के आवागमन का मार्ग यदि अवरुद्ध कर लिया जाय तो उसका व्यापार चौंसठ सिद्धियों में होने लगेगा जिससे निश्चय ही काया-कल्प होगा और साधक एक ऐसे सिद्ध के रूप में परिणत हो जाएगा जिसकी छाया भी नहीं पड़ती अर्थात् जो अदृश्य ही रहता है—

अवधू नवघाटी रोकिलै बाट, बाई बणिजै चौसठि हाट।
काया पलटै अविचल विध, छाया विवरजित निषजै सिध ।।

गोरखनाथ ने सांसारिक विषयवासना को ही नाश का कारण माना है और उनसे बचना अत्यन्त आवश्यक समझा है अन्यथा साधना नष्ट हो जाने का उन्हें भय है; इसलिए वे अपने योगभ्रष्ट गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को लक्ष्य कर कहते हैं—

गुरुजी ऐसा काम न कीजै। ताथैं अमी महारस छीजै ।।
नदी तीरे बिरिखा, नारी संगे पुरखा,
अलप जीवन की आसा।
मन थैं उपजी मेर खिसि पड़ई,
ताथैं कैंद बिनासा।
गोड़ भये डगमग, पेट भया ढीला,
सिर बगुला की पंखियाँ।
अमी महारस बाघणि सोख्या ।।

साथ ही जैसा कि गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह में लिखा है—"अस्माकम्यते शक्तिः सृष्टि करोति, शिवः पालनं करोति, कालः संहरति, नाथो मुक्ति ददाति" नाथ संप्रदाय में प्रधानतः 'नाथ' का अर्थ मुक्तिदान करनेवाला माना गया है और मुक्तिदान भी वही कर सकता है जो कि स्वयं मुक्त हो। अतएव सांसारिक बंधनों अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से मुक्त होने पर ही वैराग्य-भावना सुदृढ़ हो सकती है और वैराग्य-भावना जब दृढ़ता के साथ स्थिर हो जाती है तब वह इन्द्रिय-निग्रह, प्राण-साधना और मन-साधना नामक तीन मार्ग ग्रहण करती है और क्रमशः इन तीनों के आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने पर साधक में नाड़ी साधन और कुंडलिनी जागरण की शक्ति उत्पन्न होती है अर्थात् हठयोग की साधना हो पाती है। इस प्रकार गोरखनाथ ने नाथ सम्प्रदाय में हठयोग की साधना को ही प्रधानता दी है और वे कहते हैं—"इस साधना की सहायता से ब्रह्मरंध्र तक पहुँच जाने पर अनाहत नाद सुन पड़ता है जो समस्त सारतत्त्वों का भी सार है और गंभीर से गंभीर है जिससे ब्रह्मानुभूति की स्थिति उपलब्ध होती है जो कि स्वसंवेद्य होने के कारण शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती और तब ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उस ब्रह्म-साक्षात्कार के अतिरिक्त समस्त विश्व असत्य सा है—

सारमसारं गहर गंभीरं गगन उछलिया नादं।
मानिक पायां फेरि लुकाया झूठा वादविवादं ।।

इस प्रकार गोरखनाथजी हठयोग का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहते है कि यदि मेरे वचनों में पूर्ण विश्वास हो जाए और उसके अनुसार किया जाय तो स्पष्ट हो जाएगा कि बिना किसी खंभे के आधार पर स्थित क्षितिज में तेल व बत्ती के बिना ही ज्ञान का शुभ्रालोक हो गया और सभी उस प्रकाश में विचरण कर रहे हैं—

थंभ विहूणी गगन रचीलै तेल विहूणी बाती ।
गुरु गोरख के वचन पति आया तब द्यौस नहीं तहाँ राती ॥

अतएव गोरखनाथ ने प्राणायाम को पूर्ण महत्व प्रदान किया है और उनकी दृष्टि में श्वासोच्छ्वास की इस क्रिया द्वारा ही योगसाधना में पूर्ण सफलता प्राप्त होती है तथा वे पंडितों के व्यर्थ के वेदाध्ययन करने की अपेक्षा सर्वसाधारण को इस योगसाधना का ही परामर्श देते हैं जिसके द्वारा परमात्मा आत्मा में उसी प्रकार दृष्टिगोचर होने लगता है जिस प्रकार जल में चंद्रमा का प्रतिबिम्ब और इस प्रकार शरीर भी शुद्ध होकर अमरत्व को प्राप्त करता है। साथ ही गोरखनाथ ने मनोमारण और संतजीवनयापन को भी अत्यावश्यक माना है। मनोमारण की क्रिया को समझाने के हेतु उन्होंने मृगया का रूपक अंकित किया है और वे कहते हैं—"इस साढ़े तीन हाथ के पर्वत या शरीर में मायारूपी बेल पूर्ण प्रकार से फूली फली है जिसमें मुक्तिरूपी मुक्ताफल होते हैं और जिनके विस्तार में ही समस्त सृष्टि का भी अस्तित्व है। साथ ही इस बेल की मूल नहीं है अर्थात् माया निर्मूल वा मिथ्या है और वह ऊपर तक फैलकर गोस्थान और ब्रह्मानुभूति के स्थान पर आवरण डाले हुए है। इस बेल का लोलुपमृग अर्थात् मन इसमें सर्वदा विचरण किया करता है और उसके वध करने के हेतु हाथ, पैर और दाँतविहीन भील (अर्थात् आत्मा) जिनके पास मृगों को मोहित करने के लिए सुरीली वीणा भी नहीं है और न हाथ में धनुष-बाण ही हैं लेकिन इस प्रकार की दशा होते हुए भी शिकारी अचूक निशान चला देता है और बाह्य साधनों के बिना भी वह उसे प्राप्त कर लेता है तथा जब वह उक्त मृग को देखता है तो उसे प्रतीत होता है कि वस्तुतः उसके चरण, सींग अथवा पूँछ आदि कुछ भी नहीं हैं। गोरखनाथ जी का विचार है कि यही मृतमृग वह अवधूत या योगी है जिनके रहस्य को हृदयंगम कर लेनेवाला पूर्ण ज्ञानी हो जाता है।" साथ ही गोरखनाथ ने अजपाजाप को आत्मचिन्तन के लिये विशेष आवश्यक समझा है और अजपा जाप वह जाप है जो कि बिना जपे ही होता है अर्थात् जिसमें जिह्वा की आवश्यकता नहीं पड़ती तथा शरीर के रोम-रोम में वह 'जाप' स्वाभाविक रूप से साँस के आवागमन के सदृश्य होता रहता है। नाथ योगियों का यह विश्वास सा है कि रात-दिन में मनुष्य के इक्कीस हजार छः सौ श्वास चलते हैं और इनमें से प्रत्येक श्वास में अद्वैत भावना रखना ही अजपा जाप कहलाता है अर्थात् अजपा जाप का अभिप्राय यह है कि बिना ब्रह्मभावना के एक भी श्वास व्यर्थ न जाय। साधना की अन्य क्रियाओं में लीन रहते हुए भी इस अजपाजाप में साधक को कभी अंतर और व्याघात् नहीं प्रतीत होता तथा थोड़े से अभ्यासमात्र से ही बिना किसी विशेष प्रयत्न के गुप्तरूप से यह भावना—अजपाजाप—निरंतर अपने आप हुआ करती है और ब्रह्मभावना तक उसकी चेतना का स्वरूप हो जाती है—

ऐसा जाप जपो मन लाई । सोऽहं अजपा गाई ।
आसन दिढ़ करि धरोधियाना । अहनिसि सुमिरौ ब्रह्म गियाना ॥
नासा अग्रनिजज्यों वाई । इड़ा प्यंगुला मधि समाई ॥
श्वासै सहस इक्कीसौ जाप । अनहद उपजै आपै आप ॥
वंकनाभि मैं ऊगै सूर । रोम रोम धुनि वाजै तूर ॥
उलटै कमल सहस्रदलवास । भ्रमर गुफा में ज्योति प्रकास ॥

इस प्रकार आत्मनिरत हो जाने पर ही साधक की घट अवस्था सिद्ध हो जाती है—

घटहीं रहिबा मन न जाई दूर । अहनिस पीवे जोगी वारुणि सूर ।।
स्वाद विस्वाद बाई काल छीन । तब जापिबा जोगी घट काल छीन ।।

इस प्रकार मनोमारण की ओर पूर्ण ध्यान देते हुए गोरखनाथ ने अजपाजाप तथा ब्रह्मज्ञान दोनों को महत्व दिया है तथा वे कहते हैं कि "इस प्रकार मन लगाकर जाप करना चाहिए कि 'सोहं सोहं' का उपयोग वाणी के बिना भी हो सके और दृढ़ आसन पर बैठकर ध्यान करना तथा रात-दिन ब्रह्मज्ञान का चिन्तन आवश्यक है।" वस्तुतः ब्रह्मज्ञान ही आत्म-विचार है जिसका कि उक्त साधना के साथ निरंतर चलना आवश्यक है तथा आत्मा को सर्वत्र व्यापक समझते हुए गोरखनाथ आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु आकर्षक नहीं समझते और स्पष्ट रूप से कहते हैं—"आत्मा ही मछली है, वही जाल है, वही धीवर है, वही काल भी। वह स्वयं मारता और स्वयं खाता है तथा माया रूप में अनेक बंधन डालता है और जीवन बनकर उसमें पड़ भी जाता है जिसके बाहर न कोई तीर्थ है जहाँ स्नान किया जा सके और न कोई देवता है जिसका पूजन हो सके। वह अलक्ष एवम् अभेद होते हुए भी जो कुछ है वह वही है।" संक्षेप में हम गोरखनाथ के उपदेशों का सार यह कह सकते हैं कि "दशम् द्वार अर्थात् ब्रह्म रंध्र में सर्वदा ध्यान केन्द्रित रखो, निराकार पद का सेवन करो, अजपाजाप जपो और आत्मतत्व पर विचार करो जिससे कि समस्त व्याधाएँ दूर हो जाएँगी तथा पुण्य एवम् पाप से किसी भी प्रकार का संसर्ग न रह जाएगा।" यह भी कहा जाता है कि नाथ पंथ पर प्राचीन रसायन सम्प्रदाय का प्रभाव भी पड़ा है और पातंजल मुनि ने भी 'योगदर्शन' के कैवल्यपाद वाले प्रकरण में सिद्धि उपलब्धि के हेतु मंत्र, समाधि आदि के अतिरिक्त औषधि की भी सहायता आवश्यक मानी है और इस प्रकार उक्त सम्प्रदाय का ध्येय कायाकल्प के सहारे अमरत्व प्रदान कर मानव शरीर को जीवनमुक्ति के योग्य बनाना रहा है तथा रसपारद को तो विश्ववारिधि के दूसरी ओर पहुँचाने वाला समझा जाता था अर्थात् उसकी सहायता से जीवन मुक्त सिद्ध अमरत्व प्राप्त कर विश्व में सर्वत्र विचरण कर सकते थे परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो इस रसायन संप्रदाय का कोई विशिष्ट प्रभाव नाथ पंथ पर नहीं पड़ा है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि गोरखनाथ की योग-साधना में शिव और शक्ति को आदि तत्व माना गया है और नाथ सम्प्रदाय के पर्वतक तो 'शिव' माने ही जाते हैं। स्मरण रहे गोरखनाथ का उद्देश्य ब्रह्मपदोपलब्धि ही रहा है और साथ ही उन्होंने बहुत से आध्यात्मिक संकेत, रहस्यात्मक शैली या उलटबाँसियों तथा विचित्र रूपकों में भी दिए हैं जो कि सर्वसामान्य जनता के हेतु बोधिगम्य नहीं है और जब तक उस रहस्यात्मक शैली का परिचय न प्राप्त हो तब तक उलटबाँसियों और उन विचित्र रूपकों का अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता और इन उलटबाँसियों तथा विचित्र रूपकों के बहुत से उदाहरण संत-काव्य में भी दृष्टिगोचर होते हैं। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में कहा गया है कि हठयोग की साधना पर आस्था रखने वालों के अतिरिक्त समस्त जगत भ्रमोन्मीलित हो उलटे रास्ते पर ही चल रहा है और इस प्रकार "एक योग के अतिरिक्त अन्य सभी मतों की बात उलटी है। नाथ का अंश नाद, नाद का अंश प्राण, प्राण और शक्ति का अंश बिन्दु तथा बिन्दु का अंश शरीर है। वस्तुतः नाद और प्राण बिन्दु और शरीर से अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं अर्थात् शिष्यक्रम पुत्रक्रम की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। लेकिन संसार के सभी व्यक्ति ठीक

इसके विपरीत चलते हैं और उनकी दृष्टि में शिष्यक्रम की अपेक्षा पुत्रक्रम ही अधिक मान्य है। सृष्टि का क्रम धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ब्रह्मचर्य, ग्राहंस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास, शान्त, हास्य, करुण रौद्र, वीभत्स, भयानक, अद्‌भुत, शृंगार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, ब्रह्मा, विष्णु, शिव इत्यादि सब बिलकुल उलटा ही है क्योंकि जो श्रेष्ठ है उसे सर्वप्रथम स्थान देना चाहिये और क्रमशः अपेक्षाकृत कम श्रेष्ठ को अतएव यह क्रम ठीक इसके विपरीत ही होगा। अर्थात् मोक्ष, अर्थ, काम, सन्यास, वानप्रस्थ, ग्राहंस्थ, ब्रह्मचर्य, शान्त, करुण, अद्‌भुत, वीर, रौद्र, हास्य, भयानक, वीभत्स, शृंगार आदि। यही 'योग सम्प्रदाय' और 'तंत्र सम्प्रदाय' की रीति है।" इस प्रकार की मनोवृत्ति का एक परिणाम यह हुआ कि तांत्रिकों ओर योगियों ने संसार से उलटी बातें कहना ही प्रारम्भ कर दीं लेकिन इससे उनकी प्रतिष्ठा को तनिक भी आँच नहीं आई और वे इस प्रकार की उलटबाँसियों का प्रचार करने लगे—"लोग कहते हैं गोमांस भक्षण महापाप है। वारुणी पीना निषिद्ध है। परन्तु वास्तव में यही तो कुलीन का लक्षण है क्योंकि गो जिह्वा का नाम है और तालु में उलटा कर ब्रह्म रंध्र की ओर ले जाना ही गोमांस भक्षण है। तालु के नीचे जो चन्द्र है उससे जो सोमरस नामक अमृत निःसृत होता है वही तो अमरवाणी है और इसका पान करना तो निश्चय ही बड़े पुण्य का फल है।" यह हम स्पष्ट कर चुके हैं कि सहजयानी सिद्धों ने भी संध्या भाषा में इस प्रकार के उद्‌गार प्रकट किये थे और आगे चल कर संत-काव्य में भी इसी प्रकार के उद्‌गार प्रकट किये गए हैं लेकिन सिद्धों की अपेक्षा गोरखनाथ की धर्म-साधना भारतीय मनोवृत्ति के अधिक अनुकूल पाई जातो है और उसमें धर्म को विकृत करने वाली समस्त परम्परागत रूढ़ियों पर कठोराघात करते हुए जीवन को अधिक से अधिक संयमित और सदाचार के अनुशासन में रख आध्यात्मिक अनुभूतियों के हेतु सहज मार्ग की व्यवस्था की गई है जिसका परिणाम यह हुआ कि नाथ-सम्प्रदाय के कई अनुयायी महान्, विद्वान, चरित्रज्ञान तथा लोकसंग्रही साधक के रूप में मानव-समाज के सामने अपना आदर्श रखने में समर्थ हो सके है और उनके द्वारा स्वस्थ शरीर, शुद्ध अंतःकरण तथा सात्विक जीवन का निर्माण करने की प्रेरणा मानव-समाज को प्राप्त हुई है।

(नवम्बर, १९५५)

अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक : शंकर और रामानुज

जब कि उत्तरी भारत में वैदिक कालीन भक्ति-भावना वज्रयान, मंत्रयान और सहजयानी सिद्धों तथा नाथपंथी योगियों के कारण विकृत होकर तंत्र-मंत्र और योग-साधना तक ही सीमित रहकर सर्वसामान्य के लिए दुर्बोध होती गई तथा सामाजिक अव्यवस्था एवं विषम परिस्थितियों के फलस्वरूप इस समस्यामूलक स्थिति को सँभालकर किसी सर्वजनानुमोदित श्रेयस्कर मार्ग का निकालना अत्यन्त दुष्कर कार्य सा होता गया तव दक्षिण भारत के आळवार और अडियार भक्त कवियों ने स्वाभाविक एवं स्वच्छन्द भक्तिभाव-धारा को प्रवाहित करते हुए हृदयमुक्ति की उस चरमसीमा पर पहुँचकर जहाँ कि आराध्य और आराधक एकाकार हो जाते हैं, विश्वास संशय पर विजय प्राप्त कर लेता है, भावना प्रज्ञा के समस्त व्यापारों को कुंठित कर पूर्णरूपेण समस्त वृत्तियों को आत्मसात् कर लेती है, प्रेमाभक्ति के ऐसे सुमधुर गीत गाए जिनमें कि तर्कशास्त्र, ज्ञान, अविश्वास, संशय आदि विलीन से हो गए और फिर इस प्रबलधारा के सामने न टिक सके तथा भक्ति-भावना से समस्त प्रदेश रससिक्त सा होने लगा। सर्वसामान्य जनता चाहे इन निर्मल भावमुक्ताओं को अपने कंठ का आभरण बनाकर कृतकृत्य हो उठी हो परन्तु अभी ऐसे आचार्य और विभिन्न धर्मसंस्थापक भी थे जो अपने सिद्धान्तों को ही श्रेयस्कर समझते थे। अतः भक्ति के इन कोमल भावों में तर्क का पुट लगाकर, शास्त्रीय नियमों के साँचे में ढालते हुए सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा द्वारा श्रुति-स्मृतियों से उनको सूत्रबद्धकर दक्षिण भारत के विद्वान आचार्यों ने वैष्णव धर्म की प्रतिस्थापना में अपना महत्वपूर्ण योग दिया। स्मरण रहे दक्षिण भारत के ये वैष्णव सम्प्रदाय प्रारम्भिक आळवार एवम् अडियार सन्तों की अपेक्षा परवर्ती ही हैं तथा मूलतः इनके सिद्धान्तों में भी उनके पदों की भाव-स्रोतस्विनी ही निर्झरित सी हो रही है और जिस प्रकार उन भक्तों ने अपने पदों द्वारा भावरूप में दक्षिण में तमिलनाड से लेकर महाराष्ट्र एवं मध्यभारत को अपनी ध्वनि से गुंजित कर वैष्णव भक्ति को उत्तर भारत की ओर प्रवृत्त किया उसी प्रकार इन आचार्यों ने भी उन विचारों को व्यवस्थित रूप में ढालकर वैष्णव धर्म का प्रचार कार्य प्रारम्भ किया। इस प्रकार विक्रम की प्रथम शताब्दी में और उसके पश्चात् भी दक्षिण से वैष्णव धर्म का प्रवाह उत्तराभिमुख होता गया तथा वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने प्रबल प्रचार द्वारा उत्तरी भारत में भी वैष्णव धर्म की ऐसी तीव्र बाढ़ सी ला दी कि जिसके प्रवाह में उत्तर भारत के शैव, शाक्त, तांत्रिक, वाममार्गी मत स्थिर न रह सके और वैष्णव भक्ति का वह अंकुर जो किसी समय उत्तर से दक्षिण गया था पुनः दक्षिण में विकसित होकर उत्तरी भारत में पहुँचकर पल्लवित होने लगा जिसके फलस्वरूप हमारे हिन्दी साहित्य में श्रेष्ठतम कवियों का प्रादुर्भाव भी हो सका। इस प्रकार दक्षिण भारत के विभिन्न भक्ति-संबंधी सम्प्रदायों और उनके प्रवर्तक आचार्यों का अपना विशिष्ट महत्व है।

शङ्कराचार्य

स्मरण रहे उन आचार्यों में सर्वप्रथम शंकराचार्य ही हुए हैं जिन्हें कि भक्ति-संबंधी दार्शनिक सम्प्रदाय का प्रथम ज्वाज्वल्यमान रत्न कहा जाता है और जो कि भारतीय-दर्शन-व्योममंडल के सर्वाधिक प्रभापूर्ण नक्षत्र हैं तथा जिनकी गणना न केवल भारतीय श्रेष्ठतम विचारकों में—याज्ञवल्क्य, आरुणि, गौतम, कणादि और कपिल—जो कि दार्शनिक होने के साथ-साथ ऋषि भी थे, अपितु विश्व-साहित्य के प्रसिद्ध विचारकों में की जा सकती है। विश्व में अभी तक ऐसा कोई भी दार्शनिक नहीं हुआ जिसके सिद्धान्तों की टीका और व्याख्या करने के लिए इतनी बड़ी संख्या में मेधावी विद्वान आकर्षित हुए हों और न अभी तक किसी विचारक के इतने अनुयायी ही हुए जितने कि शंकराचार्य के। शंकराचार्य ने अकेले ही कन्या-कुमारी से लेकर हिमालय तक वेदान्त की दुन्दुभी को बजाते हुए बौद्धों के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया और जैसा कि श्री महादेव राजाराम बोडस ने लिखा है—"गौतम बुद्ध के समय से तर्कशक्ति और बौद्धिक विचारकों का प्राबल्य खूब बढ़ गया था। परन्तु लोगों को यह भली-भाँति विदित हो गया था कि तर्कशक्ति से ब्रह्मज्ञान असंभव है। इस कारण मीमांसकों की प्रवृत्ति शब्द प्रामाण्य की ओर बढ़ी। उन्हीं के नियमों के अनुसार शंकराचार्य ने वेदान्त-शास्त्र का निर्माण किया। तर्कशक्ति के अप्रतिष्ठित और अनिश्चित रहने के कारण ब्रह्मज्ञान का वास्तविक आधार शास्त्र उपनिषद् है और उन उपनिषदों के वाक्यों का समन्वय करना ही ब्रह्मज्ञान का मार्ग है। सनातन धर्म के इस सिद्धान्त की स्थापना करके आचार्य ने तर्कबुद्धि द्वारा चंचल बुद्धि को शान्त किया।........अशान्त चित्तों को 'तत्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा अन्तर्मुख करके 'अहं ब्रह्मास्मि' का साक्षात्कार कराया। तर्कवितर्कों की तरंगों में धक्के खाने वाले मन को ब्रह्मज्ञान द्वारा स्थिरता प्रदान की।"

इस प्रकार प्राचीन वैदिक-औपनिषदिक धर्म की पुनर्स्थापना का पूर्ण श्रेय शंकराचार्य को ही दिया जाता है, लेकिन बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि उनके जीवन एवं सिद्धान्तों से संबंधित पर्याप्त सामग्री के प्रकाश में आ जाने के पश्चात् भी अभी तक उनके काल के विषय में कोई सर्वमान्य निर्णय नहीं हो सका है। श्री कृष्णस्वामी अय्यर ने Shanker and His times में, भाष्याचार्य ने अपनी पुस्तक Age of Shanker में तथा आनंदगिरि ने 'शंकर विजय' में उनके जीवन तथा समय पर प्रकाश डालते समय शंकराचार्य का जन्म वि० सं० ८४५ तथा निधन वि० सं० ८७७ माना है, परन्तु श्री लोकमान्य तिलक ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'गीतारहस्य' के परिशिष्ट प्रकरण में उनका समय उक्त तिथि से एक शताब्दी पूर्ण माना है। शंकराचार्य का जन्म मलाबार प्रदेश में मलाबार नदी के तट पर कलादि नामक एक छोटे से ग्राम में हुआ था तथा उनके पिता का नाम शिवगुरु और माता का नाम आर्याम्बा था। ये नम्बूद्रीपाद ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे तथा बाल्यावस्था में ही पिता का देहावसान हो जाने के कारण इनकी शिक्षा-दीक्षा का पूर्ण भार इनकी माता पर ही था। शंकराचार्य अलौकिक प्रतिभासम्पन्न बालक थे तथा अल्पवयस में ही वे संस्कृत भाषा में उपलब्ध समस्त ग्रंथों के पारंगत विद्वान हो गए थे और संसार की असारता से परिचित होकर अल्पायु में ही सन्यास ग्रहण कर नर्मदा तट पर विचरण करनेवाले आचार्य गौड़पाद के शिष्य गोविन्द योगी से उन्होंने शिष्यत्व ग्रहण किया था। अपने शिष्य की अपूर्व प्रतिभा, त्याग एवं विद्या से प्रभावित

होकर गोविन्द स्वामी ने उन्हें परमहंस की उपाधि दी और तत्पश्चात् शंकराचार्य ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के हेतु प्रायः सारे भारतवर्ष में भ्रमण किया, भिन्न-भिन्न प्रचलित मतों के प्रधान आचार्यों से शास्त्रार्थ किए और अनेक स्थलों पर अपने प्रवचनों द्वारा सर्वसाधारण को प्रभावित करने की चेष्टा की तथा द्वारका में शारदामठ, जगन्नाथपुरी में गोवर्धनमठ, हरिद्वार में ज्योतिर्मठ, मैसूर में श्रृंगेरी मठ और काशी में सुमेरु मठ नामक पाँच मठों की स्थापना कर स्त्रियों के अतिरिक्त अन्य सभी को सन्यास ग्रहण करने की प्रेरणा दी। वस्तुतः शंकराचार्य ही पहले आचार्य थे जिन्होंने जाति-पाँति की संकीर्णताओं को हटाने का सर्वप्रथम प्रयास कर सामाजिक विषमता को दूर करते हुए बौद्ध-धर्म के समर्थक आचार्यों को पराजित किया है। श्री कृष्णस्वामी अय्यर ने उनके मनुष्यपंचक का अनुवाद करते हुए उनके विचारों को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—He, who has learned to look on phenomena in this light monistic is my true Guru, be he a chandal or a twiceborn. This is my Conviction. यद्यपि शंकराचार्य के इन सुधारवादी विचारों का कट्टर ब्राह्मणों ने घोर विरोध किया, लेकिन वे लक्ष्यभ्रष्ट न हुए और इस प्रकार भारतीय संस्कृति के इतिहास में उनका प्रादुर्भाव निश्चय ही एक चमत्कारपूर्ण घटना है। परम्परागत विषमताओं को विलग कर समाज को एक नवीन दिव्यालोक से अभिभूत कर अपनी अपूर्व प्रतिभा-शक्ति द्वारा श्रुतिस्मृतिविहित धर्म का पुनरुत्थान कर निवृत्तिमार्ग के वैदिक सन्यास धर्म को पुनर्जन्म देने में उन्होंने जो अपना महत्वपूर्ण योग दिया है वह निश्चय ही स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है। वस्तुतः उनके विचारों का प्रभाव भारत के सभी प्रदेशों पर पड़ा है तथा उनकी विचार तरंगों के तीव्र प्रवाह में अन्य सभी छोटे-छोटे मत-मतान्तर विलीन से हो गये। उनके इस प्रभाव को लक्ष्यकर डॉ० ताराचंद ने लिखा है—"Shankera's career is the great watershed in the history of Sanskrit learning. Behind him lies the world on ancient ideas, half-reconciled systems, profound but scattered thoughts, rival philosophies, struggling for ascendancy, the charming pantheon and theologies in a fluid condition, a living culture almost anarchic in its exuberance; before him the medieval world of set ideas, fixed systems, scholastic ingenuity, accretion not growth, explanation, not invention, commentaries not philosophies, a stereotyped uniformity. The living stream of culture abandons the ancient bed of sanskrit and flows through new channels. Tamil, Telgu and Canarese in the south, Hindi, Bengali, Marathi and Urdu in the north but the abandonment is never quite complete, on increasingly thinning rill continues to linger in the old beds."

इस प्रकार अपनी केवल बत्तीस वर्ष की अवस्था में ही शंकराचार्य ने जो महान कार्य किया है वह निस्संदेह प्रशंसनीय है और अपनी इस छोटी सी आयु में ही उन्होंने ब्रह्मसूत्र,

उपनिषदों एवम् भगवद्गीता पर भाष्य लिखे हैं। उपदेश साहस्री, शतश्लोकी आदि उनके सरल प्रकरण ग्रन्थ हैं और साथ ही उन्होंने दक्षिणा मूर्ति स्तोत्र, हरिमीडे स्तोत्र, आनंद लहरी नामक कृतियों का प्रणयन भी किया है जिनसे वे न केवल एक दार्शनिक अपितु भक्त और कवि भी जान पड़ते हैं, परंतु विशेषतः वे एक दार्शनिक के रूप में ही प्रसिद्ध हैं तथा उनके दर्शन को अद्वैतवाद, मायावाद, मिथ्यात्ववाद और रहस्यवाद तक कह दिया जाता हैं। स्मरण रहे कि बादरायण सूत्रों के ऊपर शारीरिक नामक भाष्य की रचना करने पर भी शंकराचार्य स्वयं अपने आपको वेदान्त-दर्शन का प्रतिष्ठाता न मानकर उपनिषद् ग्रन्थों और ब्रह्मसूत्रों में वेदान्त दर्शन का प्रतिपादक ही मानते हैं। 'शंकरभाष्य' पर लिखी गई पद्मपाद की 'पंचपादिका' तथा श्री वाचस्पति मिश्र की 'भामती' नामक टीकाओं का बड़ा महत्व माना जाता है। वास्तविकता तो यह है कि शंकराचार्य के पश्चात् जितने भी प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं वे मूल रूप से शंकर के ही सिद्धान्तों से प्रभावित थे और या तो उन्होंने उनके सिद्धान्तों में कुछ संशोधन किए हैं अथवा उनसे अपना विरोध प्रकट किया है और इस प्रकार कहा जा सकता है कि शंकराचार्य का व्यापक प्रभाव परवर्ती समस्त वैष्णव सम्प्रदायों पर भी पड़ा है।

वस्तुतः शंकराचार्य का उद्देश्य मीमांसकों पर विजय प्राप्त करना था और उस समय मीमांसकों तथा वेदांतियों में दो मूल विषयों पर मतभेद था। प्रथम तो मीमांसक कर्म से मुक्ति मानते थे जबकि वेदांती ज्ञान से तथा कुछ विचारकों का मत ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद भी रहा है लेकिन वेदांती उससे सहमत नहीं हैं। द्वितीय विरोध तो श्रुतियों के प्रतिपाद्य विषय के सम्बंध में है। मीमांसकों की दृष्टि में वेद-कर्मपरक हैं ज्ञानपरक नहीं, जबकि वेदांतियों का विचार है कि ब्रह्म का ज्ञान कराना ही श्रुतियों का उद्देश्य है। यद्यपि मीमांसक वेदों को प्रमाणित मानते थे लेकिन उनकी दृष्टि में वेदों में तत्वज्ञान का प्रतिपादन किया गया है और इस प्रकार वे वेदविहीन कतिपय यज्ञ-विधायक वाक्यों के अतिरिक्त उपनिषदों के शेष दार्शनिक सिद्धान्तों को उपादेय न समझते थे। मीमांसकों का मत था कि उपनिषदों में जो ब्रह्म का वर्णन किया गया है वह निरा अत्युक्तिपूर्ण है और ब्रह्म को प्रतिष्ठा दिलाने के उद्देश्य से किया गया है। परंतु शंकराचार्य उपनिषदों के सम्बन्ध में उनके तथ्यों को स्वीकार नहीं करते थे, क्योंकि उनसे ब्रह्म के वास्तविकतापूर्ण उच्चज्ञान का उपदेश प्राप्त होता है जो कि मोक्ष-प्राप्ति का सुगम साधन है। शंकराचार्य की दृष्टि में वेदविहित यज्ञ विषयक वे कतिपय उपदेश ऐहिक सुख की कामना करने वाले साधारण पुरुषों को ही संतोष दे सकते हैं, परंतु जो व्यक्ति इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक अपनी समस्त कामनाओं का दमन करने में सफल हो सकता है उसके लिए तो उपनिषदों में विहित ब्रह्म का उपदेश ग्रहण करना ही उचित है, क्योंकि वास्तव में एक ब्रह्म ही पूर्ण, अविनाशी और सत्य है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से शंकराचार्य अद्वैतवाद के समर्थक थे और उनकी दृष्टि में वस्तुतः श्रुतिकथित सिद्धान्तों में तनिक भी विरोध नहीं है; हाँ उनकी व्याख्या में विभिन्नता हो सकती है और इस प्रकार उन्होंने वैदिक धर्म के ज्ञान और आचरण नामक दो स्वाभाविक विभाग माने हैं जिनमें से प्रथम में तो ब्रह्म का स्वरूप निर्णय कर उसका सम्बन्ध जीव और प्रकृति से माना गया है तथा द्वितीय आचरण पक्ष में तो मनुष्य को इस संसार में किस प्रकार का आचरण करना चाहिए इस बात पर विचार किया गया है।[1]

---

[1] शङ्कराचार्य ने एक स्थल पर "न च परिनिष्ठित वस्तु स्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादि विषयत्वं

स्मरण रहे शङ्कराचार्य ने उपनिषदों के परम सत्य को समझाने के हेतु तर्क को प्रमाण माना है, परंतु वेदान्तशास्त्र में वस्तुतः तर्क का क्या स्थान हो सकता है इस विषय में उन्होंने कहीं-कहीं परस्पर विरोधी विचार भी व्यक्त किए हैं। 'तर्क प्रतिष्ठानात्' सूत्र की व्याख्या करते हुए उन्होंने ब्रह्म जैसे गम्भीर विषयों पर विचार करते समय तर्क की अप्रतिष्ठा को देखते हुए उसका शांत रहना ही आवश्यक माना है, क्योंकि यह देखा जाता है कि तर्कज्ञान परस्पर में विरोध ही रखता है और उसके द्वारा परस्पर विरुद्ध बातें स्वाभाविक ही सिद्ध की जा सकती हैं परंतु कुछ विद्वानों का यह विचार है कि तर्क अप्रतिष्ठित है, यह भी तर्क का आधार लेने पर ही सिद्ध होता है। अतएव शङ्कराचार्य पुनः कहते हैं कि चाहे कुछ विषयों में तर्क की उपादेयता स्वीकार कर ली जाय, परंतु ब्रह्म विषय में तो किसी भी भाँति मानी नहीं जा सकती लेकिन उनकी कृतियों में उस प्रकार के स्थलों की बहुलता सी है जहाँ कि उन्होंने तर्क की प्रशंसा की है। माण्डक्य-कारिका की ही टीका करते हुए वे कहते हैं कि तर्क द्वारा भी अद्वैत का बोध होता है तथा 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' द्वारा 'ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता' का विचार रखनेवाले चिन्तकों से तो वे स्पष्ट रूप में कहते हैं कि अनुमान और श्रुति के रहते हुए भी यह कहना कि ब्रह्म ज्ञान असंभव है दुस्साहस मात्र है—तथा "च तद् धिगमाय अनुमाने आगमे च सति ज्ञानं नोत्पद्यत इति साहसमेतत्।" अर्थात् शंकराचार्य ने तर्क को ब्रह्मज्ञान में सहायक माना है और कदाचित् इसीलिए डायसन आदि विद्वानों ने लिखा है कि तर्क की भरसक निन्दा करते हुए भी शङ्कराचार्य ने तर्क का स्वच्छन्द प्रयोग किया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी गणना विश्व के श्रेष्ठतम तर्क-विशारदों में करनी चाहिए, परंतु वे केवल तर्क बल द्वारा ही सत्य को हृदयङ्गम करने के सर्वदा ही विरोधी रहे हैं। जिस प्रकार वात्सायन ने तर्क को प्रमाणों से भिन्न प्रमाणों का सहायक माना है—तर्कों न प्रमाण संगृहीत्रो न प्रमाणान्तरं, प्रमाणानामनुग्रहकस्तत्व ज्ञानाय कल्पते" उसी प्रकार शंकराचार्य ने भी प्रमाणसिद्ध वस्तु पर संभव-असंभव की दृष्टि से विचार करना अनुपयुक्त समझा है—"प्रमाण प्रवृत्य-प्रवृत्ति पूर्वकौ संभवासंभवाववधार्येते न पुनः संभवासंभव पूर्विके प्रमाण प्रवृत्यप्रवृत्ती। सर्वैरेव प्रमाणैवाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादि विकल्पै नभवतीत्युच्येतोपलब्धेरेव ?" साथ ही वे अनुभव सिद्ध बातों का तर्क द्वारा खंडन करना उचित नहीं समझते और इस प्रकार "श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते" नामक उक्ति के अनुसार श्रुति से अनुगृहीत तर्क का आश्रय लेना उचित मानते हैं, क्योंकि वह अनुभूति का अंग होता है। पंचदशी भी "स्वानुभूतत्यनुसारेण तर्क्यताम्"के अनुसार अपने निजी अनुभव के अनुसार तर्क करना उचित समझती है। संक्षेप में शंकरार्य वेदान्त के प्रत्यक्ष विषयक मतों को महत्वपूर्ण मानते हैं तथा उनकी दृष्टि में वेद अपौरुषेय हैं और प्रत्येक कल्प में उनकी आवृत्ति होती है।

ब्राह्मणः" लिखकर यह स्वीकार किया है कि ब्रह्म सिर्फ श्रुति द्वारा ही ज्ञेय हो सकता है तथा वह अन्य प्रमाणों का विषय नहीं है और इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर "श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम् अनुभवावसानत्वादभूत वस्तु विषयत्वाच्य ब्रह्मज्ञानस्य" नामक उक्ति द्वारा वे विचार में श्रुति प्रत्यक्षादि सबका प्रामाण्य स्वीकार करते हैं और सबका उपयोग करने की राय देते हैं तथा उनकी दृष्टि में ब्रह्मज्ञान का फल ही अनुभव विशेष है।

शंकराचार्य अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों की भाँति केवल बाह्य जगत की वास्तविकता को स्वीकार कर सन्तोष नहीं करते थे, अपितु वे एक ऐसे शाश्वत् अपरिवर्तनशील परमतत्त्व की खोज में थे जो कि इस दृश्यमान जगत का आधार है। उनके अनुसार यह समस्त विश्व जो कि मनुष्य को चर्मचक्षुओं द्वारा दृष्टिगोचर होता है असत्य है और वास्तविकता तो यह है कि सबमें एक ही शुद्ध और परम ब्रह्म का अस्तित्व है तथा उसी की माया से भेद की प्रतीत होती है। श्री लोकमान्य तिलक ने भी गीतारहस्य के विषय-प्रवेश में शंकर मत पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"एक शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्त ब्रह्म के सिवा दूसरी कोई भी स्वतन्त्र और सत्य वस्तु नहीं है। दृष्टिगोचर भिन्नता मानवी दृष्टि का भ्रम और माया की उपाधि से होनेवाला आभास है।"[1] इस प्रकार शंकराचार्य एक ब्रह्म को ही सत्य मानते थे तथा उनकी दृष्टि में अनादि काल से चली आती हुई अविद्या के फलस्वरूप ही हमें नाना प्रकार की विभिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं जिनसे कि जन्म, जरा, मरण आदि विकार उत्पन्न होते हैं और इन समस्त विकारों का ह्रास करने के हेतु 'एक ब्रह्म ही सत् है' इस ज्ञान का साक्षात्कार परमावश्यक है और यह ब्रह्म सत्, चित् तथा आनन्दमय होने पर भी निर्गुण, निर्विशेष एवं चिन्मात्र है। शंकराचार्य ने जीवात्मा को ही परब्रह्म का स्वरूप माना है और वे आत्मा को ही स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं तथा जगत को केवल व्यावहारिक ही समझते हैं—

"आत्मत्वाच्चात्मनोनिराकरण शंकानुपपत्तिः। नह्यात्माऽऽगंतुकः कस्यचित्, स्वयं सिद्धत्वात्। नह्यात्मात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति। तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्दन्या प्रसिद्ध प्रमेय सिद्धये उपादीयंते।……………आत्मानु प्रमाणादि व्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादि व्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति। आगंतुकं हिवस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्तेनौष्ण्यमग्निता निराक्रियते।" (वेदान्त भाष्य, २।३।७)

शंकराचार्य के अद्वैतवाद का महावाक्य 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' है और वे कहते हैं कि चिन्मात्र, निर्विशेष ब्रह्म में अहं या ज्ञाता की अनुभूति उसी प्रकार भ्रममात्र है जिस प्रकार दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब तो देख पड़ता है, परन्तु वह होता भ्रान्तिपूर्ण ही है। उन्होंने उस भ्रान्ति का कारण अविद्या को माना है तथा उनके शब्दों में ब्रह्म या आत्मा पर पड़े हुए अविद्या के परदे के कारण ही जीव अथवा ज्ञाता का ज्ञान उत्पन्न होता है। वस्तुतः शंकराचार्य ने माया और अविद्या को एक ही वस्तु माना है[2] तथा ब्रह्मसूत्र की भूमिका में जो उन्होंने अध्यास का निमित्त मिथ्याज्ञान को माना है वह वास्तव में अविद्या के ही अनुरूप है और 'कृत्स्न प्रसक्ति' नामक अधिकरण के भाष्य में भी ब्रह्म के अनेक रूपों को अविद्या कल्पित माना गया है—"अविद्या कल्पित रूप भेदाभ्युपगमात्" (२।१।२७) शंकराचार्य माया में तनिक भी वास्तविकता नहीं मानते और उनकी दृष्टि में वह केवल अविद्या है जो कि अद्वैत ब्रह्म का

---

[1] दे० गीतारहस्य—श्री लोकमान्य तिलक (विषय-प्रवेश, पृ० १३)

[2] "भाष्यकरेण च विद्या मायाऽविद्यात्मिका माया शक्तिरिति तत्र-तत्र निर्देशात्। टीकाकारेण चाविद्या मायाऽक्षरमित्युक्तत्वात्।"

—पंचपादित विवरण (विजयानगरम् संस्कृत सीरीज) पृ० ३२

साक्षात्कार होते ही विलीन हो जाती है। अतएव उनकी दृष्टि में ब्रह्म पर माया का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शंकराचार्य माया को अनिर्वचनीय मानते हैं और चूँकि अनिर्वचनीय का अर्थ 'सद्सद् विलक्षण' अर्थात् सत् और असत् से भिन्न होना है, अतः चूँकि माया कोई वस्तु ही नहीं है इसलिए उसे सत् नहीं कह सकते और चूँकि उसके कारण जगत् जीव आदि भेदों का ज्ञान होता है, अतः उसे सर्वथा असत् भी नहीं कहा जा सकता। हाँ हम माया का उभय या अनुभय रूप अवश्य स्वीकार कर सकते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि निर्विशेष ब्रह्म माया द्वारा अविच्छिन्न होने पर ही सगुण ब्रह्म बन जाता है, अतः शंकराचार्य ने माया को मानवीय दृष्टि में भ्रम उत्पन्न करने वाली माना है और वे स्वयं परमार्थ दृष्टि से ब्रह्म की सगुणता किसी भी भाँति स्वीकार नहीं करते तथा स्पष्ट ही कहते हैं कि श्रुतियों में जहाँ कहीं सगुण ब्रह्म का वर्णन किया गया है वह केवल व्यावहारिक दृष्टि से उपासना के हेतु ही है और वस्तुतः ब्रह्म का वास्तविक रूप निर्गुण ही है।

शंकराचार्य का आचरण सिद्धान्त भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसके अनुसार स्मृति ग्रंथों में निरूपित आचार-व्यवहार भी अपना विशेष महत्व रखते हैं जिनके बिना न तो चित्त शुद्धि ही संभव है और न ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता ही आ सकती है। यह तो स्पष्ट ही है कि शंकराचार्य ने "निर्विशेष, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वप्रकाश, चिन्मात्र, ब्रह्म ही मैं हूँ" का ज्ञान होने पर मनुष्य की अविद्या दूर हो जाती है तथा "एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है, यह जगत मिथ्या है, तथा जीव ब्रह्म ही है उससे भिन्न नहीं" का ज्ञान हो जाने पर अपने आपको बद्ध समझने वाला जीव मुक्त हो जाता है, नामक सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया था और इस प्रकार उन्होंने सैद्धान्तिक दृष्टि से प्राणिमात्र का कर्म करना अनिवार्य समझा है। वैदिक धर्म के ज्ञान पक्ष की भाँति आचरण पक्ष का सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए वे कहते हैं 'कि प्रत्येक व्यक्ति का कर्म करना अनिवार्य है, परन्तु अन्त में कर्म को भी त्याग कर सन्यास ग्रहण करना होगा क्योंकि समस्त वासनाओं और कर्मों के त्याग बिना ब्रह्मज्ञान असंभव ही है। अतएव शंकराचार्य ने निवृत्ति मार्ग का, जिसे कि सन्यास-निष्ठा या ज्ञाननिष्ठा भी कहा जाता है ममत्व प्रतिपादित किया है और वे उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र तथा गीता को ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय करनेवाले ग्रन्थ मानते हैं और सन्यास-मार्ग को ही श्रेष्ठतम समझते हैं।[1] संक्षेप में, इस प्रकार वेदों की एकवाक्यता प्रतिपादित करते हुए शंकराचार्य ने 'स्मार्त मार्ग' नामक एक नवीन मत का प्रवर्तन किया है और उसके अनुसार श्रुति के मूल सिद्धान्तों द्वारा एक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत् एवम् आनन्द स्वरूप युक्त स्वभाव ब्रह्म का ही प्रतिपादित होता है और उस विश्व में उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत्य नहीं है तथा उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही वास्तविक मोक्ष है, लेकिन उस ज्ञान-साधना के हेतु यह आवश्यक है कि वेदविहित

---

[1] गीता में लिखा भी है कि जो मुनि योगारूढ़ होना चाहते हैं उन्हें कर्मों से सहायता मिल सकती है, परंतु योगारूढ़ होने के हेतु शम (सन्यास) ही साधना है और उस प्रकार के कर्म की अपेक्षा ज्ञाननिष्ठा ही श्रेष्ठतम है—

आरुरुक्षोर्मुनेयोग कर्म कारणमुच्यते।
योगरूढ़स्य तस्यैव शम कारणमुच्यते॥

नियमानुसार अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए अपने अंतःकरण को शुद्ध कर लिया जाए, चाहे यह शुद्धि एक या अनेक जन्मों के अभ्यास द्वारा क्यों न प्राप्त हो।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत में वेद विरोधी बौद्ध तथा जैन धर्म का विस्तार होने पर वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करने के हेतु आठवीं शताब्दी के अन्त में कुमारिल भट्ट जिन्होंने कि वेदों की पुनः स्थापना के हेतु वेदों को अपौरुषेय सिद्ध करने की प्राणपण से चेष्टा की है तथा शंकराचार्य जिनके सैद्धान्तिक महत्व पर अभी अभी हम प्रकाश डाल चुके हैं नामक जिन दो महान विभूतियों का जन्म हुआ उन दोनों में शंकराचार्य को अत्यधिक सफलता मिली। उनका युग कालिदास, भवभूति और बाण भट्ट जैसे प्रसिद्ध कवियों तथा दिङ्नाग, उद्योतकर, कुमारिल एवं धर्मकीर्ति जैसे दार्शनिकों का युग माना जाता है, परन्तु तर्कसम्मत और समयापेक्षित होते हुए भी शांकर मत के दोनों पक्षों में पूर्ण समन्वय का अभाव था तथा उपासना क्षेत्र में अद्वैतवाद का सिद्धान्त स्थायी न रह सका, क्योंकि यदि यह दृश्य जगत ब्रह्म ही है, उससे विभिन्न नहीं, जीवात्मा भी ब्रह्म ही है और उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है तब भक्ति कैसे हो और किससे प्रेम किया जाय तथा गुण किसके गाए जाएँ आदि बातें अस्पष्ट रहीं। अतएव "इस सिद्धान्त के फलस्वरूप व्यावहारिक जगत में प्रेम और स्नेह को कोई स्थान ही न रहा। यद्यपि शङ्कराचार्य के शिष्यों ने आत्मा की अज्ञानावस्था में प्रेम आदि को स्थान दिया था, पर यह सिद्धान्त प्रचलित होकर वैष्णव धर्म के मूल में कुठाराघात का कारण हुआ।"[1]

वस्तुतः शंकराचार्य ने बौद्ध सिद्धान्तों का खंडन किया है, परंतु उन्होंने जिस मत का उपदेश दिया है उसका सैद्धान्तिक पक्ष बौद्धों के शून्यवाद के सदृश्य ही है और उन्होंने जिस ब्रह्म के स्वरूप की कल्पना की है वह बौद्धों के शून्यवत् ही प्रतीत होता है तथा साथ ही उनके द्वारा किया गया सन्यासियों का सङ्गठन भी बौद्ध धर्म के भिक्षुओं के आदर्श पर आधारित जान पड़ता है। वास्तविकता तो यह है कि शङ्कराचार्य ने बौद्धों के शस्त्रों द्वारा ही बौद्ध धर्मावलम्बियों को पराजित किया था, परंतु आगे चलकर शङ्कर विरोधी वैष्णव दार्शनिकों ने शङ्कराचार्य प्रच्छन्न (मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव तत्) कहा है।[2] अतएव यद्यपि शङ्कराचार्य का अद्वैतवाद वेदानुयायी ब्राह्मणों को सुखकर प्रतीत हो सका, परंतु वह सर्वसाधारण की बुद्धि के अगम्य ही था। अतः उसका विरोध करने के हेतु "श्री यामुनाचार्य ने अपने शिष्य श्री रामानुजाचार्य को 'बादरायण सूत्र' पर भाष्य करने का आदेश दिया। ब्रह्मसूत्र

---

1. Collected works of Sir R.G. Bhandarker, Vol. IV, P. 78.

२. श्री रामानुजाचार्य के वेदान्त भाष्य टीका में लिखा है—

वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतः प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम्।
बौद्धाऽनृतो बुद्धिफले तथाऽनृते यूयं च बौद्धाश्च समान संसदः॥

अर्थात्—हे शंकरानुयायियों! जैसे तुम्हारे लिये वेद अनृत हैं वैसे ही शून्यवादियों के लिए बुद्ध के आगम अनृत हैं। तुम दोनों के लिए जैसा ज्ञाता (जीव) अनृत है उसी तरह बुद्धि और उसका फल अनृत है। इस प्रकार तुम और बौद्ध दोनों एक ही भाई-बिरादरी के हो।

—श्री राहुल सांकृत्यायन, दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ८१९ तथा आनंदतीर्थ तत्वोद्योत।

और उपनिषद के आधार पर स्थापित शङ्कर के अद्वैत के सामने भक्ति सिद्धांत की स्थापना असम्भव होती देखकर वैष्णव आचार्यों ने इस भाष्य की रचना की आवश्यकता समझी"[१] स्मरण रहे कि वैष्णवाचार्यों के सर्वप्रथम आचार्य नाथमुनि के जो कि श्रीरङ्गम में दसवीं शताब्दी में विद्यमान थे यामुनाचार्य पौत्र और उत्तराधिकारी थे ।

रामानुजाचार्य

वैष्णव आचार्यों में विशिष्टाद्वैत के प्रतिष्ठाता के रूप में रामानुजाचार्य को विशेष महत्व दिया जाता है। उनका जन्म मद्रास के समीप 'त्रिपुटी' नामक स्थान में सन् १०१६ में हुआ था और मृत्यु श्रीरङ्गम में सन् ११३७ में। उनके पिता का नाम केशव तथा माता का नाम कांतिमती था। शङ्कर मतानुयायी यादव प्रकाश जो कि कांचीवरम् में रहते थे उनके प्रारम्भिक गुरु थे, परंतु अद्वैतवाद के सम्बन्ध में अपने गुरु से मतभेद हो जाने के फलस्वरूप उन्होंने उनका शिष्यत्व त्यागकर 'प्रबन्धम्' के गीतों का अध्ययन किया और यामुनाचार्य का शिष्यत्व ग्रहणकर श्रीरङ्गम में अपने सम्प्रदाय की जो कि श्री सम्प्रदाय कहलाता है स्थापना की। यामुनाचार्य के निधन के पश्चात् ये उनके उत्तराधिकारी हुए और न केवल अपने भक्ति-विषयक सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के हेतु अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया, अपितु उत्तरी भारत के प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों का पर्यटन करते हुए काशी भी गए। कहा जाता है कि शैव धर्म में दीक्षित करने के उद्देश्य से तत्कालीन चोलराज कुल्लोदुङ्ग प्रथम ने उन पर बहुत अधिक अत्याचार किए थे जिसके फलस्वरूप उन्हें उस राज्य को त्याग कर यादववंशीय हौयसल राजाओं की शरण लेनी पड़ी जहाँ उन्होंने तत्कालीन राजा विट्ठलदेव को अपने सम्प्रदाय में दीक्षित भी किया। स्मरण रहे वैष्णवों का साहित्य 'उभयवेदान्त' कहलाता है, क्योंकि वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थ दो प्रकार के होते हैं अर्थात् वैष्णव आचार्य वेद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता को तो मानते ही हैं साथ ही पुराणों और तमिल भाषा के कुछ ग्रन्थों को भी उनका ही मानते हैं और यही उनके 'आगम' भी हैं।

यामुनाचार्य ने 'आगमों' का प्रामाण्य सिद्ध करने के हेतु 'आगम प्रामाण्य' और 'महापुरुष निर्णय' नामक ग्रंथों का प्रणयन किया तथा 'सिद्धित्रय' और 'गीतार्थ संग्रह' भी उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। रामानुजाचार्य का 'श्री भाष्य' वेदांत सूत्रों की प्रसिद्ध व्याख्या है तथा इसके अतिरिक्त उन्होंने गीताभाष्य, वेदार्थसंग्रह, वेदान्तसार और वेदान्त दीप नामक ग्रंथ भी लिखे हैं। इस प्रकार श्रीसम्प्रदाय को शास्त्र सम्मत सिद्ध करने के हेतु उन्होंने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता) पर भाष्य लिखे और इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदू धर्म के इतिहास पर उनका व्यक्त और विस्तृत प्रभाव पड़ा है तथा अद्वैतवाद के विरोधी एवं भक्ति मार्ग के प्रचारक परवर्त्ती वैष्णव आचार्यों—मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य, रामानंद—पर विशिष्टाद्वैत का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

वस्तुतः उपनिषदों में ब्रह्म, आतमा और सृष्टि संबंधी परस्पर विरोधी मान्यताएँ दृष्टिगोचर होती हैं तथा उनमें जहाँ कि 'तत्वमसि' (वह तू ही है) 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (सब कुछ ब्रह्म ही है) आदि उक्तियों द्वारा अद्वैत ब्रह्म का निरूपण किया

---

1. Collected works of Sir R. G. Bhandarker Vol. IV. Page. 77.

गया है वहाँ 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' (दोनों अज हैं—एक ईश है और दूसरा अनीश, एक प्राज्ञ है दूसरा अज्ञ), "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते, तयोरन्वः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अश्नन्नन्यो अभिचाक शीति" (दो पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें से एक फलों का आस्वादन करता है तथा दूसरा चुपचाप बैठा देखता रहा है) आदि उक्तियों द्वारा द्वैत भावना का भी प्ररूपण किया गया है। चूँकि अद्वैतवाद का समर्थन करने के हेतु शंकराचार्य ने उपनिषदों का ही आधार लिया था अतएव आगे चलकर रामानुज, निम्बार्क, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धान्तों का निरूपण करने के हेतु उपनिषदों का ही आधार लिया है।

शंकराचार्य ने ब्रह्म की एकता स्वीकार करते हुए उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं मानी है, लेकिन रामानुजाचार्य ने ब्रह्म की एकता को अद्वितीय न मानकर चिन्मय आत्मा तथा जड़ प्रकृति से विशिष्ट माना है तथा शंकर के माया और मिथ्यात्ववाद दोनों को ही असत्य माना है। उन्होंने चित् अर्थात् जीव, अचित् अर्थात् जगत् और ईश्वर नामक तीन पदार्थों को स्वीकार करते हुए कहा है कि यद्यपि जीव, जगत और ईश्वर ये तीनों ही तत्त्व भिन्न-भिन्न अर्थात् नित्य और स्वतंत्र हैं, परंतु वास्तव में जीव और जगत् दोनों ही सर्वान्तर्यामी ईश्वर के आधीन हैं, अतएव चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है तथा इस ईश्वर के शरीर के सूक्ष्म चित् अचित् से ही स्थूल चित् और स्थूल अचित् (क्रमशः अनेक जीव और जगत्) की उत्पत्ति हुई। उनकी दृष्टि में ब्रह्म ही तत्व है और वह नित्य, सत्य, ज्ञानमय, आनन्दमय तथा शक्तिमान है और चूँकि वह समस्त जगत का सृष्टि, स्थिति और संहारकर्ता है, अतः ब्रह्म को सगुण ही मानना चाहिए, क्योंकि इस जगत में निर्गुण वस्तु की कल्पना ही असंभव है। रामानुज का कथन है कि जिस प्रकार आत्मा शरीर का नियंत्रण करती है उसी प्रकार ईश्वर चित् और अचित् का नियमन करता है और इस प्रकार नियामक तथा प्रधान होने से ईश्वर को विशेष्य और नियम्य तथा अप्रधान होने से जीव और जगत को विशेषण स्वीकार किया गया है। अतएव जिस प्रकार नीलत्व और कमल दोनों साथ-साथ रहते हैं उसी प्रकार विशेषण तथा विशेष्य भी साथ-साथ रहते हैं और विशेषणों से युक्त विशेष्य अर्थात् विशिष्ट की एकत्व कल्पना करने के कारण ही उनका दर्शन 'विशिष्टाद्वैत' (विशिष्टस्य विशिष्टरूपेणाद्वैतम् अर्थात् विशिष्ट का विशिष्ट रूप से अद्वैत) कहलाता है। तत्व-ज्ञान की दृष्टि से उनका मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है, लेकिन आचरण की दृष्टि से तो उसमें भक्ति की ही प्रधानता है और उन्होंने कर्मनिष्ठा को स्वतंत्र न मानकर ज्ञान-निष्ठा का उत्पादक माना है तथा इस प्रकार अद्वैत ज्ञान के स्थान पर विशिष्टाद्वैत और सन्यास के स्थान पर 'भक्ति' की प्रतिष्ठा कर दोनों में भेद माना है, परंतु आचार दृष्टि से भक्ति को ही महत्ता दी है और ईश्वर को सर्वोपरि, सर्वगुणसम्पन्न, अनुपम, अद्वितीय और महान मानते हुए जो कि सबका स्वामी तथा विश्वात्म-स्वरूप है उसे पुरुषोत्तम भी कहा गया है। रामानुज ने 'तत्वमसि' की व्याख्या ही भिन्न रूप में की है और उनकी दृष्टि में 'तत्' का अर्थ सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प और जगत का कारण ईश्वर है तथा 'त्वं' का अर्थ अचित् विशिष्ट जीव शरीरवाला ब्रह्म है, अतएव 'तत्वमसि' का अर्थ अन्तर्यामी ईश्वर तथा विश्व-प्रपंच निर्माता ईश्वर दोनों की तात्विक एकता है। साथ ही उपासना और ध्यान के हेतु उन्होंने ब्रह्म के पाँच रूप माने हैं—

(१) परब्रह्म—ईश्वर को परब्रह्म स्वरूप वैकुण्ठ जो कि अनेक प्रकार की विलास

सामग्रियों से सुसज्जित रहता है तथा उसे नारायण या वासुदेव कहते हैं। वे शेषनाग पर विराजमान हैं तथा श्री, भू, लीला आदि से सेवित और शंख, चक्र, गदा तथा पद्म को चारों हस्तकमलों में धारण किये हुए हैं तथा अनन्त, गरुड़ आदि मुक्त आत्माएँ उनके साथ विहार करती हैं।

(२) व्यूह—परब्रह्म ने पूजा तथा विश्वउत्पादनार्थ वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक चार रूप जिन्हें कि व्यूह भी कहते हैं धारण किए हैं।

(३) विभव—ब्रह्म का यह स्वरूप ईश्वर के मत्स्य, कच्छप आदि दस अवतारों से सम्बन्ध रखता है।

(४) अन्तर्यामी—इस रूप में ईश्वर योगियों के मानस में प्रवेश करता है तथा घट-घट में वास करने वाला समझा जाता है।

(५) अर्चा—ब्रह्म के इस स्वरूप में उपासकों द्वारा उसकी अनेक मूर्तियों की कल्पना की जाती है और देवालयों तथा घरों में उनकी स्थापना भी की जाती है तथा यह समझा जाता है कि इन प्रतिमाओं में परब्रह्म सूक्ष्म शरीर के रूप में विराजमान है।

रामानुज सम्प्रदाय के परम उपास्य श्री लक्ष्मीनारायण माने गए हैं तथा इनके स्वरूप का चित्रण करते हुए कहा गया है कि वे कल्याण-गुणों के समूह हैं और उनका दिव्य श्री विग्रह स्वेच्छानुरूप सदा एकरस, अचिन्त्य, दिव्य, अद्भुत, नित्य, निर्मल, उज्ज्वल, सुगंधित, सुन्दर, सुकुमार, लावण्य, यौवन आदि अनंत गुणों का भंडार है और उनकी लीला सृष्टि का उद्भव, स्थिति एवं संहार है तथा ब्रह्मा से लेकर कीट पतंगे तक की सृष्टि करने के पश्चात् भी वे अपने रूप में ही अवस्थित रहते हैं।

शंकराचार्य ने आत्मा की पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं की है लेकिन रामानुजाचार्य आत्मा का अनेकत्व स्वीकार करते हुये उसे बद्ध, मुक्त और नित्य नामक तीन श्रेणियों में विभाजित करते हैं। बद्ध आत्माओं के भी अनेक प्रकार हैं जो कि ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र कीटों और वनस्पतियों तक फैले हुए हैं तथा बद्ध आत्मा के भोगेच्छु अर्थात् आनन्द के इच्छुक और मुमुक्षु नामक दो भेद भी माने गये हैं। भोगेच्छु तो भौतिक आनन्द को ही अपना ध्येय मानकर उसी की प्राप्ति के हेतु द्रव्य एकत्र करने में तत्पर रहते हैं तथा कुछ तो स्वर्गादि की प्राप्ति के हेतु तीर्थ यात्रा, यज्ञ, पुण्य, जप, व्रत आदि का अवलम्ब लेते हैं। मुमुक्षुओं में से कुछ 'केवली' कहलाते हैं जो कि सांसारिक दोषों से अपनी आत्माओं को रहित कर लेते हैं और कुछ नित्यानंद की खोज में रहते तथा मुक्ति द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहते हैं। शंकराचार्य की भाँति रामानुजाचार्य भी अविद्या को जीव के बन्धन का कारण मानते हैं, परन्तु अद्वैत वेदान्त के अनुसार ज्ञान होने से अविद्या अस्त हो जाती है तथा अविद्या का अंत होना ही मुक्ति माना गया है। मुक्ति क्रिया साध्य नहीं है, परन्तु विशिष्टाद्वैत में मुक्ति या ईश्वर साक्षात्कार क्रिया या उपासना को साध्य मानते हुये कहा गया है कि मुक्त सर्वकर्तत्व गुण केवल ईश्वर में ही रहता है, लेकिन मुक्त जीव सर्वज्ञत्व तथा सत्य सङ्कल्पत्व गुणों को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा भी है—रामानुजदर्शन के अनुसार जब जीवात्मा ईश्वर को विस्मरण कर स्वयं को स्वतन्त्र समझने लगता है तब ईश्वर उसे कर्म के कटु परिणामों द्वारा वास्तविक स्थिति का बोध कराता है; तब उसे अपने पापपूर्ण कर्मों का स्मरण होता

है । अंतर्यामी परमात्मा की प्रेरणा से वह अपने पापों को जान लेता और भगवान से सहायता के हेतु प्रार्थना करता है । रामानुजदर्शन में पाप कर्मों को स्वीकार करने तथा कर्मों का उत्तरदायित्व समझने को महत्व दिया गया है । यामुनाचार्य ने स्वयं को पापों का आगार कह कर भगवान से सहायता के लिए विनय की है ।"[१]

रामानुज ने भक्ति के साधन पक्ष में कर्मयोग तथा ज्ञानयोग दोनों को ही महत्व दिया है तथा भक्ति का सर्वश्रेष्ठ अंग समर्पण माना है जिसे कि प्रवृत्ति भी कह सकते हैं और प्रवृत्ति के अधिकारी शूद्र तक भी हो सकते हैं । भक्ति के इन साधनों के अतिरिक्त 'अर्थ पंचक' में 'आचार्याभिमानयोग' नामक एक और साधन का उल्लेख है जिसके अनुसार शिष्य सब कुछ गुरु को अर्पण कर देता है । रामानुज ने प्रजा के अभिषमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय तथा योग नामक पाँच प्रकार माने हैं और उपवास, तीर्थ, दान, यज्ञादि कर्मों को निष्काम भाव से करने पर जोर देते हुये 'पद्म पुराण' के अनुसार शरीर पर शङ्ख-चक्रादि के चिन्ह बनाना, चन्दन लगाना, मन्त्रोच्चार करना, वैष्णवों की सेवा करना, एकादशी व्रत करना आदि कुछ अन्य कर्मविधान भी उन्होंने सम्मिलित किये हैं । उनकी दृष्टि में कर्मयोग के इस पथ पर चलकर साधक की आत्मा शनैः शनैः शुद्ध हो जाती है और भगवान भी उस पर प्रसन्न होते हैं तथा वह ज्ञान के योग्य हो जाती है । डॉ० राधाकृष्णन के शब्दों में "रामानुज के अनुसार निष्काम कर्म से संचित कर्मों का नाश होता है । आडम्बरपूर्ण कर्मों का फल अस्थायी होता है तथा ब्रह्मज्ञान का फल अक्षय होता है । परन्तु कर्मों का समर्पण ईश्वर को किया जाय तो वह मोक्ष का कारण होता है ।"

रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत के समर्थन में उपनिषद, ब्रह्मसूत्र, पुराण आदि सभी का आधार ग्रहण किया है और सृष्टि का क्रम सांख्यशास्त्र के अनुसार माना है । अतएव उनका यह 'श्री सम्प्रदाय' 'पाँचरात्र' के वासुदेव सम्प्रदाय के अनुरूप ही है जिसमें नारायण और विष्णु के तत्वों का समावेश हो सका है तथा नारायण को विशिष्टता प्रदान की गई है । स्मरण रहे कि श्री सम्प्रदाय में कहीं भी गोपालकृष्ण का उल्लेख नहीं हुआ है और राम को ही महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। चूंकि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में जिन स्वरूपों का वर्णन किया गया है उन्हीं का रामानुज ने भी विशेष रूप से चित्रण किया है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि परम्परागत भक्ति को ही ब्राह्मण धर्म के साँचे में ढालने की ओर उनकी रुचि रही है । श्री सम्प्रदाय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें भक्तिमार्ग को शूद्रों के लिए भी उन्मुक्त कर दिया गया है और आगे चलकर रामानंद, नामदेव तथा तुकाराम ने तो इस बात पर विशेष जोर दिया था । कुछ विचारकों ने प्रवृत्ति की भावना को ईसाइयत की देन माना है, परंतु यह भ्रांतिपूर्ण धारणा ही है । इस प्रकार रामानुज की सैद्धांतिक विचार-धारा का अनुशीलन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तुतः भक्ति-मार्ग के परिनिष्ठत स्वरूप की स्थापना का श्रेय सर्वप्रथम रामानुज को ही प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि भक्ति के इसी स्वरूप द्वारा उत्तर भारत का भक्ति आंदोलन पूर्ण रूप से प्रभावित हुआ है लेकिन तुलनात्मक दृष्टि से श्री सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या दक्षिण भारत में ही विशेष रूप से

---

1. Indian Philosophy by Shri Radhakrishnan Page 703

है। यद्यपि शंकराचार्य के सभी परवर्ती आचार्यों ने 'मायामिथ्यावाद' का खंडन किया है, परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो सैद्धांतिक दृष्टि से एक प्रकार से विशिष्टाद्वैत 'शंकरमत' से समझौता ही था। शंकराचार्य के मतानुसार कर्म-आचरण से चित्त शुद्धि होने के उपरान्त ज्ञान-प्राप्ति होने पर सन्यास ग्रहण कर ब्रह्म चिंतन में रत होना या फिर रामानुज की दृष्टि में प्रेमपूर्वक वासुदेव भक्ति में तत्पर रहते हुए ईश्वर के प्रति सर्वस्व समर्पण करना दोनों ही बातें कर्म-योग की दृष्टि से एक समान ही हैं तथा दोनों मार्ग वस्तुतः निवृत्ति विषयक ही कहे जा सकते हैं। कदाचित् इसीलिये परवर्ती वैष्णवाचार्यों ने विशिष्टाद्वैत को अद्वैतवाद का ही एक सुधार माना है।

(साहित्यकार, मार्च १९५७)

महाराष्ट्र का महानुभाव पंथ और उसका साहित्यिक योगदान

प्रवेश

रामानुजाचार्य जिस प्रकार भारतीय भक्तिभावना को विकसित करने में अपना महत्वपूर्ण योग देकर वेदान्त-भावित भक्ति का प्रचार कर रहे थे उसी प्रकार तेरहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में महानुभाव पंथ नामक एक नवीन सम्प्रदाय का उद्भव हुआ जिसने कि भारतीय भक्ति साधना को विशेष रूप में पल्लवित किया है। ज्ञानेश्वर के प्रादुर्भाव के पूर्व ही यह सम्प्रदाय उत्पन्न हो चुका था और शनैः-शनैः शैशवावस्था समाप्त कर तरुणावस्था की ओर अग्रसर हो रहा था।

महानुभाव पंथ को महानुभाव के अतिरिक्त महात्मा, अच्युत, जयकृष्णी, भटमार्ग परमार्थ आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता है तथा एकनाथ ने तो उसे 'मानभाव 'पंथ' कहा है। "महान् अनुभवः तेजः बलं वायस्य सः महानुभावः" व्युतपत्ति के अनुसार महानुभाव पंथ को महान तेज युक्त माना जाता है और यों तो यह सम्प्रदाय विशेष रूप से महानुभाव पंथ के नाम से ही प्रसिद्ध रहा है तथा ऊपर जिन अन्य नामों का उल्लेख किया गया है वे उतना अधिक प्रसिद्ध नहीं हो पाए। कहते हैं कि चूँकि चक्रधर जो कि इस पंथ के प्रवर्तक माने जाते हैं अपने शिष्यों को 'महात्मा' कह कर सम्बोधित करते थे अतः इसे 'महात्मा' भी कहा जाने लगा और नागदेवाचार्य का नामाभिधान 'भटोवारु' होने से इसे 'भटमार्ग' के नाम से संबोधित किया गया तथा सोलहवीं शताब्दी में पंजाब में वह 'जयकृष्णी' नाम से प्रसिद्ध हुआ। डॉ० विष्णु भिकाजी कोलते ने लोक शिक्षण वर्ष ७ अंक ४-५ में प्रकाशित अपने लेख 'महानुभाव पंथ की परमार्ग' में उसका मूलनाम 'परमार्ग' माना है[1] तथा स्वयं चक्रधर ने भी 'या मार्गासि दत्तात्रेय प्रभु आदि कारण' व 'परधर्म म्हणजे तुमचें जीवन की गा' नाम की उक्तियाँ निःसृत की हैं। एकनाथ ने तो अपनी कृतियों में सर्वज्ञ ही उसे मानभाव कहा है—

होउनि मानभाव। अवघां बुडविला ठाव॥
जालो म्हणसि मानभाव। अंतरी शुद्ध नाहीं भाव॥
मानभावबाई। आम्हां भिक्षा वाढा कांही॥

कहा जाता है 'गोविन्द प्रभु का तप, चक्रधर की वेधशक्ति, और नागदेव की संघटन शक्ति' इन तीन शक्तियों के एकीकरण से महानुभाव पंथ का उद्भव और विकास हो सका। अतएव यहाँ इन तीनों के जीवनवृत्त पर संक्षेप में प्रकाश डालना आवश्यक है।

---

[1] लोक शिक्षण, वर्ष ७, अंक ४-५

यों तो चक्रधर महानुभाव पंथ के प्रवर्तक कहे जाते हैं लेकिन वास्तव में गोविन्द प्रभु को जिनका कि जन्म वि० सं० १२४५ के लगभग विदर्भ अर्थात् बरार में ऋद्धिपुर नामक स्थान के समीम काठसुरे ग्राम में हुआ था इसके जन्म देने का वास्तविक श्रेय है। गोविंद प्रभु को जिन्हें कि गुण्डम प्रभु या गुण्डोबा भी कहा जाता है काण्व शाखीय ब्राह्मण थे। चूँकि शैशवास्था में ही वे मातृ-पितृ हीन हो गये थे और इनकी मौसी ने ऋद्धिपुर लाकर इनका पालन-पोषण किया था अतः स्वाभाविक ही ये बचपन में ही विरक्त हो गए तथा परमार्थ सुख-प्राप्ति के हेतु ज्यों ज्यों अग्रसर होते गए त्यों त्यों उस सुखानुभव की वृद्धि होने से वे आगे चल कर सिद्ध कोटि को भी प्राप्त हो सके। वस्तुतः वे श्रीकृष्ण की अनन्य भक्ति पर ही विश्वास करते थे और संवत् १३४२ में वे समाधिस्थ हुए थे। महानुभाव पंथ के प्रवर्तक कहे जाने वाले और उसे एक विशाल सम्प्रदाय का रूप देकर भक्ति आन्दोलन को विकसित करने वाले चक्रधर इन्हीं के शिष्य थे जो कि गुजरात से विदर्भ आए थे तथा जिनका जन्म संवत् १२०८ में हुआ था। चक्रधर गुजरात के भड़ौंच प्रान्त के राजा मल्लदेव के प्रधान मंत्री विशालदेव नामक नागर ब्राह्मण के पुत्र थे और उनका प्रारंभिक नाम हरिपाल देव था। कहते हैं चूँकि मल्लदेव के कोई सन्तान न थी अतएव उन्होंने मृत्यु समय में अपना राज्य विशालदेव को ही दे दिया और इस प्रकार हरिपाल देव ने अपने पिता के राज्यकाल में तथा उनके पश्चात् भी कई युद्धों में अपना पराक्रम दिखाया और विजय प्राप्त की। उन्होंने अत्यंत ऐश्वर्यशाली जीवन व्यतीत किया था और उनके दो तीन विवाह भी हुए थे लेकिन उन्हें इस प्रकार का ऐश्वर्यपूर्ण तथा विलासी जीवन रुचिकर और शांतिदायक न प्रतीत हो रहा था अतः वे अपनी माता की आज्ञा लेकर रामटेक की यात्रा करने निकले जहाँ कि मार्ग में ऋद्धिपुर में उनकी भेंट गोविंद प्रभु से हुई। गोविंद प्रभु से वे इतना अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने वहीं रुक जाने का निर्णय किया तथा उनकी इस निष्ठा से गोविंद प्रभु भी प्रभावित हुए और उन्होंने उनका नाम चक्रधर रखा। महानुभाव पंथ में चक्रधर को श्रीकृष्ण का अवतार माना जाता है और वस्तुतः वे श्रीकृष्ण ही समझे जाते हैं।[1] कहते हैं उन्हें संवत् १३२० में भगवान दत्तात्रेय का साक्षात्कार प्राप्त हुआ था और तभी उन्होंने सन्यास दीक्ष ली तथा ऋद्धिपुर लौट कर महानुभाव पंथ की स्थापना की। केवल नौ वर्षों में ही अर्थात् १३२९ तक उनके पाँच सौ के लगभग शिष्य बन

---

[1] 'महानुभाव तत्वज्ञान' और 'महानुभावांचा आचार धर्म' नामक कृतियों के रचयिता डॉ० विष्णु भिकाजी कोलते ने 'गुरुदेव ,मासिक के प्रार्थना तत्वांक' में (पृष्ठ ५५) में चक्रधर स्वामी को स्पष्ट रूप से परमेश्वर का अवतार माना है—"भरवस उर्फ भड़ौच क्षेत्रांतील विशाल देव नांवाच्या प्रधानाला माल्हणदेवी पासून एक पुत्र झाला, त्याचें मूळचें नांव हरिपालदेव, ऐन तारुण्यांत असतांना हरिपालदेव ला तापामुळें मृत्यु आला. पण त्याच्या त्या मृत शरीरांत द्वारावतीकार श्री चांगदेव उर्फ चक्रपाणी राउल यांनी प्रवेश करने अवतार स्वीकारला. श्रीचांगदेव हे परमेश्वराचें अवतार होते. अर्थात् हरिपालदेवाच्या मृत शरीरांत त्यांनी प्रवेश केल्वामुळें हरिपालदेव हे सुद्धां प्रत्यक्ष परमेश्वराचा अवतार होते हें सांगावयास नकोच. या अवतार स्वीकारानंतर,.......गुंड स्वामींनी हरिपालदेवाचें नांव चक्रधर असें ठेविले. त्या दिवसापासून हरिपालदेव श्री चक्रधर स्वामी म्हणून ओळखलें जाऊं लागलें."

चुके थे जिनमें कि तेरह स्त्रियाँ भी थीं और उन्होने श्रीकृष्ण तथा दत्तात्रेय दोनों को उपास्य देवता मानते हुए गीता अ० ९ श्लोक० ३२–"स्त्रियों वैश्यास्तथा शुद्रोस्तेऽपि यान्ति परां गतिम्" के आधार पर शूद्रों और स्त्रियों को भी सन्यास का अधिकार दिलवाया । कहते हैं संवत् १३२९ में चक्रधर बदरीनारायण की ओर गये थे और फिर वे वहाँ से नहीं लौटे लेकिन उनके जीवन काल में ही उनके सिद्धान्तों का प्रचार दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा था । अतः उनके एक प्रमुख शिष्य नागदेवाचार्य (सं० १२९३—१३५९) ने महानुभाव पंथ को एक स्वतंत्र संगठित एवम् प्रभावशाली रूप प्रदान किया ।

तत्त्वज्ञान व आचार धर्म

वस्तुतः गोविन्द प्रभु, चक्रधर तथा नागदेवाचार्य तीनों ने महानुभाव पंथ विषय किसी ग्रंथ की रचना नहीं की है तथा समय-समय पर चक्रधर के मुख से जो उक्तियाँ निःसृत हुई उन्हें ही उनके शिष्यों ने संगृहीत कर रखा है । साथ ही महीन्द्र व्यास या महीभट्ट नामक चक्रधर के शिष्य ने जो लीलाचरित्र नामक ग्रंथ लिखा है जिसमें कि उनकी १५०० लीलाओं के साथ-साथ उनके वचन भी दिए गए हैं, जिन्हें एकत्र करके संवत् १३५५ में केशवराज सूरि ने 'सिद्धान्त सूत्रपाठ' या 'आचार्य सूत्रपाठ' नामक एक सूत्र ग्रंथ का निर्माण किया जिसमें कि १६०९ सूत्र हैं तथा जिसे कि महानुभाव पंथी आदि ग्रंथ मानते हैं । सिद्धान्त सूत्रपाठ में अन्य व्यावृत्ती, युगधर्म, विद्यामार्ग, संहार, संसरण, महाकाव्य, निर्वचन, उद्धरण, अस्तिपरि, आचार व आचारमालिका और विचार व विचारमालिका नामक ग्यारह प्रकरण हैं तथा 'दृष्टान्त' नामक एक बारहवाँ प्रकरण भी है और पूर्वी व पंचकृष्ण नामक अन्य दो प्रकरण भी हैं परन्तु चूँकि उन पर भाष्य नहीं है, अतः केवल उपर्युक्त वारह प्रकरणों की गणना ही की जाती है । सिद्धान्त सूत्रपाठ के अतिरिक्त महानुभाव पंथ में श्रीमद्भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत को भी प्रामाणिक ग्रंथ माना गया है । स्मरण रहे सर्वप्रथम २१ नवम्बर १८९९ के 'केसरी' में स्वर्गीय लोकमान्य तिलक ने अपने एक विस्तृत लेख में महानुभाव पंथ के विषय में विचार व्यक्त किए थे और तदुपरान्त डॉ० भंडारकर, श्री राजवाड़े, श्री गोविन्द काशिनाथ चंदोरकर, श्री विनायक लक्ष्मण भावे, श्री केशव आप्पा पाध्ये, श्री हरिभाऊ नेने, श्री नी० वृ० भवाळकर, डॉ० यशवंत खुशाल देशपाण्डे, श्री वा० ना० देशपाण्डे , डॉ० विष्णु भिकाजी कोलते आदि विद्वानों तथा महंत दत्त लक्षराज कवीश्वर महानुभाव, श्री मुरारी यक्षदेव, महंत श्री बालकृष्ण महानुभाव शास्त्री, श्री गौरव व्यास महानुभाव, श्री गोपीराज, श्री कृष्णराज दादा लासूरकर और श्री मुरलीधर शास्त्री आदि महानुभावीय आचार्यों की सहायता से महानुभाव पंथ उसके तत्त्वज्ञान, आचार धर्म तथा साहित्य के सम्बन्ध में बहुत सी उपादेय सामग्री भी प्रकाश में आ सकी ।

वस्तुतः महानुभाव पंथ भी भारत में प्रचलित अनेक भक्तिमार्गों के समान एक भक्तिमार्ग है जो कि भागवत सम्प्रदाय की भाँति भक्ति में जाति का भेदभाव स्वीकार न कर अहिंसा, सन्यास, सगुण भक्ति, सदाचरण, नामस्मरण को प्रधान अंग मानकर द्वैत सम्प्रदाय के रूप में अधिष्ठित है । भारत में प्रायः दो प्रकार के भक्तिमार्ग हैं जिनमें से प्रथम में ऐहिक व पारलौकिक सुख की प्राप्ति हेतु इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि देवताओं की भक्ति की जाती है तथा द्वितीय में यह समझकर कि ऐहिक और पारलौकिक सुख दोनों ही नाशवंत हैं अतः अलौकिक ब्रह्मानंद की प्राप्ति हेतु परब्रह्म की उपासना ही श्रेयस्कर मानी

गई है। श्री बालकृष्ण महानुभाव शास्त्री ने तो इन दूसरे प्रकार के भक्तों को ही महानुभाव पंथ का अनुयायी माना है और उनकी दृष्टि में "महानुभाव पंथ हा मुमुक्ष लोकांचा पंथ आहे।"[1]

यद्यपि ईश्वर प्रत्यक्ष रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता लेकिन धर्म-संस्थापन हेतु वह प्रत्येक युग में अवतार भी ग्रहण करता है, यह बात स्पष्ट रूप से श्रीमद्भगवद्गीता (अ० ४, श्लो० ८) तथा श्रीमद्भागवत् (१०।२९।४४) में स्वीकार भी की गई है। अतएव महानुभाव पंथ भी अवतारवादी ही है और उसमें भी यह माना गया है कि परमेश्वर अवतार ग्रहण कर सगुण व साकार रूप ग्रहण करता है तथा चक्रधर स्वामी ने तो कहा भी है—

> सृष्टीमध्यें कन्हणों करणे मुचिजेना एके परमेश्वरेंविण।
> तोचि परमेश्वरु निर्वव निराकारु असे।
> पर कृपावशें सावेवो साकारु होओ।
> अवतरे आपुलें धान दे। तें दास्यमोचक॥

यद्यपि महानुभाव पंथ में यह माना गया है कि परमेश्वर प्रत्येक युग में अनेक अवतार ग्रहण कर ज्ञानोपदेश प्रदान करता है लेकिन उसमें केवल चार ही अवतार स्वीकार किए गए हैं और इस प्रकार कृतयुग में हंसावतार, त्रेता युग में दत्तावतार, द्वापर में श्रीकृष्ण और कलियुग में स्वयं चक्रधर नामक चार अवतार माने गये हैं। कहा जाता है कि चूंकि हंस व श्री दत्तात्रेय दोनों का मूल तत्वज्ञान उपलब्ध नहीं है लेकिन श्रीकृष्ण व श्री चक्रधर का तत्वज्ञान विद्यमान है अत: अंतिम दो को विशेष रूप से प्रधानता प्राप्त हुई है तथा इन दोनों में भी चक्रधर स्वामी ने श्रीकृष्ण की गीता और भागवत को ही सर्वसाधारण को परिचित कराना चाहा है। इसीलिए महानुभाव ग्रंथ में श्रीकृष्ण की उपासना पर विशेष बल दिया गया है। साथ ही उसमें पाँच कृष्ण भी माने गये हैं अर्थात् एक तो द्वारावती के श्रीकृष्ण, दूसरे दत्तात्रेय प्रभु, तीसरे द्वारावती के सिद्धपुत्र चांगदेव राउल, चौथे ऋद्धपुर के गोविन्द प्रभु और पाँचवे स्वयं श्री चक्रधर।

महानुभाव पंथी श्रीकृष्ण को साक्षात परमेश्वर मानते हैं। उनका यह विश्वास है कि जो भी उन्हें साक्षात् परब्रह्म समझकर उनकी उपासना करता है वह निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करता है लेकिन साथ ही यह भी कहा जाता है कि श्रीकृष्ण वैकुण्ठवासी विष्णु के अवतार नहीं हैं अपितु उनकी स्वतन्त्र सत्ता है। यद्यपि 'विष्णु' शब्द की व्युत्पत्ति "वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः" के अनुसार जो समस्त चराचर जगत में व्याप्त है वह विष्णु है और इस प्रकार विष्णु की व्यापकता स्वीकार कर उसे परब्रह्म मान लिया जाता है तथा श्रीकृष्ण को उनका अवतार भी कहा जाता है परन्तु स्मरण रहे इस कथन के विपरीत भी कई प्रस्तुत तर्क किए जाते हैं। परमहंस स्वामी गोपालदास ने तो 'वैराग्य भास्कर' नामक ग्रन्थ में यह लिखकर—

---

[1] **महानुभाव पंथ—श्री बालकृष्ण महानुभाव शास्त्री (पृ० ३-४)**

"इन्द्रलोके महद्दुःखं सत्यलोके तथैव च।
विष्णुलोके तथा रौद्रे दुःखमेव विचारतः॥
ननु वैकुण्ठ वैष्णवा एवं न मन्यन्त इति न च वाच्यं।
तत्रापि जयविजयाभ्यां यद् दुःखं दृष्टं तत्प्रसिद्धम्॥

स्पष्टरूप से कहा है कि इन्द्रलोक, सत्यलोक, विष्णुलोक, शिवलोक, सर्वत्र दुःख ही दुःख है तथा स्वयं वैकुण्ठ लोक के द्वारपाल 'जय और विजय' को जो दुःख प्राप्त हुआ वह तो स्पष्ट ही है अतः वैष्णवों का यह कहना कि वैकुण्ठ लोक में दुःख नहीं है, तर्कसंगत नहीं है। साथ ही श्री शंकराचार्य ने तो 'प्रबोध सुधाकर' में स्पष्ट रूप से श्रीकृष्ण को वैकुण्ठवासी विष्णु से निराला ही माना है[1] तथा प्रसिद्ध संत कवि एकनाथ ने भी श्रीकृष्ण को अपनी प्रसिद्ध कृति भागवत (अ० ७-१९७) में पूर्णांशी अवतार माना है—

देशतः कालतः स्वभावेंसी। नाशु न पीवे ज्या स्थानासी।
तेथींचा तूं निवासवासी। पूर्ण पूर्णांशी अवतारु॥

अतएव श्री बालकृष्ण महानुभाव शास्त्री ने तर्कसंगत विवेचन सहित श्रीकृष्ण को वैकुंठवासी विष्णु का अवतार नहीं माना है और वे कहते हैं—

"श्रीकृष्ण हा वैकुण्ठवासी विष्णूचा अवतार नसून तो वैकुंठवासी विष्णूहून निराळा आहे-त्याला वैकुंठवासी विष्णूचा अवतार मानणें, हे गीता शास्त्राच्या अगदींच विरुद्ध आहे-"[2]

जिस प्रकार महानुभाव पंथ में श्रीकृष्ण की उपासना को श्रेष्ठतम मानते हुए उन्हीं को इष्टदेव माना गया उसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता को प्रामाणिक ग्रंथ भी कहा गया है। चक्रधर के "बाई: गीता श्रीकृष्णोक्तिः एक अवघी व्यासोक्तिः" वचनों से यह प्रतिपादित भी हो जाता है कि महानुभाव पंथ में गीता को अत्यधिक महत्व दिया गया है। चक्रधर ने परमेश्वर स्वरूप ज्ञान व अनन्य भक्ति या दोनों के समन्वित साधन द्वारा परमेश्वर प्राप्ति संभव मानी है। जैसा कि स्वयं श्रीकृष्ण ने गीता में "तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते" नामक उक्ति द्वारा परमेश्वर की अनन्य भक्ति करने में ज्ञानी को सर्वश्रेष्ठ समझा है और जिस प्रकार शुद्ध भक्तियुक्त ज्ञान को ही परमेश्वर-प्राप्ति का साधन समझा है, उसी प्रकार महानुभाव पंथ के प्रवर्तक चक्रधर ने भी भक्तियुक्त ज्ञान को ही एकमात्र परमेश्वर-प्राप्ति का साधन माना है। स्मरण रहे न केवल गीता में अपितु उपनिषदों में ज्ञान का महत्व स्वीकार किया गया है और चक्रधर स्वामी ने भी सूत्रपाठ में "आत्मज्ञानें मोक्षु", "ज्ञानमोचक", "ज्ञानियासि मोक्ष देति", "ज्ञानिया ब्रह्मी मिसले, बुड़ी दे", "ज्ञानपूज्यः ज्ञानवृद्ध तो सर्वत्र पूज्य"

---

[1] ब्रह्माण्डानि बहूनि पंकजभवान प्रत्याङ्गात्यदभुतान्।
गोपाल वत्सयुतान दर्शयवजं विष्णूनशेषांषच यः॥
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्।
कृष्णो हि पृथगस्ति कोऽत्यविकृतः सच्चिचन्ययो नीलिमा॥ २४४॥
—प्रबोध सुधाकर

[2] महानुभाव पंथ—श्री बालकृष्ण शास्त्री महानुभाव (पृष्ठ २९)

तथा "ज्ञानेविण वैराग्य तें काइ करावे बापेया" नामक उक्तियों द्वारा जीव का सर्वप्रथम परमेश्वर से यथार्थ ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक समझा है। ईश्वर कौन है ? मैं कौन हूँ ? सृष्टि का निर्माण कैसे हुआ ? जगत क्या है ? आदि के विषय में सम्यक् जानकारी होने से ही जीव परमेश्वर की भक्ति कर सकता है ? चक्रधर स्वामी ने बारह वर्ष से लेकर छप्पन वर्ष तक के स्त्री-पुरुषों को समान रूप से ज्ञानार्जन का अधिकारी समझा है तथा वे किसी एक विशिष्ट वर्ण या जाति के पुरुष तथा स्त्री को ही ज्ञान का अधिकारी नहीं समझते अपितु इस कर्मभूमि में कोई भी स्त्री-पुरुष परमेश्वर के ज्ञान का अधिकारी है। स्मरण रहे 'एकनाथ भागवत' के २९ वें अध्याय में एकनाथ ने भी स्त्री और शूद्रों को भी ज्ञानाधिकारी माना है। साथ ही चक्रधर परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर उसकी प्राप्ति के हेतु 'अनन्य भक्ति' आवश्यक समझते हैं। शंकराचार्य ने "भगवतोऽन्यत्र पृथङ् न कदाचिदपि या भवति सात्वनन्या भक्तिः" नामक उक्ति द्वारा अन्य दूसरे से प्रेम न कर केवल एक परमेश्वर की आराधना करना ही अनन्य भक्ति मानते हैं और गीता में तो कई ऐसे श्लोक हैं जिनमें कि इसी उक्ति का प्रतिपादन किया गया है। यह तो कहा ही जा चुका है कि महानुभाव पंथी अन्य देवताओं की अपेक्षा केवल श्रीकृष्ण की अनन्य भक्ति को श्रेष्ठतम समझते थे और कदाचित् इसीलिए कृष्ण-विषयक आख्यानक काव्य भी इस सम्प्रदाय के कुछ कवियों ने प्रस्तुत किए हैं। इतना ही नहीं आगे चलकर मराठी के अन्य संत कवियों ने भी अनन्य भक्ति-भाव से ही कृष्णोपासना को श्रेष्ठतम समझा है और ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ तथा तुकाराम सभी की कृतियों में इस प्रकार के उद्धरण दृष्टिगोचर भी होते हैं। यह तो हम कह ही चुके हैं कि महानुभाव पंथ में भक्ति का अधिकार सभी को प्रदान किया गया है और यही कहा गया है कि जो भी चाहे वह अनन्य भक्ति द्वारा परमेश्वर को प्राप्त कर सकता है। साथ ही परमेश्वर प्राप्ति के हेतु नित्य स्मरण की आवश्यकता भी सिद्ध की गई और अंतकाल तक सर्वदा ही परमेश्वर का स्मरण करने की राय देते हुए यही कहा गया है कि इस प्रकार नाम-स्मरण करते-करते ही प्राण त्यागने पर भी परमेश्वर-प्राप्ति संभव है लेकिन श्रीकृष्ण का नाम-स्मरण करते समय विशेष कुशाग्रबुद्धि की आवश्यकता नहीं मानी गई केवल अनन्य प्रेम व भक्ति भाव युक्त अंतःकरण द्वारा ही प्रभु प्राप्ति संभव है। जैसा कि श्री बालकृष्ण महानुभाव शास्त्री ने लिखा है वस्तुतः "महानुभाव पंथाच्या मतें परमेश्वर सेवन ही भगवत्सेवा आहे। तें परमेश्वर प्राप्तीचें अत्यंत सुगम साधन आहे।"[1] स्मरण रहे ज्ञानेश्वर ने भी नाम-स्मरण को ही संसार सागर से पार ले जाने वाली तरणी माना है—

नामाचां सहस्त्रेवरहीं । नावा इया अवधारि ।
सज्जूनि सवेंसारि । तारुं जालां ।। (ज्ञाने० १२।९१)

साथ ही मोक्ष-प्राप्ति में वर्णाश्रम धर्म को निरुपयोगी मानते हुए केवल परमेश्वर की अनन्य भक्ति ही मोक्ष-प्राप्ति में राजमार्ग समझी गयी है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि महानुभाव पंथ में देवता और परमेश्वर विभिन्न माने गये हैं तथा स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो लोग परमेश्वर की अनन्य भक्ति न कर देवी-देवताओं की भक्ति करते हैं उन्हें परमेश्वर प्राप्ति असम्भव ही है क्योंकि देवता परमेश्वर नहीं है। चक्रधर स्वामी का विचार है कि समस्त

---

[1] महानुभाव पंथ—श्री बालकृष्ण महानुभाव शास्त्री (पृष्ठ ५४)

सृष्टि का निर्माता, संहर्ता व जीवोद्धर्ता परमेश्वर एक ही है और वह निराकार, अव्यक्त व सर्वव्यापी होकर भी इन्द्रादि अनेक देवताओं का रूप धारण कर स्वर्गादि लोकों में न रहकर जब-जब धर्म का ह्रास होने लगता है तब-तब अवतार धारण करता है अर्थात् साकार रूप में वह मानव को मोक्ष धर्म का उपदेश देता है अतः अन्य देवताओं की भक्ति न कर उसी परमेश्वर के प्रति अनन्य प्रेम प्रकट करना चाहिए। यद्यपि गीता में कुछ स्थलों पर कहा गया है कि किसी भी देवता की प्रार्थना की जाय वह सब उसी ईश्वर के समीप पहुँचती है लेकिन साथ ही अनेक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ कि देवताओं और परमेश्वर में भिन्नता मानी गयी है। यह भी कहा जाता है कि देवता की प्राप्ति होने पर जीव को पुनर्जन्म लेना पड़ता है लेकिन परमेश्वर की प्राप्ति पर पुनर्जन्म की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार देवता और परमेश्वर भिन्न-भिन्न ही माने-जाते हैं। देवताओं की उपासना से सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य व सायुज्य नामक जो चार प्रकार की मुक्ति प्राप्त होती है, वस्तुतः उनसे पुनर्जन्म की आशंका हो सकती है लेकिन इन चार प्रकार के मोक्षों की अपेक्षा ईश्वर की 'कैवल्य मुक्ति' ही अधिक श्रेष्ठतम है जो एकमात्र परमेश्वर द्वारा प्राप्त हो सकती है। श्रीकृष्ण को तजकर अन्य देवताओं की उपासना करना 'हृतज्ञान' अर्थात् अज्ञान व मतिमंद का द्योतक है। यद्यपि देवता-प्राप्ति करने वाले विनाशी एवं पुनर्जन्म लेनेवाले समझे जाते हैं लेकिन परमेश्वर के भक्त उसकी प्राप्ति पर अविनाशी और आत्यंतिक मोक्ष प्रदाता माने जाते हैं और साथ ही कृष्ण भक्ति यथाविधि पूर्ण रूप से दत्तचित्त होकर करने पर पुनर्जन्म की आशंका नहीं रहती अतः कृष्ण को ही परमेश्वर का सगुण रूप समझना चाहिए।

यद्यपि महानुभाव पंथ में देवताओं को परमेश्वर नहीं माना गया है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हें निम्नतम श्रेणी में रखा गया हो अपितु महानुभाव पंथ का देवता विषयक सिद्धांत यह है कि परमेश्वर, जीव व प्रपंच इन तीनों पदार्थों में देवता ही अव्यक्त अनादि, स्वतःसिद्धि जाति का स्वतन्त्र पदार्थ है और साथ ही माया भी सर्वज्ञ व्यापक है जिसके आधीन अनंत ब्रह्मांड हैं और प्रत्येक ब्रह्मांड में ८१ करोड़ ११ लाख १० देवता हैं।[1] कहा जाता है कि सृष्टि के आरंभ में सृष्टि व्यापार चलाने के हेतु प्रत्येक ब्रह्मांड में अव्यक्त देवता ही मूर्तिमान

---

[1] श्री पं० रा. मोकाशी एम. ए. ने 'महाराष्ट्रांतील पाँच संप्रदाय' नामक कृति में इन ८१ करोड़ ११ लाख १० देवताओं की स्वरूप मर्यादा इस प्रकार दी है—

१. कर्मभूमीच्या देवता—१३ कोटी। प्रत्येक देवतेची स्वरूप मर्यादा ५०० योजनें।
२. अष्टादेवयोनि—१३ कोटी। स्वरूप मर्यादा ५००० योजनें।
३. अंतराल—संख्या १३ कोटी। स्वरूप मर्यादा ५०० योजनें।
४. स्वर्ग—संख्या ३३ कोटी।
५. सत्य, कैलास, वैकुंठ संख्या—९ कोटी। स्वरूपाची मर्यादा ५० लक्ष योजनें।
६. क्षीराब्धी—संख्या १। लक्ष। स्वरूप मर्यादा ५ कोटी योजनें।
७. अष्टभैरव संख्या ८। स्वरूप मर्यादा ५० कोटी योजनें।
८. विश्व—संख्या १। स्वरूप मर्यादा ५०० कोटी योजनें।
९. माया—संख्या १। स्वरूप मर्यादा अगक्षित। (पृष्ठ ५८ : ५९)

थे जिन्हें कि 'ब्रह्माण्डस्थ देवता' कहा जाता था। कहते हैं समस्त सृष्टि-व्यापार के संचालन की भी देवताओं में शक्ति रही है और चक्रधर ने तो यह लिखकर "शक्ति शब्दे सकलैं देवताः सकलैं गुणः सकलैं धर्मः ज्ञानः विज्ञान हे सर्वशक्ति शब्दें बोलिजे।" देवताओं को भी परमेश्वर की भाँति शक्तिवान माना है अर्थात् महानुभाव पंथ में कभी भी देवताओं की अवहेलना या निंदा नहीं की गई।

अपने समकालीन मध्वाचार्य की भाँति चक्रधर भी 'पूर्णद्वैतवाद' के समर्थक थे और उन्होंने महानुभाव पंथ के अनुयायियों को 'पूर्णद्वैत' की उपासना करने पर ही जोर दिया था। उन्होंने ब्रह्म, ईश्वर, जीव, अविद्या, जीव व अविद्या का योग तथा जीव व ईश्वर का भेद इन छहों पदार्थों को स्वतंत्र मानते हुए अनादि व अनंत माना था और इस प्रकार इनमें से प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र होते हुए भी इनमें से किन्हीं दो की ऐक्यता होना कठिन है। अतः इन्हें 'पूर्णद्वैती' माना जा सकता है। जैसा कि श्री दांडेकर ने लिखा है, "महानुभावीय तत्वज्ञान हें पूर्ण द्वैताचें तत्व ज्ञान असल्याचें जीव, देवता, प्रपंच व परमेश्वर ह्यापैकी कोणचेहि दुस याशीं किंवा सर्वांशी मिलन असें ऐक्य होत नाहीं।"[1] चक्रधर स्वामी ब्रह्म व ईश्वर को भिन्न-भिन्न मानते हुए कहते हैं कि ब्रह्म निर्गुण है परन्तु ईश्वर सगुण होने से विरुद्धधर्मी है तथा ईश्वर के ब्रह्म स्वरूप का अंत पाना सहज है और वह अमर्यादित है लेकिन ब्रह्म स्वरूप समर्यादित है अतः वह अमर्यादित ईश्वर स्वरूप की अपेक्षा गौण है और त्रिगुणात्मक माया ही ब्रह्म व ईश्वर दोनों में विद्यमान है तथा उन दोनों के जिन भागों में माया रहती है वह भास त्र्यंश अर्थात् तीन अंश कहलाता है क्योंकि ब्रह्म माया व ईश्वर से तीनों अंश उस स्थान पर विद्यमान रहते हैं। वस्तुतः मायायुक्त ईश्वर में ही सृष्टि की रचना, जीवों का उद्धार तथा सृष्टि का संहार नामक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं और मायाविरहित ईश्वर में कोई भी इच्छा उत्पन्न नहीं होती। अतः वह कुछ भी करने में समर्थ नहीं रहता जीवोद्धार का कार्य परम ऐश्वर्य का है और उसे सम्पन्न करने के कारण ही मायामुक्त ईश्वर 'परमेश्वर' कहलाता है तथा उसे हम ईश्वर भी कह सकते हैं परन्तु माया रहित ईश्वर जो कि कुछ भी नहीं कर पाता वह 'परमेश्वर' न कहा जाकर ईश्वर ही कहलाएगा। परमेश्वर व ईश्वर का सूक्ष्मभेद स्पष्ट करने के हेतु हम कह सकते हैं कि मायायुक्त परमेश्वर तो सृष्टिसंहार कर सकता है परन्तु माया विरहित ईश्वर कुछ भी नहीं कर पाता। परमेश्वर को जो ये तीनों इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं उनमें से जीवोद्धार का कार्य ही वह स्वयं करता है तथा शेष सृष्टिरचना व सृष्टिसंहार दोनों कार्य उसकी आज्ञानुसार माया द्वारा सम्पन्न होते हैं और वह तो केवल निमित्त मात्र रहता है। इस त्र्यंश ब्रह्मा को सच्चिदानंद कहा जाता है क्योंकि सत् अर्थात् ब्रह्म, चित् अर्थात् माया और आनंद अर्थात् ईश्वर के मिलन से ही 'सच्चिदानंद' शब्द बनता है लेकिन कुछ लोग इसके सत् अर्थात् सत्य, चित् अर्थात् ज्ञान, आनंद अर्थात् आनंदस्वरूप नामक अर्थ भी करते हैं परन्तु प्रथम अर्थ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

चक्रधर स्वामी ने 'जीव' को माया का स्वरूप मानते हुए कहा है कि वह अनादिकाल से एक स्वतंत्र पदार्थ माना जाता है और उसमें माया द्वारा ही कार्य प्रवीणता आ सकी है।

---

१. मराठी साहित्याची रूपरेखा—ले० प्रा० वि. पां दांडेकर

साथ ही जीव अनादिकाल से अनादि अविद्या से युक्त बद्ध है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें ज्ञान का अभाव है अपितु अविद्या एक भाव रूप पदार्थ है। जो जीव युक्त होकर परमेश्वर स्वरूप में लीन होते हैं उनका पुनर्जन्म नही होता परन्तु जो युक्त नहीं हो पाते वे सृष्टि संहार के पश्चात् माया में लीन होते हैं अतएव दुबारा सृष्टि रचना के समय उन्हें पुनः जन्म लेना पड़ता है। चक्रधर स्वामी ने प्रत्येक के शरीर में जीव के साथ चिदंश अर्थात् मायांश की संलग्नता भी स्वीकार की है और उनकी दृष्टि में वह सर्वदा विद्यमान रहती है तथा कर्मफल तो जीव को सहन करने पड़ते हैं लेकिन चिदांश संलग्न तटस्थ ही रहता है। जैसा कि हम कह चुके हैं चक्रधर स्वामी की दृष्टि में परब्रह्म अनादि है और साथ ही प्रकृति अर्थात् माया व पुरुष अर्थात् जीव ये दोनों ही अनादि हैं अतएव परब्रह्म, माया और जीव ये तीनों वस्तुएँ अनादिकालीन ही हैं अतः उनकी दृष्टि में द्वैतवाद का सिद्धान्त भी अनादिकालीन ही है।

महानुभाव पंथ में जिस आचार धर्म को पालन करने के अनुदेश दिए गए हैं उसे चक्रधर स्वामी ने 'असती परी' नाम दिया है और इस प्रकार यह 'आचार धर्म', 'असती परी' कहलाता है। डॉ० कोलते ने 'असती परी' शब्द को समझाते हुए उसकी व्यापकता भी सिद्ध की है और स्पष्ट किया है कि उसमें समस्त शासक, धनी, गरीब, सर्वसामान्य जनता, देवता विषयक कर्त्तव्य और युग-धर्म आदि का समावेश होता है तथा असती परी द्वारा यही स्पष्ट किया गया है कि साधक को कौन कौन से आधार धर्मों का पालन करना चाहिए अर्थात् 'असती परी' शब्द 'परमेश्वर विषयक आचारधर्म' के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[1] इसमें कोई संदेह नहीं कि यह आचार धर्म विशेष रूप से ज्ञानमार्गी ही है लेकिन ज्ञान प्राप्त होने पर सर्व संग परित्याग कर परमेश्वर का अनुसरण आवश्यक है और इस अनुसरण से मलत्यागी, अनिष्टत्यागी, स्वतेवत्यागी तथा कुष्टिवासनात्यागी नामक चार प्रकार माने गये हैं। परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त होते ही जो अपना सब कुछ 'मल' समझकर तत्काल ही त्याग देता है और केवल परमेश्वर का अनुसरण करता है वह 'मलत्यागी' है। चूँकि वह सत्वप्रधान होता है अतः उसका त्याग सात्विक या निर्गुण त्याग कहा जाता है। राजस प्रकृति

---

[1] 'असती' म्हणजे असण्याची अथवा वागण्याची 'परी' म्हणजे रीति अर्थात् वागण्याच्या विशिष्ट पद्धतीला 'असती परी'' असे नांव आहे। वस्तुतः 'असती परी' हा शब्द अतिशय व्यापक आहे। त्याग राजेलोकांच्या, प्रधानांच्या सेवकांच्या व सर्व सामान्य कर्मराहाटीतील जनतेच्या आचार धर्माचा जसा समावेश होऊ शकतो तसाच देवताविषयक आचारधर्माचा म्हणजे त्यांच्या युगधर्माचा आणि बहिर्यागाचाहि समावेश होऊ शकतो। देवतांच्या आचार धर्म प्रमाणे च परमेश्वर विषयक आचार धर्माचाहि त्यांत अंतर्भाव होतो तथापि श्री चक्रधर स्वामींनी आपल्या ब्रह्म विद्याशास्त्रांत प्रस्तुत असती परी हा शब्द परमेश्वर विषयक आचार धर्मविषयीय वापरलेला आहे हे लक्षांत ठेवले पाहिजे। तेव्हां 'असती परी' म्हणजे साधकाने कशा रीतिने असावे, अर्थात् कोणता आचार पाळावा व कोणता पाळू नये या विषयी साधनदात्या परमेश्वराने सांगितलेला आचारधर्म।''

—महानुभावांचा आचारधर्म—डॉ० वि. भि. कोलते (पृ० ४)

का मनुष्य अनिष्ट त्यागी तथा तामस प्रकृति का स्वतेवत्यागी कहलाता है और चौथा कुष्टिवासना त्याग वस्तुतः कुष्ट रोगियों के लिये है। ज्ञान प्राप्त होने पर सब कुछ परित्याग कर पूर्ण रूप से परमेश्वराधीन होकर उसके बतलाए हुए आचारानुसार चलते हुए उसकी आज्ञा का पालन करना ही अनुसरण कहलाता है और साधक के लिये यह आवश्यक है कि कर्म, धर्म, विधि और विषय का त्याग करे। कर्म से अभिप्राय यहाँ विकल्प रूप व व्यवसाव रूप कर्म से है और साथ ही जिस प्रकार कर्मत्याग की आवश्यकता है उसी प्रकार परमेश्वर का अनुसरण करने के हेतु ज्ञानी को देशधर्म, ग्रामधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, पुराणधर्म, आगमधर्म, प्रशक्ति धर्म, निर्वत्तिधर्म, युगधर्म और राज धर्म नामक द्वादश धर्मों का भी त्याग कर देना चाहिए। साथ ही राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, मत्सर, नामक विकारों का भी त्याग करना आवश्यक है और इस प्रकार महानुभाव पंथ के आचार धर्म में सन्यास को ही प्रधानता दी गई है लेकिन महानुभाव पंथ में सन्यास का अर्थ परमेश्वर प्रापक कर्मप्रधान सन्यास है और इस प्रकार उसमें कहा गया है कि जिन कर्मों के करने से ईश्वर प्रसन्न होता है उन्हें मुमुक्षु गणों को अवश्य करना चाहिये। यह तो कहा ही जा चुका है कि चक्रधर स्वामी ने चारों वर्णों को सन्यास ग्रहण का अधिकारी माना था और इतना ही नहीं वे स्त्रियों को भी सन्यासाधिकार प्रदान करने के पक्ष में थे। साथ ही महानुभाव पंथी बनने के हेतु द्यूत, मद्य, भाँग, वेश्या, शिकार, चोर और परद्वार सेवा नामक सात प्रकार के दुर्व्यसनों का सर्वथा परित्याग करना चाहिए और साथ ही एकमात्र परमेश्वर की अनन्य भक्ति करने की दृढ़ प्रतिज्ञा भी गुरु के सामने ग्रहण करना परमावश्यक है। जब तक मनुष्य इस प्रकार की प्रतिज्ञा अपने गुरु के सामने नहीं करता तब तक महानुभाव पंथ का गुरु उसे गुरुमंत्र नहीं प्रदान करता। प्रतिज्ञा पूर्वक महानुभाव पंथ का अनुयायी बन जाने पर परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं की उपासना सर्वथा त्याग देनी चाहिए लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी देवतामूर्ति की अवहेलना या तिरस्कार किया जाय अथवा उसे भंग किया जाय अपितु जो कोई ऐसा कार्य करता है उसे 'महानुभाव तत्वज्ञान' में डॉ० कोलते ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि एक हजार वर्षों तक जड़त्व नामक नरक भोगना पड़ता है। जैसा कि 'महाराष्ट्र परिचय' में महानुभाव पंथ के आचार धर्म को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है "परमेश्वरांचे शब्द ज्ञान झल्यावर जीवाला' असती परी 'आचरुन' अपरोक्ष ज्ञान ला पात्र व्हावे लागते। ही असती परी म्हणजेच महानुभावांचा आचार धर्म होय। सर्व विकारांचे पूर्णपणें नियमन करणें, त्यासाठी विकार निर्माण करणा या स्त्री पुरुष, गायन वादन इत्यादि पदार्थाचा त्याग करणें, जीवदेवतांवर ईश्वरबुद्धि आणणारा, जीवजीवोत उच्चनीचता मानणारा विकल्प मनांत उत्पन्न होऊँ न देणें, त्यासाठीं देवतास्थानांचा त्याग करणें, आपल्या आहाराकडे नियंत्रण घालणें, त्यासाठी चारहि वर्चाच्या घरी परिमित भिक्षा मागून ती काला करून खाणें आणि अशा रीतिनें अटन करीत करीत म्हणजे रानावनांतून एकांतवासांत राहून परमेश्वराचें स्मरण करीत क करीत जन्म क्षेपणें हा महानुभावांचा आचारधर्म होय।"[1] चक्रधर स्वामी ने "तुम्ही अच्युत गोत्रीय कीं याः तुम्हां परस्परें परमप्रीति होआवी" नामक उक्ति के अनुसार अपने अनुयायियों को आज्ञा दी है कि वे परस्पर एक दूसरे

---

[1] महाराष्ट्र परिचय (पृष्ठ ५७७)

के प्रति प्रेमभावना रखें और इसी प्रकार 'एकमेकां भेटलेयां हे भेटलेयाचा पाडु जाए' नामक उक्ति द्वारा वे यही कहते हैं कि परमेश्वर भक्तों की पारस्परिक भेंट ही इतना अधिक आनन्ददायक होती है कि मानों जितना आनंद ईश्वर से भेंट करने पर मिलता हो। साथ ही महानुभाव पंथ में यह भी कहा गया है कि चूँकि अतिथि भी परमेश्वर का एक भक्त है अतः उसका आदर सत्कार भी परमावश्यक है और इस प्रकार की भावना लेकर अतिथि-सत्कार करना परमेश्वर के प्रति प्रेमभाव व्यक्त करना ही है। परमेश्वर का भक्त चाहे वह भिक्षुक हो या गृहस्थ यदि सामने से जा रहा हो तो उससे सबसे पहले दंडवत करनी चाहिये। फिर प्रेमभाव के साथ आलिंगन करते हुए सुपारी या नारियल की भेंट देनी चाहिये तथा पाँच बार साष्टांग नमस्कार कर भोजन का निमंत्रण देना चाहिये और भोजन के समय गंध, अक्षत, पुष्प इत्यदि उपादानों द्वारा पूजा करते हुए 'अन्न को' 'कृष्णार्पण' करने का संकल्प कर पुनः आरती व धूपारती कर पाँच साष्टांग नमस्कार करना चाहिए। इस प्रकार नम्रभाव व प्रेमपूर्वक भोजन कराकर यथाशक्ति अन्य प्रकार की सेवाएँ भी करनी चाहिए। स्मरण रहे इस अतिथि सत्कार में 'ईश्वरार्पण' ही बुद्धि का लक्ष्य होना चाहिये। चक्रवर स्वामी ने यह भी कहा है कि गुरु को परमेश्वर भक्त समझकर उसकी उपासना करनी चाहिये परन्तु उसे साक्षात् परमेश्वर न समझ लेना चाहिये और साथ ही महानुभाव पंथियों का अपने गुरु या अन्य किसी श्रेष्ठ की समाधि बनाकर उसका पूजन-अर्चन करना वर्जित समझा गया क्योंकि समाधि पूजा तो प्रेतपूजा है। बहुत से लोग श्रीकृष्ण की प्रतिमा के साथ-साथ राधा या रुक्मिणी की मूर्ति की पूजा भी करते हैं परन्तु महानुभाव पंथ में राधा रुक्मिणी की भक्ति न करने के लिये कहा गया है। कहा जाता है कि एकादशी व्रत करने से अश्वमेध का पुण्य प्राप्त होता है और वैकुंठ पद मिलता है लेकिन महानुभाव पंथ में तो परमेश्वर की प्राप्ति पर ही मोक्ष-प्राप्ति संभव मानी गयी है और जिन कर्मों के करने से परमेश्वर प्राप्त होता है उन्हें ही करने को कहा गया है। साथ ही महानुभाव पंथ में श्राद्ध करना भी आवश्यक नहीं समझा जाता और परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी को महाराज, स्वामी या देव का सम्बोधन न करने के लिये कहा गया है तथा प्रत्येक महानुभाव पंथी को एक-दूसरे को दंडवत प्रणाम करना चाहिए। महानुभाव पंथ में प्रेत के लिये अग्निसंस्कार भी आवश्यक नहीं समझा गया लेकिन उसमें किसी भी अनुयायी की मृत्यु के उपरान्त दस दिनों तक ज्ञानी महंत या ज्ञानी भिक्षुकों को भोजन कराने की विधि 'दशक्रिया' के नाम से प्रचलित है। इस प्रकार न केवल तत्त्वज्ञान अपितु आचारधर्म की दृष्टि से भी महानुभाव पंथ महाराष्ट्र का एक प्रमुख सम्प्रदाय है और साथ ही इस पंथ को सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता तो यह है कि इसकी सम्पूर्ण कृतियाँ मराठी भाषा में ही लिखी गई हैं।

महानुभाव पंथ के सात ग्रंथ

स्मरण रहे महानुभाव पंथ का महत्व केवल धार्मिक दृष्टिकोण से ही नहीं अपितु साहित्यिक दृष्टि से भी है और उसमें सात ग्रंथों को—शिशुपालवध, ऊद्धवगीता, वच्छहरण, रुक्मिणी स्वयंवर, ज्ञानबोध, ऋद्धिपुर वर्णन तथा सैंहाद्रवर्णन—पूज्य माना जाता है। इन ग्रंथों का सृजन महानुभाव पंथ की स्थापना के सौ वर्षों के अंदर अंदर हुआ था अतः इनके रचयिताओं को चक्रधर स्वामी के सहवास का परम लाभ भी प्राप्त हुआ था। इन सात ग्रंथों में से प्रथम चार में तो कृष्णचरित्र वर्णन है और शेष तीनों में केवल साम्प्रदायिक भावनाओं का

वर्णन है तथा ये समस्त ग्रंथ पदों में लिखे गये हैं। यहाँ संक्षेप में इन सातों ग्रंथों का साहित्यिक सौन्दर्य स्पष्ट करना परमावश्यक है।

शिशुपाल वध व उद्धव गीता

नागदेवाचार्य के प्रमुख शिष्य और महानुभाव पंथ के प्रमुख प्रचारक कवीश्वर भास्कर जिन्हें कि मानभट्ट बोरीकर भी कहा जाता है के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद सा है। श्री वि. ला. भावे और श्री ल. रा. पांगारकर ने उनका रचना काल शक ११९५ तथा श्री पं. रा. मोकाशी ने शक १२२० माना है लेकिन डॉ० वि. भि. कोलते ने भास्कर भट्ट बोरीकर (पृ० २६) में उनका रचनाकाल शके १२२८ माना है और डॉ० वि. पां. दांडेकर भी कोलतेजी के विचारों से सहमत हैं।

शिशुपाल वध की ओंवी संख्या १०८७ है और कवि ने मंगलाचरण में श्रीकृष्ण व दत्तात्रेय की वंदना करने के साथ-साथ चक्रधर व नागार्जुन के प्रति भी सम्मान व्यक्त किया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने महानुभाव पंथ की दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त ही प्रस्तुत ग्रंथ का प्रणयन किया है। पदलालित्य, विचार-सौंदर्य, भाषा-सुषमा, उपमा-चातुर्य व भक्ति-प्रवणता से यह ग्रंथ इतना अधिक सुमंडित है कि उसमें किसी का भी मन मोह लेने की क्षमता है। यद्यपि नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि 'शिशुपाल वध' वीर रस प्रधान कृति है लेकिन उसमें वीर रस की अपेक्षा भक्तिमय श्रृंगार की ही अधिकता है तथा वीर रस के तो केवल २०० पद ही हैं और साथ ही यह भी स्मरणीय है कि महाभारत, हरिवंश पुराण एवम् भागवत से कथावस्तु ग्रहण करते हुए भी कवि पर माघ कवि के शिशुपाल वध का अधिक प्रभाव पड़ा है और दांडेकर जी ने "त्याला काव्यरचनेळा खरी स्फूर्ति सुप्रसिद्ध माघ कवीच्या शिशुपाल वधावरुन उघडच झालेली दिसते"[1] इसी विचार का समर्थन किया है लेकिन बहुत से स्थलों पर कवि ने स्वतंत्र विचार-धारा भी प्रस्तुत की है। नारदागमन, द्वारका वर्णन, ऋतु वर्णन, जलक्रीड़ावर्णन, युद्धवर्णन, इत्यादि प्रसंगों पर तो माघ के शिशुपालवध का प्रभाव अवश्य दृष्टिगोचर होता है परंतु इन स्थलों में भी कवीश्वर भास्कर ने स्वतंत्र व सुंदर उपमाओं द्वारा अपने चित्रण में अलंकारों की छबीली छटा छहरा दी है लेकिन इसके अतिरिक्त, नारद व उद्धव का विनोद, श्रीकृष्ण-रुक्मिणी प्रेम व कलह, गोपियों का विरह-वर्णन आदि में तो हमें कवि की स्वतंत्र प्रतिभा ही दृष्टिगोचर होती है। कवि की दृष्टि विषय-विस्तार की ओर तो रही ही है पर साथ ही श्रृंगाररस की अभिव्यंजना में भी उसने तन्मयता दिखाई है। जलक्रीड़ा की समाप्ति पर देवांगनाएं जब अपने केश सँवारने लगती हैं तो केशों में जो जल उनके नितंबों पर गिरने लगता है उसके विषय में कवि ने, "नितंब आलिंगना सुखावलें, बांधतां आसुवें गालो लागलें। तेवि केशकलाप भीखतो, उदकबिंदुस्तव" नामक बड़ी ही सुंदर उत्प्रेक्षा की है। कवि को मानसिक भावनाओं का मूर्तिमान स्वरूप प्रस्तुत करने में भी सफलता मिली है और प्रसंगानुसार प्राकृतिक दृश्यों का यथातथ्य चित्रण भी किया गया है। आम, कुरबक, अशोक, बकुल, पुनांग, नागथाफा, पोफली, नारंगी, जांब, द्राक्ष, बटमोगरा, पारिजातक, मांदार नामक वृक्षों का वर्णन करते समय कवि की वृत्ति उत्तान श्रृंगार वर्णन करने की ओर रही है और "बापु कामाचें

---

[1] मराठी साहित्याची रूपरेखा—डॉ० वि. पां, दांडेकर (पृष्ठ ५०)

पिसें । झाड़ां लागलें" यही कवि की दृष्टि में देख पड़ा है तथा "रत्ने बिकिती कवडेनि । आलोआलीयां चिंतामणी" जैसी अपार विभवता-युक्त द्वारका की दशा देखकर कवि ने बड़ी ही सुंदर अतिशयोक्ति की है, "आंगणाचेति चोखालपणें । प्रतिबिंबली तारांगणें । तियें फुलें मणौनि शिहाणें । वेंचों धांवतीं ॥" 'कविवर भास्कर भट्ट बोरीकर ने श्रीकृष्ण के अंग-प्रत्यंग का विस्तार सहित वर्णन किया है और उत्तान श्रृंगार के साथ-साथ प्रसंगानुसार क्षात्र धर्मोचित भावनाओं के चित्रण में वीर रसात्मक वर्णन भी प्रस्तुत किए हैं। वस्तुतः काव्यगत विशिष्टताओं की दृष्टि से शिशुपाल वध निस्संदेह एक उत्कृष्ट रचना है और श्री विनायक लक्ष्मण भावे ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'महाराष्ट्र सारस्वत' में उचित ही लिखा है "शिशुपाल वध हा ग्रंथ खरोखरीच रसाळ आहे।"

कहते हैं भास्कर भट्ट ने अपनी कृति शिशुपाल वध को जब अपने गुरुबंधु भावे व्यास को सुनाया तो उन्होंने, "भट्टो हा ग्रंथु निकाजाला असे । परि निवृत्तजोगा नव्हेचि । हा श्रृंगारिया प्रवृत्तांजोगा जाला असे ।" नामक विचार प्रकट किए तब भास्कर कवि ने श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध पर 'उत्तर गीता' जिसे कि उद्धवगीता भी कहा जाता है नामक टीका लिखी जिसको कि उन्होंने सिंवमाशिखरी मातापुर या माहूर नामक स्थान पर प्रारंभ किया और रामदरा नामक स्थान पर पूर्ण किया। कवि ने ग्रंथ के प्रारंभ में लिखा भी है—"प्रथम वोवीचन्द्र शिशुपालवध हा ग्रंथ केला तो देवत्यासी निराकांला कां पा विरक्तायोगा नव्हे मग रामदराक्षेत्रीं एकादशु ग्रंथ केला" अर्थात् कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि चूंकि उसका प्रथम ग्रंथ विरक्ति योग्य न था अतः उसने प्रस्तुत ग्रंथ का प्रणयन किया है और मंगलाचरण में "नवीन यादवतिल्लकु जो चैतन्यलता कुसुमस्तबकु । उदैला आनंदमृगाकुं । महांधकारी" नामक पंक्तियों द्वारा श्रीकृष्ण की वन्दना की है। इसका रचनाकाल शक ११९८ माना जाता है और इसमें ८२७ पद हैं। यद्यपि इसमें शिशुपालवध की-सी काव्यमाधुरी नहीं है लेकिन यह उसकी अपेक्षा सुबोध और सुगम है तथा इसका सृजन वस्तुतः सन्यासियों के उपयोग हेतु ही हुआ है। जहाँ कि शिशुपालवध में श्रृंगाररस का अतिरेक है वहाँ इस दूसरे ग्रंथ में स्त्रीनिन्दा भी की गई है। प्रस्तुत कृति कृष्णोद्धवसंवादरूप में लिखी गई है लेकिन स्त्री-पुरुष परस्पर एक-दूसरे के मोक्षमार्ग में विष्णुरूप हैं और इस प्रकार पुरुष को स्त्री का और स्त्री को पुरुष का सर्वत्र त्याग कर सन्यास ग्रहण करना चाहिए नामक सिद्धान्त का प्रतिपादन ही किया गया है।

उपर्युक्त दोनों कृतियों के साथ-साथ भास्कर कवि की विरहाष्टक, गीताष्टक, दत्तात्रेयचरित्र, ईशस्तुति आदि कुछ अन्य छोटी-छोटी कृतियाँ भी कही जाती हैं और साथ ही गद्य में लिखी गई 'श्रीकृष्णचरित्र' नामक उनके ग्रंथ को मराठी साहित्य की प्रथम गद्य कृति भी कहा जाता है।

वच्छहरण

मराठी साहित्य के बहुत से विद्वान 'वच्छहरण' को यद्यपि महानुभाव पंथ की तृतीय उल्लेखनीय कृति मानते हैं पर कुछ विचारकों ने उसे प्रथम कृति अर्थात् शिशुपाल वध से पूर्ववर्ती माना है। वच्छहरण का रचनाकाल शक १२०० माना जाता है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके प्रणेता दामोदर पंडित न केवल महानुभाव पंथ के ही एक बड़े अधिकारी थे अपितु विद्वान, रसिक, सुमधुर कवि व गायनपटु भी थे तथा उनमें शिशुकविता-सृजन की शक्ति भी विद्यमान

थी। दामोदर पंडित और उनकी पत्नी हिरंबा दोनों ने महानुभाव पंथ की सन्यास दीक्षा नागदेवाचार्य से ली थी। वच्छहरण अर्थात् वत्सहरण की कथावस्तु श्रीमद्भागवत के दशम-स्कन्ध के बारहवें-तेरहवें और चौदहवें अध्याय से ली गई और उसमें बालकृष्ण द्वारा की गई अघासुर वध तथा कृष्णावतार की घटना वास्तविकता से परिचित होने के लिये ब्रह्मा ने जो ग्वाल-बाल एवं गाय-बछड़ों का हरण किया था नामक दो प्रसंगों का अंकन किया गया है। साथ ही चूँकि मराठी साहित्य में इस वच्छहरण के प्रसंग पर कोई भी काव्य उपलब्ध नहीं है अतः इसे प्राचीन, प्रथम व स्वतन्त्र कृति कहा जा सकता है। लगभग पाँच सौ पदों के इस सुन्दर काव्य में "ह्मणे मुनि केशवराज" का उल्लेख पाँच बार हुआ है अतएव कुछ लोगों ने केशवराज को वच्छहरण का प्रणेता माना है लेकिन वास्तव में दामोदर पंडित ने ही इसका सृजन किया है और केवल अपने परम मित्र केशवराज के मित्र-गौरवार्थ उसका अनेक स्थलों पर उल्लेख कर दिया है। स्मरण रहे स्वयं केशवराज ने शक १२०७ में लिखे गये अपने ग्रंथ 'रत्नमाला स्त्रोत्र' में केशवराज का नाम ग्रंथ-समाप्ति के अवसर पर लिया है। जैसा कि डॉ० दांडेकर ने 'वच्छहरण' के विषय में लिखा है—"प्रस्तुत काव्याची भाषा ज्ञानेश्वरी सारखी जुनी मराठी असून तींत प्राकृत किंवा तद्भव शब्दांचा भरणा पुष्कळ आहे।"[1] यह उचित ही है और कविवर दामोदर पंडित ने तो श्रीकृष्ण-चरित्र को नवरसात्मक माना है—

जै देवो रासक्रीड़ा खेलियला: तै मूर्त 'शृङ्गारु' जाला:
गौलणीं विनोदें नाचविला: तैं 'हास्यरस्' ॥
जसोदां मेडाविला: तै 'करुणारस' उठाविला:
विखारुं कालिया जिंतिला। तै 'रुद्र' जाला ॥
मानें श्रीमुख दाखविलें: तें 'अद्भुतासी' रूप जालें:
विश्वरूपु प्रकाटिलें: तै 'भयानकु' ॥
दैत्यां करी संहारुः तै 'वीभत्सु' आपि 'वीरु'।
'शांत' तो निरंतरुः तेथेंचि असे ॥

वच्छहरण में रसव्यंजना स्वाभाविक ही हैं तथा वृन्दावन सुषमा, यमुनातट और सौंदर्य प्रकृतिक के मनोग्राही चित्र भी अंकित किए गए हैं लेकिन कवि ने प्रकृति-वर्णन करते समय वृन्दावन में कुछ ऐसे वृक्षों का वर्णन कर दिया है जो वहाँ नहीं होते और साथ ही 'वच्छहरण' के १४९ से १५१ तक के पदों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दामोदर पंडित हठयोग से भी परिचित थे। उपमा उत्प्रेक्षा और रूपक नामक अलंकारों के योग से उनकी कृति की शोभा द्विगुणित सी हो उठी है और 'वच्छहरण' में प्रायः सर्वत्र ही इस प्रकार की सुमधुर पंक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—"जैसी कुलस्त्रिएची गुणसंपत्तीः भोगावी एके चि पतीं ॥ तैसी हरिकथारसीं रतीः भक्तवांचौनि नाहीं ॥ कालिंदीजल निर्मलः श्रीकृष्णकांशी श्यामल ॥ प्रतिबिंबैली भणऔनि सुनीलः होऔनि ठेलीं ॥ एकांगु एकांगुष्ठ तपिए बकः नासाग्री दृष्टी घालिती ढोंक ॥ यक्षदीक्षीत तैसें चक्रवाकः प्रिया तें सांडिनीना ॥"

रुक्मिणी स्वयंवर

महानुभाव पंथ के 'साती ग्रंथों' में 'रुक्मिणी स्वयंवर' अत्यधिक सम्मानित कृति माना जाता है और अपनी काव्यगत विशिष्टताओं के कारण उसे मराठी साहित्य में भी श्रेष्ठतम

स्थान प्रदान किया जाता है लेकिन ग्रंथकार नरेन्द्र के संबंध में अभी तक बहुत ही कम सामग्री प्रकाश में आ पायी है। कहा जाता है कि नरेन्द्र यादव-सम्राट् रामदेवराय के आश्रित थे। कहते हैं महानुभाव पंथ संघटक नागदेवाचार्य से ही नरेन्द्र को पंथीय तत्वज्ञान प्राप्त हुआ था और राजाश्रय में कुछ समय रहने के पश्चात् वे पंथ में प्रविष्ट हुए। श्री० ल. रा. पांगारकर ने उनका उपनाम 'अयाचित' माना है। इतना ही नहीं नरेन्द्र ने रुक्मिणी स्वयंवर शक १२१४ में ही लिख डाला था लेकिन उसे इ० स० १९४० में डॉ० वि. भि. कोलते द्वारा सुसंपादित होकर प्रकाशित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। स्मरण रहे डॉ० वि. भि. कोलते, श्री पं. रा. मोकाशी और डॉ० वि. पां. दांडेकर 'रुक्मिणी स्वयंवर' का रचनाकाल शक १२१४ मानते हैं जब कि श्री वि. ल. भावे, श्री य. सु. देशपांडे, श्री वा. ना. देशपांडे तथा श्री. ह. ना. नेने उसका रचनाकाल शक १२१३ मानते हैं। रुक्मिणी स्वयंवर की कथावस्तु श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध से ली गई है और उसकी ओंवी संख्या ८७९ है लेकिन रुक्मिणी स्वयंवर की कथा पूर्ण नहीं है क्योंकि उसमें रुक्मिणी द्वारा श्रीकृष्ण को पत्रिका भिजवाने तक का प्रसंग ही अंकित किया गया है और द्वारका नगरी के वर्णन के साथ-साथ ग्रंथ समाप्त हो जाता है अतः इसमें मूलकथा का केवल पूर्वार्द्ध मात्र है और उत्तरार्ध के सुंदर तथा मर्मस्पर्शी प्रसंगों की अभिव्यक्ति नहीं की गई। साथ ही कथानक का प्रारम्भ भी अत्यंत आश्चर्योत्पादक घटना के साथ किया गया है और किन्नर द्वारा समस्त क्षत्रियों का वर्णन कराकर अंत में श्रीकृष्ण ही रुक्मिणी के विवाहयोग्य हैं उन्होंने यह कहलवाया है। इस प्रकार रुक्मिणी के मानस में प्रेमभावना उद्दीप्त हो उठती है। चूँकि महानुभावपंथ में श्रीकृष्ण को ही एकमात्र परमेश्वर मानकर उनकी अनन्य भक्ति का उपदेश दिया गया है, अतः कवि की धार्मिक भावना तथा धर्म दृष्टि के फलस्वरूप रुक्मिणी स्वयंवर में केवल उन्हीं प्रसंगों की उद्भावना की गई है जिनमें कि श्रीकृष्ण का गुणवर्णन है और सर्वथा लौकिक घटनाओं वाले कई प्रसंगों का तो उल्लेख भी नहीं किया गया। कदाचित् इसीलिए रुक्मि-विरोध का वर्णन करते समय उन्होंने रुक्मिणी की विरहावस्था का ही विस्तार से चित्रण किया है और वे कहते हैं—'किन्नरासि श्रीकृष्णाते वानिता। भीम की वेधली श्रुतावस्था। जैसी कोमाइली कल्पलता जीवनेवीण। जयातें जिवीं वाहे भीमकुमारी। तो रुक्मिणी ये नालौनि मुरारी। शिशुपाल मानविणा वैरी। तो सुनि कैसा सांघों ? जैसी पद्मिनी उदया उकडे ? वरि निदालाची वोसाई पड़े। नांतरि जौहरी सांपडे। तैसी ते रुक्मिणी।'' यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो नरेन्द्र ने कहीं भी कथानक की गतिशीलता की ओर ध्यान नहीं दिया और केवल एक ही प्रसंग को निराले ढंग से व्यक्त करने की ओर ही उनकी रुचि रही है तथा इस प्रकार विविध घटनाओं का आरोहावरोह कहीं भी नहीं दृष्टिगोचर होता लेकिन प्रसन्नता की बात है कि कवि ने अपने संवादचातुर्य, वर्णन-कौशल और भाव-निर्देशन से कथानक में कहीं भी नीरसता नहीं आने दी। जिस प्रकार कथावस्तु में त्रुटियाँ रह गई हैं उसी प्रकार स्वभावचित्रण भी सजीव न बन सका क्योंकि काव्य में घटनाओं की योजना तो है ही नहीं।

परन्तु इतना होते हुए भी काव्यगत विशिष्टताओं की दृष्टि से रुक्मिणी स्वयंवर का

---

१. महाराष्ट्र सारस्वत (पुरविणी सह) पृष्ठ ८७३

मराठी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है और डॉ० शं. गो. तुलपुले ने तो उसकी प्रशंसा करते हुए लिखा भी है, "नरेन्द्रचा प्रस्तुत काव्याच्या थाट महाकाव्यास साजेल असा आहे। भीमकाच्या राजसमेंत रुक्मिणीचें संख्यासह आगमन किन्नरानें गाछिलेली व रुक्मिणीचे अंतकरण वेधून टाकणारी कृष्णकथा, रुक्मिणी विरहावस्था, त्यावरील उपचार, सायंकाल चंद्रोदय वनोपवनें इत्यादीचीं सालंकृत वर्णयांवरून नरेंद्राच्या मनांत महाकाव्याची उभारणी करावयाची होती असें वाटूं लागतें। नरेन्द्राजवल अलंकार वैभवाने नटलेलें कल्पनासौंदर्य आहे। त्याप्रमाणेच भावनेने ओलातलेले रसमाधुर्य हि आहे याचा प्रत्यय त्याचें काव्य वाचतांना पदोपदीं येतो। किंबहुना आपली कल्पनासृष्टि त्यानें रसपरिपोषार्थच उभारिली आहे।"[१] वस्तुतः नरेन्द्र एक प्रतिभासंपन्न महाकवि थे और उनकी प्रतिभा का विकास रुक्मिणी स्वयंवर के प्रत्येक पद में प्रकट होता है तथा कथा की लघुता को उन्होंने कल्पना, रम्य वर्णन, हार्दिक भावदर्शन एवं कथोपकथनों द्वारा मिटा दिया है और उनकी वर्णन शक्ति तथा कल्पना की उड़ान असीम एवम् अप्रतिभ है। सौंदर्य-वर्णन में तो उन्होंने अपनी विशाल, व्यापक, सूक्ष्म एवम् गंभीर कल्पना शक्ति का आश्रय लेकर मनोहारी चित्र प्रस्तुत किये हैं तथा उनकी वृत्ति वास्तविकतापूर्ण वर्णनों के चित्रण में ही रमी है। रम्य-वर्णन के हेतु उन्होंने निसर्गसुषमा से ही उपमानों का चयन किया है तथा पौराणिक कथाओं के परिवेश में व्यावहारिक चतुरता से सजावट इस प्रकार प्रस्तुत की है कि पाठकों का हृदय एकबारगी ही आकर्षित हो उठता है। इस प्रकार नरेन्द्र को प्राकृतिक सौंदर्य के प्रकटीकरण में भी अप्रतिभ सफलता प्राप्त हुई है और उनका प्रतिभा-विहंग कल्पना-गगन में संगीत का संचार करता हुआ प्रभात, मध्यान्ह, संध्या, शर्वरी, तपनारुण, कौमुदीविभात, नक्षत्रमंडल, व्योममंडल, सुरचापरंजित विद्युत घोष, मधुरनादी सुदूर मेघमाला, विकसित वृक्ष, पुष्पितलताएँ, भ्रमरस्पृष्टमुकुल, स्फुटोन्मुख किशलय, निबिड़ अरण्य, उत्ताल सागर, तरंगमय सरोवर, छायामय कुंजवन, ज्योत्सनाप्रकाश, मधुमय पराग, वीचिविलास, वसंत शोभा आदि विषयों का चित्रण कर पाठकों के हृदय को आल्हादित करता है। न केवल आलम्बन अपितु उद्दीपन विभाव के रूप में भी उन्होंने प्रकृति वर्णन किया है और इस प्रकार मानवीं सौदर्य आलेखन के साथ-साथ उनका प्रकृतिवर्णन भी सराहनीय है। वस्तुतः हृदयगत भावनाओं को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान करने में भी कवि पूर्णतः सफल रहा है और उसने अपने चित्रों में भावनाओं का उदात्तीकरण करने की ओर पूर्ण ध्यान दिया है। साथ ही कवि की वर्णन-शैली में भी प्रौढ़ता एवम् गंभीरता दृष्टिगोचर होती है और उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त, अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति, पर्यायोक्ति, श्लेष, व्यतिरेक आदि अलंकारों के योग से उसने अपने भाषा सौंदर्य की अभिवृद्धि की है। वस्तुतः तत्कालीन मराठी भाषा का प्रौढ़ स्वरूप रुक्मिणी स्वयंवर में ही दृष्टिगोचर होता है और तत्सम् तथा तद्भव शब्दों के योग से भाषा में अपूर्व मधुरता सी आ गई है। नरेन्द्र एक कुशल शब्द-शिल्पी थे और उन्होंने शब्द-योजना इतनी कुशलता के साथ की है कि प्रसंगानुसार प्रत्येक शब्द अपनी निजी विशेषता रखता है। इस प्रकार हमें रुक्मिणी स्वयंवर में व्यापक कवित्व और पांडित्य दृष्टिगोचर होता है तथा हम कह सकते हैं कि वह एक श्रेष्ठतम कृति है।

---

[१] महाराष्ट्र सारस्वत (पुरविणी सह) पृष्ठ ८७३

ज्ञान प्रबोध, सैहार्द्र वर्णन व ऋद्धिपुर वर्णन

श्री विश्वनाथ बालापूरकर की ज्ञान प्रबोध, श्री ख. ली. व्यास की सैहार्द्र वर्णन और श्री नारायण पंडित व्यास की ऋद्धिपूरवर्णन नामक तीन कृतियाँ भी महानुभाव पंथ की 'साती कृतियों' में हैं। लगभग १२०० ओंवी के ग्रंथ ज्ञान प्रबोध का रचनाकाल शक १२५३ माना जाता है और उसमें श्रीमद्भगवद्गीता तेरहवें अध्याय के आधार पर १२५ पद लिखे गये हैं तथा शेष पद स्वतंत्र हैं जिनमें कवि ने नीति और ज्ञान-संबंधी बातों को सरल सुंदर प्रवाहयुक्त भाषा में प्रकट किया है। सैहार्द्रवर्णन में जिसका रचनाकाल शक १२५४ है दत्तात्रेय की लीलाओं का वर्णन किया गया है और उसकी ओंवी संख्या ५१७ है। ऋद्धिपुर या परमेश्वरपूर महानुभाव पंथ का एक पवित्र क्षेत्र है जहाँ कि चक्रधर स्वामी के गुरु गोविंद प्रभु ने उन्हें उपदेश दिये थे। ऋद्धिपुर वर्णन में ६४५ ओंवी हैं तथा उसका रचनाकाल शक १२८५ है। स्मरण रहे महानुभावीय मराठी वाङ्मय में उपर्युक्त सात ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य बहुत सी कृतियाँ भी कही जाती हैं और शनैः शनैः वे मुद्रित होकर प्रकाश में आ रही हैं।

वारकरी सम्प्रदाय नामक एक अन्य सम्प्रदाय के अधिक लोकप्रिय हो जाने पर महानुभाव पंथ का प्रभाव दिन प्रति दिन घटने लगा तथा वारकरी और महानुभाव पंथ की तुलना करते हुए श्री गंगाधर बालकृष्ण सरदार ने लिखा भी है "महानुभावांचा सन्यास मार्ग हा सर्वांना झेपण्यासा रखा नव्हता। महानुभावीय आचार्यांची योग्यता आदि सामान्य माल कोलयाँकी कुवत यांत जमीन आस्मानाचें अंतर होते। म्हणूनच वारकारी पंथाने ज्ञानावें महत्व मान्य करनहि भक्तीला अग्रस्थान दिलें, तिला प्रवृत्तिपर वलण लावणें व नाम संकीर्तनासारखै सुकर साधन लोकांपुढें ठेंवलें।" परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि महानुभाव पंथ का तनिक भी महत्व नहीं है अपितु वास्तविकता तो यह है कि महाराष्ट्रीय सांस्कृतिक जीवन में इन दोनों ही संप्रदायों का अपना-अपना विशिष्ट महत्व है। इतना अवश्य है कि सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से वारकरी संप्रदाय[२] की सेवाएँ निस्संदेह अधिक व्यापक और प्रशंसनीय हैं लेकिन महानुभाव पंथ ने मराठी भाषा के विकास में जो अपना महत्वपूर्ण योग दिया है उसका महत्व तो निर्विवाद रूप से स्वीकार करना ही चाहिये।

(दिसम्बर १९५५)

---

[१] विशेष अध्ययन के लिए देखिए; लेखक की 'भक्ति काव्य के मूल स्रोत' (पृष्ठ २०४-२२३)

विवेचन

संस्कृत के महाकाव्य

साधारणतः काव्य के भेद तीन प्रकार से किये जाते हैं—शैली या आकार की दृष्टि से, अर्थ की दृष्टि से और बंध की दृष्टि से। शैली या आकार की दृष्टि से काव्य को गद्य, पद्य और मिश्रित (जिसका कि एक रूप चम्पू माना जाता है) नामक तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। अर्थ की दृष्टि से भी काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम या सामान्य नामक तीन विभाग किए गए हैं। बंध की दृष्टि से भी दो प्रकार की काव्य-कृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—एक प्रबन्ध और दूसरी निर्बन्ध या मुक्तक। प्रबन्ध-काव्य में किसी कथा की क्रमबद्धता और तारतम्यता रहती है, किन्तु मुक्तक काव्य में स्वच्छन्द रूप से किसी रस, भाव या तथ्य को व्यक्त किया जाता है। मुक्तक काव्य में वैयक्तिक अनुभूतियों, भावनाओं और आदर्शों की ही प्रधानता रहती है तथा कवि अपने अन्तर्जगत की सुकुमार मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति द्वारा अपने हर्ष-विषाद, हास-विलास, संयोग-वियोग आदि का चित्रण कर पाठकों को भावमग्न कर देता है। वैयक्तिक अनुभूतियों की प्रधानता के ही कारण इस प्रकार की कविता को विषयगत (Objective) या भाव प्रधान माना जाता है। प्रबन्ध-काव्य में वर्णन की प्रधानता रहती है और उसे विषय-प्रधान (Subjective) या वर्णन प्रधान (Narrative) भी कहा जाता है। प्रबन्ध काव्य के भी तीन भेद माने जाते हैं—महाकाव्य, खण्डकाव्य और एकार्थ काव्य। एकार्थ काव्य वस्तुतः महाकाव्य और खण्डकाव्य के मध्य की एक विधा मात्र है तथा उसमें कथावस्तु की पूर्णता होते हुए भी महाकाव्य की भाँति वस्तु का विस्तार नहीं रहता और जीवन के किसी एक पक्ष-विशेष को ही चित्रित करने का प्रयास

किया जाता है । श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में—"एकार्थ की ही अभिव्यक्ति के कारण ऐसी रचनाएँ महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच की रचनाएँ होती हैं । खण्डकाव्य में प्रबन्ध-काव्य की-सी तारतम्यता होते हुए भी उसका क्षेत्र महाकाव्य की अपेक्षा सीमित ही होता है । खण्डकाव्य में जीवन के एक ही रूप का और एक ही प्रधान घटना का चित्रण किया जाता है । महाकाव्य वस्तुतः विषय प्रधान कविता के ही अन्तर्गत आता है, अतएव उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध बाह्यजगत के साथ रहने के कारण और उसी का विस्तार के साथ वर्णन करने के कारण वह वर्णनात्मक ही माना जाता है । उसमें कवि अपने अन्तर्जगत की अनुभूतियों का चित्रण न कर बाह्यजगत में घटित होनेवाली घटना का वर्णन करता है और इस प्रकार वह किसी एक कवि की कृति न होकर देश अथवा जाति की कृति होती है तथा उसके निर्माण में पौराणिक तथा ऐतिहासिक आख्यानों का भी महत्वपूर्ण योग होता है । महाकाव्य में जीवन की अनेकरूपता का चित्रण किया जाता है और उसमें कथा की दीर्घता, आकार की विशालता तथा भावों की विचित्रता भी विद्यमान रहती है । श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में—"वर्णनानुगुण से जो काव्य पाठकों को उत्तेजित, करुणाभिभूत, चकित, स्तम्भित, कौतूहल और अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कर सकता है, वह महाकाव्य है और उसका रचयिता महान कवि । महाकाव्य में एक महच्चरित्र होना चाहिए और उसी महच्चरित्र का एक महत्कार्य और महानुष्ठान होना चाहिये ।" श्री गुलाबराय ने महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—"महाकाव्य वह विषय-प्रधान काव्य है, जिसमें कि अपेक्षाकृत बड़े आकार में राष्ट्रीय उदात्त कार्यों द्वारा राष्ट्रीय भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं का उद्घाटन किया जाता है ।" महाकाव्य में युग अथवा जाति का प्रतिफलन तो होता ही है तथा साथ ही देश या जाति के विगत वर्तमान और भावी स्वप्नों को भी संक्षेप में चित्रित किया जाता है । मानव जीवन की विस्तार के साथ सर्वाङ्गीण व्याख्या करने के हेतु केन्द्र विन्दु के रूप में एक प्रमुख पात्र को लेकर तत्सम्वन्धित कथावस्तु का निर्माण किया जाता है और कथा में क्रमवद्धता, प्रवाह तथा एकसूत्रता लाने पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है । वर्णन की प्रधानता होते हुए भी उसमें मर्मस्पर्शिता की अधिकता रहती है । महाकाव्य का नायक विशेष रूप से ऐतिहासिक, धार्मिक या सांस्कृतिक महत्व का ही महापुरुष होता है और महाकाव्यकार को समस्त मानव समाज, रीति-रिवाजों, तत्कालीन परिस्थितियों और मानव-चरित्र की विविधताओं पर प्रकाश डालने की पूर्ण सुविधा रहती है । श्रीमती शचीरानी गुर्टू ने भी लिखा है—"महाकाव्य का उद्देश्य है—जीवन की घनीभूत विशदतम, निगूढ़, अनुभूतियों को अपने महाकलेवर में समेटे रहना और मानवीय उच्चादर्शों को उद्भाषित करना ।"

संस्कृत के प्राचीन आचार्यों, पाश्चात्य समीक्षकों और आधुनिक हिन्दी आलोचकों ने महाकाव्य के लक्षण भी निर्धारित किये हैं । प्राचीन संस्कृत-लक्षण ग्रंथों में विस्तार के साथ महाकाव्य के विविध अंगों की विवेचना की गई है और महाकाव्य की रूपरेखा को निर्धारित किया गया है । छठवीं शताब्दी में दण्डी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'काव्यादर्श' में और पन्द्रहवीं शताब्दी में विश्वनाथ ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'साहित्य दर्पण' में विस्तार के साथ महाकाव्य के लक्षणों पर प्रकाश डाला है । संस्कृत के इन प्राचीन आचार्यों के विचारों को ध्यान में रखते हुए महाकाव्य के आवश्यक लक्षण संक्षेप में, इस प्रकार दिये जा सकते हैं—

(१) महाकाव्य का नायक देवता या उत्तम कुल का वह क्षत्रिय हो सकता है, जिसमें धीरोदात्त नायक के गुण हों। आवश्यकतानुसार एक देश के कई राजा भी इन गुणों से समान रूप में युक्त होने पर नामक हो सकते हैं।

(२) महाकाव्य का सर्गबद्ध होना आवश्यक है, किन्तु ये सर्ग न तो अत्यधिक दीर्घ हों और न अत्यन्त लघु।

(३) कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध हो या सज्जनाश्रित। साथ ही उसका सुसंगठित होना भी आवश्यक है।

(४) इसमें कम से कम आठ सर्ग अवश्य होने चाहिये तथा एक सर्ग में एक ही छन्द रहना चाहिये—प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द बदल भी दिया जाता है। प्रवाह की एकता भी विशेष आवश्यक है।

(५) श्रृंगार, वीर और शान्त रस में किसी एक की निष्पत्ति प्रधान रूप से की जानी चाहिए। अन्य रसों की भी गौण रूप से अभिव्यक्ति की जानी उचित है।

(६) आवश्यकतानुसार संध्या, सूर्य, चन्द्र, प्रदोष, अंधकार, दिन, प्रभात, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतुओं, वन, समुद्र, संग्राम, यात्रा आदि विषयों का भी वर्णन होना चाहिये।

(७) प्रारम्भ में मंगलाचरण और वस्तु-निर्देश भी आवश्यक माने जाते हैं।

पाश्चात्य समीक्षकों ने भी महाकाव्य के लक्षणों पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि तथा आलोचक टामस स्टर्न इलियट ने 'ह्वाट इज ए क्लासिक ?' नामक वर्जिस सोसायटी के भाषण में कहा है कि "महाकाव्य में युग का क्षण और कलाकार का क्षण एकाकार होते हैं।" डॉ० जानसन ने तो महाकाव्यों को 'मानव-प्रतिभा की महान अभिव्यक्ति' माना है। अरस्तू का विचार है कि 'महाकाव्य में एक ही विषय, एक ही क्रिया, अपने आप में सम्पूर्ण, आदि-मध्य-अन्त पूर्ण हो। इसका छन्द एक-सा हो और रचना नाटक के, शोकांत प्रकार की भाँति हो।' फ्रेंच आलोचक ल बस्सु महाकाव्य को प्राचीन घटनाओं के चित्रण के एक रूपक के रूप में स्वीकार करते हैं तथा डवनाराइट का भी यही मत है कि महाकाव्यों को घटनाओं पर ही आधारित होना चाहिये, क्योंकि प्राचीन घटनाओं के चित्रण में कवि को स्वतन्त्रता तो रहती ही है तथा सामयिक घटनाओं की अपेक्षा उनको अंकित करने में उसकी कल्पना शक्ति भी विकसित होती है। परन्तु प्रसिद्ध आलोचक लुकन प्राचीन घटनाओं की अपेक्षा अर्वाचीन घटनाओं को ही महाकाव्य की पृष्ठभूमि बनाना अधिक उपयुक्त समझते हैं, क्योंकि ऐसा करने से महाकाव्य में वर्णित चरित्रों की सजीव प्रतिमा जनता के मानस-पटल पर अंकित हो जायेगी। इस प्रकार पाश्चात्य विचारकों के सर्वमान्य तथ्यों के आधार पर महाकाव्य के निम्नलिखित लक्षण माने जाते हैं।

(१) महाकाव्य एक बृहदाकार प्रकथन काव्य (Narrative poetry) है।

(२) इसका नायक शूरवीर होना चाहिये और सम्पूर्ण कथावस्तु नायक को लेकर ही एक सूत्र में आबद्ध की जानी चाहिए। यद्यपि कुछ पाश्चात्य समीक्षक महाकाव्य के पात्रों का देवताओं से सम्पर्क स्थापित करना आवश्यक समझते हैं, परन्तु अर्वाचीन आलोचक उन पात्रों के कार्यकलापों में दैवी शक्ति का आक्षेप आवश्यक नहीं समझते।

(३) इसमें एक ही प्रकार के छन्द का प्रयोग किया जाना उचित है।

(४) इसकी शैली में एक विशेष प्रकार की शालीनता और आदर्श आवश्यक है।

(५) इसका विषय-परम्परा से प्रतिष्ठित और जनप्रिय होना श्रेय है।

विचारपूर्वक देखा जाय तो भारतीय आचार्यों तथा पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य के लक्षणों में कोई विशेष भिन्नता नहीं दीख पड़ती। पूर्वी और पश्चिमी दोनों विचारकों ने नायक की शालीनता, महानता और कथावस्तु के संगठन पर विशेष जोर दिया है। भारतीय आचार्यों ने यद्यपि धीरोदात्त नायक की उदात्त भावनाओं के चित्रण पर ही जोर दिया है, किन्तु पाश्चात्य समीक्षक तो नायक के व्यक्तित्व की अपेक्षा राष्ट्रीय भावनाओं के संवर्धन पर अधिक जोर देते हैं। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में भी नायकों की कुलीनता पर विशेष जोर नहीं दिया जाता तथा इतिहास-प्रसिद्ध और जनप्रिय नायक का ही विशेष रूप से चित्रण किया जाता है। नायक की प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि और शूरता ही महाकाव्य में राष्ट्रीय जीवन की वास्तविकता ला देती है। इस प्रकार महाकाव्य सम्बन्धी भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षकों के विचारों में कोई मूल भिन्नता नहीं है और दोनों ही राष्ट्रीय आदर्शों के अनुकूल महाकाव्य के नायक को धीरोदात्त होना आवश्यक समझते हैं। दोनों ही महाकाव्य के आकार की दीर्घता और शैली की शालीनता के पक्ष में हैं, किन्तु इधर महाकाव्य के बहुत से प्राचीन लक्षण अब नहीं अपनाये जाते। मंगलाचरण इत्यादि की आवश्यकता तो कवियों ने समझी ही नहीं है तथा सर्गों के बीच-बीच में सरसता लाने के हेतु प्रगीतों (Lyrics) का भी उपयोग किया जाता है। वस्तुतः पुरातन आदर्शों का ही अनुकरण करना आवश्यक भी नहीं है तथा उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन कर नवीन आदर्शों की सृष्टि करना अनुचित भी नहीं है। चूँकि मानव सभ्यता विकासशील है, अतः साहित्यिक-आदर्शों और उद्देश्यों का विकास भी अवरुद्ध नहीं रह सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री विनयमोहन शर्मा ने उचित ही लिखा है—"महाकाव्य मानव की व्यापक अनुभूति का प्रतीक होता है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' या अरस्तू के 'पोएटिक्स' की बँधी-बँधाई व्याख्या की सीमा में बँधकर अपने को प्रकाशित करे। कथा किसी भी युग की हो, यदि उसमें मानव की शाश्वत-भावनाओं, उसकी उलझनों आदि का सबल उद्‌घोष है, तो उसमें महाकाव्य की सृष्टि हो जाती है।"

भारतीय महाकाव्यों की परम्परा पर विचार करते समय सर्वप्रथम संस्कृत के महाकाव्यों पर प्रकाश डालना होगा। चूँकि वेद ही हमारे साहित्य के मूल स्रोत समझे जाते हैं, अतः स्वाभाविक ही संस्कृत कविता का मूल उद्‌गम ऋग्वेद में ही सबसे पहले दीख पड़ता है। यद्यपि ऋग्वेद के कई स्थलों में कवित्व की अपूर्व छटा दृष्टिगोचर होती है, तथापि संस्कृत का आदि-काव्य 'वाल्मीकि रामायण' ही है। वाल्मीकि कृत रामायण द्वारा ही काव्यधारा विभिन्न स्रोतों में प्रवाहित होती हुई भास, कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ तथा भवभूति आदि की सहायता से कविता-कानन को सींचती रही है। वाल्मीकि रामायण ने न केवल परवर्ती कवियों के सामने महाकाव्य का आदर्श उपस्थित किया है, बल्कि उनकी कृतियों को प्रभावित भी किया है। भारतीय आचार्यों ने रामायण को आदि-काव्य और वाल्मीकि को आदि कवि माना है। आदि कवि की 'रामायण' और महर्षि व्यास की 'महाभारत' द्वारा ही ऐतिहासिक महाकाव्यों की परम्परा का भी विकास हुआ है। जैसा कि आर्नल्ड ने लिखा है—"ऐतिहासिक

महाकाव्य का विषय कोई गुम्फित बड़ी घटना होना चाहिये। प्रमुख पात्र का उच्च कुलोत्पन्न तथा उच्च विचारशील होना आवश्यक है। विषय के अनुरूप उसमें वर्णन भी उच्च कोटि का होना चाहिये। ऐतिहासिक महाकाव्य का विकास कथोपकथन, स्वागत भाषण और वार्तालाप से हुआ है।" यह कथन इन दोनों कृतियों के प्रति पूर्णतः लागू होता है।

'वाल्मीकि रामायण' की वर्तमान प्रतियों में सात काण्ड दीख पड़ते हैं, जिनमें कुल चौबीस हजार श्लोक हैं। रामायण को प्रतियों में पाठ-भेद की अधिकता तो है ही पर साथ ही उसमें प्रक्षिप्त अंश भी अत्यधिक संख्या में हैं। पाश्चात्य विद्वानों का तो यही मत है कि रामायण की मूल प्रति में बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड नहीं थे। प्रो० जैकोबी ने तर्कों के आधार पर यही सिद्ध किया है कि मूल रामायण में अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक अर्थात् केवल पाँच काण्ड ही थे। शेष दो काण्डों की रचना बाद में हुई। प्रो० जैकोषी का यह भी मत है कि मूल ग्रन्थ में भी कहीं-कहीं प्रक्षिप्त अंश सम्मिलित किये गये हैं। विंटरनिट्ज का मत है कि मूल कथा की रचना वाल्मीकि ने प्राचीन अनुश्रुतियों के आधार पर तृतीय शताब्दी ई० पू० में की थी, किन्तु यह कथन तर्कसंगत नहीं जान पड़ता। वस्तुतः मूलकथा की रचना आदि कवि ने राम के राज्यकाल में ही की थी और महाभारत को प्रसिद्धि प्राप्त होने के पूर्व ही वह एक प्रसिद्ध प्राचीन कृति के रूप में गिनी जाने लगी थी।

वस्तुतः रामायण न केवल संस्कृत काव्य की प्रारम्भिक अवस्था का चित्रण करती है, बल्कि प्राचीन भारतीय संस्कृति का सुन्दर, समुज्ज्वल और स्वाभाविक स्वरूप प्रस्तुत करती है। साहित्य और संस्कृति का इतना सुन्दर और स्वाभाविक चित्रण अन्य किसी देश के महाकाव्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। रामायण हिन्दुओं का आचार-शास्त्र है और उसमें मानव-जीवन की सूक्ष्म तथा गम्भीर समस्याओं को सुलझे हुए स्वरूप में प्रस्तुत किया गया है। आदि कवि ने रामायण में रामराज्य के रूप में एक आदर्श समाज का चित्रण कर मानव जीवन के लिये, किस प्रकार आदर्श राज्य आवश्यक है, दिखलाया है। ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनैतिक महत्व के साथ-साथ रामायण में काव्यगत विशेषताओं की भी बहुलता है। महाकाव्य के लिए आवश्यक सभी प्रमुख लक्षण उसमें दृष्टिगोचर होते हैं। उसके कलापक्ष और भावपक्ष दोनों ही निखरे हुए हैं। कथावस्तु की विशदता, भावों की गम्भीरता, रसव्यंजना, मर्मस्पर्शिता, भाषा की सुघरता के साथ-साथ छन्दों की औचित्यता भी उसमें दीख पड़ती है। बाह्य प्रकृति और अंतःप्रकृति के स्वाभाविक सजीव-चित्रण के साथ-साथ हृदय की अव्यक्त भावनाओं का मूर्त्तिमान स्वरूप जैसा रामायण में अंकित किया गया है, वैसा प्रसिद्ध पाश्चात्य महाकाव्यों में भी नहीं किया गया। वाल्मीकि रामायण से जनता को न केवल लोकोत्तर आनन्द ही प्राप्त होता है, बल्कि व्यावहारिक शिक्षाएँ भी प्राप्त होती हैं। वस्तुतः विश्व में इस प्रकार का अन्य कोई दूसरा प्रभावशाली ग्रन्थ नहीं दिखाई पड़ता।

यद्यपि महाभारत को विशेष रूप से इतिहास ही माना गया है, किन्तु वास्तव में वह Epic या महाकाव्य ही है। महाभारत की वर्तमान प्रति वस्तुतः महाभारत के मूल ग्रन्थ का परिवर्तित—परिवर्धित रूप है तथा उसके विकास में स्पष्ट ही तीन विशिष्ट काल दृष्टिगोचर होते हैं। आरम्भ में महर्षि व्यास ने जिस ग्रन्थ की रचना की थी, उसका नाम 'जय' था। वैशम्पायन ने इसी को परिवर्धित कर 'भारत' नाम दिया और अन्त में सौति ने 'महाभारत'

नाम से इसको पूर्ण विस्तृत रूप प्रदान किया। मैकडानल का तो यही मत है कि महाभारत के मूल ग्रन्थ में केवल ८,८०० श्लोक ही थे, यद्यपि यह संख्या महाभारत में आये हुए श्लोकों की नहीं, बल्कि कूट श्लोकों की है। वैशम्पायन के 'भारत' में श्लोकों की संख्या चौबीस हजार थी तथा आगे चलकर तो महाभारत एक लाख श्लोकों से युक्त होकर एक विशालकाय महाकाव्य बन गया। महाभारत को वस्तुतः भारतीय संस्कृति का विश्वकोष तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति कराने के कारण पंचम वेद भी कहा जाता है। महाभारत को भी रामायण की भाँति लोकप्रियता प्राप्त हुई है तथा उसमें तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक दशा का समुज्ज्वल और स्वाभाविक रूप अंकित किया गया है। रामायण की भाँति महाभारत में भी मानव-जीवन के विविध रूपों पर प्रकाश डालनेवाले उपाख्यानों की बहुलता-सी है तथा महाकाव्यों के लिए आवश्यक उपकरण भी उसमें दृष्टिगोचर होते हैं। विषय की उदात्तता, युद्ध-वर्णन की सजीवता, भाषा की गंभीरता, छन्दों की औचित्यता और रस-परिपाक से महाभारत का साहित्यिक सौन्दर्य भी निखरा हुआ प्रतीत होता है तथा उसका महत्व इलियड और ओडेसी से कुछ कम नहीं जान पड़ता।

वाल्मीकि रामायण और महाभारत जैसे ऐतिहासिक महाकाव्यों के आविर्भाव के पश्चात् परवर्ती कवियों के समक्ष महाकाव्य का आदर्श उपस्थित हो गया और उन्होंने भी महाकाव्यों के विकास में पूर्ण योग दिया। यों तो ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी के बहुत पहले ही काव्य साहित्य की समस्त शाखाओं का विकास होने लगा था और ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग प्राप्त हुए कई शिलालेखों से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय तक संस्कृत काव्य-साहित्य का पर्याप्त विकास हो चुका था। संस्कृत साहित्य का प्रभाव तो इसीसे स्पष्ट है कि तत्कालीन शिलालेखों की रचना भी संस्कृत में ही हुई है तथा रुद्रदमन का ईसवी सन् १५० का शिलालेख भाषा-शैली का सुन्दर नमूना है। संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि कालिदास का जन्म-काल भी जनश्रुतिवाद के अनुसार ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी ही माना जाता है।

कालिदास ने 'कुमार-सम्भव' और 'रघुवंश' नामक दो महाकाव्यों की रचना की है, जिनमें 'रघुवंश' को ही विशेष ख्याति प्राप्त हुई है तथा वह उनका सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य भी माना जाता है। 'कुमार सम्भव' में सत्रह सर्ग हैं, किन्तु आठ सर्ग ही कालिदास-कृत माने जाते हैं। कहा जाता है कि नौ सर्ग अन्य किसी लेखक ने लिखे हैं। कुमार-सम्भव में शिव-पार्वती के पुत्र कार्तिकेय के जन्म का वर्णन किया गया है। प्राकृतिक दृश्यों के मनोमुग्धकारी चित्रण के साथ-साथ इनमें शृंगारिकता को भी प्रधानता दी गयी है तथा कारुण्य भावनाओं का भी स्वाभाविक चित्रण किया गया है। इस प्रकार इसमें कालिदास के कला-सौष्ठव का निखरा हुआ रूप दृष्टिगोचर होता है। कुमार-सम्भव की अपेक्षा रघुवंश का कलापक्ष और भावपक्ष दोनों ही निखरे हुए हैं। उन्नीस सर्गों के इस महाकाव्य में रघुवंश के कई राजाओं का गुणगान किया गया है। प्रारम्भिक नौ सर्गों में राम के चार पूर्वजों—दिलीप, अज, रघु और दशरथ—का वर्णन है तथा दसवें सर्ग से पन्द्रहवें सर्ग तक राम का चरित्र-चित्रण किया गया है और अन्तिम चार सर्गों में राम के वंशजों पर विहंगम दृष्टि डाली गयी है। कथावस्तु प्राचीन होते हुए भी उनमें विचारों की मौलिकता और भावुकता पग-पग पर झलक उठती है। रघुवंश में घटनाओं का बड़ा सुन्दर और वैचित्र्यपूर्ण विन्यास दृष्टिगोचर होता है। इन्दुमती का स्वयंवर, अज-विलाप, राम तथा

सीता की विमान यात्रा, शून्य अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी द्वारा कुश को स्वप्न-दर्शन नामक घटनाओं के योग से कथावस्तु में स्वाभाविकता के साथ-साथ मर्मस्पर्शिता का भी समावेश हुआ है। चूँकि कालिदास की कृतियों में संस्कृत की काव्य-शैली का चारुतम रूप दृष्टिगोचर होता है, अतः रघुवंश में भी स्वाभाविक ही सुन्दर, सरल और सुबोध शब्दावली ही दृष्टिगोचर होती है। अंतर्जगत और बाह्यजगत दोनों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण करने में कवि सिद्धहस्त प्रतीत होता है। उसकी विलक्षण कल्पना-शक्ति और रस-व्यञ्जना भी सराहनीय है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि—"आदर्शों की अनुपम सृष्टि के लिये रम्य और ललित कथोपकथन के लिये, सरस एवं स्पष्ट व्यञ्जना के लिये और कमल तथा मधुर रसोत्पत्ति के लिये रघुवंश कालिदास की कीर्तिपताका को सतत परिस्फुरित करता रहेगा।"[1]

पाश्चात्य समीक्षकों ने अश्वघोष को संस्कृत का सर्वप्रथम महाकवि माना है। कालिदास के सदृश्य अश्वघोष भी एक सफल महाकवि, नाटककार और गीतिकार थे। बुद्धचरित और सौन्दरानन्द इनके दो प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। यद्यपि प्रो० कीथ ने सौन्दरानन्द को उनकी प्रथम कृति माना है, परन्तु वास्तव में बुद्धचरित ही उनका प्रथम महाकाव्य है। बुद्धचरित २७ सर्गों का एक महाकाव्य है, यद्यपि उसके केवल सत्रह सर्ग ही उपलब्ध होते हैं। उसका चीनी और तिब्बती भाषा में अनुवाद भी हो चुका है तथा इत्सिंग के वर्णन से तो यही जान पड़ता है कि ईसा की छठवीं-सातवीं शताब्दी में समस्त भारत में बुद्धचरित्र के पठन-पाठन का प्रचार था। बुद्धचरित में गौतमबुद्ध के चरित्र का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है तथा गूढ़ दार्शनिक तत्वों का भी चित्रण किया गया है। यद्यपि अश्वघोष बौद्ध धर्मावलम्बी थे; तथापि उन्होंने उपनिषदों, भगवद्गीता, रामायण और महाभारत से भी पर्याप्त सामग्री ग्रहण की है। महाकाव्य के सभी प्रमुख तत्व बुद्धचरित में दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार सौन्दरानन्द में भी ऐतिहासिक महाकाव्यों की परिपाटी का अनुसरण करते हुए बुद्ध के सौतेले छोटे भाई नन्द और उसकी पत्नी सुन्दरी की कथा दी गयी है तथा दिखलाया गया है कि बुद्ध ने नन्द को, जो कि अपनी प्रिय पत्नी सुन्दरी के प्रेम में मदान्ध हुआ जा रहा था, किस प्रकार बौद्ध धर्म का अनुगामी बनाया। सौन्दरानन्द में बीस सर्ग हैं तथा उसकी सम्पूर्ण प्रति भी उपलब्ध है। इस महाकाव्य में कवि ने रोचक काव्य-शैली से दार्शनिक वादों का विवेचन किया है और बौद्ध सिद्धान्तों की भी शिक्षा दी है। इसमें कहीं भी नीरसता और दुरूहता नहीं दीख पड़ती। अश्वघोष वैदर्भी रीति के प्रसिद्ध कवि थे, अतः इन दोनों काव्यों में वैदर्भी रीति का परिष्कृत और प्रभावोत्पादक रूप दृष्टिगोचर होता है। माधुर्य और प्रसाद गुणों की उनकी भाषा में अधिकता है तथा कहीं भी दीर्घ सामासिक पदावली नहीं दृष्टिगोचर होती।

कालिदास तथा अश्वघोष के पश्चात् जिन महाकाव्यों का सृजन हुआ, उनमें अधिकांश की कथावस्तु वाल्मीकि रामायण और महाभारत से ही ली गयी है। इधर संस्कृत-काव्य-जगत में शृंगार रस की प्रधानता भी हो चली थी तथा गीतिकाव्य का भी शनैः-शनैः विकास हो रहा था। कालिदास और अश्वघोष ने जहाँ कविता में सरलता और स्वाभाविकता को

---

[1] देखिये—संस्कृत साहित्य की रूपरेखा—श्री चन्द्रशेखर पांडेय तथा श्री शान्तिकुमार नानूराम व्यास।

आवश्यक समझा है, वहाँ परवर्ती कवियों का उद्देश्य चमत्कारोत्पादन ही रहा है तथा कविता के भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष पर ही उन्होंने विषेष ध्यान दिया है। इन उत्तरकालीन कवियों की कृतियों में शुद्ध कवित्व की अपेक्षा सूक्तियाँ ही अधिक हैं।

संस्कृत के महाकवियों में कालिदास और अश्वघोष के पश्चात् भारवि का ही नाम लिया जाता है तथा उनकी कीर्ति उनके एकमात्र महाकाव्य किरातार्जुनीय पर ही आधारित है। यद्यपि किरातार्जुनीय की कथा महाभारत के वनपर्व से ली गयी है, परन्तु भारवि ने कथा में कई नवीन मौलिक प्रसंगों की भी उद्भावना की है। द्यूतक्रीड़ा में पराजित होकर पांडव जब द्वैतवन में रहते हैं, उस समय वेदव्यास के परामर्श से अर्जन पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिये कठोर तपस्या करते हैं और किरातवेशधारी शिव से युद्ध कर, अपने बाहुबल का पराक्रम दिखा उनसे पाशुपत नामक दिव्यास्त्र प्राप्त करते हैं—किरातार्जुनीय महाकाव्य की बस यही कथावस्तु है। इसमें अठारह सर्ग हैं तथा वीररस की ही प्रधानता विशेष रूप से है। शृंगार आदि अन्य रस गौण ही हैं। महाकाव्य के आवश्यक लक्षण भी इसमें पाये जाते हैं और ऋतु, पवन, सूर्यास्त, जल-क्रीड़ा आदि का स्वाभाविक वर्णन किया गया है। चरित्रचित्रण प्रभावशाली है तथा कथोपकथन में ओजस्विता है। भारवि में अर्थ-गौरव का विशेष गुण पाया जाता है तथा भारतीय महाकाव्यों की परम्परा में वे अलंकृत काव्य-शैली के प्रवर्तक भी माने जाते है। छोटी से छोटी कथावस्तु भी किस प्रकार काव्यकला-कुशलता से प्रभावपूर्ण और हृदयग्राही बन जाती है तथा उसमें महाकाव्य की विशदता आ जाती है—इसके लिये किरातार्जुनीय एक आदर्शस्वरूप है।

भट्टि भी एक प्रसिद्ध महाकाव्यकार हो गये हैं, जिनका रावणवध जिसको कि भट्टि-काव्य भी कहा जाता है, एक प्रसिद्ध महाकाव्य है। रावण वध में रामकथा के वर्णन के साथ-साथ व्याकरण के जटिल नियमों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। इस प्रकार यह एक शास्त्र-काव्य है, जिसमें विषयवस्तु के चित्रण के साथ-साथ व्याकरण शास्त्र का भी परिज्ञान करा दिया गया है। भट्टिकाव्य या रावणवध में बाईस सर्ग हैं और इस प्रकार यह भी एक विशालकाय महाकाव्य माना जाता है। प्रबन्ध-पटुता का अभाव होते हुए भी इसमें भाषा की सरलता और प्रांजलता तो है ही। कहीं-कहीं जो कृत्रिमता और शाब्दिक आडम्बर दीख पड़ता है, उसका कारण विषय की गम्भीरता ही है। रावणवध के साथ-साथ कुमारदास रचित जानकीहरण भी संस्कृत का एक प्रसिद्ध महाकाव्य माना जाता है, जिसमें रामकथा का वर्णन किया गया है। कथा में मौलिकता न होते हुए भी वर्णन शैली सुन्दर तथा शब्द सुषमा और छन्दों के नाद-सौन्दर्य के फलस्वरूप मधुरता की अधिकता-सी जान पड़ती है।

संस्कृत साहित्य में माघ का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है और उनके महाकाव्य 'शिशुपाल-वध' की गणना उच्चकोटि की कृतियों में की जाती है। इस महाकाव्य में बीस सर्ग हैं और युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ समाप्त होने पर श्रीकृष्ण द्वारा किये गये शिशुपाल-वध की घटना का ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। भारवि के सदृश्य माघ ने भी कई नवीन प्रसंगों का समावेश कर कथावस्तु को विस्तृत किया है तथा अलंकृत-काव्य-शैली का ही प्रश्रय लिया है। माघ की कल्पना-शक्ति विस्तृत थी और भावप्रकाशन में भी वे पूर्ण सफल रहे हैं। वस्तु-वर्णन की सजीवता के साथ उनकी प्रकृति-पर्यवेक्षणी शक्ति भी सराहनीय है। 'शिशुपाल-वध' की ओजस्विता और उग्रता बहुत कम कृतियों में दीख पड़ती है। रत्नाकर कृत

'हरि विजय' संस्कृत साहित्य का सबसे बृहत्काय महाकाव्य है, जिसमें कि पचास सर्ग हैं। इसमें भगवान शंकर द्वारा अन्धकासुर-वध की कथा वर्णन की गई है। 'हरि विजय' पर माघ के शिशुपाल-वध का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है तथा कथावस्तु छोटी होते हुए भी वर्णन का आवश्यकता से अधिक विस्तार कर देने के कारण कवि को इस महाकाव्य में आनुपातिक सम्बन्ध का निर्वाह करने में सफलता न प्राप्त हो सकी। कहीं-कहीं बाह्य प्रकृति का वर्णन अवश्य सुन्दर बन पड़ा है। इसी प्रकार जैन महाकाव्यों में हरिश्चन्द्र नामक कवि का 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक इक्कीस सर्ग का महाकाव्य भी अत्यधिक प्रसिद्ध है, जिसमें पन्द्रहवें तीर्थङ्कर धर्मनाथ का जीवन वृतान्त अलंकृत काव्य-शैली में वर्णन किया गया है। कविराज नामक कवि का राघव पाराऽवीय भी एक उल्लेखनीय महाकाव्य है, जिसके प्रत्येक श्लोक में रामायण और महाभारत की कथा का साथ-साथ वर्णन किया गया है। वस्तुतः इस प्रकार का शब्द कौतूहल संस्कृत को छोड़ विश्व की अन्य किसी भी काव्य-कृति में नहीं पाया जाता। संस्कृत महाकाव्य की परम्परा में अंतिम महाकाव्य श्रीहर्ष रचित 'नैषधीय-चरित' है, जिसमें कि बाइस सर्गों में नल-दमयन्ती के प्रेम और विवाह की कथा वर्णन की गयी है। 'नैषध' में महाकाव्य के सभी आवश्यक तत्त्वों का समावेश हुआ है तथा सजीवता, सुमधुरता और सरसता में यह अपने कई पूर्ववर्ती महाकाव्यों से भी श्रेष्ठ है-—'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।' भाव और भाषा का जैसा सुन्दर समन्वय इसमें दीख पड़ता है वैसा बहुत थोड़े से महाकाव्यों में दीख पड़ता है। रूप-वर्णन और चरित्र-चित्रण दोनों में सजीवता है तथा जैसा कि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य के विषय में लिखा है—"शृंगारमृतशीगुः"—वास्तव में वह शृंगार रूपी पियूष का सुधांशु है। प्राकृतिक दृश्यों का भी हृदयग्राही चित्रण किया गया है, किन्तु 'नैषध' में भावों की पुनरावृत्ति भी की गयी है और दुरूह कल्पनाओं तथा विलक्षण अत्युक्तियों के योग से काव्य को क्लिष्ट और दुर्बोध भी बना दिया गया है। कहीं-कहीं कुरुचि उत्पादक सूक्तियों का भी समावेश हुआ है और कवि ने अपनी आत्मश्लाघा को भी पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। परन्तु इन त्रुटियों के होते हुए भी नैषधीय चरित का संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों में महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इसके उपरान्त किसी भी उल्लेखनीय महाकाव्य का सृजन न हो सका और इस प्रकार श्रीहर्ष ही संस्कृत के अन्तिम महाकवि हैं।

(विशाल भारत, अक्टूबर १९५४)

महर्षि व्यास की काव्य-सुषमा

महर्षि व्यास ने स्वयं 'अग्नि पुराण' में काव्य के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम् ॥

अर्थात् अभीष्ट अर्थयुक्त पदावली, जिसमें गुण ही गुण हों दोष न हों और अलंकार स्पष्ट प्रतीत होते हों कविता कहलाती है। उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार के सुन्दर शब्दों का चयन कवि करेगा, उसी प्रकार अर्थ भी कविता का उत्तम होगा, या कविता भी उसी प्रकार उत्तम हो सकेगी। 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' नामक उक्ति द्वारा भी यही सिद्ध होता है कि रमणीय अर्थ प्रतिपादित करने वाले शब्द ही काव्य हैं परन्तु साथ ही आवश्यकीय यह भी है कि कविता में रस का भी आविर्भाव हो सके। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' नामक साहित्यदर्पण की उक्ति तो यही सिद्ध करती है कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है। साहित्यदर्पण के रचयिता ने यह भी लिखा है कि—

"गुणः शौर्यदिवत्, अलंकाराः कटककुण्डला-दिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थान विशेषवत्, देह द्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभूतं रसत्युकर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षकाइत्युच्यन्ते।" परन्तु इस उक्ति द्वारा जहाँ शब्दों और अर्थों की महिमा गायी गई है वहाँ अंत में 'रसोत्कर्ष' होना भी नितांत आवश्यक माना गया है। 'श्रीकण्ठचरित' में भी इस प्रकार महाकवि मंखक ने लिखा है—

तैस्तैरलंकृतिशतैरवतसितोऽपि,
रूढ़ो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि।
नूतं विना घनरस प्रसराभिषेकं,
काव्याधिराजपदमहर्ति न प्रबंधः ॥

आचार्य शुक्लजी ने 'कविता क्या है' नामक अपने प्रसिद्ध निबन्ध में लिखा है कि "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।" (चिन्तामणि; पहला भाग पृष्ठ १४१) भरत मुनि के 'न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते' नामक उक्ति द्वारा तो प्रतीत होता है कि काव्य को रसविहीन होना ही न चाहिए परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि रस का आविर्भाव कवि की शब्दयोजना पर ही निर्भर है। यदि कवि की रचना में सुंदर-सुंदर शब्दों का अभाव हुआ तो फिर काव्य नीरस ही प्रतीत होगा। इसीलिए महाकवि मंखक ने लिखा है—

तान्यथरत्नानि न संति येषां,
सुवर्णसंचेन च ये न पूर्णाः ।

ते रीतिमात्रेण दरिद्र कल्पा,
यान्तीश्वरत्वं हि कथं कवीनाम्।

भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' नामक उक्ति द्वारा भी इस कथन की पुष्टि होती है। किसी भी कवि की काव्यकला की समीक्षा करते समय हमें इन लक्षणों से पर्याप्त सहायता मिलती है।

सभ्यता के साथ-साथ साहित्य की भी उन्नति होती है। इस प्रकार वेद ही हमारे पुरातन साहित्य के रूप में हैं अर्थात् वेद ही काव्य के मूल स्रोत हैं। वेदों में काव्यत्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है और यदि यह कहा जाय कि उनमें काव्य की बड़ी ही सुन्दर छटा दृष्टिगोचर होती है तो कुछ अत्युक्ति न होगी। ऋग्वेद का एक मंत्र देखिए—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची,
गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा,
उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥

(ऋग्: १।१२४।७)

वैदिक साहित्य के उपरान्त संस्कृत में उन दो महान् विभूतियों का प्रादुर्भाव होता है जो संस्कृत साहित्य के उच्चकोटि के महाकवियों में गिनी जाती हैं। यह दो विभूतियाँ हैं— वाल्मीकि और व्यास। वाल्मीकि तो आदि कवि माने ही जाते हैं और उनकी रामायण संस्कृत का प्रथम महाकाव्य है परन्तु वाल्मीकि के साथ-साथ व्यास का भी संस्कृत साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान है। वाल्मीकि रामायण और महाभारत ये दोनों संस्कृत साहित्य की उच्चकोटि की रचनाएँ हैं। महर्षि व्यास के उपरांत जिस किसी ने काव्य-सृजन किया, व्यास जी की रचनाओं से अवश्य ही भाव ग्रहण किया। कविवर राजशेखर के प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्य-मीमांसा' में स्पष्ट ही व्यास के 'अग्निपुराण' की छाया दृष्टिगोचर होती है। महर्षि व्यास का 'अग्नि पुराण' इस बात का द्योतक है कि वे कवि ही नहीं थे बल्कि काव्य का मर्म भी पूर्णतः समझते थे। उनका ज्ञान अगाध था। काव्य के समस्त अंगों, रस, रीति अलंकार, नृत्य, अभिनय और रूपक आदि सभी विषयों पर उन्होंने प्रकाश डाला है। कोई भी विषय उनकी लेखनी ने अछूता नहीं छोड़ा। यह भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन सबके निरूपण में उन्हें पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई है। साथ ही महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास जी 'अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवती सुतः' नामक कथनानुसार अठारहों पुराण और महाभारत के रचयिता माने जाते हैं परंतु यदि सिर्फ एकमात्र महाभारत को ही लिया जाय तो वही अकेला उन्हें संस्कृत-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में सम्मिलित कर देता है। 'व्यस्यति वेदान् इति व्यासः' नामक उक्ति द्वारा यह भी विदित होता है कि वेद का विभाग करने वाले अथवा ज्ञान का विस्तार करनेवाले को व्यास कहते हैं।[1] इस

---

[1] अर्वाचीन काल में भी 'व्यास' शब्द का यही अर्थ माना जाता है। देखिए—

विस्पष्टमद्रुतं शांतं स्पष्टाक्षरपदं तथा।
कलस्वरसमायुक्तं रसभावसमन्वितम्॥

प्रकार महर्षि व्यास की प्रतिभा सर्वतोमुखी जान पड़ती है । और प्रस्तुत लेख में महर्षि व्यास के काव्य-सौंदर्य पर हम संक्षेप में ही प्रकाश डाल सकेंगे क्योंकि महर्षि व्यास की रचनाओं में से यदि एक ही विषय के उदाहरण एकत्र किये जायँ तो एक बड़ी पुस्तक ही निर्मित हो जाय ।

महर्षि व्यास की रचनाओं में नवों रस के उदाहरण पाये जाते हैं । महाभारत में करुण, वीर और शांत रस के वर्णन में उन्हें विशेष सफलता मिली है । महाभारत के कुरुक्षेत्र के भीषण नरसंहार वाले अवतरणों को पढ़ते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं । वीभत्स और भयानक के भी चित्र इस स्थल में उपलब्ध होते हैं । करुण-रस पूर्ण चित्रों की तो बहुलता ही है । करुण-रस का एक उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं ।

विपत्तियों को झेलते-झेलते; बचपन की धूल छानते हुए एक दिन नल और दमयन्ती एक खाली धर्मशाला में पहुँचे । जो राजसी सुख-शैय्या पर सर्वदा विश्राम करते थे; उन्हें ही आज धरती पर रात व्यतीत करना पड़ रहा है । अर्द्धरात्रि व्यतीत हो चुकी थी, कालचक्र थोड़ा और घूमा तथा विपत्तियों का एक दूसरा प्रवल झोंका आया । अब दम्पत्ति के वियोग का समय आया । नल ने दमयन्ती को अकेला छोड़ कर चले जाना चाहा । उन्होंने दमयन्ती के परिधान के दो टुकड़े किए; और आधा तो उसे ही पहने रहने दिया तथा आधा स्वयं पहन लिया । अर्द्ध-वस्त्रों में अपनी प्रियतमा को सोती हुई छोड़ वह आगे बढ़े परन्तु उनका हृदय उन्हें बार-बार धर्मशाला की ओर खींच लाता था । इस समय का वर्णन बड़ा ही करुणापूर्ण है—और महर्षि व्यास के काव्य-सौंदर्य के अत्युत्तम उदाहरण में गिना जाता है । देखिए—

तेनार्द्धं वाससश्छित्त्वा निवस्य च परन्तपः ।
सुप्तामुत्सृज्य वैदर्भीं प्राद्रवद्गतचेतनाम् ।।
ततो निवृत्तहृदयः पुनरागम्य तां सभाम् ।
दमयन्तीं तदा दृष्ट्वा रुरोद निषधाधिपः ।।
यां न वायुर्नचादित्यः पुरा पश्यति मे प्रियाम् ।
सेयमद्य सभामध्ये शेते भूमावनाथयवत् ।।
इयं वस्त्रावकर्तेन संवीता चारुहासिनी ।
उन्मत्तेव वरारोहा कथं बुद्ध्वा भविष्यति ।।
एवमुक्त्वा प्रियां भार्यां रूपेणाप्रतिमां भुवि ।
कलिनापहृतज्ञानो नलः प्रातिष्ठदुद्यतः ।।
गत्वा-गत्वा नलो राजा पुनरेति सभां मुहुः ।
आकृष्यमाणः कलिना सौहृदेनावकृष्यते ।।

बुध्यमानः सदर्थे वै ग्रंथार्थञ्चार्पयेन्नृप ।
य एवं वाचयेद् ब्रह्मन् स विप्रो व्यास उच्यते ।।

भविष्य पुराण में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है—

बुद्धमानः सदा ह्यर्थे ग्रन्थार्थे कृत्स्नमेव च ।
य एवं कथयेत्सम्यक स विप्रो व्यास उच्यते ।।

द्विधेव हृदयं तस्य दुःखितस्याभवत्तदा।
दोलेव मुहुरायाति याति चैव सभां प्रति॥

[महाभारत, वनपर्व, अ० ६२ । १९-२७]

दुखी नल ने उस खड्ग को उठा लिया और दमयन्ती के तन पर का वस्त्र आधा काटकर स्वयं पहन लिया। निन्द्रोन्मीलित दमयन्ती को सोती हुई छोड़ कर नल वहाँ से चल दिए। थोड़ी देर बाद उनके हृदय में कुछ उत्सुकता-सी हुई और नल फिर उसी धर्मशाला में लौट आए तथा दमयन्ती की इस दशा को विलोक विलाप करने लगे। नल रोते ही रोते मन में विचार भी करते थे कि मेरी यह पत्नी जिसे समीर तक स्पर्श करने का साहस नहीं कर सकता था, वही अनाथ के समान वसुधा के इन रजकणों पर पड़ी हुई है। खड्ग से काटे हुए; अर्द्धपरिधान को धारण की हुई, सुन्दर सुडौल अंगवाली मेरी प्रियतमा जब मुझे यहाँ नहीं देखेगी तब न जाने कितना अधिक दुखी होगी। समस्त पृथ्वी में जिसके रूप की कोई समता नहीं कर सकता, उसी प्राणों से भी अधिक प्रिय दमयन्ती को इस बेसुध अवस्था में छोड़ राजा नल चले गए। परन्तु बार-बार वे बाहर जाते थे और बार-बार उसी धर्मशाला में लौट आते थे। कालचक्र उन्हें बाहर खींचता था और पत्नी का प्रेम उन्हें धर्मशाला के अंदर ले आता। दुःख के मारे राजा नल का हृदय दो टूक हो रहा था। उनकी दशा हिंडोले के समान थी। जिस प्रकार हिंडोला कभी इधर आता है और कभी उधर जाता है उसी प्रकार राजा नल भी धर्मशाला से बाहर जाते और बार-बार धर्मशाला के अंदर आते।

हृदय की आभ्यंतरिक भावनाओं का कितना मर्मस्पर्शी चित्र है! सुन्दर मधुर पदावली के साथ कल्पना और भावुकता का मणीकांचनमय योग है। पढ़ते ही हृदय द्रवित हो उठता है। अलंकारों की सुन्दर छबीली छटा भी छहरा रही है। पूरा वर्णन पढ़ते ही ऐसा प्रतीत होता है कि मानो चित्र-सा देख रहे हैं। चित्रोपम कल्पना प्रस्तुत करने में महर्षि व्यास पूर्णतः सिद्धहस्त प्रतीत होते हैं। राजा नल के विलाप में हृदय की भावना साकार रूप में मानो सामने आ उपस्थित होती है। इसी प्रकार का एक उदाहरण और देखिए जिसमें हृदय की वेदना साकार रूप में चित्रित की गई है। भगवान् के इहलोक से प्रयाण कर परम-धाम चले जाने पर अर्जुन को बड़ा दुःख हुआ। श्रीकृष्ण तो उनके सर्वस्व थे। अब अर्जुन अपने मानस की इस व्यथा को इन शब्दों में प्रकट करते हैं—

तमपश्चयन् विषीदामि घूर्णामीव च सत्तम।
परिर्निवण्णचेताश्च शांतिं नोपलभेऽपि च॥
विना जनार्दनं वीरं नाहं जीवितुमुत्सहे॥

(महाभारत मौ० ८-२२-२३)

महर्षि व्यास की अभिव्यंजन-शैलियाँ संस्कृत साहित्य में अद्वितीय हैं और विभाव-चित्रण के ऐसे सुंदर उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। अन्तर्जगत और बाह्यजगत दोनों का सौन्दर्य-वर्णन कविगण करते हैं। महर्षि व्यास ने इन दोनों के सौन्दर्य-वर्णन में पूर्ण सफल रहे हैं और जहां शेक्सपियर अन्तर्जगत का ही चित्रण कर सके हैं वहाँ महर्षि व्यास बहिर्जगत और आभ्यंतरिक जगत दोनों का चित्रण करने में पूर्ण सफलता मिली है। अन्तर्जगत का सौन्दर्य उपर्युक्त दो

उदाहरणों में कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है, अब बहिर्जगत का सौन्दर्य-वर्णन देखिए। अंतरिक्ष से भगवान शंकर की जटाओं पर गंगा के गिरते समय जो दृश्य दिखाई दिया वह महर्षि व्यास के शब्दों में देखिए—

ईशानं च स्थितं दृष्ट्वा गगनात्सहसा च्युत्ता।
तां प्रच्युतामथो दृष्ट्वा देवाः सार्द्ध महर्षिभिः॥
गन्धर्वोरगयक्षाश्च समाजग्मुर्दिधक्षवः।
ततः पपात गगनाद्गङ्गा हिमवतः सुता॥
समुद्धतमहावर्ता मीनग्राहसमाकुला।
तां दधार हरो राजन् गङ्गा गगनमेखलाम्॥
ललाटदेशे पतितां मालां मुक्तामयीमिव।

भगवान् शंकर जी को खड़े देख अंतरिक्ष से गंगा जी अचानक उनकी जटाओं पर बड़े वेग के साथ गिरीं। व्योम-मंडल से उन्हें गिरते हुए देख उस दृश्य की शोभा निहारने के हेतु देवता, महर्षि, गंधर्व, यक्ष, सर्प आदि एकत्र हुए। गंगाजी का उस समय बड़ा विकराल रूप दृष्टिगोचर हो रहा था। बड़े-बड़े भँवर उनकी धारा में पड़ रहे थे, मीन और ग्राह सरीखे जलजन्तु भी दृष्टिगोचर हो रहे थे। हिमालय की सुता; गगन की मेखला-सी प्रतीत होने वाली गंगा को शंकर जी ने जटाओं पर इस प्रकार से धारण कर लिया जैसे कोई मोतियों की माला धारण की गई हो।

महर्षि व्यास के इस चारु-चित्रण की प्रशंसा मुक्त कंठ से करनी ही पड़ती है। शब्द-सौन्दर्य के साथ-साथ भाव-व्यंजना भी अनुपम है। कदाचित् इसी प्रकार के सुकवियों के प्रति महाकवि मंखक ने 'श्री कंठ चरित' में लिखा है—

अभ्रंकषोन्मिषित कीर्तिसितात पत्रः
स्तुत्यः स एव कवि मण्डल चक्रवर्ती।
यस्येच्छायैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते
द्राग्वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः॥

वह कवि-चक्रवर्ती सराहने योग्य है जिसके इंगितानुसार शब्दों और अर्थों की सेवा सामने उचित ढंग से खड़ी हो जाती है।

एक चित्र और देखिए। महाभारत के भीष्म पर्व का विषय है। एक दिवस जब भीष्म ने रणक्षेत्र में धनंजय के छक्के छुटा दिए; उसका रथ चकनाचूर कर डाला और उस गाण्डीवधारी वीर अर्जुन के गाण्डीव की डोर तक काट डाली तब वह हताश-सा हो गया। भक्त की रक्षा के लिए भगवान् श्रीकृष्ण शीघ्र ही रथ का एक पहिया उठाकर भीष्म की ओर दौड़े। महर्षि व्यास ने उस समय का चित्र बड़े ही कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है—

क्षुरान्तमुद्भ्राम्य भुजेन चक्रं
रथादवप्लुत्य विसृज्य वाहान्।
स कम्पयन् गां चरणैर्महात्मा
वेगेने कृष्णः प्रससार भीष्मम्॥

मदान्धमाजौ समुदीर्णदर्पं
सिंहो जिघांसन्निव वारणेन्द्रम ।

महर्षि व्यास की काव्यगत प्रमुख विशेषता तो यह है कि ऐसा कोई भी विषय अवशेष नहीं रहा, जिसका वर्णन उन्होंने न किया हो। उनकी प्रतिभा उनके प्रत्येक ग्रंथ में देखी जा सकती है और उनकी भावमूर्तिविधायिनी कल्पना की प्रशंसा तो मुक्त-कंठ से करनी ही पड़ती है। महर्षि व्यास इस प्रकार का स्वाभाविक और हाव-भावपूर्ण मूर्तिविधान करते थे कि पाठक अनुभूति में मग्न हो उनकी भावुकता की सराहना करने लग जाता है। महर्षि व्यास प्रकृति-वर्णन में भी पूर्ण सफल रहे हैं। उनका षट्ऋतु-वर्णन संस्कृत साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान रखता है और। उनके ऋतु वर्णन से बहुत से परवर्ती कवियों ने भाव ग्रहण किए हैं। कल्पना तथा वाणी के साथ अपनी भावुकता का संयोग कर प्रकृति के जैसे सुन्दर चित्र महर्षि व्यास ने प्रस्तुत किए हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ ही हैं। प्रकृति वर्णन से पाठकों को शिक्षा भी मिलती है। महर्षि व्यास के पावस-वर्णन की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः ।
तृष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद्ब्राह्मणा नियमात्यये ॥
आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः ।
पुंसो यथाऽस्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः ॥
गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः ।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः ॥
मेघगमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दञ्छिखण्डिनः ।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाऽच्युतजनागमे ॥

(श्रीमद्भागवतः, स्कंध १०, पूर्वार्द्ध, अ० २०)

महर्षि व्यास के ऋतु वर्णन का प्रभाव परवर्ती कवियों की सूक्तियों पर अत्यधिक पड़ा है और गोस्वामी तुलसीदास के ऋतुवर्णन में भी महर्षि व्यास के ऋतु-वर्णन की छाया दृष्टिगोचर होती है। गोस्वामी तुलसीदास के पावस-वर्णन की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

दादुरि धुनि चहुँ दिसा सुहाई ।
बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई ॥
क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई ।
जस थोरेहु धन खल बौराई ॥
बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे ।
खल के बचन संत सह जैसे ॥

लछिमन देखहु मोरगन, नाचत बारिद पेखि ।
गृही बिरतिरत हरष जस, बिष्णु भगत कहुँ देखि ॥

प्रायः प्रत्येक कवि परवर्ती कवियों से भाव ग्रहण करता है। इन पंक्तियों में भाव-साम्य चाहे पाया भी जाता हो, परन्तु यह तो मानना ही होगा कि हिन्दी काव्य-साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास

के ऋतु-वर्णन का वही स्थान है जो संस्कृत साहित्य में महर्षि व्यास के ऋतु-वर्णन का। अब महर्षि व्यास के शरद्-वर्णन की सुषमा देखिए—

गाधवारिचरास्तापमविदञ्शरदर्कजम् ।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥
सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः ।
यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्विषा ॥
गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचः शिवम् ।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा ॥
वाणीङ् मुनिनपस्नाता निर्गम्यार्थत् प्रपेदिरे ।
वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान्काल आगते ॥

(श्री मद्भागवत, स्कंध १० पूर्वाद्ध अ० २०)

उत्कृष्ट भाव-व्यंजना, सुमधुर भाषा, रम्य विभाव-चित्रण और अद्वितीय अभिव्यंजन शैलियों के साथ-साथ रस-व्यंजना भी महर्षि व्यास की अनुपम कही जा सकती है। रसों में शृंगार को प्रधान माना जाता है। 'शृंगार प्रकाश' के रचयिता भोजदेव ने शृंगार रस की महत्ता निम्नांकित श्लोकों में प्रतिपादित की है—

वीरादभुतादिषु च येह रस प्रसिद्धिः,
सिद्धाः कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति;
लोके गतानुगतिकत्वशादुपेता—
मेतां निर्वतयितुमेव परिश्रमो नः।
शृंगारवीरकरुणाद्भुतहास्यरौद्र—
बीभत्सवत्सल भयानकशांतनाम्नः;
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयन्तु,
शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः।

विश्व प्रकृति-पुरुष की केलि का रंगमंच है। नारी-पुरुष की प्रीति प्रकृति-पुरुष की प्रीति का प्रतिबिम्ब ही है। प्रेम की समता भला कौन कर सकता है? प्रेम के विषय में बिहारी ने उचित ही कहा है—

गिरि तैं ऊँचे रसिक मन बूड़े जहाँ हजार,
वहै सदा पसु नरन को प्रेम पयोधि पगार।

संस्कृत के एक प्रसिद्ध विद्वान् का कथन है कि समस्त रस और भाव उदधि में ऊर्मियों के समान जिसमें उठते और लीन होते रहते हैं उसका नाम प्रेम है। देखिए—

सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः॥

यही प्रेम, शृंगार रस का स्थायी भाव माना जाता है। शृंगार रस को रसराज भी कहते हैं तथा दूसरे सभी रस शृंगार के संमुख गौण ही ठहरते हैं। महर्षि व्यास ने 'अग्नि-पुराण' में स्वयं ही स्वीकार किया है कि यदि कवि शृंगारी होता है तो उसके काव्य से जगत

रसमय हो जाता है किंतु यदि वह वीतरागी होता है तो चारों ओर मीरसता फैल जाती है। देखिए—

शृंगारी चेत कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स चेत् कविर्वीतरागी नीरसं व्यक्तमेव तत् ।।

हिन्दी साहित्य का रीतिकाल कृष्ण और राधा की प्रेमभरी कविताओं से ही भरा पड़ा है परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो यही समझ पड़ता है कि इन कवियों को प्रेरणा श्रीमद्भागवत से ही मिली है। व्यास जी ने श्रीमद्भागवत को 'पिवत भागवतं रसमालयम्' कहा है और पाठकों से 'भागवत' का रसपान करने का अनुरोध किया है। 'श्रीमद्भागवत' में शृंगार रस के सुन्दर-सुन्दर चित्र दृष्टिगोचर होते हैं। और प्रीति के यह सुन्दर उदाहरण संस्कृत साहित्य की अक्षय निधि हैं। एक उदाहरण देखिए—

अंतर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ।।

शरद् पूर्णिमा की बावली-सी कर देनेवाली विभावरी थी। जब रात्रि आधी से अधिक व्यतीत हो चुकी थी एकाएक वृन्दावन में श्याम की बाँसुरी बज उठी। जो जिस दशा में थी उसी दशा में कृष्ण के समीप जा पहुँची। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'रसखान' के कृष्ण की बाँसुरी की सुरीली तान का व्रज पर क्या प्रभाव पड़ा और उसके वशीभूत हो गोपियाँ किस प्रकार सुध-बुध भूल गईं इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

दूध दुह्यो, सीरो परय्यौ तातो न जमायो बीर,
जामन दियो सो धरयो धरयोई खटायगो;
आन हाथ आन पाइ सबही के तब ही तें,
जब ही तें 'रसखानि' ताननि सुनायगो।
ज्योंही नर त्यौंही नारी तैसिये तरुनि बारी,
कहिये कहा री सब व्रज बिललायगो;
जानिये न आली, यह छोहरा जसोमति कौ,
बाँसुरी बजायगो, कि विष बगरायगो।।

जिस प्रकार वीणा बजाते ही मृग उस सुमधुर स्वरलहरी को कर्णगोचर होते ही उसे और अधिक समीप से श्रवण करने के हेतु वीणा बजाने वाले के पास आ पहुँचता है, चाहे फिर वह वीणावादक वधिक ही क्यों न हो उसी प्रकार वंशी की मधुर-ध्वनि सुनते ही गोपियाँ भी श्याम के समीप जा पहुँची। परन्तु जो न जा सकीं उन्होंने मन-ही-मन श्याम की आराधना की और अपने चक्षुओं को मूँद कृष्ण का ध्यान किया और उसी दशा में श्याम से उनकी भेंट हो गई। महर्षि व्यास ने गोपियों की इस अवस्था का सुन्दर चित्रण यहाँ प्रस्तुत किया है। गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति कितना प्रगाढ़ प्रेम था इसका सुन्दर परिचय इस श्लोक में मिलता है। मानस की आभ्यंतरिक अवस्था भी कलात्मक रूप से चित्रित की गई है।

अब महर्षि व्यास की शृंगार रस-पूर्ण काव्य-कला का एक दूसरा उदाहरण देखिए।

रासलीला हो रही थी परन्तु एकाएक भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों को आश्चर्यचकित करने के हेतु विलुप्त हो गए। अब गोपियाँ उन्हें न देखकर बहुत आश्चर्यमय हो गईं। उन्होंने कृष्ण की बहुत खोज की, पर वे मिल न सके। गोपियों का हृदय दुखी हो रहा था। उनकी इस वियोगावस्था—करुणा भरी दशा—को देख श्याम पसीज ही उठे और एकाएक प्रगट हो गए। अब गोपियों ने उन्हें घेर लिया और लगीं प्रेम-परिहास करने। सब ने भिन्न-भिन्न ढंग से अपना प्रेम-प्रदर्शन किया परन्तु उन सबके मध्य एक ऐसी प्रेम-योगिनी भी थी जिसने बड़े ही अद्भुत ढंग से अपना प्रेम प्रदर्शित किया। उसके इस प्रेम-प्रदर्शन को महर्षि व्यास जी के शब्दों में देखिए—

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदि कृत्य निमील्य च।
पुलकाङ्ग्यपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता॥

महर्षि व्यास ने व्यंग्यपूर्ण कथन भी प्रस्तुत किए हैं और कहीं-कहीं हास्यरस की भी धारा प्रवाहित की है। अर्जुन जब सुभद्रा से विवाह कर चुके, तब उसके कुछ दिनों उपरांत उनसे व्यंग्य करती हुई द्रौपदी ने कहा—'अजी, अब आप वहाँ जाइए जहाँ आपकी नई-नवेली सुभद्रा जी बैठी हैं। एक गट्ठा चाहे कितनी भी दृढ़ता से बाँध दिया जाए; उसका पहला बन्धन चाहे कितना भी अधिक मजबूत क्यों न हो; परन्तु जब वही गट्ठा दूसरी बार बाँधा जाता है तब उसका पहला बन्धन ढीला अवश्य पड़ जाता है।' देखिए—

तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वात्मजा।
सुवद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते॥

व्यंग्य के साथ-साथ नीतिपूर्ण उद्गार भी महर्षि व्यास ने प्रकट किये हैं। महर्षि व्यास कवि और आचार्य के साथ-साथ उपदेशक भी थे। उनके ऋतु-वर्णन तक में नीतिपूर्णसूक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। महाभारत में जो 'श्रीमद्भागवत गीता' है उसका महत्व तो आज सर्वविदित है। महाभारत में तो नीतिपूर्ण उद्गारों की खान-सी है अतः विस्तार-भय से हम सिर्फ एक ही उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। 'एक माँ अपने पुत्र से कहती है कि चाहे तेंदुवे की लकड़ी के समान एक ही क्षण जलना पड़े, पर जलना अवश्य। जलकर अपने आलोक से जीवन को प्रकाशित कर देना। प्रकाशहीन अग्नि न बनकर प्रकाशवान बनना। अधिक दिन जीवित रह सकें इसलिए भूसे की धूमिल अग्नि के समान जलकर अपना जीवन व्यर्थ नष्ट न कर देना। एक ही क्षण का आलोकपूर्ण जीवन इस धूम्रमय दीर्घ जीवन से लाखगुना उत्तम है।' कितने सुन्दर विचार है और उनको कितनी कुशलता के साथ व्यक्त भी किया गया है। महर्षि व्यास की काव्यकला का यह एक सुन्दर उदाहरण है। देखिए—

अलातं तिन्दुकस्येव मुहुर्तमपि हि ज्वल।
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिर्जीविषुः॥

महर्षि व्यास संस्कृत के उच्चकोटि के कवियों में से हैं। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है। भावों के अनुरूप भाषा सर्वत्र ही उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है। सुन्दर सुमधुर स्निग्ध पदावली की सहायता से वे सुन्दर सजीव भावपूर्ण मूर्तिविधान करते थे। भावों की श्रेष्ठता के साथ-साथ उनकी भाषा भी रमणीय है और लाक्षणिकता भी सराहनीय है।

उत्पत्ति, विकास और अन्त, सृष्टि, युद्ध और शोक—इन तीनों के वर्णन में जिस कवि को जितनी अधिक सफ़लता मिलती है उतनी ही उच्चकोटि की रचना भी उसकी होती है। महर्षि व्यास के महाभारत में इन तीनों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। अकेला महाभारत ही उनकी कविप्रतिभा का परिचायक है, फिर अवशिष्ट ग्रंथों का तो कहना ही क्या है। महाभारत की काव्यगत विशेषताओं की प्रशंसा प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वानों तक ने की है और महाभारत महर्षि व्यास की कीर्ति को सर्वदा अक्षुण्ण रखेगा। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में महर्षि व्यास के महाभारत की काव्यदृष्टि से समीक्षा करते हुए लिखा भी है—

महाभारतेऽपि…………वृष्णिपाण्डवविरसावसानवैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यप्रधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तोरसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः………काव्यनयेतृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्याङ्गित्वेनविवक्षित इति सुप्रतिपादितम्। अत्यन्तसारभूतत्वाच्चायमर्थो व्यङ्ग्यत्वेनैव दर्शितो न तु वाच्यत्वेन सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति। प्रसिद्धश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाशते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेनैव।

महर्षि व्यास का महाभारत पाँचवा वेद माना जाता है और महाभारत के अध्ययन से समस्त शास्त्रों के अध्ययन का रस प्राप्त होता है। महाभारत सर्व-शास्त्रों के रसों का निचोड़ है। स्वयं महर्षि व्यास ने महाभारत में इस बात पर प्रकाश डाला है।

कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम्।
ब्रह्मन् वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया॥
साङ्गोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया।
इतिहासपुराणानामुन्मेषं निमिषं च यत्॥
चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च कृत्स्नशः।
ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणं च युगैः सह॥
न्याय शिक्षाचिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा।
तीर्थानां चैव पुण्यानां देशानां चैव कीर्तनम्॥
नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च।

(महाभारत, आदिपर्व अ० १—८६-९३)

महाभारत से न जाने कितने नवीन कवियों को प्रेरणा मिली और न जाने कितने कवियों ने भाव ग्रहण किए। व्यास जी ने महाभारत के आदि पर्व में लिखा है कि बाद के कवियों को महाभारत से प्रेरणाएँ मिलेंगी और इस कथानक का आश्रय लेकर परवर्ती कवि काव्य-सृजन करेंगे। देखिए—

इतिहासोत्तमादस्माद् जायन्ते कवि बुद्धयः।

(महा०; आदि पर्व—२/३८५)

और भी—

इदं कविवरैस्सवैराख्यानमुपजीव्यते ।

(महा०, आदि पर्व—२/३८९)

उपर्युक्त कथन अक्षरशः सत्य हुआ । वास्तव में संस्कृत साहित्य को महर्षि व्यास की रचनाओं पर गर्व करना चाहिए । महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास चौबीस अवतारों में तो माने ही जाते हैं परन्तु संस्कृत के कवियों में भी उनका अपना एक अद्वितीय स्थान है । महर्षि व्यास उन महान विभूतियों में हैं जिनकी रचनाओं का मान विदेशों तक में है और उनकी काव्य-कला की प्रशंसा में जितना भी अधिक लिखा जाय थोड़ा ही है ।

(जुलाई १९५०)

कालिदास का सौन्दर्य-वर्णन

अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि इमर्सन (R. W. Emerson) ने सौंदर्य का महत्व इन शब्दों में व्यक्त किया है—

Rhadora ! if the sages ask thee why,
This charm is wasted on the earth and sky ?
Tell them, dear, that if eyes are made for seeing,
Then beauty is its own exouse for being.

अर्थात् यदि संतजन पूछें कि सौंदर्य, धरती और आकाश में व्यर्थ क्यों बिखेर दिया गया है, तो मेरी प्रिय उन्हें कहो कि यदि आँखें देखने के हेतु बनी हैं, तो सौंदर्य भी उन्हीं के लिए बना है ।

कविता का राज्य सौंदर्य है और सत्य कहा जाय तो कविता सौंदर्य का ही मूर्तिमान रूप है । कला का प्रधान गुण सौंदर्य ही माना जाता है और वह नूतन सौंदर्य की सृष्टि भी करती है । सौंदर्य बाह्य जगत और आभ्यंतरिक जगत दोनों में पाया जाता है । बाह्यजगत वह जगत है, जो नेत्र आदि बाहरी इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है । विचारपूर्वक देखा जाय तो बाह्य जगत का अनुभूत ज्ञान ही कवि के अन्तर्जगत का मूल आधार है । कवि जहाँ नारी के अंग-प्रत्यंग का बाह्य-सौंदर्य वर्णन करते हैं, वहाँ उसके मानस के प्रेम एवं करुणा आदि आभ्यंतरिक भावनाओं का भी वर्णन करते हैं । एकमात्र बाह्य-सौंदर्य का ही वर्णन करने वाले भी कवि कहे जाते हैं, परन्तु वे कवि जो कि मनुष्य के मानसिक सौंदर्य का भी वर्णन करते हैं, उनसे कहीं अधिक श्रेष्ठ कवि या महाकवि माने जाते हैं ।

कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियों में गिने जाते हैं । कोमल-कान्त पदावली, प्रांजल और सुललित भाषा, मनोहारिणी भाव-व्यंजना आदि गुणों के कारण कालिदास का कवित्व निखर उठा है । कालिदास विशेषतः सौंदर्य के कवि हैं अतः सौंदर्य-वर्णन में कालिदास की प्रकृति-पर्यवेक्षणी शक्ति का परिचय मिलता है और वास्तव में श्री छन्नूलाल द्विवेदी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कालिदास और शेक्शपियर' में उचित ही लिखा है—"प्रकृति के अनन्त विस्तार की छाया कालिदास के काव्य में पड़ी हुई है । कालिदास का काव्य प्रकृति-सौंदर्य का अनन्त भंडार है । वहाँ किसी पदार्थ की कमी नहीं है । जो खोजेंगे वही मिलेगा ।"[1]

कवियों का प्रकृति-वर्णन भी प्रायः उनकी भावनाओं और मनोवृत्तियों पर निर्भर रहता है । प्राकृतिक दृश्यों को कवियों ने उपदेश का साधन बनाकर भी चित्रित किया है । इस प्रकार के प्रकृति वर्णन में कवि अपने आत्मानुभव से काम लेता है । महर्षि व्यास के ऋतु-वर्णन में जहाँ काव्य-कला का निखरा हुआ रूप दृष्टिगोचर होता है, वहाँ उनसे गहन से गहन शिक्षा भी मिलती है । प्रकृति के साधारण से साधारण पदार्थों के स्वाभाविक चित्रण के

---

[1] कालिदास और शेक्सपियर—श्री. छन्नूलाल द्विवेदी (पृष्ठ ५६)

साथ-साथ अटल सत्य की अलौकिक शिक्षा भी मिलती है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी महर्षि व्यास की प्रणाली अपनायी है। नीति और कला का अद्‌भुत संगम इस प्रकार के प्राकृतिक वर्णनों में दीख पड़ता है। कवियों ने प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों का प्रयोग अलंकारों के उदाहरणों के रूप में भी किया है और उन्होंने अपनी उपमाएँ प्रायः प्रकृति से ही ग्रहण की हैं तथा हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल में तो इसी प्रकार का प्रकृति-वर्णन किया जाता रहा है। कवि प्रकृति के परिवर्तनशील रूपों को भी अपनी विभिन्न शैलियों द्वारा वर्णन करता है। जन-साधारण की अपेक्षा कवि के कथन में कुछ विशेषता ही होती है। सर्वसाधारण के लिए लू चलना एक साधारण बात है, परन्तु कवि यह अनुमान करता है कि मानो बसंत के विरह में ग्रीष्म उसाँसे ले रहा है। विहारी ने कहा भी है—

नाहिंन ये पावक प्रबल लुएँ चलति चहुँ पास।
मानहुँ विरह वसन्त के ग्रीषम लेति उसास॥

कालिदास ने प्रकृति को भिन्न-भिन्न रूपों में चित्रित किया है और उन्हें इस दिशा में अपूर्व सफलता मिली है। पाश्चात्य कवियों ने प्रकृति के नग्न रूप को प्रदर्शित करने में ही अपनी विशेषता समझी है और उनकी इस सावरण को निरावरण करने की प्रवृत्ति को आधुनिक हिन्दी कवियों ने भी ग्रहण किया है परन्तु प्राचीन कवियों ने सुन्दर आलंकारिक ढंग से ही प्रकृति का चित्रण किया है कालिदास ने कुमार सम्भव में हिमालय का इसी प्रकार वर्णन किया है और 'मेघदूत' में 'कैलाश पर्वत' का भी आलंकारिक वर्णन किया गया है। जैसे—

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
शोभाभद्रैः स्तिमितनयन प्रेक्षणीयां भवित्रीं—
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव॥

यक्ष, मेघ और कैलाश पर्वत की तुलना कर रहा है। वह मेघ से कहता है कि तुम तो चिकने मले हुए अंजन के समान काले रंग के हो परन्तु कैलाश पर्वत तुरंत काटे गये हाथी दाँत के टुकड़े की तरह श्वेत है। जब तुम कैलाश की शोभा निहारने के हेतु खड़े होगे तब उस कैलाश पर्वत की सुषमा और भी अधिक बढ़ जाएगी। उस समय यही प्रतीत होगा मानो कन्धे पर नील वसन रखे हुए शुभ्र श्वेत शरीर वाले बलराम जी खड़े हों। कालिदास ने जल से परिपूर्ण मेघ को चिकने और खूब बारीक मले हुए अंजन के सदृश्य माना है तथा कैलाश पर्वत को तुरन्त ही काटे गये हाथी दाँत के टुकड़े की तरह बिलकुल श्वेत। उपमालंकार के योग से कैलाश पर्वत का यह वर्णन बड़ा ही कवित्वमय हो गया है।

पर्वतों का वर्णन वायरन, शैली और वर्डस्वर्थ आदि पाश्चात्य कवियों ने तथा संस्कृत के माघ और भारवि जैसे प्रसिद्ध कवियों ने भी किया है। माघ ने रैवतक पर्वत को विशाल हाथी के रूप में चित्रित किया है, परन्तु कालिदास की सी कमनीयता उनके वर्णन में नहीं आ सकी। देखिये—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा—
वहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघंटा—
द्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्॥

इसी प्रकार कालिदास ने 'रघुवंश' में गंगा-यमुना-संगम का भी बड़ा ही सुन्दर अलंकारपूर्ण वर्णन किया है। श्रीरामचन्द्र जी सीता के साथ पुष्पक विमान पर लंका से अयोध्या को लौटते हैं तथा मार्ग में गंगा-यमुना के संगम की शोभा निहार कर उन्हें बड़ी ही प्रसन्नता होती है। वे सीता से कहते हैं—"प्रिये, गंगा और यमुना के संगम की शोभा तो देखो, किस प्रकार यमुना की वीचियों से गंगा का प्रवाह भिन्न दिखलायी दे रहा है। कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो गंगा इन्द्र नीलमणियों से जटित मुक्ताहार के सदृश्य हैं और कहीं-कहीं वह श्वेत सरोरुहों की माला के समान जान पड़ती है, जिसमें नील कमल भी गूँथ दिये गये हैं। मानसरोवर के प्रेमी हंसों की पंक्ति भी दृष्टिगोचर हो रही है, जिनमें नीले हंस भी उपस्थित हैं। अन्यत्र कालागुरु या तगर के चिन्हित पत्रों से सुशोभित श्वेत चन्दन की बनी हुई वसुधा के समान वह दिखाई दे रही है। कहीं वह छाया में छिपे हुए, घोर तिमिर से कालिमा ली हुई सुधाकर की प्रभा के समान जान पड़ती है। कहीं पर शरद् ऋतु के श्वेत वारिदों की रेखा भी देख पड़ती है, जिनके मध्य गगन के नीले प्रदेश स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं। कहीं काले-काले सर्पों का आभूषण पहने हुए और भस्म रमाये शंकर का शरीर ही दीख पड़ता है।" कदाचित इसी प्रकार के उदाहरणों के कारण 'उपमा कालिदास्य' नामक उक्ति प्रचलित हो गयी है। 'मेघदूत' में नर्मदा का और 'रघुवंश' में समुद्र का वर्णन भी इसी प्रकार कलापूर्ण दीख पड़ता है।

प्राकृतिक सौंदर्य की सर्वश्रेष्ठ क्रीड़ाभूमि भारतवर्ष में वसंत, ग्रीष्म, पावस, शरद्, हेमन्त और शिशिर नामक छः ऋतुएँ होती हैं। इन ऋतुओं में प्रकृति का अनूठा सौंदर्य दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति के सुन्दर और हृदयग्राही इन सजीव चित्रों को चित्रित करने में कवियों की कविजनोचित कल्पना का पूर्ण प्राबल्य दीख पड़ता है। संस्कृत साहित्य में प्रायः सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवियों ने ऋतु-वर्णन किया है। आदि कवि वाल्मीकि ने जहाँ प्रकृति के स्वच्छन्द रूप का चित्रण किया है, वहाँ महर्षि व्यास ने प्रकृति को उपदेश का साधन बना दिया है। कालिदास पर विशेष रूप से वाल्मीकि का ही प्रभाव पड़ा है। 'रघुवंश' के नवम् सर्ग में वसंत का वर्णन करते समय उन्हें मन्द-मन्द मारुत द्वारा हिलाई गयी मल्लिका ऐसी प्रतीत होती है कि मानो कोई नर्तकी नृत्य कर रही हो।

"श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुम कोमलदन्तरुचो बभुः ।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥"

कालिदास की अद्भुत कल्पना शक्ति का यह एक सुन्दर उदाहरण है। इसी प्रकार एक स्थल पर उन्होंने वसंत को वीर के रूप में चित्रित किया है—

प्रफुल्ल चूतांकुर तीक्ष्णसायको द्विरेफमालाविलसद्धनुर्गुणः ।
मनांसि वेद्धुं सुरतप्रसङ्गिनां वसन्तयोद्धा समुपागतः प्रिये ॥

रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि मतिराम ने भी अपने एक सवैये में इस श्लोक के भावों को अपनाया है। 'कुमार सम्भव' के तृतीय सर्ग में कालिदास ने हिमालय के गिरिवन में ऋतुराज वसन्त का किस प्रकार विकास हुआ इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। ग्रीष्म और पावस का सुन्दर वर्णन 'ऋतुसंहार' में भी दृष्टिगोचर होता है। उत्तम भाषा की सर्वप्रधान विशेषता

यह है कि वह सर्वत्र ही भावानुकूल हो। कालिदास की भाषा में यह विशेषता विशेष रूप से दीख पड़ती है। दावानल का वर्णन करते समय जैसी शब्द-योजना उन्होंने की है वैसी वसन्त के वर्णन में नहीं है। पावस को उन्होंने राजा के रूप में वर्णन किया है, जिसका कि वाहन मेघरूपी मतंग है, चपला जिसकी पताका है, वज्रनिर्घोष जिसकी टंकार है, जो कि कामीजनों को सर्वाधिक प्रिय है। देखिये—

शशीकराम्भोधरमत्त कुंजरस्तड़ित् पताकोऽशनि शब्द् मद्दनः।
समागतो राजवदुन्नतध्वनिः घनागमः कामिजनप्रिय प्रिये॥

पावस में बाह्य प्रकृति का अन्तर्जगत पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका भी चित्रण उन्होंने कुशलता से किया हैं। वसंत को वीर के रूप में और पावस को राजा के रूप में जिस प्रकार चित्रित किया गया है, उसी प्रकार शरद को नवविवाहिता रमणी के रूप में चित्रित किया गया है। संस्कृत भाषा के सर्वश्रेष्ठ व्याकरणाचार्य पाणिनि ने भी शरद् को नायिका के रूप में चित्रित किया है—

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम्
प्रसादयन स-कलंकमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार।

बाह्य जगत् जड़ और चेतन दो भागों में विभाजित किया जाता है। जड़ जगत् पुनः प्राकृतिक और कृत्रिम दो भागों में विभाजित किया गया है। प्राकृतिक जगत में जहाँ नदी और पर्वतों आदि का वर्णन किया जाता है, वहाँ कृत्रिम जगत् के अन्तर्गत मन्दिरों और प्रसादों का वर्णन किया जाता है। कालिदास ने भी कृत्रिम जगत् का कल्पना और भावुकतापूर्ण वर्णन किया है और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के प्रथम अंक में तथा 'रघुवंश' के प्रथम सर्ग में तपोवन का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। कालिदास का अलका वर्णन, बाणभट्ट के उज्जैन वर्णन, माघ के द्वारिका वर्णन और मिल्टन के रोम वर्णन से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। कवियों ने जिस प्रकार किसी नगरी की शोभा और समृद्धि का वर्णन किया है उसी प्रकार शोचनीय, विषाद-मयी ध्वंसावशेषों की दशा भी उन्होंने चित्रित की है। 'रघुवंश' में रघु की राजधानी अयोध्या की शोचनीय दशा का विषादपूर्ण वर्णन बायरन के रोम के दुःखपूर्ण वर्णन के समान ही श्रेष्ठ है। किसी कवि का कथन है कि शोक में अतीत सुख की पूर्वस्मृति ही शोक की पराकाष्ठा है। रघुवंश के इस वर्णन में यह उक्ति पूर्ण चरितार्थ हुई है।

चेतन जगत् के अन्तर्गत नर-नारीके सौन्दर्य-वर्णन करने में भी कालिदास को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। शकुन्तला, पार्वती, इन्दुमती, यक्ष-वनिता आदि का सौन्दर्य-वर्णन बड़ा ही कलापूर्ण है। एक आलोचक ने लिखा भी है—"कालिदास की नायिकाएँ अपूर्व सौन्दर्य-मयी हैं।" विरहपीड़ित शकुन्तला का वर्णन करते समय कवि लिखता है कि शकुन्तला विरह से व्याकुल है। उसके स्तनों पर उसीर रखा है। कलाई में उसने जो मृणाल के आभूषण पहने थे वे भी शिथिल से हो गये हैं परन्तु तो भी विरहावस्था में वह अपूर्व कांतिमयी दृष्टिगोचर हो रही है। ग्रीष्म से तपित कामिनी के शरीर में भी ऐसी कमनीयता नहीं आ सकती है, जैसी विरह से व्यथित युवती के शरीर में। देखिए—

स्तन्यस्तोशीरं प्रशिथिलमृणालैकवलयं
प्रियायाः सावधं तदपि कमनीय वपुरिदम्।

समस्तापः कामं मनसिज निदाघ प्रसरयो—
र्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु ॥

भवभूति ने भी उत्तर रामचरित में विरहिणी सीता का वर्णन किया है—

परिपाण्डु दुर्बल कपोल सुंदरं
दधतो विलोल कबरीक माननम् ।
करुणस्य मूर्तिरिव वा शरीरिणी
विरहव्यथेव वनमेति जानकी ॥

नारी-सौंदर्य के समान कलिदास ने कुमार सम्भव में शंकर का, 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में दुष्यंत का और रघुवंश में दिलीप का सौंदर्य वर्णन किया है तथा शेक्सपियर और मिल्टन को भी नर-वर्णन में इतनी सफलता प्राप्त न हो सकी । पश्चात्य कवियों को इतर प्राणियों के चित्रण में विशेष गर्व रहा है, परन्तु कालिदास ने भी मृगों, शुकों और अश्व तथा सिंह का वर्णन किया है । इस प्रकार के बाह्य जगत् के चित्रण में वे पूर्ण सफल प्रतीत होते हैं ।

काव्य और नाटकों में मानवीय भावों का पूर्ण दिग्दर्शन किया जाता है । जिस कवि ने मानवीय भावों का अच्छी तरह से मनन नहीं किया, वह काव्य-सृजन में सफल भी नहीं हो सकता । नाटक भी दृश्य-काव्य कहे जाते हैं, अतएव नाटककारों को भी मानवीय भावों का सत्य-सत्य वर्णन उपस्थित करना चाहिये । भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव मनुष्य के मानस में उदय होते हैं । एक मात्र कल्पना-शक्ति से ही कवि समुचित भाव चित्रण नहीं कर सकता । इसके लिये उसे अनुभव की आवश्यकता होती है । कल्पना और अनुभूतियों के संयोग से कवित्व निखर उठता है । कल्पना और अनुभूति-विहीन कविता में न तो रस का ही प्रादुर्भाव होता है और न वह पाठकों को ही आनंद प्रदान कर पाती है । कल्पना और अनुभव के योग से कवि का सौंदर्य-वर्णन भी श्रेष्ठतम हो सकता हैं । बाह्यजगत के चित्रण में कवि चाहे कल्पना शक्ति से सहायता ले भी ले, पर अंतर्जगत के चित्रण में तो उसे अनुभव से ही काम लेना पड़ता है । बाह्य सौंदर्य के साथ-साथ आभ्यंतरिक जगत् का भी वर्णन आवश्यक है बल्कि जैसा कि श्री द्विजेन्द्रलाल राय ने 'कालिदास और भवभूति' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में लिखा है—"बाह्य सौंदर्य के वर्णन की अपेक्षा भीतरी सौंदर्य के वर्णन में कवि की अधिक कवित्व-शक्ति प्रकट होती है ।"

कालिदास ने अन्तर्जगत का सौंदर्य भी अपने काव्यों और नाटकों में चित्रित किया है । शकुन्तला की प्रेम-भावना, विदूषक की सरसता, दुष्यन्त का विरह, प्रियम्वदा और अनुसूया का साख्य प्रेम, इन्दुमती के वियोग में अज का विलाप, रति की करुणा, पार्वती की लज्जा, प्रेम प्रवीण पुरुरवा और छलनामयी उर्वशी की मानसिक कोमल वृत्तियाँ, यश की विरहावस्था आदि के चित्रण में कालिदास पूर्ण सफल रहे हैं । यक्ष मेघ से कहता है कि यद्यपि भाग्यवश मेरा अपनी पत्नी के साथ संयोग नहीं रहा, तब भी मानसिक विचारों से मेरा और उसका संयोग होता ही है । यक्ष-वनिता के अत्यन्त कृश शरीर में मानसिक संकल्पों से ही यक्ष अपने कृश शरीर द्वारा प्रवेश करता है । देखिये—

अंगेनांगं प्रतनु तनुनां गाढ़तप्तेन तप्तं
सास्त्रेणाश्रु द्रुतभविरतोत्कण्ठमुत्कंठितेन ।

उष्णोच्छ्वांस समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्त्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ।

पाशविकता, दुराशा, द्वेष, क्रोध आदि भी मन के ही विषय हैं । अन्तर्जगत में इनका भी समावेश होता है । परन्तु कालिदास ने अन्तर्जगत की उन्हीं मनोवृत्तियों का वर्णन किया है, जो सुन्दर हैं । सुकुमार, सुमधुर और सुन्दर मनोभावनाओं की ओर ही कवि ने दृष्टि फेरी है और मनुष्य के हृदय की सुन्दर भावनाओं का ही विश्लेषण किया है । न तो पाप का ही वीभत्स चित्र वे अपने काव्य में प्रस्तुत कर सके हैं और न स्मशान का ही । रूपेंद्रियों को जो भावनाएँ ग्राह्य थीं उन्हीं का वर्णन कालिदास ने किया है परन्तु शेक्सपियर ने पाशविकता, कामुकता, द्वेष, द्रोह, खलता, संदेह, आदि प्रवृत्तियों को भी चित्रित किया है अतः अन्तर्जगत के चित्रण में उसे विशेष सफलता मिली है । मिरांडा, डेस्डिमोना, ओथेलो, इयागो, मैकवेथ, क्लाड्डियस, रिचर्ड, क्रेसिडा आदि के अन्तर्जगतकी भावनाओं का जैसा चित्रण शेक्सपियर ने किया है, वैसी प्रवृत्तियों-का वर्णन कालिदास ने कहीं नहीं किया । कालिदास की कृतियों में प्रणय, विरह, उन्मत्तता, करुणता और सरसता आदि मनोवृत्तियों की ही अधिकता है । चूँकि वह सौंदर्य का पुजारी था इसलिये उसने उन्हीं मनोभावनाओं का चित्रण किया जो सुन्दर थीं । असुंदर भावनाओं की उसने निरी उपेक्षा की है । यहीं तक नहीं रघुवंश में ताड़का वध का वर्णन करते समय भी रूपक के सहयोग से उन्होंने सौन्दर्य लाने की चेष्टा की है—

राममन्मथ शरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिर चंदनोक्षता जीवितेशवसतिं जगाम सा ।

वास्तव में कालिदास सौन्दर्य का कवि है और उसका सौंदर्य-वर्णन निस्सन्देह ही सराहनीय है ।

(अक्तूबर १९५०)

'उत्तर रामचरित' में नाटकीय तत्त्व

संस्कृत साहित्य के नाटकों की परम्परा में भवभूति की अमरकृति 'उत्तर रामचरित' का उल्लेखनीय स्थान है। यों तो भवभूति ने 'महावीर चरित', 'मालती माधव' और 'उत्तर रामचरित' नामक तीन नाटकों का सृजन किया है किन्तु 'उत्तर रामचरित' को ही उनकी श्रेष्ठतम कृति माना जाता है और जैसा कि भवभूति ने स्वयं ही कहा है—"शब्दब्रह्मविद: कवे: परिणतप्रज्ञस्य वाणीमिमाम्"; यह नाटक उनकी परिपक्व प्रतिभा की प्रसूति है।

'उत्तर रामचरित' नाटक की कथावस्तु अत्यधिक संक्षिप्त है। वाल्मीकि रामायण के उत्तर काण्ड में एक स्थल पर यह प्रसंग आया है कि एक निराधार लोकोपवाद को सुनकर राम ने सीता का परित्याग कर दिया था। इसी प्रसिद्ध कथा का आधार लेकर ही भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' का सृजन किया है किन्तु रामायण के उपाख्यान की अपेक्षा भवभूति के नाटक में कई नवीनताएँ भी हैं जो कि उनकी मौलिकता का परिचय देती हैं। 'उत्तर रामचरित' सात अंकों में समाप्त हुआ है और उसमें नाटककार ने कथावस्तु को इस प्रकार सजाया है—**प्रथम अंक** में अंत:पुर में राम और सीता बैठे हुए हैं, उसी समय अष्टावक्र मुनि वहाँ प्रवेश करते हैं। राम ने प्रजा की भलाई के लिए सीता तक को त्याग देने की प्रतिज्ञा मुनि के सामने की। उधर लक्ष्मण द्वारा लाये हुए राम के विगत जीवन से सम्बंधित चित्रों को देखते हुए सीता की अभिलाषा तपोवन देखने की होती है। इधर दुर्मुख नाम के जासूस ने सीता के चरित्र के सम्बन्ध में प्रचलित लोकोपवाद की सूचना राम को दी और उसे सुनकर राम ने सीता को त्याग देने का निश्चय कर लिया। **द्वितीय अंक** में राम के पंचवटी वन में प्रवेश और शूद्रक के वध तथा उनके जन्मस्थान के पर्यटन सम्बन्धी घटनाओं को अंकित किया गया है। **तृतीय अंक** में सीता-वियोग के फलस्वरूप रामचन्द्र, वासन्ती, तमसा और छाया-सीता के सामने विलाप करते हैं। इसी अंक के विष्कंभक में तमसा और मुरला के सम्भाषण द्वारा जान पड़ता है कि राम ने स्वर्ण-प्रतिमा निर्मित कराकर उसे ही सहधर्मिणी मान कर अश्वमेध यज्ञ किया है। इसी अंक में भवभूति ने यह भी चित्रित किया है कि वनवास की दशा में एक दिन प्रसव-वेदना से पीड़ित होकर सीता गंगा में कूद पड़ती हैं किन्तु पृथ्वी तथा गंगा उनको पाताल में ले जाकर रख देती हैं और उनके दोनों यमज कुमारों लव और कुश को महर्षि वाल्मीकि को सौंप देती हैं। **चतुर्थ अंक** में जनक, अरुन्धती और कौशल्या के वर्णन के साथ-साथ नाटककार ने लव के साथ उनकी भेंट करा दी है, तथा **पंचम अंक** में चन्द्रकेतु और लव के युद्ध का प्रसंग अंकित किया है। **षष्ठम अंक** में विष्कंभक में विद्याधर और विद्याधरी के पारस्परिक संभाषण द्वारा लव और चन्द्रकेतु के युद्ध का वर्णन किया गया है। राम से लव, कुश और चन्द्रकेतु की भेंट भी इसी अंक में होती है तथा कुश द्वारा वाल्मीकि कृत रामायण की कथा का ज्ञान भी होता है। **सप्तम अंक**

में राम-सीता-वनवास का अभिनय देखते हैं। अंत में राम और सीता का पुर्नमिलन हो जाता है।

भवभूति ने 'वाल्मीकि रामायण' के मूल उपाख्यान का बहुत थोड़ा अंश स्वीकार किया है। 'उत्तर रामचरित' की कथावस्तु में बहुत सी विभिन्नताएँ और नवीनताएँ भी हैं। 'वाल्मीकि रामायण' में राम ने वंश-मर्यादा की रक्षा के हेतु छल से सीता को वन भेजा था किन्तु 'उत्तर रामचरित' में राम सीता के सामने ही लोकहित के लिए उन्हें त्याग देने का विचार प्रकट करते हैं—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चती नास्ति मे व्यथा॥

साथ ही वे 'रामायण' की भाँति सीता का त्याग किसी प्रकार के छल-कपट से न कर स्पष्ट रूप से करते हैं। चित्रपट दर्शन का दृश्य; शूद्रक का सिर काटने पर उसका दिव्यमूर्ति बन जाना; जनस्थान में राम का पर्यटन करना; वासन्ती, तमसा और छाया-सीता के सामने राम का मिलाप और वासन्ती के सामने स्पष्ट रूप से उनका सीता के प्रति स्नेह स्वीकार करमा; लव और चन्द्रकेतु का युद्ध; वशिष्ठ और अन्य साधुओं का वालमीकि के आश्रम में आना तथा राम के उत्तर चरित का उन्हीं के सामने अभिनय आदि घटनाओं का वाल्मीकि रामायण में तनिक भी उल्लेख नहीं पाया जाता। इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण घटना तो 'उत्तर रामचरित' में राम और सीता का पुर्नमिलन है, जब कि 'वाल्मीकि रामायण' में उसका चित्रण नहीं किया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'उत्तर रामचरित' की कथावस्तु रामायण का आधार लेने पर भी नवीन कही जा सकती है। यों तो प्राय: प्रत्येक परवर्ती कलाकार अपने पूर्ववर्ती कलाकारों के भावों का आश्रय ग्रहण करता है तथा भवभूति का 'उत्तर रामचरित' न केवल 'वाल्मीकि रामायण' से बल्कि कहीं-कहीं महाभारत, दशरथ जातक, पुराणों, भास की 'स्वप्नवासवदत्ता' और कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' से भी प्रभावित हुआ है। बहुत कुछ अंशों में 'पद्म-पुराण की कथा 'उत्तर रामचरित' से मिलती-जुलती-सी जान पड़ती है तथा श्री एस. के. वेलवलकर (S. K. Belwalkar) ने उन दोनों की कथावस्तु पर तुलनात्मक प्रकाश भी डाला है।[1] इसमें कोई संदेह नहीं कि पद्मपुराण के पाताल खंड में तथा 'उत्तर रामचरित' नाटक के चौथे, पाँचवें और छठे अंकों की बहुत सी घटनाओं में सादृश्य-सा देख पड़ता है, किंतु पुराणों में भी समय-समय पर प्रक्षिप्त अंश सम्मिलित होते रहे हैं; अत: यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि 'उत्तर रामचरित' के पूर्व पद्मपुराण के उक्त पाताल खंड की रचना हो चुकी थी या नहीं। यों तो प्राय: अधिकांश विद्वानों ने 'उत्तर रामचरित' के तृतीय अंक के छाया-सीता संबन्धी वर्णन को भवभूति की मौलिक कल्पना ही माना है किंतु कुछ आलोचकों ने इस विषय में विपरीत मत भी प्रकट किये हैं। 'उत्तर रामचरित' के गुजराती अनुवाद की भूमिका में श्री उमाशंकर जोशी ने दिगनाग की नाट्यकृति 'कुंदमाला' से 'उत्तर रामचरित' की

---

[1] 'Rama's Later History'—Harvard Oriental Series, Vol. XXI. Introduction, pp. Lvii.

तुलना करते हुए 'उत्तर रामचरित' को 'कुंदमाला' से अत्यधिक प्रभावित माना है और छाया-सीता संबन्धी कल्पना को जोशी जी भवभूति की मौलिक उद्भावना नहीं मानते। श्री उमाशंकर जोशी ने 'कुंदमाला' का रचयिता ५ वीं शताब्दी के बौद्ध दार्शनिक दिग्नाग को समझ लिया है जिनका उल्लेख कालिदास के 'पूर्व मेघदूत' में हुआ है और जिनको मल्लिनाथ ने उक्त पद्य की अपनी टीका में कालिदास का समकालीन और प्रतिस्पर्धी माना है, किंतु वास्तव में 'कुंदमाला' के रचयिता बौद्ध दार्शनिक दिङ्‌नाग नहीं हैं बल्कि ईसा की दसवीं शताब्दी में किसी दूसरे दिङ्‌नाग द्वारा उसकी रचना हुई है।[1] भवभूति के पूर्ववर्ती साहित्य में कहीं भी 'कुंदमाला' का उल्लेख नहीं मिलता और सर्वप्रथम रामचंद्र गुणचन्द्र कृत नाट्य-दर्पण (११०० ई०) में उनका उल्लेख मिलता है। इस प्रकार निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'कुंदमाला' 'उत्तर रामचरित' की अपेक्षा परवर्ती कृत है और जैसा कि S. K. De का मत है वास्तव में 'उत्तर रामचरित' को 'कुंदमाला' से प्रभावित मानना निराधार ही प्रतीत होता है।[2] इसमें कोई संदेह नहीं कि भवभूति की नाट्य-कृतियाँ कहीं-कहीं कालिदास की कृतियों से भी प्रभावित हुई हैं। जहाँ 'मालती माधव' पर विक्रमोर्वशीय तथा 'मेघदूत' का प्रभाव पड़ा है वहाँ 'उत्तर रामचरित' भी 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'रघुवंश' से प्रभावित-सा जान पड़ता है। 'उत्तर रामचरित' नाटक के प्रथम अंक के चित्रदर्शन दृश्य की कल्पना भास के प्रसिद्ध नाटक 'स्वप्नवासवदत्ता' के चित्रदर्शन दृश्य से या कालिदास के 'रघुवंश' के निम्नलिखित श्लोक से ली गई प्रतीत होती है—

तयोर्यथा प्रार्थितमिंद्रियार्थानासेदुषीः सद्‌मसु चित्रवत्सु।
प्राग्तानिं दुःखान्यपि दन्डकेषु सचिंत्य वा नानि सुखान्यभूवन्॥

'उत्तर रामचरित' के छठवें अंक में राम और लव-कुश के अज्ञात मिलन की कल्पना बहुत कुछ 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के सातवें अंक में दुष्यंत और भरत के अज्ञात-मिलन के अनुरूप ही है। श्री S. K. Belwalkar ने 'उत्तर रामचरित' के मराठी अनुवाद की भूमिका में सुखद सम्मिलन के इन दोनों दृश्यों पर तुलनात्मक प्रकाश भी डाला है। इसी प्रकार 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के छठवें अंक में दुष्यन्त की विरह-दशा को देखते हुए जिस प्रकार सानुमती कहती है—"सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेश दुःखं शकुन्तलायाः" उसी प्रकार सीता भी अपने पति राम के विषय में कहती हैं—"अहो उत्तरवातमिदानीं में परित्यागलज्जाशव्वमार्यपुत्रेण"। कुछ विद्वानों ने छाया-सीता की कल्पना का मूल स्रोत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का छठा अंक मान लिया है जिससे कि सानुमती अप्सरा अदृश्य रूप से दुष्यन्त की विरह-दशा का अवलोकन करती है। 'उत्तर रामचरित' के चतुर्थ अंक के चौथे श्लोक में सीता के शिशु रूप का वर्णन बहुत कुछ 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के सातवें अंक के सत्रहवें श्लोक में वर्णित सर्वदमन के चित्रण के सदृश ही है।

किसी भी नाटक की कथावस्तु पर विचार करते समय यह भी देखा जाता है कि

---

1. Kundmala and Uttar Ramcharita—By K. A. Subromania Iyer Oriental Conference, 1933; pp. 91—97.
2. History of Sanskrit Literature, p. 63, footnote 1.

उसमें घटनाओं की ऐक्यता, सार्थकता, स्वाभाविकता और घात-प्रतिघात की गति है या नहीं। 'उत्तर रामचरित' में सबसे बड़ा दोष तो यही पाया जाता है कि उसकी कथावस्तु नाटक के लिए उपयुक्त न थी। भास के स्वप्नवासवदत्ता तथा कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' की भाँति उसमें भी नायक-नायिका का पारस्परिक वियोग कराकर अंत में सम्मिलन करा दिया गया है। भरत ने नाट्यशास्त्र में नाटक को 'सुखाश्रयम्' माना है तथा प्राचीन आचार्यों ने नाटक का सुखान्त होना ही आवश्यक कहा है। अतएव संस्कृत साहित्य में दुखान्त नाटकों का प्रणयन नहीं हुआ। इसीलिए भवभूति को भी 'उत्तर रामचरित' के अंत में राम और सीता का मिलन कराना पड़ा है किन्तु इससे चाहे नाट्यशास्त्र के नियमों की रक्षा अवश्य हो गई हो परन्तु कथावस्तु और घटनाओं में अधिक स्वाभाविकता नहीं दीख पड़ती, लेकिन 'स्वप्नवासवदाता' में उदयन और वासवदत्ता के पुनर्मिलन में 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के दुष्यंत और शकुन्तला के पुनः संयोग में ऐसी अस्वाभाविकता नहीं दृष्टिगोचर होती। साथ ही 'उत्तर रामचरित' में वर्णनात्मक प्रसंगों की अधिकता और घटनाओं की न्यूनता सी पाई जाती है। मेक्डॉनल महोदय ने तो वर्णनात्मक प्रसंगों की प्रचुरता के कारण ही उसे नाटक न मानकर नाट्य काव्य माना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'उत्तर रामचरित' में घटनाओं का ऐक्य अवश्य दीख पड़ता है किन्तु उसकी सार्थकता का कहीं-कहीं अभाव-सा जान पड़ता हैं। प्रथम अंक में राम और सीता का वियोग वर्णन है तथा सातवें अंक में मिलन। दूसरे अंक से लेकर छठे अंक तक की घटनाएँ यदि न भी होतीं तो भी राम और सीता का मिलन हो सकता था। इस प्रकार भावों का चरमोत्कर्ष तो प्रत्येक अंक में देख पड़ता है परन्तु घटनाएँ स्वाभाविक और सार्थक नहीं प्रतीत होतीं। चूँकि प्राचीन आचार्यों ने रंगमंच पर युद्ध का दृश्य दिखाने का निषेध किया है अतः भवभूति ने भी लव और चन्द्रकेतु के युद्ध का वर्णन छठवें अंक के विष्कम्भक में विद्याधर और विद्याधरी की बातचीत के अंतर्गत ही किया है। नाटकत्व की दृष्टि से इस विस्तृत युद्धवर्णन की कोई आवश्यकता न थी परन्तु कवित्व की दृष्टि से इस युद्ध-वर्णन का महत्व है। 'उत्तर रामचरित' में विष्कम्भों का प्रयोग अवश्य बड़ी कुशलता के साथ हुआ है और कथावस्तु के निर्वाह तथा प्रवाह के लिए वे अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होते हैं। साथ ही भवभूति ने सातवें अंक के गर्भांक की सृष्टि कर नाटक को सुखांत बनाने में सफलता भी प्राप्त की है और इस प्रकार नाट्यकला की दृष्टि से इस गर्भांक का पर्याप्त महत्व है।

'उत्तर रामचरित' की कथावस्तु में जो एकसूत्रता और स्वाभाविकता का अभाव देख पड़ता है उसका कारण यही है कि नाटककार ने जितना अधिक ध्यान अपनी नाट्यकृति के प्रधान पात्रों के चरित्र-चित्रण की ओर दिया है उतना कथावस्तु की ओर नहीं। राम और सीता प्रस्तुत नाटक के प्रधान पात्र हैं तथा 'उत्तर रामचरित' के राम और सीता वस्तुतः 'वाल्मीकि' रामायण के राम और सीता से पूर्णतः भिन्न हैं। आदिकवि ने तो राम को एक महापुरुष मात्र माना था और उनके मानवीय चरित्र का चित्रण किया था; किन्तु भवभूति के काल में राम देवता के रूप में स्वीकार किए जा चुके थे, अतः 'उत्तर रामचरित' में उनको देवता ही माना गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कथावस्तु को देखते हुए राम का चरित्र-चित्रण नाट्यशास्त्र के नियमानुसार नायक को सर्वगुण सम्पन्न मानकर चलना—कोई आसान कार्य नहीं था किन्तु भवभूति को अपने प्रधान पात्रों के चरित्र-चित्रण में निस्संदेह अद्वितीय सफलता मिली है। बालमीकि

के राम ने वंश-मर्यादा की रक्षा के लिए पतिव्रता सीता को छल से वन भेजा था किन्तु भवभूति ने ऐसा न कर राम के चरित्र को समुज्ज्वल रूप प्रदान किया है। 'उत्तर रामचरित' में राम ने राजा का प्रधान धर्म प्रजारंजन और लोकहित ही माना है तथा प्रथम अंक में ही राम ने अष्टावक्र मुनि के सामने प्रतिज्ञा करते हुए कहा था कि लोकहित के लिए यदि मुझे सीता को छोड़ना पड़े तो मुझे तनिक भी व्यथा न होगी। शूद्रक (शम्बक) वध सम्बन्धी घटना में भी दोनों कृतियों में असमानता सी दीख पड़ती है। आदि कवि के राम ने शूद्रक (शम्बक) का वध इसलिए किया था क्योंकि वह शूद्र होकर तपस्या कर रहा था किन्तु भवभूति के राम ने उसे शाप से मुक्त करने के लिए ही कृपा-पूर्वक उसका सिर कृपाण से काट कर अलग कर दिया था। इस प्रकार भवभूति ने यथासम्भव राम के चरित्र के उन्हीं पहलुओं को चित्रित किया है जोकि एक आदर्श चरित्र के लिए अत्यावश्यक है। राम ने सीता को निर्वासित करके धर्म का काम किया या अधर्म का तथा क्या राम का निरुपाय और निरपराध सीता को वनवास का दण्ड देना उचित माना जा सकता है; आदि प्रश्नों में भी विद्वानों में मतभेद है। वस्तुतः राम का यह कार्य उनकी महानता का द्योतक है और 'राम राज्य' की कामना इसीलिए की जाती है क्योंकि राम ने प्रजारंजन के लिए सीता तक को निर्वासित कर दिया था। सीता के वियोग में राम को भी दुःख हुआ था और उनकी विरह दशा का भवभूति ने विस्तार से वर्णन किया है। राम के हृदय में सीता के प्रति असीम अनुराग था और इसीलिए उन्होंने सीता को वन भेजने के उपरांत दूसरा विवाह नहीं किया तथा अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर सीता की स्वर्णप्रतिमा बनवा कर यज्ञ-सम्पन्न किया था। हो सकता है कि राजा के रूप में उनका हृदय पाषाण से भी कठोर हो तथा प्रेम से अधिक वे कर्त्तव्य को ही महत्व देते हों किन्तु वास्तव में उनका हृदय कुसुम से भी कोमल जान पड़ता है।[1] भवभूति के राम के विरह में जैसी स्वाभाविकता जान पड़ती है वैसी बहुत कम स्थलों पर देख पड़ती है। वास्तव में उनका चरित्र अतुलनीय है और वे नाटक के एक महान पात्र हैं।

'उत्तर रामचरित' में सीता का जीवन करुणापूर्ण ही जान पड़ता है और राम के सदृश उनका चरित्र भी आदर्श माना जा सकता है। नाटक में प्रारम्भ से अन्त तक हम सीता में धैर्य, गांभीर्य, मर्यादा, संतोष और सहनशीलता के दर्शन पाते हैं। श्री द्विजेन्द्रलाल राय का यह मत है कि "भवभूति की सीता बहुत ही अस्फुटित है। हम उसे आँखों से नहीं देख पाते किन्तु हृदय में अनुभव कर पाते हैं। भवभूति की सीता नायिका नहीं—कल्पना है" वस्तुतः उचित नहीं है। सीता को 'आत्मचिन्ताशून्य' मानना भी उचित नहीं है क्योंकि राम के अष्टावक्र मुनि के सामने यह कहने पर कि प्रजारंजन के लिए अगर मुझे सीता तक को त्याग देना पड़े तो भी मैं तनिक भी विचलित न होऊँगा सीता ने पतिपरायणा पत्नी की भाँति इस बात से व्यथित न होकर "अतएव राघवकुलधुरंधर आर्यपुत्रः" कहकर उचित ही किया था। चित्र-दर्शन में भी अपने विरह में राम को रुदन करते हुए देखकर सीता के नैन भर आते हैं और वे कहती हैं—"आर्य देव रघुकुलानन्द एवं मम कारणात् क्लिष्टोऽसि"। वस्तुतः सीता के

---

[1] वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

हृदय में राम के प्रति असीम अनुराग था और 'वाल्मीकि रामायण' की भाँति 'उत्तर रामचरित' में वनवास के अग्रसर पर सीता राम के इस कार्य की आलोचना नहीं करती हैं। वे तो मानव समाज के सम्मुख सती-वधुओं का आदर्श रखती हुई उत्कृष्ट चरित्र-पथ-प्रदर्शन में राम की समता करने में पूर्णतः सफल हुई हैं। स्वयं राम ने ही सीता की प्रशंसा करते हुए एक स्थल पर कहा है—

इयं गेहे लक्ष्मीरिनममृत वर्तिनेयनयो—
रसावस्यः स्पर्शो वपुर्षि बहुलन्घन्दनरसः।
अय बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥

'उत्तर रामचरित' के अन्य पात्र वासंती, लव, कुश, चन्द्रकेतु, वाल्मीकि, जनक, लक्ष्मण, आत्रेयी, शूद्रक, तमसा और मुरला आदि हैं किन्तु इनमें से वासंती, लव और चन्द्रकेतु का चरित्र ही स्पष्ट रूप में अंकित हो पाया है अन्य पात्र तो सहायक रूप में ही चित्रित किए गए हैं तथा उनका चरित्र पूर्णतः प्रस्फुटित नहीं हो पाया है। लव का क्षत्रियत्व, अभिमान और तेज वाल्मीकि की परशोक-कातरता, लक्ष्मण की भ्रातृभक्ति, वासन्ती की तेजस्विता और चंद्रकेतु की उदारहृदयता तथा शूरता आवश्यकतानुसार चित्रित की गई है और उनके अंकन में नाटककार को अप्रतिम सफलता भी मिली है।

वंग-साहित्य के प्रसिद्ध नाटककार और समालोचक श्री द्विजेन्द्रलाल राय ने कवित्व को भी नाटक का एक अंग माना है। 'उत्तर रामचरित' में नाटकत्व की अपेक्षा कवित्व की प्रधानता सी हो गई है और चूंकि भवभूति एक कुशल कवि थे अतः उन्होंने प्रकृति सौन्दर्य और मानवीय सौन्दर्य का ही मनोमुग्धकारी चित्रण किया है। अभ्रकंष गिरि गह्वरों, निविड़ काननों, झरझर झरते हुए झरनों, दुष्प्रवेश उपत्यकाओं का सजीव चित्रण करने में जहाँ वे सफल रहे हैं वहाँ प्रकृति के मृदुल और कल्पनास्पर्शी रूप—इन्द्रधनुष रंजित विद्युतघोष, सुमधुर पवन संचार, मधुरनादी सुदूर मेघमाला, पुष्पित लताएँ, स्फुटोन्मुख किशलय, सुखमय उपवन आदि—का चित्रण करने में भी उन्हें अप्रतिम सफलता प्राप्त हुई है।[1]

---

[1] दण्डकारण्य की भीषणता देखिए—

निज्कूजस्तिमिता क्वचित्क्वचिदपि मोच्चण्डसत्व रचनः।
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदोप्ताग्नयः॥
सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पामभासो यास्वयं
तृष्यदिभः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते॥

साथ ही पर्वतों पर प्रवाहित होने वाले निर्झरों की मनमोहिनी झाँकी भी देखिए—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्—
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुंज—
स्खलनमुखरभूरिस्त्रोतसो निर्झरिरायः॥

कालिदास की भाँति भवभूति के वर्णन में उतनी अधिक कमनीयता नहीं पाई जाती क्योंकि भवभूति की सीता एक देवी—आदर्श-महिला—के रूप में चित्रित की गई हैं और इस प्रकार नाटककार सीता के गुणों पर इतना अधिक मुग्ध हो गया है कि उसे उनके बाह्य सौन्दर्य के चित्रण की आवश्यकता ही न प्रतीत हुई।[1] तो भी सीता के मुख का वर्णन जैसा कि दो स्थलों पर भवभूति ने किया है वैसा कालिदास आदि अन्य कवि नहीं कर सके हैं। कालिदास का वर्णन आलंकारिक अधिक है जबकि भवभूति का भावात्मक। विरहिणी सीता का यह वर्णन देखिए—

परिपाण्डु दुर्बल कपोल सुन्दरं
दधती विलोल कवरी कमाननम्।
करुणस्थ मूर्तिरिव वा शरीरिणी
विरहव्यथेव वतमेति जानकी॥

जैसा कि भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' के प्रारम्भ में ही कहा है—'यं ब्रह्माणमिदं देवी वाग् वश्ये वानुवर्त्तते'—वास्तव में संस्कृत भाषा पर उनका व्यापक अधिकार था और उनकी शैली का विशिष्ट गुण उनका समुचित शब्द-विन्यास ही है। देश, काल, पात्र और भावों के अनुरूप ही उन्होंने सर्वत्र शब्दयोजना की है। कालिदास के विपरीत भवभूति गौड़ी वृत्ति के आदर्श लेखक हैं तथा जैसा कि उन्होंने स्वयं ही अपनी शैली का आदर्श बताते हुए कहा है—

यत्प्रौढ़त्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम्।
तच्चदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः॥

उनकी कृति में दीर्घ सामासिक पदावली प्रौढ़ और प्रांजल भाषा तथा ओज गुण बहुलता सी दृष्टिगोचर होती है किन्तु गौड़ी शैली के आचार्य होते हुए भी भवभूति ने अन्तर्जगत का हृदयस्पर्शी चित्रण करते समय वैदर्भी वृत्ति का ही प्रयोग किया है। इस प्रकार क्लिष्ट से क्लिष्ट और सरल से सरल भाषा के प्रयोग में उनको पूर्ण सफलता मिली है। मिल्टन के सदृश भवभूति भी किसी भाव या घटना को संक्षेप में ही हृदयंगम रूप से चित्रित करने में पूर्ण सिद्धहस्त प्रतीत होते हैं। अलंकारों की अभिव्यक्ति में भी वे पूर्ण सफल रहे हैं और प्रायः सर्वत्र ही उन्होंने मौलिक उपमाओं की उद्भावना की है। भवभूति में अनुप्रास-प्रियता भी विद्यमान थी और जहाँ कि "गद्गदनदग्दोदावरीवारयः", "नीरन्ध्रनीलनिचुलानि" तथा "स्नेहादनराल नाल नलिनी" जैसी अनुप्रासयुक्त पंक्तियाँ उत्तररामचरित में दृष्टिगोचर होती हैं वहाँ 'कूजतत्कान्त कपोत कुक्कुटकुलाः कूलै सुहाय द्रुमाः" के समान अलंकारों के असत्य प्रयोग भी देख पड़ते हैं। 'उत्तर रामचरित' में कन्दल, प्रतिसूर्यक, कुम्भीनस, उत्पीड़ तथा आकूत जैसे कई नवीन शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जो कि 'अमरकोश' तक में नहीं दृष्टिगोचर

---

[1] वस्तुतः उसके रूप-चित्रण का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता जिसके विषय में स्वयं राम ही इस प्रकार के विचार व्यक्त करते हैं—

उत्पति-परिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः।
तीर्थोदकंच वह्निश्च नान्यतः शुद्धि मर्हतः।

होते। शब्दों के प्रयोग में भी भवभूति पूर्ण सफल रहे हैं तथा शिखरिणी शार्दूलविक्रीडित और वसन्ततिलका उनके प्रिय छन्द हैं। भवभूति की शिखरिणी की प्रशंसा करते हुए क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' में लिखा है—

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरंगिणी।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति॥

भवभूति की वर्णन-शक्ति भी अद्भुत थी तथा एक ही नाट्यकृति में कई रसों की व्यंजना करने में वे पूर्ण सफल रहे हैं। एक ही श्लोक में वे अनेक रसों का जितना सुन्दर सहज समन्वय प्रस्तुत कर सके हैं उतना अन्य कोई दूसरा न कर सका।[1] महामुनि भरत के मतानुसार नाटक का प्रधान रस श्रृंगार या वीर ही होना चाहिए और नाट्यशात्र के इस नियम के अनुसार कुछ विद्वान 'उत्तर रामचरित' का मुख्य रस विप्रलंभ श्रृंगार ही मानते हैं। किन्तु वास्तव में वह करुण रस प्रधान नाटक है और—'कारुण्यं भवभूतिदेव तनुते'—के अनुसार करुण रस की व्यंजना में उनकी समकक्षता करने वाला अन्य कोई कवि नहीं है। भवभूति करुण रस के ही रसिक थे तथा अन्य सब रसों को उसके आधीन मानते थे।[2] वस्तुतः 'उत्तररामचरित' के समस्त अंक स्पष्टतः या प्रकारान्तर से पाठकों या दर्शकों के मानस में कारुण्य भावनाओं का ही उद्रेक करते हैं। 'उत्तर रामचरित' में प्रारम्भ से अन्त तक करुण रस की जो शैवालिनी प्रवाहित की गई है वह वस्तुतः संस्कृत साहित्य की अक्षय निधि मानी जाती है और इसीलिए श्री गोवर्धनाचार्य ने भी 'आर्यसप्तशती' में भवभूति के करुण रस की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधर भूरेव भारती भाति।
एतत्कृत कारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

---

[1] जिस प्रकार अद्भुत और वीर का सुन्दर समन्वय भवभूति कर सके हैं—

आंगुञ्जद्गिरि कुंज कुंजर घटा विस्तीर्ण कर्ण ज्वरं
ज्यानिर्घोषममन्ददुन्दुभिरवैराहृ मातमुज्जृम्भयत्।
वेल्लद्भख रुण्ड मुण्ड निकरै र्वीरो विधते भुव—
स्तृप्यत्काल करालवक्तृ विधसव्याकीर्य माणाम्लिव॥

उसी प्रकार श्रृंगार और करुण का समन्वय भी उन्होंने किया है—

अलसललित मुग्धान्यध्वसंपातखेदा—
दशिथिल परिरम्भैर्दत्त संवाहनानि।
परिमृदित मृणाली दुर्बलान्यंगकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता।

[2] एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रायते विवर्त्तान्।
आवर्त्त बुद्बुदतरंगमयान् विकरान्
अंभो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम्॥

वीर रस की व्यंजना में भी भवभूति अद्वितीय माने जाते हैं और 'उत्तर रामचरित' में चन्द्रकेतु और लव के युद्ध का विस्तार के साथ वर्णन भी किया गया है; यद्यपि नाट्य शास्त्र के नियमों की रक्षा के हेतु विद्याधर-विद्याधरी के संभाषण में ही इस युद्ध का वृत्तान्त कर्णगोचर होता है। इसी प्रकार विशुद्ध प्रेम के चित्रण में भी भवभूति को अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है। कालिदास और शेक्सपियर की भाँति वे वासनामूलक शृंगार-रस-पूर्ण सूक्तियों की अभिव्यंजना नहीं करते हैं पर यौवन की रोमांचकारी अवस्था का चित्रण उन्होंने अवश्य किया है।[1] प्रेम-विषयक अपने उच्च आदर्श के कारण ही उन्होंने 'उत्तर रामचरित' में विदूषक को कोई स्थान नहीं दिया और न हास्य रस की अभिव्यंजना ही की। एक दो स्थलों पर यदि हास्य की अभिव्यक्ति हुई भी है तो भी वहाँ संयत एवं शिष्ट हास्य ही दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'उत्तर रामचरित' संस्कृत साहित्य की वास्तव में एक महान कृति है और यद्यपि समस्त नाटकीय तत्त्वों का समावेश उसमें कुशलता से न हो सका है तथा नाटक की अपेक्षा वह नाटकीय काव्य कहलाने के ही योग्य है तो भी संस्कृत नाटकों की परंपरा में उसका महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। साथ ही 'मालती-माधव' नाटक की भूमिका में जो गर्वोक्ति भवभूति ने की थी वह वस्तुतः 'उत्तर रामचरित' में अवश्य ही सार्थक हो गई है—

ये नाम केचिदिह नः प्रथमन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यन्तेऽस्ति मम कोपि समान धर्म्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

(युगचेतना, जुलाई-अगस्त १९५५)

---

[1] भवभूति ने प्रेम की व्याख्या इस प्रकार की है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य—
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥

उन्होंने दाम्पत्य प्रेम की परिणति संतान-प्राप्ति में ही मानी है—

अन्तःकरणशत्त्वतय दम्पत्योः स्नेहसंश्रायतन्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते॥

गीतिकाव्य और उसकी परम्परा

आधुनिक पाश्चात्य आलोचकों ने काव्य को प्रधानतः विषयिप्रधान (Subjective) और विषयगत (objective) नामक दो मूल विभागों में विभाजित किया है। इसी प्रकार श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी काव्य के भेदों पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"साधारणतः काव्य के दो भेद किये जाते हैं। प्रथम तो वह जिसमें केवल कवि की ही बात होती है और द्वितीय वह जिसमें कि किसी बड़े सम्प्रदाय या समाज का वर्णन रहता है। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने तो 'साहित्यालोचन' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में पाश्चात्य समीक्षकों के मत का समर्थन करते हुए लिखा है—"कविता को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक तो वह जिसमें कवि अपनी अंतरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों और भावनाओं से प्रेरित होता है तथा अपने प्रतिपाद्य विषय को ढूँढ़ निकालता है; और दूसरा वह जिसमें कवि अपनी अंतरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों और रागों में पैठता है और जो कुछ ढूँढ़ निकालता है उसका वर्णन करता है। पहले विभाग को भावात्मक, व्यक्तित्वप्रधान अथवा आत्माभिव्यंजक कविता कह सकते हैं।" जैसा कि डॉ० सूर्यकांत शास्त्री का कथन है—"विषय-प्रधान कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध बाह्यजगत के साथ होता है और उस जगत का वर्णन करने के कारण यह वर्णनात्मक होती है।" विषयप्रधान कविता के जिसका कि स्रोत मनुष्य की कर्मशीलता को मानते हैं महाकाव्य और खंडकाव्य नामक कुछ भेद-उपभेद किए जाते हैं तथा उनमें समस्त देश अथवा जाति का प्रतिबिंब अंकित किया जाता है। विषयप्रधान अथवा भावप्रधान कविता में व्यक्तिगत अनुभूतियों, भावनाओं और आदर्शों की ही प्रधानता रहती है तथा उसका स्रोत गायक के उत्कट मनोवेगों को माना जाता है। डॉ० सूर्यकांत शास्त्री के शब्दों में—"जीवन के ये मनोवेग जब घनीभूत हो शब्द-आदर्श में परिणत होते हैं तब गीतिकाव्य का जन्म होता है। गीतिकाव्य इन अव्यक्त मनोवेगों को व्यक्ति प्रदान करता है; वह रसाप्लावित हुए कवि के आत्मा को कंठ दे देता है। यही उसकी वृत्ति है, इसी में उसका कलापन है और यही उसकी उपयोगिता है।" अर्नेस्ट राइस के अनुसार वास्तविक गीत वही है जो भाव या भावात्मक विचारों का भाषा में स्वाभाविक विस्फोट हो तथा श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दों में—"सुख दुःख की भावावेशमयी अवस्था का विशेष गिने-चुने शब्दों में स्वरसाधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।" गीतिकाव्य में जिसे कि प्रगीतकाव्य भी कहा जाता है आभ्यंतरिक भावनाओं की प्रधानता के साथ-साथ रागात्मकता भी रहती है। वैयक्तिक अनुभूतियों की प्रधानता होने से गीतकाव्य का सृजन तभी संभव होता है जब भावावेश से प्रेरित होकर निजी उद्गारों को काव्योचित भाषा में व्यक्त किया जाय चाहे फिर ये भाव कवि के निजी जीवन से सम्बन्धित हों अथवा उसके द्वारा निर्मित किसी पात्र के। रागात्मकता के कारण संगीत को गीतिकाव्य का

एक प्रधान तत्व माना जाता है किन्तु यह संगीत आभ्यंतरिक ही अधिक होता है बाह्य रूप से तो उसे गौण स्थान ही प्राप्त होता है। रागात्मकता में प्रबलता स्थिर रखने के हेतु गीत के आकार में संक्षिप्तता तथा भाव-ऐक्यता और भावान्वित भी आवश्यक है। शैली की दृष्टि से उसमें सरलता और सुकुमारता भी परमावश्यक है। काव्य के अन्य भेदों की अपेक्षा गीतिकाव्य को बहुत अधिक स्वतःप्रेरित (Spontaneous) और कलापूर्ण होने पर भी भावप्रधान अथवा विषयिगत काव्य की अपेक्षा विषयप्रधान काव्य को ही प्रधानता दी जाती है और जैसा कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मत है—"विषयप्रधान श्रेणी के कवि ही महाकवि कहे जाते हैं तथा उनकी कृतियाँ सर्वदा के लिए समादरणीय हो जाती हैं;" किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रबन्धकाव्य की तुलना में गीतिकाव्य अथवा प्रगीतकाव्य का कुछ भी महत्व नहीं है तथा गीतिकारों को श्रेष्ठ कवि नहीं माना जा सकता। श्री नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—"प्रबन्धकाव्य में दृश्य-चित्रण और वस्तुचित्रण के साथ बहुत-सा इतिवृत्त भी लगा रहता है, परन्तु प्रगीत रचना में कविता इन समस्त उपचारों से विरत होकर केवल कविता या भावप्रतिमा बनकर आती है। संगीत के स्वरों की भाँति प्रगीत के शब्द ही अपनी भावना ईकाइयों से कविता का निर्माण करते हैं; उनमें शब्द और अर्थ, लय और छंद अथवा रूप और निरूप्य की अभिन्नता हो जाती है। प्रबन्धकाव्य कविता का आवृत्त और आच्छादित रूप है। प्रगीत काव्य उसका निर्व्याज निखरा हुआ स्वरूप है। प्रबन्धकाव्य यदि कोई रसीला फल है, जिसका आस्वादन छिलके, रेशे और बिए आदि निकालने पर ही किया जा सकता है, तो प्रगीत रचना उसी फल का द्रवरस है जिसे हम तत्काल घूँट-घूँट पी सकते हैं।" गीतों की इस उपयोगिता को स्वीकार करते हुए आधुनिक कवियों ने प्रबंधकाव्यों में भी गीतों का समावेश किया है और नाटकीय गीतों की परम्परा भी भारतेन्दु द्वारा अंकुरित होकर प्रसाद द्वारा विकसित हुई है।

गीतिकाव्य का प्रारम्भ

भारतीय गीतिकाव्य उतना ही प्राचीन है जितना कि वेद क्योंकि वैदिक मंत्रों में ही सर्वप्रथम भावमय रागात्मकता का समावेश हुआ है। विश्व का सबसे प्राचीनतम काव्य-ग्रंथ ऋग्वेद ही माना जाता है और डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में—"ऋग्वेद की कविता पर्वत की ऊँची चोटियों और नीची तलहटियों में विचरती हुई कभी ऊँचे सृष्टिविज्ञान से हमारा परिचय कराती है, कभी लोक-जीवन के जाने-पहिचाने चित्रों को सामने लेकर खड़ा करती है।" ऋग्वेद में उषा-विषयक ऋचाएँ विशेषकर गीतात्मक ही हैं और सुन्दर सुकुमार शब्दावली के साथ-साथ उनमें भावों की सुघरता भी दर्शनीय है। इसी प्रकार सामवेद में भी कई सुन्दर-सुन्दर गीत हैं तथा उसे तो आर्य जाति का आदिगान ही कहा जाता है। वैदिक साहित्य में गीतिकाव्य को कोई विभिन्नता नहीं दी गई थी क्योंकि काव्य का गेय होना आवश्यक माना जाता था और इसीलिए हमारे प्राचीन काव्य प्रायः गेय ही हैं। वैदिक कविता में प्रकृति-सौन्दर्य के विविध चित्रों की बहुलता दीख पड़ती है तथा उसमें सामूहिक हर्ष और विषाद की अभिव्यंजना भी की गई है। उत्सवों और यज्ञों में सर्वत्र ही वैदिक मंत्रों का गान प्रचलित था। वैदिक काल के पश्चात् बौद्ध-साहित्य की 'थेरी गाथाओं' में गीतिकाव्य का समुज्ज्वल रूप दृष्टिगोचर होता है। वैदिक युग में व्यक्तिगत भावनाओं को उतनी अधिक प्रधानता न मिल

सकी थी तथा सामूहिक शक्ति और सामाजिक भावनाओं को ही विशेषता दी जाती थी। परन्तु बौद्धकाल में व्यक्तिगत चेतना का विकास होने से साहित्य में भी वैयक्तिक हर्ष-विषाद और आशा-निराशा को प्रधानता मिलने लगी। 'थेरी गाथाओं' में जीवन की नश्वरता और क्षणभंगुरता को चित्रित करते हुए वीतरागी भिक्षु-भिक्षुणियों के वैराग्य के प्रति हार्दिक अनुराग और उत्साह को अंकित किया गया है। इनमें प्रकृति-सौंदर्य का भी चित्रण किया गया है तथा करुण रस की अभिव्यक्ति विशेष रूप से की गई है। जैसा कि श्री गुलाबराय का मत है—"वास्तव में गाथा शब्द का भी अर्थ गीत है। वैदिक साहित्य में ऋक् और गाथा में अंतर किया गया है, वह यह कि ऋक् में ईश्वर का स्तवन होता है और गाथा में मनुष्यों, राजाओं आदि का।" सामवेद में जहाँ उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नामक तीन स्वरों में ही गीत गाए जाते थे वहाँ अब शनैः शनैः संगीत में ताल, छंद और वाद्य का भी समावेश होने लगा। 'वाल्मीकि रामायण' में इसीलिए गेय और पाठ्य दोनों प्रकार के अंश दीख पड़ते हैं। कहा जाता है कि वेदों की ऋचाओं के उपरान्त वाल्मीकि द्वारा ही सर्वप्रथम छंदों की रचना की गई और 'वाल्मीकि रामायण' के सृजन के उपरान्त ही संगीत में कई नवीन लक्षण निर्धारित किए गए तथा राग-रागनियों को भी उत्पन्न किया गया। गीतिकाव्य का चरम विकास महाभारतकाल में भी दीख पड़ता है और 'नाट्यशास्त्र' में तो गीतों को भी नाटक का एक प्रमुख तत्त्व मान लेने से नाटकीय गीतों की परम्परा भी प्रारम्भ हो गई। यद्यपि कालिदास की शकुंतला, मेघदूत और ऋतुसंहार तथा भवभूति के 'उत्तर रामचरित' में अनेक सुन्दर-सुन्दर गीत दृष्टिगोचर होते हैं जो कि गीतिकाव्य में श्रेष्ठतम स्थान पाने योग्य हैं परन्तु वास्तव में जयदेव को ही स्वतन्त्र गीतिकाव्य का जन्मदाता माना जाता है। यों तो वैदिक काल से लेकर विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी तक मुक्तक पदों की रचना होती रही थी और कई सुन्दर-सुन्दर गीत लिखे जा चुके थे किन्तु जयदेव के 'गीतिगोविन्द' में ही प्रथम बार गीतिकाव्य का स्वतंत्र रूप दृष्टिगोचर होता है। संगीत की उत्कृष्ट मर्यादा अक्षुण्ण रखते हुए राग-रागिनियों से पूर्ण सुललित, सुमधुर भाषा और सुकुमार भावाभिव्यक्ति के साथ राधाकृष्ण के सौंदर्य और प्रेम तथा संयोग और वियोग का वर्णन 'गीतिगोविन्द' में किया गया है। यद्यपि जयदेव ने शृंगार की अनवरत रसधारा ही प्रवाहित की है तथा कहीं-कहीं विलासपूर्ण चित्रों की उद्भावना भी की है परन्तु तो भी उनके गीतों का-सा पद-लालित्य, सौंदर्यानुभूति और रसोत्कर्ष अन्यत्र कहीं नहीं दीख पड़ता। श्री हंसराज अग्रवाल के शब्दों में—"इन गीतों में असाधारण अकृत्रिमता और अनुपम माधुर्य है। सौंदर्य में, संगीतमय वचनोपन्यास में और रचना के सौष्ठव में इसकी शैली की उपमा नहीं मिलती है। कभी लघुपदों की वेगवती धारा द्वारा और कभी चातुर्य के साथ रचित दीर्घसमासों की लयपूर्ण गति द्वारा अपने पाठक या श्रोता पर यथेच्छा से प्रभाव डालने की इसमें अद्भुत योग्यता है।" इस प्रकार जयदेव का संस्कृत-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है तथा उनका महत्व पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है और हिन्दी गीतिकाव्य तो उनके 'गीतिगोविन्द' से विशेष रूप में प्रभावित हुआ है।

जैसा कि डॉ० रामकुमार वर्मा का मत है—"हिन्दी कविता का आदि रूप नालन्दा और विक्रमशिला के सिद्धों द्वारा बौद्ध-धर्म के वज्रयान तत्त्व के प्रचार की भाषा में मिलता है।" श्री राहुल सांकृत्यायन ने सिद्धों में सबसे प्राचीन सिद्ध सरह जिन्हें कि सरोजवज्र भी

कहा जाता है को ही हिन्दी का आदि कवि माना है और उनका समय डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने वि० सं० ६९० निश्चित किया है। सिद्धों की संख्या चौरासी मानी जाती है और गोरखनाथ की भी गणना उन्हीं में की जाती है यद्यपि इन्होंने उनसे अलग होकर नाथ पंथ की स्थापना की थी और हठयोग की साधना की ओर जनता को प्रेरित किया था। सिद्धों ने अन्तस्साधना पर जोर दिया तथा जातिपाँति, तीर्थाटन, मूर्ति-पूजा, बहुदेव-उपासना आदि के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित कर रहस्यवादी बन शास्त्रों का तिरस्कार करते हुए रूपकों के सहारे पहेलियाँ बुझाने का प्रयास किया। गीतिकाव्य की दृष्टि से भी सिद्धों की कृतियों का विशेष महत्व है क्योंकि उनमें राग-रागिनियों के आधार पर अनेकानेक पदों की रचना की गई है। सिद्धों की कृतियों की भाषा विशेषत: देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश है जिसे कि प्राचीन हिन्दी भी कहा जा सकता है। सिद्धों की भाँति हठयोगियों ने नाथ पंथ को विकसित किया है जो कि विक्रम की चौदहवीं शताब्दी तक प्रचलित रहा। नाथ-पंथियों ने वज्रयानी सिद्धों की भाँति नाद और बिंदु के योग से विश्व की उत्पत्ति मानी है तथा ईश्वर की साधना के हेतु मानस को मुकुर माना है जिसमें कि आत्मा के स्वरूप का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। नाथ पंथ ने भी उपासना के बाह्याचारों का खंडन किया है तथा मुसलमान भी इस सम्प्रदाय की ओर स्वाभाविक ही आकर्षित हुए हैं। सिद्धों तथा नाथपंथियों की विचारधारा का प्रभाव हिन्दी के संत-कवियों पर विशेष रूप से पड़ा है।

हिन्दी साहित्य का अभ्युदय ही उस समय हुआ जब कि देश में केन्द्रीय-शक्ति का अभाव था। चारों ओर राजनैतिक तथा सामाजिक अशांति थी और राष्ट्रीय एकता एवम् संगठन की भावना की न्यूनता से पारस्परिक विद्वेष के बीज पल्लवित हो रहे थे तथा प्रतीची दिशा से मुसलमानों के आक्रमण भी हो रहे थे। ऐसी परिस्थिति में वीरगाथाओं का सृजन ही संभव था जिनका कि विषय विशेषत: युद्ध और प्रेम था। कवियों ने राजपूतों को संगठित होकर मुसलमानों के विरुद्ध युद्ध करने की प्रेरणा नहीं दी बल्कि अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में ही अपनी कवित्व-शक्ति का अपव्यय किया। वीरगाथाओं में वीर और श्रृंगार रस की ही प्रधानता रहती थी। इस प्रकार हिन्दी साहित्य का आदिकाल यद्यपि गीतिकाव्य के विकास के हेतु किसी भी भाँति उपयुक्त न था तथा प्रबन्ध-काव्य के साहित्यिक रूप में ही प्राय: वीरगाथाएँ लिखी गई हैं किन्तु साथ ही मुक्तक वीरगीतों के रूप में 'बीसलदेव रासो' और 'आल्हाखंड' की भी रचना हुई है। बीसलदेव रासो वस्तुत: एक वीरगीत ही है जिसकी कि रचना नरपति नाल्ह ने वि० सं० १२७२ में की। उसमें चार खंड हैं और लगभग दो सहस्र चरणों में यह समाप्त हुआ है। उसमें संयोग और वियोग श्रृंगार की ही प्रधानता है तथा वीर रस का तो किंचित-मात्र आभास दीख पड़ता है और साथ ही प्राकृत के कुछ शब्दों के साथ अरबी-फारसी के शब्दों की भी बहुलता है। यह तो स्वाभाविक ही है कि उसकी भाषा में शनैः-शनैः परिवर्तन भी अवश्य हुआ होगा। कलापक्ष की सुघरता न होते हुए भी उसमें भावपक्ष की रम्यता अवश्य है तथा गीतिकाव्य की दृष्टि से भी उसका महत्व है क्योंकि कवि ने उसका सृजन गाने के उद्देश्य से ही किया था—

गायो है रास सुणै सब कोई।
सांभल्यां रास गंगा फल होई॥

कर जोड़े नरपति कहई ।
राास रसापण सुणै सब कोई ।।

आल्हाखंड के रचयिता जागनिक माने जाते हैं और उसका सृजन विशेषरूप से गाने के ही लिये किया गया था जिसका परिणाम यह हुआ कि जन-समुदाय में ही उसका प्रचार होता रहा और आज कहीं भी उसकी मूल हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं होती । इस प्रकार उसकी कथावस्तु और भाषा में स्वाभाविक ही परिवर्तन तथा परिवर्धन हो गया है । संगीत के लयपूर्ण प्रवाह के साथ-साथ उसमें ओजपूर्ण भावनाओं की तीव्रता भी दीख पड़ती है और आज भी उत्तरप्रदेश तथा बुन्देलखंड में महोबे के आस-पास उसका विशेषरूप से प्रचार है। इन वीर गीतों के अतिरिक्त सिद्धों और नाथपंथियों के मुक्तक पद भी प्रशंसनीय हैं जिनका कि महत्व धार्मिक दृष्टिकोण से बहुत अधिक है क्योंकि उनमें सिद्धान्तों की चर्चा के साथ-साथ तत्कालीन धार्मिक दशा का भी वर्णन है। वीरगाथा काल के उत्तरार्ध में अमीर खुसरो ने भी पद, कव्वाली और गजलों की रचना की जिनमें कि व्यंग्य का पुट विशेषरूप से पाया जाता है तथा कहीं-कहीं विरहोन्माद की झलक भी देख पड़ती है ।

भक्तिकाल में गीतिकाव्य

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल गीतिकाव्य की समुन्नति के हेतु विशेषरूप से उपयुक्त था । जयदेव के 'गीतिगोविन्द' से प्रभावित होकर विद्यापति और चंडीदास ने भी राधाकृष्ण की प्रेम लीलाओं का वर्णन किया । हिन्दी साहित्य में कृष्णकाव्य के जन्मदाता विद्यापति ही माने जाते हैं तथा उनकी पदावली में राधाकृष्ण के सौंदर्य और प्रेम तथा संयोग और वियोग के हृदयग्राही चित्रों को अंकित किया गया है । उनकी कविता शृंगार रस प्रधान है और डॉ० रामकुमार वर्मा का यह कथन—"विद्यापति ने राधाकृष्ण का जो चित्र खींचा है उसमें वासना का रंग बहुत प्रखर है" उचित भी जान पड़ता है । विद्यापति के हृदय में भक्ति-भावना अवश्य थी तथा उन्होंने कुछ भक्ति-विषयक पदों की रचना भी की है किन्तु शृंगार-रस-पूर्ण भावनाओं की प्रबलता ही उनके काव्य में दीख पड़ती है । पदावली का भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही सुन्दर है तथा संयोग-शृंगार के सदृश्य वियोग-शृंगार के वर्णन में भी कवि सफल रहा है। पदावली की भाषा मैथिली है तथा उसमें पूर्वी हिन्दी की क्रियाओं और कारकों के रूप जैसे के तैसे मिलते हैं ।

संतकाव्य की परम्परा वस्तुत: कबीर से ही प्रारम्भ हुई है और हिन्दी गीति काव्य की प्रारंभिक झलक भी उन्हीं के पदों में दीख पड़ती है । वे ईश्वर के कट्टर भक्त थे और भगवद् विषयक प्रेम को ही भक्ति मानते थे । राम के प्रति अत्यधिक अनुराग उनके हृदय में था यद्यपि उनके राम 'निर्गुण राम' ही थे । उन्होंने तीर्थ-यात्रा, बहुदेवोपासना आदि बाह्याचारों का खंडन भी किया है। आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में—"इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रगतिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया ।" डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस कथन से सहमत होते हुए भी कि "भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था" यह तो स्वीकार करना ही होगा कि व्याकरण की दृष्टि से उनकी भाषा अशुद्ध ही मानी जाएगी चाहे

फिर उसका दोष प्रतिलिपिकारों पर ही क्यों न मढ़ दिया जाय। कबीर के गीतिकाव्य का भावपक्ष अवश्य सुन्दर है और उनके पदों में आत्माभिव्यक्ति विशेष रूप से की गई है तथा अनुभूति की तीव्रता एवं गम्भीरता भी दर्शनीय है। राम को प्रियतम के रूप में तथा स्वयं को उनकी प्रियतमा के रूप में अंकित कर उन्होंने संयोग-वियोग और हर्ष-विषाद के हृदय-स्पर्शी चित्र प्रस्तुत किए हैं। उनके श्रृंगार में भौतिकता नहीं है बल्कि आध्यात्मिक अनुभूतियों की प्रधानता है। सिद्धान्त-सम्बन्धी पदों में चाहे शुष्कता भी दीख पड़ती हो और बहुत से पदों के दीर्घाकार होने से कहीं-कहीं भावावेश की न्यूनता भी हो गई है तो भी हिन्दी गीतिकाव्य में उनका उत्कृष्ट स्थान अवश्य है। कबीर के अतिरिक्त धर्मदास, नानक, मलूकदास, दादूदयाल सुन्दरदास आदि ने भी सन्तकाव्य की परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए हिंदी गीतिकाव्य के विकास में अपना सहयोग प्रदान किया। कहीं तो उनके पदों में संसार की अनित्यता और जीवन की नश्वरता का वास्तविकता-पूर्ण चित्रण है तथा कहीं रहस्यवाद और प्रेमतत्त्व की प्रधानता है तथा कहीं केवल शुष्क सिद्धान्तों और ज्ञानोपदेशों की ही चर्चा है। संत कवियों के पद विशेष रूप से वर्णन-प्रधान ही हैं तथा उनमें रागात्मकता, भावात्मकता और कलात्मकता का उत्कृष्ट रूप बहुत ही कम दीख पड़ता है।

भक्तिकाल की सगुणधारा की कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने अवश्य प्रगीतत्व के विकास में पूर्ण सहयोग दिया है। यद्यपि कृष्ण-काव्य का उद्भव जयदेव के 'गीतिगोविन्द' द्वारा माना जाता है किन्तु वास्तव में उसके पूर्व ही गाथासप्तशती, सरस्वती-कंठाभरण आदि में राधा का उल्लेख हो चुका है तथा पाँचवीं और छठवीं शताब्दी की देवगिरि और पहाड़पुर की मूर्तियों को राधाकृष्ण की मूर्ति ही माना जाता है। पर चूँकि जयदेव, विद्यापति और चंडीदास ने राधाकृष्ण की प्रेमलीलाओं को विशेष रूप से प्रधानता दी है इसलिये कृष्ण-काव्य की परम्परा के उद्भव का श्रेय उन्हें ही दिया जाता है। सूरदास कृष्ण-भक्ति-शाखा के सर्वप्रधान कवि तो है हीं तथा हिन्दी गीतिकाव्य के भी समुज्ज्वल रत्न हैं। सूर की अक्षय कीर्ति उनके एक मात्र 'सूरसागर' नामक ग्रंथ पर ही आधारित है। वस्तुतः 'सूरसागर' स्वयं ही कई ग्रंथों का संग्रह-मात्र जान पड़ता है और यद्यपि किंवदंतियों के आधार पर उसके पदों की संख्या सवा लाख तक मानी जाती है परन्तु अभी तक केवल छः सहस्र पद ही प्राप्त हो सके है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि "सूरसागर श्रीमद्भागवत की काव्यमयी छाया है किन्तु अनुवाद नहीं" तथा सूर ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि वे श्रीमद्भागवत के अनुरूप ही कथा कह रहे हैं परन्तु तो भी उसमें कई मौलिक प्रसंगों को उद्भावना भी की गई है। पं० चंद्रबली पाण्डे सूरसागर को 'लीला-प्रबंध-काव्य' या 'भाव-प्रबंध-काव्य' मानते हैं परन्तु उसे मुक्तक काव्य मानना अधिक उचित है। सूरदास प्रथम कवि हैं जिन्होंने व्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया है और उनकी भाषा सरल, सुबोध, सशक्त तथा भावानुगामिनी होते हुए भी उसमें तत्सम, तद्भव और ठेठ शब्दों के साथ-साथ विदेशी शब्दों का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। सूरसागर के पदों को विनय के पद, अवतार-सम्बन्धी पद, बाललीला के पद, भावती लीला के पद और विरह के पद नामक पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है। सूर की भक्ति विनय और सख्य कही जा सकती है तथा विनय-सम्बन्धी पदों में वैष्णव सम्प्रदाय की दीनता, मानमर्षणता, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन आदि विनय के सातों प्रकारों का वर्णन

किया गया है। सूर को बाल-वर्णन और श्रृंगार-वर्णन में विशेष सफलता मिली है। श्रीकृष्ण के बाल रूप का वर्णन करते समय कवि ने मुख, नेत्र, भुजा, रोमावली, केश आदि का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है और मातृ-हृदय की अव्यक्त भावनाओं को भी कुशलता के साथ मूर्तिमान स्वरूप प्रदान किया है। सूर के संयोग श्रृंगार वर्णन में विद्यापति की भाँति भौतिकता नहीं है और 'भ्रमर-गीत' में तो विरह-सागर उमड़ सा उठा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "सूरसागर का सब से मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमर-गीत है जिसमें गोपियों की बचन-वक्रता अत्यंत मनोहारिणी है।" सूरसागर की संगीतात्मकता भी सराहनीय है। सूर के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी हिन्दी गीतिकाव्य की परम्परा को विकसित किया है। प्रेमयोगिनी मीरा के पद भी विशेष रूप से प्रशंसनीय हैं तथा प्रेमानुभूति का जैसा सुन्दर मर्मस्पर्शी चित्रण उन्होंने किया है वैसा बहुत कम कवि कर सके हैं। आत्म-निवेदन, आत्म-क्रंदन, हृदय की कसक, प्रेम की पुकार, संगीत का प्रवाह, सुकुमार भावाभिव्यक्ति और मधुरता आदि गुण मीरा के गीतिकाव्य में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। कृष्णकाव्य की परम्परा में तुलसी की कृष्णगीतावली का भी उत्कृष्ट स्थान है यद्यपि वह सूरसागर से विशेष रूप से प्रभावित जान पड़ती है तथा उसमें उन्हीं प्रसंगों का वर्णन किया गया है जिन्हें सूर ने भी अंकित किया है। तुलसी ही एकमात्र रामकाव्य की परम्परा में गीतिकाव्य के रचयिता माने जाते हैं तथा 'रामगीतावली' में उन्होंने मुक्तक पदों द्वारा रामचरित्र की कथा वर्णन की है। गीतिकाव्य के अनुकूल विषयों का ही उसमें चयन किया गया है और बहुत से प्रसंग छोड़ भी दिए गए हैं। 'विनय-पत्रिका' के पदों में अवश्य आत्म-निवेदन, आत्माभिव्यक्ति, दार्शनिकता और तन्मयता का अपूर्व विकास देख पड़ता है। तुलसी के गीतिकाव्य में बुद्धिपक्ष और हृदयपक्ष दोनों की प्रबलता है।

गीतिकाव्य के विकास में अवरोध

रीतिकालीन प्रवृत्तियों के प्रारम्भ होने से गीतिकाव्य का विकास अवरुद्ध सा हो गया और रीति-ग्रंथों का सृजन उत्तरोत्तर द्रुतगति के साथ होता रहा। राधा और कृष्ण की प्रेम-लीलाओं की ओट में नायक-नायिका के विलासिता पूर्ण चित्रों को अंकित किया जाने लगा तथा इस प्रकार इस कुरुचि-उत्पादक वासनामूलक वर्णनों की बहुलता सी देख पड़ने लगी। प्रेमानुभूति की दृष्टि से घनानंद अवश्य मीरा की समकक्षता कर सकते हैं क्योंकि उनके पदों में तथा साथ ही सवैयों में भी विरह-भावनाओं की तीव्रता और गंभीरता झलक उठती है। नागरीदास, अलबेली अलि, चचाहितवृन्दावनदास और भगवत रसिक आदि रीतिकालीन गीतिकारों के गीतों में प्रगीतत्त्व का निखरा हुआ रूप देख पड़ता है परन्तु भावाभिव्यक्ति, शब्द-योजना, पदलालित्य और रागात्मकता की दृष्टि से इनके पदों में अष्टछाप की प्रवृत्तियों की ही पुनरावृत्ति की गई है तथा नवीनता का अभाव सा है।

व्यक्तिगत भावनाओं की प्रधानता होने से आधुनिक हिन्दी साहित्य में गीतिकाव्य का ही विकास विशेष रूप हुआ। भारतेन्दु के जिनसे कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का प्रारम्भ माना जाता है, गीतिकाव्य में दो धाराएँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। एक ओर तो उन्होंने राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं का चित्रण किया है और आत्माभिव्यक्ति को प्रधानता दी है तथा दूसरी ओर राष्ट्रीय गीतों की परम्परा को अंकुरित किया है जिनमें कि सामयिक

भावनाओं की प्रधानता है तथा कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता ही विशेष रूप से है। नाटकीय गीतों की परम्परा भी वस्तुतः भारतेन्दु द्वारा ही अंकुरित हुई है यद्यपि उसे पल्लवित करने का श्रेय 'प्रसाद' को प्राप्त हुआ। भारतेन्दु की भाँति पं० सत्यनारायण कविरत्न ने भी कृष्ण की अनन्य भक्ति का पदों में चित्रण किया है तथा सूर की सी आत्माभिव्यंजना, मीरा की सी कसक और घनानंद की सी मर्मस्पर्शिता उनके पदों में भी झलक उठती है। देश की दुःखपूर्ण दशा को भी कहीं-कहीं उन्होंने अंकित किया है। भारतेन्दु युग के पश्चात् द्विवेदी युग में वस्तु तत्त्व और वर्णन-प्रणाली को ही काव्य में प्रधानता दी जाती रही जिससे कि शुष्क नैतिकता और इतिवृत्तात्मकता की ही प्रधानता रही। पं० श्रीधर पाठक, श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री सियारामशरण गुप्त इस युग के प्रमुख हिंदी गीतिकार हैं। पाठक जी के गीतों में प्राकृतिक-सौंदर्य का मनोमुग्धकारी चित्रण किया गया है और देश-प्रेम की भावनाएँ भी अंकित की गई हैं। पाठक जी को गीति-काव्य में स्वच्छंदतावाद का प्रवर्तक भी माना जाता है। गुप्त जी के गीतों में उनकी बहुमुखी काव्य-साधना स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। 'साकेत' और 'यशोधरा' जैसे प्रबन्ध-काव्यों में भी कई सुन्दर-सुन्दर गीतों का समावेश हुआ है जिनमें कि हृदयस्पर्शी भाव-व्यंजना की गई है। 'कुणाल गीत' में कुणाल की विभिन्न मनोभावनाओं का चित्रण किया गया है और हृदय-पक्ष की अपेक्षा बुद्धिपक्ष को ही प्रधानता दी गई है। श्री विनय मोहन शर्मा के शब्दों में—"गुप्त जी के गीतों में वेदना की गहरी अनुभूति और कोमल शब्द-योजना पाई जाती है तथा छायावाद युग की विभिन्न प्रवृत्तियों के दर्शन भी उनमें होते हैं।" झंकार के गीतों में रहस्यात्मक अनुभूतियों का ही समावेश हुआ है।

गीति-काव्य का स्वर्ण युग

वस्तुतः प्रसाद युग को ही हिंदी गीति-काव्य का स्वर्णकाल मानना अधिक उचित होगा क्योंकि प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी के गीतों में वे सभी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो कि अँग्रेजी साहित्य के 'लिरिक' में आवश्यक मानी जाती हैं। रीतिकालीन श्रृंगारिकता के फलस्वरूप द्विवेदी युग में उपदेशात्मकता एवं इतिवृत्तात्मकता की ही प्रधानता रही परन्तु उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्रसाद युग में छायावाद और रहस्यवाद का प्रादुर्भाव हुआ। छायावाद तो काव्य की अंतर्मुखी प्रवृत्ति ही है तथा उसमें शब्दों की अभिधाशक्ति की अपेक्षा लक्षणा और व्यंजना-शक्ति पर ही विशेष जोर दिया जाता है। छायावादी कवि बाह्य-प्रकृति के चित्रण में आध्यन्तरिकता को ही प्रधानता देते हैं और प्राकृतिक चित्रों का मानवीकरण करके अंकित करते हैं। आचार्य शुक्ल जी रहस्यवाद को छायावाद का विषयगत पक्ष मानते हैं तथा श्रीमती महादेवी वर्मा उसे छायावाद की दूसरी मंजिल मानती हैं और उनका विचार है कि—"आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सब की विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक-प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भावसूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-बंधन की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।" छायावाद और रहस्यवाद के प्रभाव से हिन्दी गीति-काव्य के रूपों में विविधता का आविर्भाव हुआ तथा नवीन

प्रणाली के गीतों का सृजन किया गया। छायावाद जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होने के प्रति भी उदासीन नहीं है—

अब जागो जीवन के प्रभात!
रजनी की लाज समेटो तो
अरुणांचल में चल रही वात
अब जागो जीवन के प्रभात!

प्रसाद के गीति-काव्य में आभ्यंतरिक अनुभूतियों की प्रधानता है तथा सौन्दर्य और प्रेम का मनोमुग्धकारी चित्रण भी उसमें है। उनके नाटकीय गीतों में राग-रागिनियों की आदर्श योजना है। परम्परागत पदशैली एवं ब्रजभाषा की संकीर्णता से हिन्दी गीतिकाव्य को उन्मुक्त कर उसे एक नूतन रूप प्रदान करने का श्रेय उन्हें ही है। उन्होंने अपने गीतिकाव्य में युग की नवीन प्रवृत्तियों का भी सूत्रपात किया है। 'आँसू' में जिसे कि हिन्दी का एक उत्कृष्ट गीति-काव्य माना जाता है अन्तर्जगत की हृदयस्पर्शी अभिव्यंजना है तथा 'लहर' और 'झरना' के गीतों में प्रकृति-सौन्दर्य का मनोरम चित्रण है। 'कामायनी' में प्रवंध और मुक्तक दोनों का समन्वय दीख पड़ता है। इस प्रकार प्रसाद का गीतिकाव्य निस्संदेह सराहनीय है तथा श्री-रामनाथ 'सुमन' के शब्दों में—"इस कवि में जो मस्ती है, भावना एवं अनुभूति की जो मृदुलता है और मानव जीवन के उत्कर्ष का जो गौरव है, उसे देखते हुए उसकी प्रतिभा गीतिकाव्य की रचना के अत्यन्त उपयुक्त थी।" युग प्रवर्तक कवि निराला ने साहित्य की पुरातन प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह प्रदर्शित करते हुए काव्य को रूढ़िगत बन्धनों से मुक्त करने का प्रयास किया। संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक समीप लाने का श्रेय भी उन्हें ही दिया जाता है। उनके गीतों में कहीं-कहीं शृंगार के निरावरण चित्र भी दीख पड़ते हैं परन्तु उनमें अश्लीलता नहीं है। चूँकि वे भारतीय परम्परागत अद्वैतवाद के प्रतिपादक हैं अतः उनके गीतों में कहीं-कहीं दार्शनिकता का इतना अधिक समावेश हो गया है कि उनकी गहन विचार-धारा पाठकों के लिए नितान्त अस्पष्ट और दुर्बोध सी जान पड़ती है परन्तु ऐसे स्थलों का भी अभाव नहीं है जहाँ कल्पना, भावुकता, सरलता और मधुरता का भी समावेश हुआ है। यद्यपि वे पुरुष-प्रधान कवि हैं परन्तु प्राकृतिक वस्तु के रूप, भाव और वातावरण को लेकर प्रकृति का बड़ा ही सुन्दर मूर्तिमान रूप उन्होंने अंकित किया है। श्री शांतिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में—"निराला के अधिकांश गीतों में उनकी कला, अभिव्यक्ति के लिए जितनी सचेष्ट है, उतनी अभिव्यक्ति के प्रति तन्मय नहीं। उनका काव्य-पांडित्य उनके कवि को सहज नहीं रहने देता। जहाँ उनमें सहज स्वाभाविक तन्मयता है, वहाँ उनकी कला अपनी अनुभूति से मार्मिक भी हो गई है।" पंत जी को तो प्रकृति-निरीक्षण से ही कविता की प्रेरणा मिली है और इस प्रकार सौंदर्यात्मक अनुभूति ने ही उनकी भावनाओं को अनुरंजित किया है। उनके गीतिकाव्य में प्रकृति-सौंदर्य का चित्रण विविध शैलियों में किया गया है। 'ग्रंथि' में तो कवि ने मानसिक उद्रेकों का भी हृदयग्राही चित्रण किया है। पंत की कल्पना-शक्ति भी विलक्षण है तथा भावजगत भी विस्तृत है। 'गुंजन' में वे सुन्दरम् से अधिक शिवम् की ओर आकर्षित हुए हैं तथा उसमें विश्वमंगल की भावनाओं की ही अभिव्यंजना की गई है। 'युगान्त' और 'युगवाणी' में तो उन्होंने प्रगति-वादी भावनाओं का चित्रण किया है तथा 'स्वर्णकिरण और 'स्वर्णधूलि' में अध्यात्मिकता का

समावेश हुआ है। इस प्रकार पंत के गीतों में उनकी बहुमुखी काव्यप्रतिभा दृष्टिगोचर होती है। श्रीमती महादेवी वर्मा छायावाद युग की प्रमुख कवियित्री हैं तथा उनके गीतों में उसी युग की शैली का अनुसरण, भावों की अभिव्यक्ति, और भाषा का प्रयोग दीख पड़ता है। सन्त-कवियों की-सी रहस्यानुभूति तथा मानस की चिरंतन विकलता और ब्रह्म के संयोग के हेतु अत्यधिक उत्सुकता भी उनके गीतों में दर्शित होती है। दुःख से उन्हें स्वाभाविक प्रेम है तथा उन्हीं के शब्दों में—"दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है।" उनके गीत इतने अधिक अन्तर्मुख हैं कि उनमें प्रकृति-पर्यवेक्षण का अभाव सा दिखायी पड़ता है। भावनाओं की सुकुमारता, संगीत की तारतम्यता, मधुर-पीड़ा का भार और मानस की कसक उनके गीतों में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। श्री रामकुमार वर्मा के गीत विशेष रूप से रहस्यवादी हैं तथा श्री भगवतीचरण वर्मा के गीतों में चिन्तन की अपेक्षा भावावेश और आत्माभिव्यक्ति ही विशेष रूप से हैं एवं प्रेमी के उन्मत्त हृदय की विह्वलता ही अंकित की गई है। डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी के शब्दों में—"वर्माजी के प्रेम-सम्बधी विचार भी अपना दृष्टिकोण रखते हैं। फारसी-उर्दू की इश्क सम्बन्धी विचार-धारा से आपकी कल्पना प्रभावित है और उसमें सूफिक और नवीन वेदान्त की पुट है जिससे उसमें एक विशेष चमक पैदा हो गई है।" बच्चन यद्यपि हालावादी कवि के रूप में ही विशेष प्रसिद्ध हैं परन्तु हालावाद को बहुत पीछे छोड़ युग की यथार्थ भावनाओं का मर्मस्पर्शी अंकन ही अब उन्होंने अपने आधुनिक गीतों में किया है। उनका व्यक्तित्व विद्रोह की प्रतिमूर्ति है और उनके गीतों में विद्रोही भावनाओं की झलक भी है। अपनी निजी व्यक्तिगत भावनाओं को जिस वास्ववि‌कता और स्वाभाविकता के साथ बच्चन ने चित्रित किया है वैसा बहुत कम कवि कर सके हैं। श्री नरेन्द्र शर्मा के 'प्रवासी के गीत' और 'पलाशवन' में लौकिक प्रेमानुभूति और यथार्थवादी भावनाओं की अधिकता है। श्री माखनलाल चतुर्वेदी, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन,' श्री सोहनलाल द्विवेदी और श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने राष्ट्रीय गीतों का सृजन किया है तथा युग की नवीन प्रवृत्तियों का भी चित्रण किया है।

प्रगतिवाद की धारा

छायावाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव हुआ और मार्क्सवादी क्रांति की सामूहिक भावनाओं का ही चित्रण विशेष रूप से किया जाने लगा। प्रगतिवादी गीतों में किसान-मजदूरों के प्रति सहानुभूति और पूँजीपतियों तथा शोषक वर्गों के प्रति विद्रोह व्यक्त किया जाने लगा। उनमें यथार्थवादी भावनाओं की भी अधिकता है और प्रेम-वर्णन में भौतिकता को ही प्रधानता दी गई है। प्रगतिवाद राजनैतिक दृष्टिकोण की प्रमुखता के कारण स्थायी न रह सका तथा श्री भगवतीचरण वर्मा के शब्दों में—"प्रगतिवाद को मैं प्रचारात्मक साहित्य ही मान सकता हूँ, जहाँ मनुष्य के मूल्यांकन, उसके विश्वास, उसकी भावनाएँ कहीं और से शासित या संचालित होती हैं, जहाँ मनुष्य राजनीतिक फतवों पर या राजनैतिक आदेशों पर साहित्य का सृजन करता है, वहाँ वह साहित्य प्रचारात्मक रह जाता है, उसमें जीवन नहीं होता।" परन्तु प्रचारात्मक भावनाओं और राजनैतिक दृष्टि-कोण से न्यून कुछ प्रगतिवादी गीत भी लिखे गए। अंचल, श्री उदयशंकर भट्ट और दिनकर के गीतों में जनकल्याण की भावना ही विशेष रूप से दीख पड़ती है। प्रगतिवाद की एकांगिता

के फलस्वरूप हिंदी कविता में प्रयोगवाद नामक एक नवीन वाद का प्रादुर्भाव हुआ। प्रगतिवादी नूतन वस्तुतत्त्व पर जोर देते हैं तो प्रयोगवादी कवि नये रूप-विधान को आवश्यक समझते हैं। श्री सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में "प्रयोगवादी काव्य जहाँ अपनी शैली तथा रूप-विधान में अति वैयक्तिक हो जाता है वहाँ अपनी भावना में जनवादी। वह छायावादी स्वप्नों के कोहरे को हटाकर एक नवीन वास्तविकता के मुख को पहिचानना चाहता है और सूक्ष्म भाव-जगत से हटकर फिर से वास्तविकता की भूमि पर उतरना चाहता है।" अज्ञेय जी का मत है कि—"प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अच्छी तरह जान सकता है और अच्छी तरह अभिव्यक्ति कर सकता है।" 'तारसप्तक' और 'दूसरा सप्तक' नामक कविता-संग्रहों में संग्रहीत कवियों ने हिंदी गीतिकाव्य में प्रयोगवाद को विकसित करने में बहुत अधिक प्रयास किया है। वस्तुतत्व और रूप-विधान की नवीनता को हम भी स्वीकार करते हैं परन्तु प्रयोगवादी कवियों ने प्रयोग के नाम पर कविता के कला-पक्ष का जो ह्रास किया है उसे उचित नहीं समझते। प्रयोगवादी गीतों की भाषा में कई प्रकार की विविध शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं और कहीं तो तत्सम-संस्कृत-शब्दावली दीख पड़ती है, कहीं निरी अरबी-फारसी की प्रधानता है, तो कहीं ग्रामीण शब्दों की ही बहुलता है और कहीं तो अँग्रेजी शब्दों का ही आधिक्य रखा गया है। इस प्रकार डॉ० सत्येन्द्र ने उचित ही लिखा है—"प्रयोग के लिए प्रयोग करना बुरा नहीं है किन्तु तभी तक जब तक वह प्रयोग है प्रलाप नहीं। प्रत्येक प्रयोग में प्रयोग विषयक सारगर्भिता और सार्थकता अवश्य होनी चाहिए। जो प्रयोग केवल 'विलक्षण-विचक्षण' के मोह में किए जाते हैं उनमें भाषा और साहित्य दोनों का अहित हो सकता है।

इस प्रकार हिन्दी गीति-काव्य की परम्परा आधुनिक युग में भी उसी प्रकार विद्यमान है जैसी कि वह प्राचीन काल में थी बल्कि विशेष सुन्दर तो यह होगा यदि हम यह कहें कि आधुनिक हिन्दी-काव्य में वस्तुत:गीति-काव्य की ही प्रधानता रही है। उपर्युक्त गीतिकारों के साथ-साथ, श्री जानकी वल्लभ शास्त्री, नैपाली, श्री आरसी प्रसाद सिंह, श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन', डॉ० सुधीन्द्र, सुभद्रा कुमारी चौहान, नीरज आदि कवियों ने भी अपने सुमधुर गीतों द्वारा हिन्दी गीति-काव्य की अभिवृद्धि की है। हमारे हिन्दी गीतिकाव्यकारों ने प्रत्येक काल की भावनाओं का वास्तविकता पूर्ण चित्रण किया है और प्रत्येक युग की नवीन प्रवृत्तियों तथा नवीन प्रयोगों की अभिव्यक्ति में भी वे सचेष्ट रहे हैं। प्रगीतत्त्व की सभी आवश्यक विशेषताएँ आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य में दृष्टिगोचर होती हैं और साहित्यिक रूप-लावण्य के साथ-साथ राग-रागनियों की आदर्श योजना भी दीख पड़ती हैं। इस प्रकार हिन्दी-गीतिकाव्य का विगत तो सुन्दर था ही, वर्तमान भी निस्संदेह श्रेष्ठतम है और आशा है भविष्य भी समुज्ज्वल होगा।

(प्रतिभा, फरवरी १९५४)

सूर-काव्य की विशिष्टताएँ

यदि विचार पूर्वक देखा जाए तो सूरदास को ब्रजभाषा का आदि कवि कहना अनुचित न होगा और चूँकि 'हिन्दी के कलित कलेवर का सौंदर्य इन्हीं कविकुलकमल दिवाकर के आलोक में दृष्टिगोचर हुआ है' अतः कतिपय विचारकों ने तो उन्हें हिन्दी का आदि कवि ही माना है।[१] यद्यपि सूरदास के पूर्व हिन्दी साहित्य में कई प्रसिद्ध कवि हो चुके थे परन्तु हिन्दी का प्रौढ़तम स्वरूप सर्व प्रथम इन्हीं की कविता में दृष्टिगोचर होता है तथा कबीर आदि संत कवियों की कविताएँ जटिल और दुर्बोध होने से एवम् सूर की सी व्यापकता के अभाव में उतना अधिक आदर न पा सकीं। सूर का कविता काल जो कि संवत् १५६० से १६३० तक माना जाता है हिन्दी का सौर काल कहलाता है और वस्तुतः यही हिन्दी का समृद्ध युग भी था तथा इसमें कोई संदेह नहीं कि वल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों ने ब्रजवाणी में पियूष की अविरल-धारा को प्रवाहित कर हिन्दी की सर्वांगीण उन्नति भी की है। यह तो स्पष्ट ही है कि "कविवर सूरदास ब्रजभाषा के प्रथम आचार्य हैं"[२] तथा साहित्यिक दृष्टि से ब्रजभाषा के लिए सिद्धान्तों को निर्धारित करने और मार्ग-प्रदर्शन का श्रेय भी उन्हें ही दिया जाता है और आज तक उन्हीं की प्रवर्त्तित प्रणाली का अनुसरण ब्रजभाषा के कवियों द्वारा होता भी रहा है। हो सकता है कुछ कवियों ने प्रान्त विशेष के निवासी होने के फलस्वरूप चाहे कहीं-कहीं अपनी कृतियों में प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग किया भी हो लेकिन वास्तविकता में तो उन्होंने सूर का ही पदानुसरण किया है और उनकी मान्यताएँ भी स्वीकार की हैं अतः ब्रजभाषा के आरंभिक काल में सूरदास ने अपनी विलक्षण प्रतिभा द्वारा जिस प्रकार सर्वांग पूर्ण काव्य-ग्रन्थ प्रस्तुत किया वैसा उनके पश्चात् कोई भी कवि नहीं कर सका और फिर यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ तक ब्रजभाषा का सम्बन्ध है सूर को अपने पूर्ववर्ती कवियों से किसी भी प्रकार की प्रेरणा नहीं प्राप्त हुई थी क्योंकि उनके प्रादुर्भाव के पूर्व ब्रज के लोकगीतकारों एवं संगीतकारों के गीतों में भाषा तथा भाव का जो स्वरूप था वह किसी भी भाँति श्रेष्ठतम् काव्य-सृजन के लिए उपयुक्त न था। वस्तुतः सूर ने ही अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा सुव्यवस्थित भाषा में काव्य-सृजन की परम्परा परवर्ती कवियों के लिए निर्मित की थी और इसमें कोई सन्देह नहीं कि "संस्कृत साहित्य में जो स्थान आदि कवि वाल्मीकि का है, ब्रजभाषा साहित्य में वही स्थान सूरदास का है।"[३]

यद्यपि वार्तासाहित्य तथा सूर के सम-सामयिक इतिहास-ग्रंथों में कहीं भी सूर द्वारा

---

१. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री (पृ० ३२६)

२. हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास—श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (पृ० २६४)

३. सूर निर्णय—श्री द्वारिकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल (पृ० ३१३)

रचित कृतियों के सम्बन्ध में कोई भी उल्लेख नहीं मिलता और केवल यही कहा जाता है कि उन्होंने कृष्ण-विषयक पदों की रचना की है परन्तु काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों और प्राचीन पुस्तकालयों में सुरक्षित ग्रन्थों की नामावली के अनुसार सूरदास के लगभग पचीस ग्रंथों की तालिका प्रस्तुत की जाती है[1] परन्तु ये सभी ग्रन्थ अष्टछापी सूरदास के ही नहीं माने जा सकते। डॉ० मोतीचन्दजी की खोज से यह तो सिद्ध हो चुका है कि नलदमयन्ती वास्तव में नलदमन नामक सूफी प्रेमाख्यानक काव्य है जो कि किसी अन्य सूरदास द्वारा सं० १६८५ में लिखा गया है।[2] हरिवंश टीका, एकादशी माहात्म्य और रामजन्म को भी अष्टछापी सूर की कृतियाँ नहीं माना जाता[3] तथा प्राणप्यारी को भी डॉ० दीनदयालु गुप्त उनकी संदिग्ध रचना ही मानते हैं[4] जब कि कुछ विचारक उसे सूर की प्रामाणिक कृति मानते हैं और उनकी दृष्टि में उसका समावेश सूरसागर के अन्तर्गत ही होना चाहिए।[5] कहा जाता है कि सूर द्वारा रचित तथा उनके नाम से प्रचलित पदों के संग्रह भिन्न-भिन्न बहुत से स्थानों पर सुरक्षित रखे गए और जब अनुसंधान कार्य प्रारम्भ हुआ तो वे सभी हस्तलिखित प्रतियाँ सूरदास के नाम से पृथक्-पृथक् ग्रंथ मानी गईं अन्यथा यदि विचार पूर्वक देखा जाए तो उनके नाम पर प्रचलित अधिकांश कृतियाँ सूरसागर के कुछ पदों का संग्रह मात्र ही हैं और इस प्रकार सूरसागर, सूरसारावली तथा साहित्यलहरी ही उनकी तीन प्रामाणिक कृतियाँ कही जा सकती हैं। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि डॉ० जनार्दन मिश्र सूरदास के उन पदों को प्रक्षिप्त मानते हैं, जो सूरदास और सूरश्याम के नाम से लिखे गए हैं[6] परन्तु मिश्रजी ने अपने मत के पक्ष में कुछ भी प्रमाण नहीं दिए हैं अतः हमारी दृष्टि में सूर, सूरदास, सूरजदास और सूरश्याम के नाम से प्रचलित पद अष्टछापी सूर की ही कृति हैं तथा स्वयं हरिराय जी ने भी सूर के इन चार नामों का होना स्वीकार किया है।[7] साथ ही डॉ० मुंशीराम शर्मा ने भी उदाहरण प्रस्तुत करते हुए सूर, सूरदास, सूरजदास और सूरश्याम आदि उपनामों को इन्हीं महाकवि सूरदास का माना है और उनकी दृष्टि में "पद रचना में जहाँ जैसा उपयुक्त जान पड़ा और पद के अनुकूल बैठ गया, वहाँ वैसा ही नाम उन्होंने प्रयुक्त कर दिया है। सुजान, सरस आदि शब्द भी भाव भरित

---

[1] सूरसागर, सूरसारावली, साहित्यलहरी, भागवत भाषा, दशमस्कन्ध भाषा, सूरसागर सार, सूर रामायण, राधारसकेलिकौतूहल, गोवर्द्धन लीला (सरस-लीला), दान-लीला, नागलीला, मानलीला, ब्याहलो, भँवरगीत, प्राणप्यारी (श्याम सगाई), दृष्टिकूट के पद, सूरशतक, सूरसाठी, सूरपचीसी, सेवाफल, सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद नलदमयन्ती, हरिवंश टीका (संस्कृत), एकादशी महात्म्य, रामजन्म।

[2] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४३, संवत् १९९५, भाग १९, अङ्क २

[3] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डॉ० दीनदयालु गुप्त (पृ० २९५-२९७); सूरनिर्णय—श्री द्वारिकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल (पृ० १०५-१०६)

[4] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डॉ० दीनदयाल गुप्त (पृ० २८२)

[5] सूरनिर्णय—श्री द्वारिकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल (पृ० १६७)

[6] सूरदास—डॉ० जनार्दन मिश्र (पृ० ७)

[7] अष्टछाप—विद्या विभाग, काँकरौली (पृ० ५५)

उमंग की लपेट में इस प्रकार प्रयुक्त हो गये हैं। जो लीला ही सरस हो और सुजान श्याम से सम्बन्ध रखने वाली हो उसमें ऐसे शब्दों का आ जाना स्वाभाविक है।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूरसागर तो सूरदास की ही कृति है और न केवल वह उनकी व्यापक प्रतिभा की परिचायक है अपितु उसी पर उनकी अक्षय कीर्ति भी आधारित है तथा विचारकों ने उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा भी की है[2] परन्तु सूरसारावली और साहित्यलहरी की प्रामाणिकता पर तो सन्देह ही व्यक्त किया जाता है। यही नहीं डॉ० व्रजकिशोर वर्मा ने तो सूरसागर और सूरसारावली की रचना शैली में सत्ताइस अन्तर स्थापित कर इन दोनों ग्रंथों को एक ही कवि की रचना न मानते हुए सूर सारावली को किसी अन्य सूरदास की कृति माना है[3] लेकिन डॉ० दीनदयालु गुप्त, डॉ० मुंशीराम शर्मा, श्री द्वारिकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल तथा डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने प्रबल प्रमाणों सहित सिद्ध कर दिया है कि सूरसागर और सूरसारावली दोनों के रचयिता वास्तव में अष्टछापी सूर ही हैं।[4] वस्तुतः सूरसारावली वल्लभाचार्य कृत 'पुरुषोत्तम सहस्त्रनाम' के आधार पर रची गई सूर की स्वतंत्र और प्रामाणिक सैद्धांतिक कृति है तथा उसे केवल सूरसागर की सूचीमात्र समझना उपयुक्त नहीं है। साथ ही भाव, भाषा और विषय की दृष्टि से भी सूरसागर तथा सूरसारावली में अन्तर स्थापित करना भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि कथावस्तु और शैली से सम्बन्धित ऐसी अनेक समानताएँ दोनों ग्रंथों में दृष्टिगोचर होती हैं जो कि निस्संदेह हृदयस्पर्शी और तथ्यपूर्ण हैं तथा स्वयं डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने भी इसे स्वीकार किया है कि सूरसारावली सूरसागर के बहिरंग का अनुसरण करने की चेष्टा तो अवश्य करती है।[5] अतः हमारी दृष्टि में तो दोनों एक ही कवि की कृतियाँ हैं। वस्तुतः सूरसारावली की प्रति जिस रूप में आज उपलब्ध हैं उसी रूप में उसका गुजराती अनुवाद संवत् १८८० में गुजराती के प्रसिद्ध कवि दयाराम ने किया था और उनका यह भी कथन है कि उन्होंने पुष्टि सम्प्रदाय के किसी एक आचार्य की आज्ञानुसार ही यह अनुवाद किया है अतएव इससे भी यही सिद्ध होता है कि सूरसारावली न केवल वर्तमान रूप में ही उस समय भी प्राप्त थी और गुजरात प्रदेश तक में उसे प्रसिद्धि भी प्राप्त हो चुकी थी अपितु उसके रचयिता पुष्टि सम्प्रदाय के प्रसिद्ध कवि सूर

---

१. सूरसौरभ—डॉ० मुंशीराम शर्मा (पृ० २२२-२२३)

२. 'सूरसागर में गीति और प्रबन्ध, प्रेमभक्ति और काव्यरस, वैराग्य और जीवनानुराग, सर्वोच्च आदर्श और सहज स्वाभाविकता, अलौकिकता और अतिलौकिकता तथा अध्यात्म और भौतिकता के परस्पर विरोधी जैसे तत्व इस रूप में एकाकार हो गए हैं कि कवि की विलक्षणता, सरलता, वाक्चातुर्य, व्यंजना शक्ति, अन्तर्दृष्टि, कल्पनाशक्ति, असाधारण संवेदनशीलता और प्रतिभा पर आश्चर्य होने लगता है।"

—डॉ० व्रजेश्वर वर्मा (हिन्दी के गौरव ग्रंथ, भूमिका पृ० ६)

३. सूरदास—डॉ० व्रजेश्वर वर्मा (पृ० १०५)

४. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (पृ० २८४-३१०); सूरसौरभ; सूरनिर्णय (पृ० १०७-१४३), सूर और उनका साहित्य (पृ० ६१)

५. सूरदास—डॉ० व्रजेश्वर वर्मा (पृ० ७६)

ही हैं। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि डॉ० व्रजेश्वर वर्मा साहित्यलहरी को भी सूरदास कृत नहीं मानते और उनका अनुमान है कि इसकी रचना सं० १७०० के पश्चात् किसी सूरजचन्द नामक जाट ने की थी[१] तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी भी सम्पूर्ण साहित्यलहरी को ही संदेहास्पद रचना मानते हैं[२] परन्तु वास्तव में वह भी सूरदास का एक स्वतंत्र प्रामाणिक ग्रन्थ है और उसमें कवि की निजी विशेषताएँ भी विद्यमान हैं। साहित्यलहरी में रस, अलंकार और नायिका-भेद सम्बन्धी पद संगृहीत हैं तथा रीतिकाव्य प्रवाह का उसे आदिस्त्रोत भी कहा जा सकता है। साहित्यलहरी की दो टीकाएँ क्रमशः नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ और खंगविलास प्रेस बाँकीपुर में प्रकाशित हुई हैं जिनमें से प्रथम में १८१ तथा द्वितीय में ११८ पद हैं लेकिन डॉ० दीनदयालु गुप्त ने तो १०९ वें पद के पश्चात् सभी पदों को प्रक्षिप्त माना है[3] जब कि डॉ० मुंशीराम शर्मा सम्पूर्ण साहित्यलहरी को प्रामाणिक मानते हैं।[४] यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सूर की वंश-परम्परा विषयक साहित्यलहरी के ११८ वें पद को प्रायः सभी विचारकों ने अप्रामाणिक माना है और आचार्य शुक्ल का यह मत कि "हमारा अनुमान है कि साहित्यलहरी में यह पद पीछे किसी भाट द्वारा जोड़ा गया है"[५] प्रायः सभी अधिकांश विचारकों द्वारा स्वीकार किया जा चुका है अतः विभिन्न क्लिष्ट कल्पनाओं द्वारा ११८ वें पद को प्रामाणिक सिद्ध करना उचित नहीं है और फिर जब कि १०८ वें पद में ही कवि ने ग्रंथ समाप्ति का संवत् तथा रचना हेतु का उल्लेख कर दिया है इसलिए स्वाभाविक ही १०९ वें पद के पश्चात् सभी पद प्रक्षिप्त होने चाहिए। वस्तुतः इस १०९ वें पद में उल्लिखित रचनाकाल और हेतु के विषय में भी विचारकों में मतैक्य नहीं है तथा उसके आधार पर आचार्य शुक्ल जी और डॉ० हरवंशलाल शर्मा साहित्यलहरी का रचनाकाल वि० सं० १६०७; डॉ० मुंशीराम शर्मा सं० १६२७ तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० व्रजेश्वर वर्मा सं० १६७७ मानते हैं लेकिन वास्तव में उसका समय वि० सं० १६०७ ही उपयुक्त है। साहित्यलहरी के उसी पद की अंतिम पंक्ति 'नंद नंदन दास हित साहित्यलहरी कीन' से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने नंददास के ही लिए इसकी रचना की थी तथा अधिकांश विचारकों का भी यही मत है परन्तु 'नंदनंदन दास' का शब्दार्थ 'कृष्णदास' मानते हुए श्री महावीरसिंह गहलौत का अनुमान है कि अष्टछाप के कवि कृष्णदास को काव्यज्ञान कराने के हेतु सूर ने साहित्यलहरी की रचना की थी[६] लेकिन वास्तव में वहाँ नंददास अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

वस्तुतः सूरसागर तो सूर की अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है लेकिन यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि 'वार्ता' में 'सूरसागर' शब्द का प्रयोग किसी ग्रन्थ विशेष के लिए नहीं

---

१. सूरदास—डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा
२. हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० १७७)
३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डॉ० दीनदयालु गुप्त (पृ० २९४)
४. सूरसौरभ—डॉ० मुन्शीराम शर्मा
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० १६१)
६. सम्मेलन पत्रिका, श्रावण-भाद्रपद सं० २००२

किया गया अपितु स्वयं सूरदास के ही लिए हुआ है[1] और साथ ही यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सूरसागर के पदों की संख्या कितनी है क्योंकि मूल चौरासी वार्ता में केवल यही उल्लेख है कि उन्होंने 'सहस्त्रावधि' पद लिखे हैं जब कि श्री हरिराय जी द्वारा सम्पादित वार्ता में लिखा है कि—"सो तब सूरदास जी मन में विचारे—जो मैं तो अपने मन में सवा लाख कीर्तन प्रकट करिवे को संकल्प कियो है सो तामें ते लाख कीर्तन तो प्रकट भये हैं। सो भगवत्इच्छा तें पचीस हजार कीर्तन और प्रकट करने।''''वाही समय श्री गोवर्धननाथ जी आप प्रकट होय के दरशन देके कह्यो—जो सूरदास जी ! तुमने जो सवा लाख कीर्तन को मन में मनोरथ कियो है, सो तो पूरन होय चुक्यो है, जो पचीस हजार कीर्तन मैंने पूरन करि दिये हैं।"[2] इस प्रकार श्री हरिराय जी "सूरदास जी ने श्री ठाकुर जी के लक्षावधि पद किये हैं" नामक उक्ति द्वारा सूरदास को एक लाख पदों का रचयिता मानते हैं[3] तथा सूरसारावली के एक पद से भी यही बात सिद्ध होती है।[4] परन्तु इस सहस्त्रावधि एवम् 'एक लक्ष बंद' वाली उक्ति को लेकर भी विचारकों ने भाँति-भाँति की कल्पनाएँ की हैं। श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल ने तो सहस्त्रावधि का अभिप्राय सहस्त्रों की अवधि मानते हुए उसका अर्थ सूर द्वारा ९९९९९ पदों का लिखा जाना स्वीकार किया है तथा 'एक लक्ष पद बंद' का भी वे संख्यावाची अर्थ नहीं मानते अपितु उनकी दृष्टि में "सूरदास प्रारम्भ में कर्मयोग, ज्ञान, उपासना आदि में विश्वास करते थे, किन्तु श्री वल्लभ गुरु ने जब उनको तत्त्व सुनाकर लीलाभेद दिखाया (समझाया) तब सूरदास को कर्मयोग आदि के अपने पूर्व विश्वास भ्रमरूप ज्ञात होने लगे और तभी से उन्होंने उन लीलाओं को एक 'लक्ष' स्वरूप श्री कृष्ण की पदवंदना करते हुए गाया है, जिसका सारसिद्धान्त तत्त्वरूप यह सारावली है।"[5] स्मरण रहे कि सूर के सवा लाख पद अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं तथा विद्वानों में भी इस बात पर मतभेद सा है कि वस्तुतः उन्होंने सवा लाख पद लिखे भी थे या नहीं। 'शिवसिंह सरोज' के लेखक ने लिखा है कि उन्होंने साठ हजार पद देखे थे पर कहाँ देखे थे इसका कुछ भी उल्लेख नहीं है।[6] Keay ने पचहत्तर हजार तथा इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका ने भी साठहजार

---

[1] "और सूरदास को जब श्री आचार्य जी देखते तब कहते जो—आवो सूरसागर ! सो ताको आशय यह है, जो—समुद्र में सगरो पदार्थ होत है तैसे ही सूरदास ने सहस्त्रावधि पद किये हैं। तामें ज्ञान वैराग्य के न्यारे-न्यारे भक्ति भेद, अनेक भगवत अवतार सो तिन सबन की लीला कौं बरनन कियौ है।"

—प्राचीन वार्ता रहस्य, तृतीय भाग (पृ० २३)

[2] प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग (पृ० ४६)

[3] प्राचीन वार्ता रहस्य, द्वितीय भाग (पृ० ६०)

[4] कर्मयोग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौ लीला भेद बतायो॥
ता दिन तें हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द।
ताकौ सार 'सूर' सारावलि गावत अति आनन्द॥

[5] सूर निर्णय—श्री द्वारिकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल (पृ० ११२)

[6] शिवसिंह सरोज (पृ० १०२)

पद सूर के माने हैं और श्री राधाकृष्णदास ने तो सूरसागर की पदसंख्या सवा लाख ही मानी है[१] लेकिन उन्होंने भी कुछ प्रमाण आदि नहीं दिये अतः जैसा कि डॉ० श्यामसुन्दरदास का विचार है "सूरसागर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है पर अब तक सूरसागर की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें छः हजार से अधिक पद नहीं मिलते।"[२] यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सूरसागर की जो भी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमें बहुत ही कम ऐसी प्रतियाँ हैं, जिनमें चार हजार से अधिक पद हों तथा स्वर्गीय जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने तो हस्तलिखित प्रतियाँ संकलित कर नागरी प्रचारिणी सभा काशी के तत्त्वावधान में उसके समुचित सम्पादन और प्रकाशन का आयोजन किया था परन्तु उनके देहावसान से यह कार्य अपूर्ण सा रह गया तथा बाद में श्री नंददुलारे वाजपेयी ने १७२४ पृष्ठों की दो जिल्दों में सूरसागर का अद्यावधि बृहत्तम संस्करण नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित करवाया है। वाजपेयी जी द्वारा सम्पादित इस सूरसागर में ४९३६ पद हैं तथा अंत में दो परिशिष्ट भी हैं जिनमें से प्रथम परिशिष्ट में २०३ तथा दूसरे में ६७ पद हैं; परन्तु वाजपेयी जी पहले परिशिष्ट को निश्चित रूप से प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक मानते हैं तथा केवल दूसरे को ही प्रामाणिक समझते हैं अतः इस प्रकार सूरसागर के पदों की संख्या पाँच हजार से अधिक नहीं जान पड़ती। यद्यपि रचना परिमाण, काव्यगुण श्रेष्ठता की दृष्टि से कुछ भी कहने के लिए पदों की यह संख्या भी कम नहीं है लेकिन विचारकों ने सूरसागर की सवा लाख पद संख्या सिद्ध करने के लिए प्रयास बंद नहीं किए हैं तथा श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल ने तो उदाहरण देते हुए प्रतिदिन की पद रचना का हिसाब लगाकर सूर के पदों की संख्या सवा लाख से भी अधिक मानी है[३] और डॉ० हरवंशलाल शर्मा भी सूरसागर की पदसंख्या सवा लाख ही मानते हैं।[४] यही नहीं डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने सूरसागर की प्रतियों का विवरण देते हुए उनके संग्रहात्मक तथा द्वादशस्कंधात्मक नामक दो प्रकार माने हैं और वे द्वादश स्कंधात्मक प्रतियों की अपेक्षा संग्रहात्मक प्रतियों को ही अधिक मान्य तथा प्राचीन मानते हैं।[५] यहाँ यह भी तथ्यपूर्ण है कि सूरसागर की जो द्वादश स्कंधात्मक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं उनकी पदसंख्या में भी महान् अंतर है क्योंकि यह तो सर्वविदित है कि सूरसागर के अधिकांश संस्करणों में दशम स्कन्ध की पद संख्या ही अधिक मानी गई है लेकिन नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में संवत् १७९८ की एक ऐसी प्रति का भी विवरण दिया गया है जिसमें कि दशम स्कन्ध का केवल एक ही पद है जब कि द्वादश स्कन्ध में १७५४ पद हैं अतः इससे भी यही प्रमाणित होता है कि सूर द्वारा रचित बहुत से पद आज अलभ्य हैं और उनकी उपलब्धि के अभाव में किसी भी निश्चित संख्या के विषय में अनुमान लगाना उचित नहीं है। यद्यपि वार्ता साहित्य से यह तो आभास हो ही जाता है

---

१. श्री सूरदास जी का जीवन चरित (पृ० २)

२. हिन्दी भाषा और साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास

३. सूर निर्णय—श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल (पृ० ११२)

४. सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा (पृ० ५५-५७)

५. सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा (पृ० ७०-९०)

कि सूर के कीर्तन-पदों का संकलन उनके जीवन काल में ही होने लगा था लेकिन अभी तक प्राप्त सूर के संग्रहों में सबसे प्राचीन प्रति सं० १६९७ की कही जाती है[1] परन्तु अभी तक ऐसा एक भी संग्रह उपलब्ध नहीं हुआ है जिसमें कि सूर के समस्त पद सम्मिलित हों। साथ ही यह भी कहा जाता है कि वल्लभ सम्प्रदाय के कीर्तनों में भी बहुत से ऐसे पद मिलते हैं जो कि अभी तक सूरसागर के किसी भी संग्रह में सम्मिलित नहीं किए गए हैं अतः उनका भी संग्रह आवश्यक है और फिर सूर जैसे निष्णात भक्त कवि के लिए सवा लाख पदों का सृजन कोई असम्भव बात भी नहीं थी अतः हो सकता है उन्होंने सवा लाख पदों की रचना की हो।

यद्यपि सूरसागर सूर के मानस रत्नों का सागर ही है लेकिन उसकी आधारभूमि श्रीमद्भागवत कही जाती है क्योंकि दोनों में ही बारह स्कंध हैं तथा प्रत्येक स्कंध की कथाओं में भी समानता है और साथ ही उसकी जो भी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमें भी कथा श्रीमद्भागवत की भाँति स्कन्धों में विभाजित है। यों तो सूर ने स्वयं ही भागवत का आधार लेना स्वीकार किया है तथा डॉ० धीरेन्द्र वर्मा भी श्रीमद्भागवत और सूरसागर की तुलना करते हुए अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि "वर्तमान सूरसागर एक ग्रंथ नहीं है बल्कि सूरदास की प्रायः समस्त कृतियों का संग्रह है और उसका मूल ढाँचा वास्तव में भागवत के बारह स्कंधों का संक्षिप्त अनुवाद मात्र है"[3] लेकिन अंतःसाक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के कतिपय उदाहरणों द्वारा चाहे हम यह स्वीकार भी कर लें कि सूर ने भागवत का आधार लिया होगा परन्तु डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की यह मान्यता कि समस्त सूरसागर उसके बारह स्कंधों का संक्षिप्त अनुवाद मात्र है पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री के अभाव में विवादग्रस्त ही है। वस्तुतः सूरसागर को श्रीमद्भागवत का अनुवादमात्र कहना सूर के प्रति अन्याय करना ही है क्योंकि दोनों की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि "सूरसागर के द्वादश स्कन्धों की भागवत के द्वादश स्कन्धों से वस्तुतः आकार में ही विषमता नहीं है अनुमान में भी उनमें कोई समानता नहीं दिखाई देती। कथावस्तु के विवेचन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी अर्थ में सूरसागर भागवत का अनुवाद नहीं कहा जा सकता और न सम्पूर्ण भागवत की यथातथ्य कथा कहना ही कवि का उद्देश्य जान पड़ता है।"[4]

---

१. राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, प्रथम भाग (पृ० १५८)

२. श्रीमुख चारि श्लोक दए ब्रह्मा को समझाइ।
ब्रह्मा नारद सो कहे, नारद व्यास सुनाइ॥
व्यास कहै सुकदेव सों द्वादस स्कन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहै पदभाषा करि गाइ॥
और भी—
व्यासदेव जब सुकहिं पढ़ायौ सुनि कै सुक सो हृदय बसायौ।
सुक सौं नृपति परीक्षित सुन्यौ तिनि पुनि भली भाँति करि गुन्यौ॥
सूत सौनकादि सौं पुनि कह्यौ विदुर सों मैत्रेय पुनि लह्यौ।
सुनि भागवत सबनि सुख पायो सूरदास सों वरनि सुनायौ॥

३. भागवत और सूरदास—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (हिन्दुस्तानी, अप्रैल १९२४)

४. सूरदास—डॉ० व्रजेश्वर वर्मा

सूरदास जी ने भागवत के दशम् स्कन्ध को छोड़कर अन्य स्कन्धों से तनिक भी सामग्री ग्रहण नहीं की है और उन्होंने पौराणिक तथा ऐतिहासिक आख्यानों की भी पूर्ण उपेक्षा करते हुए भागवत के दार्शनिक पक्ष को भी प्रश्रय नहीं दिया। साथ ही भागवत के दशम स्कन्ध का भी सूरसागर में पूर्णतः आधार नहीं लिया गया क्योंकि उसमें तो कृष्ण की ब्रज और द्वारिका दोनों प्रकार की लीलाओं को समान महत्व दिया गया है तथा कृष्णलीला-सम्बन्धी ९० अध्यायों में से ४९ अध्यायों में ही केवल कृष्ण की ब्रजलीला का वर्णन है और शेष ४१ अध्यायों में द्वारिकालीला अंकित की गई है जबकि सूरसागर में ब्रजलीला को ही विशेष महत्व दिया गया है और उत्तरकालीन लीला से सम्बंधित बहुत ही थोड़े से पद हैं। इतना ही नहीं सूरसागर में पूर्णतः मौलिक, स्वतंत्र और भागवतनिरपेक्ष प्रसंगों के भी बहुत से उदाहरण मिलते हैं तथा राधाकृष्ण मिलन, पनघट प्रस्ताव, बाललीला, मानलीला, राधा की महत्ता, अनन्य भक्ति की प्रधानता आदि में तो कवि ने भागवत से स्वतन्त्र कई नई उद्भावनाएँ भी की हैं अतएव सूरसागर को श्रीमद्भागवत् का अनुवाद मात्र नहीं माना जा सकता और जैसा कि डॉ० मुन्शीराम शर्मा ने लिखा है—"भागवत जहाँ निवृत्तिमूलक साधना का उपदेश करती है, वहाँ सूरसागर की राधाकृष्ण लीला मनुष्यों को प्रवृत्तिमार्ग में लगाने वाली है। अतः सूरसागर भागवत का अक्षरशः अनुवाद नहीं है।"[1]

यह तो हम पहले ही लिख चुके हैं कि भाषा की दृष्टि से सूरदास प्रथम कवि हैं जिन्होंने ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया है। यद्यपि चंदवरदाई तथा कबीर आदि सन्तों की भाषा में भी ब्रजभाषा की झलक दृष्टिगोचर होती है लेकिन भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से सूरदास ही ब्रजभाषा के प्रथम उत्कृष्ट कवि माने जा सकते हैं। सूर ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का अत्यधिक प्रयोग किया है और ब्रजभाषा को सर्वमान्य साहित्यिक भाषा बनाने की चेष्टा की है। सूर की शब्दयोजना सराहनीय है और प्रसंगानुकूल भाषा लिखने में वे पूर्ण सिद्धहस्त थे तथा साथ ही उनकी भाषा सरल, सुबोध और अशक्त होते हुए भी उसमें तत्सम, तद्भव और ठेठ शब्दों के साथ-साथ अन्य प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। जहाँ कि इहवाँ, मोर, तोर, हमार, कीन आदि पूरबी प्रयोगों को भी उन्होंने अपनाया है वहाँ फारसी के खसम, जवाब, खवास, सरताज, दामनगीर आदि बहुत से शब्दों को भी निस्संकोच ग्रहण किया है। पंजाबी का प्यारी जो कि मूल्यवान के अर्थ में प्रयुक्त होता है, गुजराती का वियो, बुन्देलखंडी के गहिबी, सहिबी और प्राकृत के सायर, लोयन, नाह, केहरि आदि शब्द भी उनकी भाषा में दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार ब्रजभाषा को व्यापक बनाने के लिए उन्होंने अन्य सहयोगिनी भाषाओं को अपना कर उचित ही किया है।

सूर की भाषा प्रवाहमयी है और उसमें माधुर्य एवम् प्रसाद गुण ही विशेष रूप से दीख पड़ते हैं केवल कंस-वध या ऐसी एक दो घटनाओं में ही ओजगुण का समावेश है अन्यथा सर्वत्र माधुर्य और प्रसाद की ही अधिकता है। माधुर्यमयी प्रवाहपूर्ण पदावली के साथ-साथ सूर की भाषा में अलंकारों की स्वाभाविक योजना भी हुई है और शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों के उदाहरण प्रचुरता के साथ उपलब्ध होते हैं। 'बिलसत विपन विलास विविध

---

[1] सूर सौरभ—डॉ० मुंशीराम शर्मा (पृ० १६९-१७०)

वर वारिज वदन विकच सचुपाये' जैसी अनुप्रास युक्त पंक्तियों की अधिकता सी है तथा दृष्टिकूट सम्बन्धी पदों में उन्होंने यमक का अत्यधिक प्रयोग किया है और राधा-कृष्ण के सौन्दर्य की रहस्यात्मक व्यंजना में भी उससे सहायता ली है।[1] वस्तुतः अर्थालंकारों के प्रयोग में सूर की वृत्ति अधिक रमी है तथा उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा और प्रतीप नामक सादृश्यमूलक अलंकारों तथा स्मरण और संदेह नामक स्मृतिमूलक अलंकारों के प्रयोगों की बहुलता सी है[2] तथा विभावना जैसे विरोधमूलक अलंकारों का संकर या संसृष्टि भी पाई

---

१. एक उदाहरण देखिए—

हरि सम आनन हरि सम लोचन हरि तह हरिवर आगी।
हरिहि चाहि हरि न सोहावए हरि हरि कए उठि जागी॥

२. कुछ उदाहरण देखिए—

उपमा—

स्याम भए राधा बस ऐसे।
चातक स्वाँति चकोर चंद्र ज्यों चक्रवाक रवि जैसे॥

और भी—

क्रीड़ा करत तमाल तरुन तर स्यामा स्याम उमँगि रस भरिया।
यों लपटाइ रहे उर उर ज्यों मरकत मणिकंचन में जरिया॥

अतिशयोक्ति—

चपला नयन दीरघ अनियारे हाव भाव नाना गति भंग।
वारों मीन कोटि अम्बुज गण खंजन वारत कोटि कुरंग॥

उत्प्रेक्षा—

मुख छवि कहा कहौं बनाइ।
निरखि निसिपति बदन सोभा गयौ गगन दुराइ।
अमृत अलि मनु पिवन आए, आइ रहे लुभाइ॥
निकसि सर तें मीन मानौ लखति कीर।

प्रतीप—

देखि सखी अधरन की लाली।
मणि मरकत ते सुभग कलेवर ऐसे हैं वनमाली।

सन्देह—

गोपी तजि लाज, संग स्याम रंग भूलीं।
पूरन मुखचंद देखि, नैन कोइ फूलीं॥
कैधौं नव जलद स्वाति चातक मन लाए।
किधौं वारि बूँद सीप हृदय हरष पाए॥
रवि छवि कैधौं निहारि, पंकज विकसाने।
किधौं चक्रवाकि निरखि, पतिहीं रतिमाने॥
कैधौं मृगजथ जुरे मुरली धुनि रीझे।
सूरस्याम मुख मंडल छवि के रस भीजे॥

जाती है।[1] परन्तु सूर का प्रिय अलंकार रूपक ही है और उसी की अधिकता भी सूरसागर में दृष्टिगोचर होती है। तुलसी के समान सूर भी सांग रूपक का प्रयोग करने में सिद्धहस्त थे तथा उसकी सहायता से उन्होंने न केवल विभाव-चित्रण किया है अपितु संयोग और वियोग के प्रसंग भी अंकित किए हैं। एक उदाहरण देखिए—

मनौं गिरिवर तैं आवति गंगा।
राजति अति रमनीक राधिका, इहिं विधि अधिक अनूपम अंगा॥
गौर-गात-दुति विमल वारि-निधि, कटि तट त्रिवली तरल तरंगा।
रोमराजि मनु जमुन मिली अध, भँवर परत मानौं भुव भंगा॥
भुज-जुग पुलिन पास मिलि बैठे, चार चक्कवै उरज उतंगा।
मुख लोचन, पद पानि पंकरुह, गुरु गति, मनहुँ मराल विहंगा॥
मनिगन भूषन रुचिर तीर वर, मध्यधार मोतिनमय मंगा।
सूरदास मनु चली सुरसरी, श्री गुपाल सागर सुख संगा॥

सूर ने मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी किया है तथा 'हमारे हरि हारिल की लकरी', 'काकी भूख गई बयारि भखि', 'तुमसों प्रेम कथा की कहिबो है मनो काटिवो घास', 'वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे' जैसे उदाहरणों की अधिकता सी है और इतना ही नहीं कवि ने 'ट' वर्ण को भी प्रसंगानुसार अपनाकर उसमें भी मधुरता ला दी है तथा साथ ही उनकी लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता भी सराहनीय है। निम्नांकित पंक्तियों में ध्वन्यात्मक शब्दों ने सूर की भाषा में सजीवता सी ला दी है—

तरपत नभ डरपत व्रज लोग।
घहरात, तररात, गरगरात, हअरात, झहरात, पररात, माथ नाये॥

वस्तुतः सूर की भाषा में दोषों का अभाव ही है तथा तुकान्त के लिए या छन्दों की गति को नियमानुकूल रखने के हेतु चाहे उन्होंने कुछ शब्दों को विकृत भी कर दिया हो जैसे पंगु को पंग, नवनीत को लवनी, वर्ष को बरीष, गमन को गैन इत्यादि परन्तु सभी प्रकार से विचार करने पर यही विदित होता है कि उनकी भाषा सबल, सजीव और सरस है। यही नहीं उन्होंने प्रायः संयुक्त वर्णों का भी बहिष्कार कर दिया है और यदि प्रसंगानुसार कहीं उनका प्रयोग किया भी है तो स्वरागम करके उनको अमीलित कर दिया है और इसी प्रकार वे पंचम-वर्ण के स्थान में अनुस्वार का ही प्रयोग करते हैं। श्री गुलाबराय ने उचित ही लिखा है "सूर की भाषा अपनी कोमलता और सजीवता के कारण व्रजभाषा का श्रृंगार है।"[2]

---

१. रूपक तथा वक्रोक्ति का संकर—

आयौ घोष बड़ौ व्यापारी।
लादि खेप यह ज्ञानयोग की ब्रज में आइ उतारी॥

यथासंख्या, हेतुत्प्रेक्षा और प्रतीप की संसृष्टि—

भुज भुजंग, सरोज नयननि, बदन विधु जित्यौ लरनि।
रहे विवरत, सलिल, नभ उपमा अपर दुरि डरनि॥

२. हिन्दी काव्य विमर्श—श्री गुलाबराय (पृ० ११३)

यह तो सर्वविदित ही है कि वल्लभाचार्य की आज्ञा से सूर ने भागवत की कथा को पदों में गाया है तथा कहते हैं कि जब सूर ने आचार्य जी को पहले प्रार्थना सम्बन्धी एक दो पद सुनाये तब खीझ कर उन्होंने कहा "सूर ह्वै कै ऐसो घिघियात काहे को है। कछु भगवद्-लीला वर्णन करि"[१] और इसके पश्चात ही उनसे दीक्षा प्राप्त कर उन्होंने कृष्णलीला सम्बन्धी पदों की रचना की है, अतः इस प्रकार श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "ब्रज के समस्त जीवन का सार रस, माता के हृदय का रस, पिता के सुख का रस, प्रियतमा गोपियों के संयोग-वियोग का रस जो सम्पूर्ण कृष्णमय रस है, यही सूरसागर है।"[२] वस्तुतः सूरसागर का दशम-स्कंध जिसमें कि कृष्णलीला अंकित की गई है अपेक्षाकृत अन्य स्कंधों से बहुत अधिक विस्तृत है और जैसा कि डॉ० रामरतन भटनागर तथा श्री वाचस्पति त्रिपाठी ने लिखा है—"समस्त सूरसागर का अध्ययन करने पर कृष्ण का चरित्र हमारे सामने निम्नांकित रूपों में आता है—

(१) अत्यन्त मुखर बालक के रूप में।
(२) चंचल किशोर के रूप में।
(३) किशोर प्रेमी के रूप में।
(४) क्रीड़ा-कौतुक प्रिय सखा के रूप में।
(५) तरुण नायक के रूप में।
(६) अतिप्राकृत अलौकिक सत्ता के रूप में जो अनेक आश्चर्यमय लीलाएँ करती है; जो भक्तों की रक्षा करती है।
(७) गौरव गम्भीर महाराज के रूप में।"[३]

वस्तुत श्रीमद्भागवत की अपेक्षा सूरसागर के कृष्ण का व्यावहारिक रूप अधिक निखरा हुआ है और उसमें उन्हें केवल दास्य भक्ति का आलम्बन न मानकर सख्य, वात्सलय और माधुर्य भावों को महत्व देते हुये उन पर इस कुशलता के साथ मानवीयता आरोपित की गई है कि उनका अतिप्राकृत रूप आच्छादित सा हो जाता है। इस प्रकार सूरसागर के कृष्ण भक्तों के प्रति अनुग्रह न प्रकट कर प्रेम प्रकट करते हैं और उसमें उनका लौकिक रुप ही झलकता है। साथ ही सूर की गोपियों में भी श्रीमद्भागवत की गोपियों की अपेक्षा अधिक वास्तविकता प्रतीत होती है और जहाँ कि भागवत में गोपियों पर अतिप्राकृतिक तत्त्व का ही आरोप किया गया है वहाँ सूरसागर में गोपियों के प्रेम की वृत्तियों का स्वाभाविक चित्रण करते हुए कृष्ण के प्रति उनके प्रेम का विकास इतना अधिक स्वाभाविक है कि उनमें अति-प्राकृतिकता का तनिक भी आभास नहीं होता।

यहाँ सूर की राधा के विषय में भी कुछ कहना असंगत न होगा। सूर की राधा चण्डीदास की राधा की भाँति न तो परकीया ही है और न विद्यापति की राधा की तरह केवल प्रेयसी ही है तथा वह एक साधारण या आसाधारण गोपी भी नहीं हैं अपितु कृष्ण की पत्नी ही है। नायिका भेद के अनुसार वह स्वकीया ही मानी जायगी। सूरदास जी की राधा में

---

[१] सन् १८८३ ई० की मथुरा से प्रकाशित चौरासी वैष्णवों की वार्ता (पृ० २८९)

[२] महाकवि सूरदास—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी (पृ० १०२)

[३] सूर-साहित्य की भूमिका—डॉ० रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी,(पृ० ८६)

परकीया की तीव्र वेदना के स्थान पर स्वकीया की गम्भीर और स्वाभाविक उत्कन्ठा ही दीख पड़ती है तथा डॉ० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में "इस प्रकार सूर के चित्रण में हमें सच्ची प्रेमिका का चित्रण मिल जाता है जो विरह की असत्य ज्वाला में जलती है पर उफ तक नहीं करती, जिसका त्याग हिमाद्रि से भी उच्च है परन्तु नम्रता के कारण झुका हुआ, जिसकी कर्तव्य-भावना प्रस्तर से भी अधिक कठोर है और हृदय नवनीतवत् कोमल, जिसे माखनप्रिय नवनीत चोर कृष्ण ने हँसते-खेलते ही चुरा लिया।"[१] सूरसागर में कैशौर्य की संयत चपलता एवम् यौवन के उद्याम सागर में डूबती हुई राधा का ही चित्रण नहीं किया गया बल्कि अपने भोलेपन से सबका चित्त हरण करने वाली एवम् सहज निर्बाध सरलता से कृष्ण को आवृत्त करने वाली बालिका राधा का भी चित्रण किया गया है और यह सूर की निजी देन तथा निजी मौलिकता है।[२] साथ ही सूर की राधा गृहस्थी के सुख-दुख की अनुभूति करने वाली आर्य-महिला के अत्यन्त उज्ज्वल स्वरूप में भी अंकित हुई है और इसीलिए वे संयोग के सुखद क्षणों में जितना अधिक मुखर, मानवती और चंचल प्रतीत होती हैं वियोगजन्य अवस्था में उतना ही संयत और गम्भीर भी जान पड़ती हैं। इस प्रकार कृष्ण-काव्य की परम्परा में राधा का सर्वाधिक स्वाभाविक और सुन्दर चित्रण सूरदास ने किया है तथा जैसा कि डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने लिखा है "सूर की राधा में विद्यापति, जयदेव, चंडीदास और ब्रह्मवैवर्त पुराण की विशेषताएँ सन्निहित हो गई हैं और उन सबके ऊपर स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता के स्वर्णिमवर्ण से सूर ने अपनी राधा को ऐसा रूप दिया कि उनसे पहले के राधा के सभी चित्र फीके पड़ गए।"[३]

यद्यपि डॉ० मुंशीराम शर्मा समस्त सूर-काव्य को विनय के पद और हरिलीला के पद नामक दो भागों में विभाजित करना ही उपयुक्त समझते हैं[४] लेकिन यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो सूरदास के पदों को विनय के पद, बाल-लीला के पद, सौन्दर्य-वर्णन-सम्बन्धी पद, मुरली विषयक पद और भ्रमर-गीत नामक पाँच भागों में विभाजित करना अधिक युक्तिसंगत है। यों तो उन्होंने ईश्वर के अन्य अवतारों का भी वर्णन किया है और उनकी भक्ति-भावना में संकीर्णता नहीं है क्योंकि राम और कृष्ण तथा शिव और राम में उन्होंने कुछ भी विशेष अन्तर नहीं माना है लेकिन कृष्ण की ही ओर उनका अधिक अनुराग था और उन्हीं का गुणगान भी उन्होंने विस्तार के साथ किया है तथा कृष्ण-भक्ति-शाखा के वे सर्वप्रधान कवि भी कहे जाते

---

१. सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंश लाल शर्मा (पृ० २८१)

२. "उन्होंने जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास की तरह राधिका को प्रथम से ही वयप्राय, यौवनप्राप्त अथवा प्रेयसी के रूप में चित्रित नहीं किया। उन्होंने कुमार-कुमारी के असंकोची मिलन से प्रारम्भ करके स्नेह के अंकुर को अन्त में प्रेम के रूप में परिणत किया है।"
—सूरसाहित्य की भूमिका : डॉ० रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी (पृ० ९१)

३. सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा (पृ० २८५)

४. भारतीय साधना और सूरसाहित्य—डॉ० मुंशीराम शर्मा (पृ० ५२-५९)

हैं। विनय के पदों में वैष्णव सम्प्रदाय की दीनता, मान-मर्षणता, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन और विचारण सात सोपानों का पूर्णरूप से वर्णन किया गया है। सूरदास जी वल्लभाचार्य के शिष्य थे और इतिहास तथा अन्तःसाक्ष्यों से भी उनका शुद्धाद्वैतसिद्धान्तानुयायी एवम् पुष्टि-मार्गीय भक्त होना ही सिद्ध होता है अतः उन्हें प्रतिबिम्बवाद और वृन्दावनी सम्प्रदायों की भक्ति-भावना से प्रभावित समझना उचित नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि वल्लभ सम्प्रदाय की भाँति सूरदास के इष्टदेव श्रीकृष्ण रूप परब्रह्म ही हैं तथा सूरसागर में सख्य भक्ति-भावना ही दृष्टिगोचर होती है क्योंकि वल्लभाचार्य की भक्ति-पद्धति में लीला, कीर्तन आदि की प्रधानता थी और सखाभाव से कृष्ण की उपासना भी की जाती थी। स्मरण रहे कि दास्यभाव की ओर सूर ने उत्साह नहीं प्रकट किया है और सख्य भक्ति का ही दो रूपों में वर्णन किया है जिनमें से प्रथम में तो सूरसागर ही सखाभाव से गाया गया है और भक्त भगवान की प्रत्येक लीला में भाग लेता सा दृष्टिगोचर होता है तथा दूसरे गोप-बालाओं और कृष्ण-प्रसंग में सख्य भक्ति-भावना ही झलकती है। इतना ही नहीं सूर-काव्य में नवधा भक्ति के सम्पूर्ण अंग भी दृष्टि-गोचर होते हैं और डॉ० रामकुमार वर्मा ने तो सूरसागर की कृष्णलीला को आसक्ति के प्रकार भेदों की दृष्टि से विभाजित भी किया है।[१] स्मरण रहे श्रीमद्भागवत और वल्लभ सम्प्रदाय का आधार लेने पर भी सूर की भक्तिभावना में मौलिकता भी दृष्टिगोचर होती है तथा वात्सल्यभाव की भक्ति, माधुर्यभाव की भक्ति और सगुण रहस्यात्मक भक्ति सर्वप्रथम सूर-सागर में ही दीख पड़ती है।

कवियों के लिए बाललीला निश्चय ही वर्णनीय विषय है और स्वयं महात्मा ईसा का भी कथन है—Suffer little children to come unto me for such is the kingdom of Haven." अर्थात् छोटे-छोटे बच्चों को हमारे पास आने दो क्योंकि स्वर्ग का राज्य ही ऐसा है। वास्तव में यदि कहीं सरलता और पवित्रता है तो शिशु में ही है तथा विश्व के सभी प्रसिद्ध कवियों और चित्रकारों ने शैशवलीला का सुन्दर चित्रण किया है और महाकवि होमर के महाकाव्य 'आडेसी' का शिशु यूलियस का वर्णन समीक्षकों द्वारा विशेष रूप से सुन्दर कहा जाता है परन्तु सूर का बालवर्णन विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। स्मरण रहे कि सूरसागर में श्रीकृष्ण के शैशव से लेकर किशोरावस्था तक के असंख्य रूप चित्र हैं जिनमें सूर की काव्यानुभूति, कल्पना, कला-कुशलता और शैली की चमत्कारिता एक साथ इस प्रकार व्यक्त हुई है कि पाठक मंत्र-मुग्ध से हो उठते हैं। श्रीकृष्ण के बालरूप का वर्णन करते समय सूर ने मुख, नेत्र, भुजा, रोमावलि, केशविन्यास और आभूषण का भी मनोहर वर्णन किया है। यों तो वात्सल्यभावना को उद्दीप्त करने के लिए शिशु का सीधा-सादा चित्र भी कुछ कम प्रभावोत्पादक नहीं होता लेकिन महाकवि सूर की सौन्दर्यानुभूति ने प्रकृति के सौन्दर्य-भण्डार से भी अनेक उपकरणों को एकत्र कर अपनी उक्ति को इतना अधिक प्रभावशाली बना दिया है कि यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि उनके मानस का आनन्द ही उन्हें इस प्रकार के चित्र प्रस्तुत करने की प्रेरणा देता है तथा उनकी आनन्दानुभूति पर ही उनकी सौन्दर्यानुभूति आधारित

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा (पृ. ६०१)

है ।[1] आचार्य शुक्ल के शब्दों में "जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्यजीवन का चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया । शैशव से लेकर कौमारावस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं ? उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म बर्णन नहीं है; कवि ने बालकों की अन्तःप्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है और अनेक भावों की सुन्दर स्वाभाविक व्यंजना की है ।"[२] डॉ० इन्द्रनाथ मदान का भी यही विचार है कि "सूर ने बालजीवन के जो चित्र लिए हैं, उनमें केवल बाह्यरूप रेखाओं की ही झलक नहीं है वरन् उनमें बालकों की अन्तःप्रकृति का भी सजीव अंकन हुआ है । इसी अन्तर्दर्शन ने ही उनके चित्रों को इतना आकर्षक बना दिया है ।"[3] यह तो स्पष्ट ही है कि माता अपने पुत्र को अत्यन्त प्यार करती है और पुत्र के सुख की चिन्ता तथा शङ्का ही जननी के मानस की वात्सल्यभावना है । शेक्सपियर ने कहा भी है—

Where love is great, the littest doubts are fears;
Where little fears grow great, great love is there.

सूर ने जननी की मानसिक भावनाओं का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है और हृदय की अव्यक्त भावनाओं को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान करने में उन्हें अद्वितीय सफलता भी मिली है । डॉ० मुंशीराम शर्मा ने उचित ही लिखा है "बाल-छवि और मातृ-हृदय की अनुभूति जितने व्यापक रूप में सूरसागर में अङ्कित हुई है उतनी और किसी कवि के काव्य में नहीं ।"[४] माता के हृदय की कोमल कामनाओं का कितना सुन्दर और स्वाभाविक स्फुरण निम्नांकित पद में हुआ है—

जसुमति मन अभिलाष करै ।
कब मेरौं लाल घुटरुनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै ।।
कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरे मुख वचन भरै ।

---

[१] कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई ।
खेलत कुँवर कनक आँगन में नैन निरखि छबि पाई ।।
कुल्हो लसति सिर स्याम सुंदर कै बहु बिधि सुरँग बनाई ।
मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई ।।
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मनमोहन मुख बगराई ।
मानौ प्रगट कंज पर मंजुल अलि अवली फिरि आई ।।
नील, स्वेत अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल रुनाई ।
सनि गुरु असुर, देवगुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई ।।
दूधदन्तदुति कहि न जाति कछु, अद्भुत उपमा पाई ।
किलकत हँसत दुरति, प्रगटति मनु, घन मैं बिज्जु छटाई ।।
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप-अलप जल पाई ।
घुटरुनि चलत रेनु तन मंडित, सूरदास बलि जाई ।।

[२] सूरदास—पं रामचन्द्र शुक्ल (पृ. १७७)

[३] हिन्दी कलाकार—डॉ० इन्द्रनाथ मदान (पृ. ८८)

[४] भारतीय साधना और सूरसाहित्य—डॉ० मुंशीराम शर्मा (पृ. ४०५)

कब नन्दहिं बाबा कहि बोलै, कब जननीं कहि मोहि ररै ।।
कब मेरौ अँचरा गहि मोहन, जोइ सोइ कहि मोसों झगरै ।
कब धौं तनक-तनक कछु खैहै, अपने करसौं मुखहि भरै ।।
कब हँसि बात कहैगौ मोसौं, जा छबि ते दुख दूरि हरै ।।

वात्सल्य के समान ही शृङ्गार वर्णन में भी सूर को अद्वितीय सफलता मिली है और स्वयं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है "वात्सल्य और शृङ्गार के क्षेत्र का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया, उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आए। उक्त दोनों के प्रवर्तक रतिभाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी साहित्य में शृङ्गार का रस-राजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया है तो सूर ने।"[1] स्मरण रहे कि वल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्यासक्ति और दाम्पत्यासक्ति को अत्यन्त महत्व दिया गया है अतः सूर ने भी स्वाभाविक ही वात्सल्य और दाम्पत्य दोनों ही आसक्तियों की अत्यन्त मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना की है जिनमें कि संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों के अनेक हृदयग्राही चित्र हैं। जिस प्रकार कवि ने कृष्ण के कपोल, मुख, नेत्र, पुतली, अधर, वक्षस्थल पर शोभायमान कमल माला, चंचल दृष्टि लोल कुण्डल आदि का कलापूर्ण वर्णन किया है उसी प्रकार राधा के रूप वर्णन में भी उसे अप्रतिम सफलता प्राप्त हुई है और रूपकातिशयोक्ति वाले पद तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। सूरसागर में संयोग शृङ्गार का व्यापक वर्णन दृष्टिगोचर होता है और कवि ने शृङ्गार-सम्बन्धी अनेक प्रसंगों का उल्लेख किया है तथा कुंजविहार, यमुना-स्नान, जलक्रीड़ा, हिंडोला-विहार और रासलीला आदि जितने भी संयोग शृङ्गार सम्बन्धी क्रीड़ा विधान हो सके थे उन सभी का मनोहर वर्णन किया गया है। स्मरण रहे कि जहाँ कि एक विचारक की दृष्टि में "सूर का शृङ्गार लौकिकता का आधार ग्रहण करके भी सम्पूर्ण रूप से आध्यात्मिक प्रेम के स्वरूप की, उसके विकास और अंतिम परिणति की व्याख्या करने वाला है"[2] वहाँ दूसरे समीक्षक का मत है कि "सूर के शृङ्गार की पृष्ठभूमि यद्यपि आध्यात्मिक है, वे राधा-कृष्ण को प्राकृतिक पुरुष नहीं मानते वरन् वे उनको प्रकृति और पुरुष का रूप मानते हैं, तथापि उनके वर्णन लौकिक हैं।"[3] हमारी दृष्टि में तो सूर के शृङ्गार वर्णन में लौकिकता ही अधिक है और इसीलिए उसमें स्वाभाविकता ही दृष्टिगोचर होती है। सूर का संयोग शृङ्गार वर्णन विद्यापति की भाँति ही है और उसमें मानसिक तन्मयता और शृङ्गारिक भावनाओं की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति भी है तथा शुक्ल जी के शब्दों में "सूर का संयोग शृङ्गार वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम संगीतमय जीवन की एक गहरी धारा है, जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्यमाधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ता।"[4] साथ ही सूर ने अंतःजगत और बाह्यजगत

---

१. भ्रमरगीत-सार—पं० रामचन्द्र शुक्ल (भूमिका, पृ. २-३)
२. भारतीय साधना और सूरसाहित्य—डा० मुंशीराम शर्मा (पृ.३६५)
३. हिन्दी काव्य विमर्श—श्री गुलाबराय (पृ. ९९)
४. सूरदास—पं. रामचन्द्र शुक्ल (पृ. १८२)

दोनों का सौंदर्य वर्णन भी कुशलता के साथ किया है तथा बाह्यजगत का चित्रण करते समय उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों का भी मनोमुग्धकारी वर्णन किया है और जैसा कि डॉ. मुंशीराम शर्मा ने लिखा है; "सूर ने प्रकृति का वर्णन निम्नांकित रूपों में किया है—

(१) प्रकृति का विषयात्मक चित्रण ।
(२) प्रकृति का अलंकृत चित्रण ।
(३) कोमल और भयंकर रूप ।
(४) प्रकृति मानव क्रियाकलाप की पृष्ठभूमि ।
(५) अलंकारों के रूप में प्राकृतिक दृश्यों का प्रयोग ।"[1]

संयोग शृङ्गार की भाँति सूर के विप्रलंभ शृङ्गार में भी व्यापकता एवम् गंभीरता दृष्टिगोचर होती है तथा उनकी प्रेमानुभूति निस्संदेह प्रशंसनीय है और जैसा कि डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "सूरदास के प्रेम में उस प्रकार के प्रेम की गंध भी नहीं है जो प्रिय की संयोगावस्था में उसकी विरह शंका से उत्कंठित और वियोगावस्था में मिलन-लालसा में भरा रहता है ।"[2] सूर का वियोग शृङ्गार वर्णन अत्यन्त हृदयग्राही है और रासलीला के समय कृष्ण के अन्तर्ध्यान होने पर या मान के अवसर पर ही केवल क्षणिक वियोग के कुछ चित्र मिलते हैं अन्यथा श्रीकृष्ण जी जब अक्रूर के साथ मथुरा चले जाते हैं और काफी अरसे के पश्चात् कृष्ण के दूत रूप में उद्धव आकर गोपियों को योग और निर्गुण ब्रह्म-उपासना का उपदेश देने लगते हैं तब इस प्रसंग में गोपियों की उक्तियों में विरह-सागर-सा उमड़ उठा है । सूरसागर में यह प्रसंग भ्रमरगीत के नाम से प्रसिद्ध है और आचार्य शुक्ल के शब्दों में "सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमरगीत है जिसमें गोपियों की वचन-वक्रता अत्यन्त मनोहारिणी है ।"[3] इसमें कोई संदेह नहीं कि कल्पना और भावुकता का मणिकांचन-मय योग सूर के इन पदों में पाया जाता है तथा डॉ० रामकुमार वर्मा ने उचित ही लिखा है "सूरदास ने मानव-हृदय के भीतर जाकर वियोग और करुणा के जितने भाव हो सकते हैं उन्हें अपनी कुशल लेखनी से ऐसे अंकित कर दिए हैं कि वे अमर हो गए हैं । प्रत्येक भाव में ऐसी स्पष्टता है, मानों हम उन्हें अनुभव कर रहे हैं। किसी भाव में आह की ज्वाला है, किसी में वेदना के आँसू और किसी में विदग्धता का कम्पन । हृदय की भावना अनेक रूप से व्यक्त होती है । एक ही भावना का अनेकों बार चित्रण होता है—नये-नये रंगों से—और उनमें हृदय को व्यथित करने की शक्ति बराबर बढ़ती जाती है । ऐसा ज्ञात होता है मानो प्रत्येक पद एक गोपी है जिसमें वियोग की भीषण अग्नि धधक रही हो ।"[4]

यद्यपि भ्रमरगीत का मूल आधार श्रीमद्‌भागवत ही है और उसमें उक्त कथानक 'अध्याय द्वै' के नाम से प्रसिद्ध है परन्तु सूर के भ्रमरगीत में निजी विशेषताएँ भी विद्यमान हैं तथा कई नवीन प्रसंगों की भी उद्‌भावना की गई है । भागवत में तो उद्धव केवल कृष्ण का कुशल समाचार लेकर नन्द, यशोदा एवम् गोप-गोपियों के विरह-शोकनिवृत्ति-हेतु तथा उनका

---

१. **सूरसौरभ—डॉ. मुंशीराम शर्मा (पृ. ४४८)**
२. **हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ. ९९-१००)**
३. **हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं. रामचन्द्र शुक्ल (पृ. १७२)**
४. **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ. रामकुमार वर्मा (पृ. ७६६-७६७)**

कुशल-क्षेम लेने के लिए गोकुल गए थे परन्तु सूर के भ्रमरगीत में शुष्क ज्ञानमार्गी उद्धव को कृष्ण ने विशुद्ध प्रेमी और भक्त बनाने के हेतु गोपियों के पास भेजा था। स्मरण रहे परवर्ती कवियों ने भी अपने-अपने भ्रमरगीत काव्यों में इसी परम्परा का निर्वाह किया है तथा नंददास के भँवरगीत में तो कृष्ण और गोपियों के कुशल समाचार के परस्पर आदान-प्रदान का भाव गौण ही रह गया है तथा ज्ञान और योग मार्ग के ऊपर भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता दिखलाना ही उनका उद्देश्य रहा है। सूर का भ्रमरगीत भागवत और नंददास के भँवरगीत दोनों से ही उत्कृष्ट है और उसमें न केवल वियोग श्रृंगार की प्रधानता है अपितु निर्गुण ब्रह्म एवम् ज्ञान मार्ग का काव्यमय खंडन भी है तथा सूर की गोपियाँ नंददास की गोपिकाओं की भाँति केवल बुद्धिवादिनी ही नहीं हैं और न दार्शनिक तर्कों का उत्तर तर्कों से ही देती हैं बल्कि जैसा कि डॉ० दीनदयालु गुप्त ने लिखा है "सूर की गोपियाँ अपनी विरह-दशा तथा कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति प्रकट करके ज्ञान और योग मार्गों के पक्षपाती उद्धव को प्रेम-भक्ति की ओर खींचती हैं।"[१] वस्तुतः सगुण-निर्गुण का यह प्रसंग भी सूर-काव्य की मौलिकता का द्योतक है तथा निर्गुण पंथियों के बढ़ते हुए प्रवाह को अवरुद्ध करने के लिए भ्रमरगीत के अन्तर्गत इस प्रसंग का समावेश कर इन्होंने उचित ही किया है। उद्धव निर्गुण की उपासना पर जोर देते हैं[२] परन्तु गोपियों के हृदय में नन्दनन्दन के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए स्थान न था और इसीलिए पहले तो वे 'मन नाहीं दस बीस' कहकर ही ऊधौ की उक्तियों का तर्कयुक्त खंडन करती हैं परन्तु जब ऊधौ डटे ही रहे और उन्होंने पुनः निर्गुणोपासना तथा योग-साधना का समर्थन किया तब गोपियों ने भी अपनी तर्कशक्ति से उनकी सभी उक्तियों का खंडन करते हुए कहा कि वे तो प्रत्यक्ष प्रमाण के आगे अन्य सभी प्रमाणों को निम्न कोटि का समझती हैं और उद्धव से भी यही पूँछती हैं कि क्या उन्होंने स्वयं भी उस ब्रह्म को देखा है।[३] स्मरण रहे कि गोपियों ने स्वयं ही अपने नेत्रों से कृष्ण की छवि निहारी थी और उनका सान्निध्य-सुख भी प्राप्त किया था तथा उनके मानस से कभी भी उसकी स्मृति दूर नहीं हो सकती थी[४] अतः जब सुमेरु प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता हो तब उसे तिनके की ओट में छिपाने का प्रयत्न व्यर्थ ही है[५] और इस प्रकार निराकार की नीरसता तथा साकारोपासना की सरसता को गोपियों ने अपने मानसिक अनुभव के रूप में ही उद्धव के सामने प्रस्तुत किया है।[६] उद्धव

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डॉ. दीनदयालु गुप्त (पृ. ८५६)

२. नैन नासिका अग्र हैं तहाँ ब्रह्म कौ बास।
अविनासी बिनसै नहीं, हो सहज ज्योति प्रकास।।

३. रेख न रूप, बरन जाके नहिं ताको हमैं बतावत।
अपनी कहौ, दरस वैसे की तुम कबहूँ हौ पावत।।

४. एहि बेरियाँ बन तें ब्रज आवते।
दूरहिं तें वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते।

५. सुनिहै कथा कौन निर्गुन की रचि पचि बात बनावत।
सगुन सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत।।

६. ऊनो कर्म कियो मातुल बधि मदिरा मत्त प्रमाद।
सूरस्याम एते अवगुन में निर्गुन तें अति स्वाद।।

अपना उपदेश देते ही जा रहे हैं कि बीच ही में कोयल बोल उठती है और गोपियाँ तुरन्त ही उद्धव से कहती हैं कि तुम तो हमें भस्म रमाने को कह रहे हो उधर प्रकृति की दशा क्या है यह भी तो देखो।[१] इस प्रकार सूर ने विरह-वर्णन की परम्परा के अनुकूल प्रकृति-सौन्दर्य और ऋतुओं का उद्दीपन रूप में भी वर्णन किया है परन्तु उन्होंने प्रत्येक चित्र में नवीनता सी उत्पन्न कर दी है। वस्तुतः संयोगावस्था में जो वस्तुएँ सुखदायिनी प्रतीत होती हैं स्वाभाविक ही वियोग में वे ही दुःखदायिनी भी बन जाती हैं[२] और इस प्रकार जो पावस ऋतु किसी समय उन्हें सुख प्रदान करती थी अब विरहोन्माद में वारिद खण्ड ही उन्हें आक्रांता के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं[3] और कभी-कभी वे ही मेघ लोक सुखदायक रूप में भी दीख पड़ते हैं तथा कृष्ण की अपेक्षा वे उन्हें अधिक दयालु एवम् परोपकारी समझती हैं।[४] साथ ही प्रिय के साथ कुछ रूप-साम्य होने के कारण वे ही जलद उन्हें प्रिय लगते हैं[५] और कभी-कभी उनका विरही शरीर ही वर्षा के सदृश्य प्रतीत होता है।[६] इस प्रकार काव्य-कला-कुशलता की दृष्टि से सूर

---

१. ऊधौ कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेश करत हौ भस्म रमावत कानन॥

२. बिन गोपाल बैरिन भईं कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं॥
बृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं॥

३. देखियत चहुँ दिसि तें घन घोरे।
मानौ मत्त मदन के हथियन बल करि बंधन तोरे॥
कारे तन अति चुवत गंड मद, बरसत थोरे थोरे।
रुकत न पवन-महावत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे॥

४. बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि नँदनंदन, गरजि गगन घन छाए॥
कहियत है सुरलोक बसत, सखि सेवक सदा पराए।
चातक कुल की पीर जानिकैं, तेउ तहाँ तें धाए॥
तृन किए हरित हरषि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए॥

५. आजु घनस्याम की अनुहारि।
उतै आए साँवरे से सजनी, देखि रूप की आरि॥
इंद्र धनुष मनो नवल बसन छबि, दामिनि दसन विचारि।
जनु बगपाँति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारि॥
गरजत गगन गिरा गोबिंद की सुनत नयन भरे वारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के बिकल भईं ब्रज नारि॥

६. देखो माई नयनन्ह सों घन हारे।
बिन ही ऋतु बरसत निसि बासर सदा सजल दोउ तारे॥
ऊरध स्वास समीर तेज अति दुख अनेक द्रुम डारे।
बदन सदन करि बसे बचन खग ऋतु पावस के मारे॥

का भ्रमरगीत निस्संदेह उत्कृष्टतम कृति है और जैसा कि श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है "सूर व्यापक भावना के वास्तविक भक्त थे; उन्होंने कृष्ण की संयोग लीलाओं में रस लिया था तो वियोग वार्ता में उससे भी अधिक रसवर्षन किया है।"[1] सूर की रस-व्यंजना भी अनुपम थी और जहाँ कि श्रृंगार, करुण, हास्य तथा वात्सल्य की उन्होंने सफलतापूर्वक अभिव्यंजना की है वहाँ भयानक, वीर और अद्भुत का भी वास्तविकता पूर्ण वर्णन किया है। यद्यपि उन्होंने इन तीन रसों की व्यंजना थोड़े से ही स्थलों पर की है परन्तु ये प्रसंग भी उनकी कुशल अभिव्यक्ति के परिचायक हैं। यद्यपि कुछ विचारकों ने सूर-काव्य पर अश्लीलता का भी दोषारोपण किया है क्योंकि संयोग श्रृंगार का वर्णन करते समय सूर ने कहीं-कहीं रतिवर्णन भी किया है परन्तु विद्यापति पदावली की भाँति सूरसागर में अश्लीलता पूर्ण कुरुचिउत्पादक पदों की अधिकता नहीं है और जैसा कि डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने लिखा है—"उसमें विश्व-विमोहन अनन्त सौन्दर्य तथा मधुर मर्मस्पर्शी प्रेम की व्यापक व्यंजना लोकपक्ष की प्रधानता के साथ भरी हुई है। उसमें सरस श्रृंगारमयी ममता की छटा लोकोत्तर आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना के साथ छहरी हुई है।"[2]

यह तो निर्विवाद ही है कि सूर ने जो कुछ लिखा है राग में लिखा है और श्री शिखरचन्द्र जैन के शब्दों में "संगीत विषयक इस ज्ञान की कसौटी पर जब सूर कसे जाते हैं तब वह बहुत ऊँचे उठ जाते हैं और उनका सच्चा मूल्य आँका जा सकता है। वास्तव में यदि काव्य और संगीत का सच्चा समन्वय कोई प्रकृत रूप से कर सका है तो वह सूर ही है।"[3] सूर-काव्य का अनुशीलन करने पर यही प्रतीत होता है कि सूर संगीतशास्त्र के महान पंडित थे और विभिन्न राग-रागनियों में अपनी पद रचना के अतिरिक्त उन्होंने सूर-सारावली में कई राग-रागनियों का भी उल्लेख किया है[4] तथा इतना ही नहीं विभिन्न रसों के अनुरूप भी उनका

ढरि ढरि बूँद परत कंचुकि पर मिलि अंजन सो कारे।
मानहुँ सिव की पर्नकुटी बिच धारा स्याम मिनारे।।
सुमिरि सुमिरि गरजत निसि बासर अस्रु सलिल के धारे।
बूड़त ब्रजहि सूर को राखै बिनु गिरिवरधर प्यारे।।

[1] महाकवि सूरदास—श्री नंददुलारे वाजपेयी (पृ. १३९)

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास—डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (पृ. २९१-२९२)

[3] सूर : एक अध्ययन—श्री शिखरचन्द्र जैन (पृ. ३७)

[4] ललिता ललित बजाय रिझावत मधुर बीन कर लीने।
जान प्रभात राग पंचम षट मालकोस रस भीने।।
सुर हिंडोल मेघ मालव पुनि सारँग सुर नट जान।
सुर सावंत झपाली ईमन करत कान्हरौ गान।।
ऊच अडाने के सुर सुनियत निपट नायकी लीन।
करत विहार मधुर केदारौ सकल सुरन सुख दीन।।
सोरठ गौड़ मलार सोहावत भैरव ललित बजायौ।
मधुर विभास सुनत बेलावल दंपति अति सुख पायौ।।

प्रयोग किया गया है और इसीलिए शृंगार में ललित, गौरी, बिलास, सूहो और वसंत; करुण में जैतश्री, केदारा, धनाश्री और आसावरी; हास्य में टोड़ी, सोरठ और सारंग तथा शान्त में रामकली को प्रयुक्त किया गया है। आचार्य शुक्ल ने उचित ही लिखा है "सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी। इससे वह संगीत प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है।"[१] साथ ही सूरसागर में छन्दों की विविधता भी दृष्टिगोचर होती है और राग के ही अन्तर्गत कवित्त, छप्पय, रोला और चौपाई आदि छन्द भी उन्होंने अपनाएँ हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के गीतिकाव्य का कलापक्ष और भाव-पक्ष दोनों ही निखरे हुए हैं तथा न केवल उनका भारतीय गीतिकाव्यकारों में ही अद्वितीय स्थान है बल्कि साथ ही उनके द्वारा रचित जितने गीत अभी तक उपलब्ध होते हैं उतने कदाचित ही विश्व की किसी भाषा में शायद ही किसी व्यक्ति ने लिखे हों और वस्तुतः डॉक्टर जी० ए० ग्रियर्सन ने उचित ही लिखा है "Regarding Surdas's place in literature, I commonly add that he justly holds a high one. He excelled in all styles. He could, if occasion requird, be more obscure than the sphyna and in the next verse he as clear as a ray of light. Other poets may have equalled him in some particular quality, but he combined the best qualities of all." अर्थात् मेरी दृष्टि में साहित्य में सूरदास का स्थान बहुत ऊँचा है। वे सब प्रकार की प्रणालियों में अद्वितीय हैं। आवश्यकता प्रतीत होने पर जहाँ कि वे जटिल से जटिल शैली में लिख सकते थे वहाँ साथ ही दूसरे पद में इस प्रकार की प्रणाली ग्रहण करते थे जिसमें कि प्रकाश-रश्मियों की सी सुस्पष्टता हो। चाहे किसी एकमात्र विशिष्ट गुण में अन्य कवि उनकी समकक्षता कर भी लें लेकिन सूरदास में तो अन्य समस्त कवियों के सर्वोत्कृष्ट गुण एक साथ दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार "सूरदास वास्तव में हिन्दी साहित्य गगन के सूर्य हैं जो पाठकों और श्रोताओं के मन-मन्दिर को चिर-काल तक प्रकाशित करते रहेंगे।"[२]

(नवम्बर १९५४)

देवगिरि देसाक देव पुनि गौरी श्री सुखबास।
जैतश्री अरु पूर्वी टोड़ी आसावरि सुखरास॥
रामकली गुनकली केतकी सुर सुघराई गाये।
जै जै वंती जगतमोहिनी सुर सौं बीन बजाये॥

[१] सूरदास—पं. रामचन्द्र शुक्ल (पृ. २००)

[२] सूरनिर्णय—श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल (पृ. ३३८)

महाकवि पद्माकर की भाषा

एक समालोचक का कथन है कि कविता वही है, जिसमें सर्वोत्तम शब्दों का न्यास हो ("Poetry is the best words in their best order") अर्थात् सुन्दर शब्दों को सुन्दर क्रम से रखना ही कविता है। भाषा के साथ-साथ भावों का भी सम्मिश्रण आवश्यक है। भाव और भाषा का अटूट सम्बन्ध है। यह तो सर्वमान्य-सा है कि भावहीन कविता को हम कविता नहीं कहेंगे, परन्तु कोरे विचारों को प्रकट करने से ही काम नहीं चलता। उन विचारों को जब तक सुन्दर शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जायगा तब तक कुछ भी आनन्द न आएगा। भाव या मनोविकार तो प्रायः सभी के हृदयों में उठा करते हैं परन्तु उनको प्रकट करने के लिए भाषा का सहारा लेना पड़ता है और यदि भाषा बलवती न हुई तो सारा खेल बिगड़ जायगा, सारे करे-कराये पर पानी फिर जायगा। अतएव इस दृष्टिकोण से भाषा का महत्व भावों से कुछ कम नहीं ठहरता।

संस्कृत में इस प्रकार की एक आख्यायिका भी प्रचलित है। एक सूखे हुए पेड़ को देखकर दो भिन्न-भिन्न कवियों ने अपने भिन्न-भिन्न उद्गार प्रकट किये। एक ने कहा—

"शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे"

और दूसरे ने कहा—

"नीरस तरुरिह विलसति पुरतः"

एक ही वस्तु का वर्णन दो भिन्न-भिन्न सूक्तियों में किया गया है; पर दोनों में कितना अन्तर है। जो रस दूसरे कवि की वाणी में है, वह पहले की वाणी में नहीं।

अब हम संक्षेप में उत्तम भाषा के गुणों पर विचार करें। उत्तम भाषा का सर्वप्रधान गुण तो यह है कि लेखक या कवि उसके द्वारा अपने भावों को पूर्णतः प्रकट कर सके। सुन्दर-सुन्दर शब्दों को क्रमानुसार और आवश्यकतानुसार गूंथकर एक ऐसी माला प्रस्तुत करना कि जिससे दिग्दिगन्त सौरभित हो उठे कवि की एक महान् विशेषता है। प्रायः प्रत्येक शब्द के पर्याय-वाची शब्द होते हैं; पर किस शब्द का किसी स्थान पर प्रयोग किया जाय, यह कुशल शिल्पी ही जानता है। भाषा वही उत्तम है, जिसमें भावों को प्रकट कर सकने की पूर्ण क्षमता हो। मतलब की बात बहुत थोड़े शब्दों में प्रकट कर देना भी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। भाषा में सरलता भी चाहिए, दुरूह शब्दों का उपयोग करना ज्ञान का द्योतक नहीं, बल्कि उपहासास्पद है। उत्तम भाषा में अलंकारों का प्रादुर्भाव आप ही आप होता है। उन्हें लाने के लिए लेखक या कवि को कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इन सब गुणों के साथ-साथ भाषा में मधुरता भी चाहिए। जब कर्ण-कुहरों में मधुर भाषा की पीयूष-वृष्टि होने लगती है, तब आनन्दातिरेक से मानस-पयोधि उमड़ उठता है। पर हाँ, वीर रस का वर्णन करते समय उसके अनुरूप शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए, जिससे भाषा में ओज का आविर्भाव हो सके।

महाकवि पद्माकर का रीतिकालीन कवियों में विशिष्ट स्थान है। पद्माकर की

कविता का प्रचार जन-साधारण में बहुत अधिक है। पद्माकर जी ने ब्रज-भाषा में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं और ब्रजभाषा की जो श्री-वृद्धि की है वह किसी से छिपी नहीं है। अब हम इनकी भाषा को भाषा की कसौटी द्वारा परखने का दुस्साहस करेंगे।

यों तो रीतिकाल में हमें ब्रजभाषा का परिमार्जित रूप अवश्य प्राप्त होता है; पर साथ ही उसमें व्याकरण की अशुद्धियाँ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। वाक्य-रचना तो बहुत थोड़े-से कवियों की सुव्यवस्थित पाई जाती है। भाषा की गड़बड़ी का प्रधान कारण ब्रज और अवधी का सम्मिश्रित रूप काव्य में प्रकट करना भी है। यह हम अवश्य मानते हैं कि एक सामान्य साहित्यिक भाषा अपने किसी प्रदेश-विशेष के प्रयोगों तक ही सीमित नहीं रह सकती, उसमें दूसरे प्रदेश की भाषाओं का प्रभाव अवश्य पड़ेगा, पर कम-से-कम ढाँचे में तो परिवर्तन न होना चाहिए। रीतिकालीन ग्रन्थों पर प्रायः इसीलिए अवधी की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। मिश्रित भाषा के विषय में दास जी का मत है—

ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यो पै अति प्रगट जु होइ।।
ब्रज, मागधी मिलै अगर नाग यवन भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै, षट विधि कहत बखानि।।

और अपने इस कथन के प्रमाण में दास जी कहते हैं कि तुलसी और गंग तक ने जो कि कवियों के शिरोमणि गिने जाते हैं ऐसी भाषा का उपयोग किया है—

तुलसी गङ्ग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार।।

इस प्रकार से ब्रजभाषा में दूसरी भाषाओं के शब्द तो आये ही पर साथ ही दूसरी भाषा के कारक-चिन्हों और क्रिया के रूपों का भी कवियों ने स्वेच्छानुसार व्यवहार किया। उदाहरणार्थ 'करना' के भूतकाल के लिए कवियों ने 'कियो', 'कीनो', 'कर्‌यो', 'कीन' बलिक 'किय' तक का उपयोग किया। इससे भाषा को वह स्थिरता न प्राप्त हो सकी जो कि एक साहित्यिक भाषा के लिए आवश्यक थी।

महाकवि पद्माकर उत्तम भाषा का प्रयोग करने में सिद्धहस्त थे। उन्होंने भावों के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग किया है और इसीलिए कहीं-कहीं उन्होंने बड़े सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं। सरल, मधुर और प्रचलित शब्दों का चयन वे बड़ी ही बुद्धिमत्ता से करते थे। वाक्यविन्यास भी सहज और आकर्षक होता था। आचार्य शुक्ल ने पद्माकर की भाषा के सम्बन्ध में कहा है—"भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इनका अधिकार दिखाई पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर, पदावली द्वारा एक सजीव भाव भरी प्रेममूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रास की मिलित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीरदर्प के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशान्त सरोवर के समान स्थिर और गंभीर होकर मनुष्य जीवन की विश्रान्ति की छाया दिखाती है। सारांश यह कि इनकी भाषा में वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदास जी में दिखाई पड़ती है।"[1]

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृष्ठ ३०९-३१०)

पद्माकर ने लाक्षणिक शब्दों का भी प्रयोग किया है और अव्यक्त होने वाली कई भावनाओं को ऐसा मूर्तिमान रूप दिया है कि उनकी लाक्षणिकता की प्रशंसा मुक्तकंठ से करनी ही पड़ती हैं। इनके वर्णनात्मक कवित्तों में अनुप्रास की दीर्घ शृंखला भी दृष्टिगोचर होती है। वास्तव में पद्माकर की भाषा दीपमालिका के समान समुज्ज्वल और जगमगाती हुई है। कुछ उदाहरण देखिए:—

आरस सों आरत, सँभारत न सीस पट,
गजब गुजारति गरीबन की धार पर।
कहै पद्माकर सुरा सों सरसार तैसे,
विथुरि बिराजै बार हीरन के हार पर॥
छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर,
भोर उठि आई केलि मंदिर के द्वार पर।
एक पग भीतर औ एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज, एक कर है किंवार पर॥

मधुर कल्पना और उत्तम भाषा के साथ-साथ भावुकता का मिश्रण पद्माकर की काव्य-कुशलता का द्योतक है। एक छन्द और देखिए:—

पाती लिखी सुमुखि सुजान पिय गोबिंद को,
श्रीयुत सलोने स्याम सुखनि सने रहौ।
कहै पद्माकर तिहारी छेम छिन-छिन,
चाहियतु प्यारे मन मुदित घने रहौ॥
बिनती इती है कै हमसेहू हमें तो निज,
पायन की पूरी परिचारिका बनै रहौ।
याही में मगन मनमोहन हमारो मन,
लगनि लगाय लाल मगन बनै रहौ॥

शब्द-चयन इस छन्द की एक खास विशेषता है। वसंत में बेचारी विरहिणी ब्रजांगनाओं की क्या दशा होती है, यह पद्माकर से सुनिए:—

ए ब्रजचंद चलौ किन वा ब्रज लूकैं बसन्त की ऊकन लागीं;
त्यों पद्माकर पेखौ पलासन पावक सी मनौ फूकन लागीं।
वै ब्रजवारी बिचारी बधू बनि बावरी लौं हिये हूकन लागीं;
कारी कुरूप कसाइनै ऐसी कुहू कुहू क्वैलियाँ कूकन लागीं।

नीर और क्षीर के समान भाषा और भाव का यहाँ इतना सुन्दर सम्मिश्रण है कि देखते ही बनता है। दोनों संयुक्त होकर इस प्रकार से एक हो गये हैं कि अलग हो ही नहीं सकते और विलग करने पर तो सारा आनन्द ही फीका पड़ जायगा।

अब पद्माकर का एक ओज-पूर्ण उदाहरण देखिए:—

तीखे तेगवाही जे सिपाही चढ़ैं घोड़न पै,
स्याही चढ़ैं अमित अरिंदन की ऐल पै।

कहै पद्माकर निसान चढ़ै हाथिन पै,
धूरिधार चढ़ै पाक सासन के सैल पै॥
साजि चतुरंग चमू जंग जीतिबे के हेतु,
हिम्मत बहादुर चढ़त फर फैल पै।
लाली चढ़ै मुख पै, बहाली चढ़ै बाहन पै,
काली चढ़ै सिंह पै, कपाली चढ़ै बैल पै॥

उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा पद्माकर का भाषा-सौन्दर्य पूर्णतः प्रकट हो रहा है और ज्ञात होता है कि पद्माकर का ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार था। अभी-अभी हमने रीतिकालीन ब्रजभाषा पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि ब्रजभाषा में अवधी तथा कई दूसरी भाषाओं के शब्दों का समावेश हुआ है। साथ ही कारक चिन्हों और क्रिया के रूपों में भी परिवर्तन हुआ है। इस कवि-निरंकुशता के फलस्वरूप भाषा कहीं-कहीं इतनी अधिक सदोष हो गई है कि कुछ कहते नहीं बनता। इसके अतिरिक्त अनुप्रास की प्रवृत्ति द्वारा भी भाषा में दोषों का आविर्भाव हुआ है। महाकवि पद्माकर भी इस प्रवृत्ति से बच नहीं सके। शब्द-चमत्कार प्रकट करने की प्रवृत्ति उनमें भी विद्यमान थी और इसीलिए कहीं-कहीं उनकी भाषा सदोष हो गई है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे भाषा के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। अनुचित अनुप्रासों के बोझ से भाषा को शिथिल कर देना पद्माकर जैसे सत्कवि के लिए उचित न था। कुछ उदाहरण देखिए :—

१— गूँदि गेंदे गुलगज गौहरन गंजगुल,
गुपत गुलाबी गुल गजरे गुलाब पास;
खासे खस बीजन सु पौन-पौन खाने खुले,
खसके खजाने खसखाने खूब खास-खास।

२— तानकी तरंग तरुनापन तरनि तेज,
तेल तूल तरुनि तमोल ताकियत है;

३— कहै पद्माकर फराकत फरस बन्द,
फहरि फुहारन की फरस फबी है फाब;
गोल गुल गादी गुल गिलमैं गुलाब गुल,
गजक गुलाबी गुलके गिंदुक गुले गुलाब।

४— काल की कुटुंबनि कला है कुल्लि कालिका की,
कहर की कुन्त की नजरि कछवाहे की;
ज्वाला की जलन सी जलाक जंग जालन की,
जोर की जमा है जोम जुलुम जिलाहे की।

५— गुल गुली गिल में गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चाँदनी हैं चिक हैं चिरागन की माला हैं;
कहै पद्माकर त्यों गजक गिजा है सजी,
सेज है सुराही है सुरा है और प्याला है।

६— झुकि-झुकि, झूमि-झूमि, झिल-झिल, झेल-झेल,
झरहरी झाँपने मैं झमकि-झमकि उठै।
७— देखौ दिच्छ दिच्छन प्रतच्छ निज पच्छिन के,
लच्छन समच्छ भय भच्छिबो करत है।

इस प्रकार के बहुत से उदाहरण पद्माकर की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' में तो पद्माकर ने इनकी अति-सी कर दी है। कोई भी सहृदय इस प्रकार से अनुप्रासों के फेर में पड़कर भाषा को विकृत करना पसन्द न करेगा।

पद्माकर की भाषा में दूसरा दोष उनकी निरंकुशता के फलस्वरूप आ गया है। यों तो प्रायः प्राचीन सभी कवियों ने शब्दों के रूपों में मनमाना परिवर्त्तन कर दिया है; पर इतना अधिक नहीं। पद्माकर ने तो शब्दों को बहुत ही अधिक तोड़ा-मरोड़ा है, जिससे कहीं-कहीं तो अर्थ का अनर्थ भी हो गया है। कुछ उदारहण देखिए :—

१— कहै पद्माकर गयल मैं विश्राम सों,
सरोजनेके दामसो जो सरद **समन्त** मैं।
२— कहै पद्माकर परागन में पौन हूँ मैं,
पानन मैं पीक मैं पलाशन **पगंत** है।
३— ग्वाल सो बोलि गोपाल कह्यो सु,
गुवालिनि पै मनो मोहिनी डारी।
४— कहै पद्माकर सुनौ तौ हाल हामी भरौ,
लिखौ कहौ लैकै कहूँ कागद कलम **दोत**।
५— जामें वही वही फिरी वही,
चित्र औ **गुपित्र** की।
६— त्यों पद्माकर गावतीं गीत रिझावती भाव बताय **नबीने**।
छोटी-सी छाती छुटी अलकै अति बैस की छोटी बड़ी परबीने।
७— रूप के गुमान **तिल उत्तमा** न आनै उर,
आनन निकाई पाई चन्द्र किरनै नहीं।
८— कहै पद्माकर उजागर गोविन्द जो पै,
चूकिगे कहूँ तो एतो रोष **रागियतु** है।
९— नीर के तीर उसीर के मन्दिर धीर समीर जुड़ावत **जीरे**;
ग्रीषम की क्यों गनै गरमी गजगौहर चाह गुलाब **गँभीरे**।
१०— ये अलि या बलि के अधरान मैं आनि चढ़ी कछू **माधुरई** सी।
ज्यों कुच त्यों ही नितंब चढ़े कछु, ज्यों ही नितंब त्यों **चातुराई** सी॥
११— धोय गई केसर कपोल कुच **गोलन** की,
पीक लीक अधर **अमोलन** लगाई है।

१२— इक मीन बिचारयो बिंध्यो **बनसी**,
पुनि जाल के जाय दुमाले पर्‌यो।
१३— कहै पद्‌माकर सुपास ही गुलाब पास,
खासे खसखास **खसबोइन** के ढेरे हैं,
त्यों गुलाब नीरन सों हीरन के हौज भरे,
दंपति मिलाय हित आरती **उजेरे** हैं।
१४— रति बिपरीत रची दंपति **गुपति** अति,
मेरे जान मानि भय मनमथ नेजे तें;
कहै पद्‌माकर पगी यो रसरंग जामैं,
खुलिगे सुअंग सब **रंगन अमेजे** तें।
१५— या विधि साँवरे रावरे की न मिलै मरजी न मजा न **मजाखैं**।
१६— पंचई मुदिता **षष्टई** है अनुसयना सोय।
१७— राधिका की **कहवत** कहि दीजो मोहन सों,
रसिक शिरोमणि कहाय धौं कहा कियो।
१८— छाय बिछाय पुरनै के पातन लेटती चंदन की **चवकी** में।
१९— उठे **अकुरे** प्रेम के, मानहु हेम के खेत,
२०— बावरी लौं बूझति बिलोकति कहाँ तू बीर,
जानै कहा कोऊ प्रेम प्रेम **हटवारे** की।
२१— श्रवण चित्र शुभ स्वप्न मैं पुनि **परतच्छ** निहारि!
२२— करहुँ कहा **पीकन** लगे, पिक पापी चहुँ ओर।

उपर्युक्त उद्धृत अंशों द्वारा स्पष्ट है कि पद्माकर की कविता में शब्द कितने बेढंगे तरीके से तोड़े-मरोड़े गये हैं। हिमन्त के अनुप्रास के हेतु ‘समय’ को ‘समन्त’ कर दिया गया है, ‘होत’ के अनुप्रास के लिए ‘दावात’ को ‘दोत’ बना दिया गया और चरित्र की तुक बैठालने के लिए चित्र औ गुपित्र की रचना की गई। इसी प्रकार माधुरी-मधुराई के लिए ‘माधुरई’ चातुरी-चतुराई के लिए ‘चातुरई’, गुप्त के लिए ‘गुपति’, ‘षष्ट के लिए ‘षष्टई’ और रंगामेजी के लिए रंगनअमेजे का प्रयोग किया गया है। खसबोयन सरीखे फारसी शब्दों को भी पद्माकर ने स्वीकार किया है। पद्माकर भाषा-मर्मज्ञ थे और कहीं-कहीं तो उन्होंने भाषा-सौन्दर्य के सुन्दर-सुन्दर चित्र भी प्रस्तुत किये हैं; पर उनकी कविता में ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं है जो कि हमारे इस कथन के अपवाद-स्वरूप हैं। यदि पद्माकर की कविता में ये दोष न होते तो निश्चय ही वह सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती थी; पर फिर भी उन्होंने हिन्दी की जो सेवा की है, वह प्रशंसनीय है और व्रजभाषा के कवियों में तो उनका आदरणीय स्थान है ही।

(विशाल भारत, नवम्बर १९४९)

प्रियप्रवास में प्रकृति-चित्रण

वस्तुतः डॉ० रामशकर शुक्ल 'रसाल' ने उचित ही लिखा है कि "काव्य का सम्बन्ध यदि रह सकता है और हो सकता है तो प्रकृति से। काव्य में या तो बाह्य प्रकृति का चित्रण रहेगा अथवा मानव प्रकृति का"[1] अतः प्रत्येक प्रबंधकार से यह आशा की जाती है कि वह न केवल अपनी अंतर्दृष्टि की सूक्ष्मता का परिचय देता हुआ प्रबंधगत पात्रों की शील-व्यंजना व उनकी अंतः प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराए अपितु उसे प्रकृति के विविध रूपों के साथ मानव हृदय के रागात्मक सम्बन्धों का भी विस्तृत विवरण देना चाहिए। स्मरण रहे कि संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने तो बहुत पहले से ही महाकाव्यों के लक्षण निर्धारित करते हुए उनमें बाह्य-दृश्य चित्रण की अनिवार्यता प्रामाणिक मानकर प्रसंगानुसार ऋतु वर्णन, प्राकृतिक दृश्यों का चित्रांकन, चंद्रोदय एवं सूर्योदय आदि के काव्यात्मक अभिव्यंजन को प्राणभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है।[2] यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि संस्कृत काव्यों में तो प्रकृति-चित्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता ही है और भक्ति-कालीन हिन्दी कवियों ने भी अपनी बाह्य दृश्योद्घाटिनी शक्ति का परिचय भी दिया है लेकिन रीतिकालीन कवियों के नायक और

---

१. 'भोजराज' खण्डकाव्य की भूमिका (पृ० १)

२. "जिस पवित्र आर्यभूमि की पुण्य-सलिला जान्हवी, यमुना, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, गोमती, क्षिप्रा आदि नदियाँ शस्य-श्यामल मैदानों, रमणीय उपत्यकाओं, हरी-भरी घाटियों, वन-काननों में बहती हुई आनन्द-ऊर्म्मियों के मंजुल, शीतल,कल-कल गानों से दिशाओं को गुंजारित करती हुई, उज्जवल गाढ़ नीलाकाश के कानों में प्रेम और आनन्द के संदेश कहती हुई, सहस्त्रों कोसों से आकर रत्नाकर की गोद में लिपट जाती है; विश्व के गौरव-मुकुट रजत तुषार-मंदित अभ्रंकष हिमवान् की चोटियों से रंगों की क्रीड़ा करते उदित हुए जाज्वल्यमान स्वर्ण-कांतिपुंज प्रेमारुण सूर्य की रश्मियाँ जिसके आँगन में सबसे पहले ढलती हैं; सुधा-शीतल स्निग्ध-शान्त चन्द्रामृत से जिस भगवति का अंग-मज्जन होता है; पावस-यौवन में उल्लसित, निर्झर रूप में जहाँ की सुललित गिरिमालाओं के वक्षस्थल से वात्सल्य की मधु-दुग्ध धारा फूट पड़ती है—आनन्द-तरंगों से हिल्लोलित प्रेम-विह्वल रत्नाकर जिस कल्याणी के चरणों पर लोट-पोट होते नहीं अघाता; जहाँ के शीतल मंद और सुगंधित पवन से लहराते, दृष्टि को थका देने वाले, नील-धूमिल गिरिमाला युक्त क्षितिज तक फैले, हरे-भरे खेत, चिलचिलाती उज्जवल धूप, मुक्त आनन्द नीलाकाश, वर्षा-वैभव, वसन्त-विकास आदि समस्त विश्व के लोभी नेत्रों का कल्याण और सौभाग्य बने रहते हैं; ऐसी श्री, सुषमा, सौंदर्य, स्वास्थ्य और स्वर्ण से ऐश्वर्यशालिनी देव-दुर्लभा, आनन्दधाम रत्नगर्भा शस्य श्यामला भारत वसुंधरा की स्नेहमयी गोद में खेलने वाले कवियों का हृदय, क्यों न उसकी ललित रूप-माधुरी से आप्लावित होकर नाच उठेगा।"

—कविता में प्रकृति-चित्रण : डॉ. रामेश्वरलाल खंडेलवाल (पृ० ७२-७३)

नायिकाओं तक ही सीमित रह कर उन्हीं के हाव-भाव, भृकुटि-संचालन आदि के चित्रण में अपनी प्रतिभा का उपयोग करने के फलस्वरूप प्रकृति अपना स्वतंत्र अस्तित्व तज कर मानव-व्यापारों से तादात्म्य स्थापित करती हुई केवल उद्दीपन रूप में ही चित्रित की गई। यद्यपि भारतेन्दु ने प्रकृति-चित्रण की ओर अपना ध्यान अवश्य दिया लेकिन उनकी कृतियों में भी मानवेतर प्रकृति का चित्रण विशेष रूप से नहीं दीख पड़ता तथा उन्होंने केवल परम्परा-पालन मात्र ही किया है और कालांतर में तो द्विवेदी-युगीन कवियों ने ही अपनी काव्य-कृतियों में इस परम्परानुमोदित प्रकृति-चित्रण की अपेक्षा प्रकृति को विविध रूपों में चित्रित करना प्रारंभ किया। चूँकि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत कवियों की कृतियों से उदाहरण दे कर स्वतंत्र प्रकृति-चित्रण के लिए अत्यधिक आग्रह किया था अतः कई हिन्दी कवि तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकृति के आलम्बन रूप का चित्रण भी करने लगे लेकिन चूँकि हरिऔध जी ने ही सर्वप्रथम एक महाकाव्य के अन्तर्गत प्रकृति का विशद एवं सजीव वर्णन किया है अतः जैसा कि डॉ. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी का कथन है "नवयुग खड़ी हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में मानवेतर प्रकृति के चित्रण और निरूपण की दृष्टि से 'हरिऔध' अग्रदूत (Pionner) समझे जाएँगे; और प्रियप्रवास की गणना नवयुग हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मील-स्तम्भ (mile-post) के रूप में होगी।"[१] स्वयं हरिऔध जी भी प्रकृति से अत्यधिक प्रभावित हैं और नैसर्गिक प्रकृति के प्रति उनका यह अविचल अनुराग उनकी 'आत्मकथा' की निम्नांकित पंक्तियों में भी झलक उठता है; देखिए—"घन पटल का वर्ण-वैचित्र्य, शस्य श्यामला धरिणी, पावस की प्रमोदमयी सुषमा, ऋतु परिवर्तनजनित प्रवाह, कोकिल का कलरव, पक्षिकुल का कल निनाद, शरद ऋतु की शोभा, दिशाओं की समुज्ज्वलता, अनन्त प्राकृतिक सौंदर्य, नाना प्रकार के चित्र, विविध वाद्य, मधुर गान, ज्योत्सना, रंजित यामिनी, तारक मंडित नील नभोमंडल, सुचित्रित विहंगावली, पूर्णिमा का अखिल कलापूर्ण कलाधर, मनोमुग्धकारी दृश्यावली, सुसज्जित रम्य उद्यान, ललित लतिका, मनोरम पुष्पचयन मेरे आनन्द की प्रिय सामग्री हैं। किन्तु पावस की सरस छवि, वसन्त की विचित्र शोभा, कोकिल का कुहुक और कलकंठ का मधुर गान, वह भी भावमयी कवितावलित मुझको उन्मत्त प्राय कर देते हैं।" संभवतः यही कारण है कि 'प्रियप्रवास' में न केवल प्रकृति विविध रूपों में अंकित की गयी है अपितु उसके (प्रकृति के) साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में भी सफलता मिली है। चूँकि प्रियप्रवास का घटनास्थल ब्रजभूमि है, जहाँ कि कलिन्दजा तट, कदम्ब एवं करील कुंजों से युक्त विशाल सघन वन विविध भाँति के पशु-पक्षी, नाना प्रकार के सुमन एवं पर्वत मालाएँ आदि रम्य स्थल हैं अतः स्वाभाविक ही कवि अपनी लेखनी से इस नैसार्गिक सौंदर्य का मनोमुग्धकारी चित्रण अंकित कर सका है और इतना ही नहीं सत्रह सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य के ग्यारह सर्गों का आरम्भ भी प्रकृति वर्णन से ही हुआ है। हाँ यह अवश्य है कि कथावस्तु में 'विरह वेदना का निवेदन' ही विशेष रूप से होने के कारण कवि ने प्रकृति की सहज प्रफुल्लता और उसका मनोहर रूप न अंकित कर प्राकृतिक दृश्यों का कलापूर्ण एवं भावातमक चित्रण ही विशेष रूप से किया है।

---

[१] महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास—डॉ. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी (पृ. ९७-९८)

जैसा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है "अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है। कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूप में, कहीं रूखे बेडौल या कर्कश रूप में; कहीं मत्त, विशाल या विचित्र रूप में; कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में"[1] अतः स्वाभाविक ही हिंदी कविता में प्रकृति चित्रण के विविध रूपों की झाँकी दीख पड़ती है।[2] इस प्रकार प्रिय-प्रवासकार ने भी अपनी काव्य-कृति में प्रसंगानुसार प्रकृति-चित्रण की इन विविध प्रणालियों को अपनाने का प्रयास किया है। स्मरण रहे प्रकृति-चित्रण के विविध रूपों में से आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण को प्रथम स्थान दिया जाता है क्योंकि प्रारंभ में कवियों की दृष्टि इस प्रकार के चित्रण की ओर ही विशेष रूप से रही है। वस्तुतः आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण करते समय वह बहुधा साधन न बनकर साध्य बन जाती है और कवि अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षणी शक्ति द्वारा प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों के प्रति आकृष्ट होकर प्राकृतिक वस्तुओं के अंग प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उसके आस-पास की परिस्थितियों का परस्पर संश्लिष्ट वर्णन करता है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित करते समय केवल उसके रम्य रूप की ही प्रशंसा न की जानी चाहिए अपितु उसके भव्य और भयंकर रूपों का भी विशद वर्णन होना चाहिए। आचार्य शुक्ल ने प्रकृति के आलम्बन रूप का चित्रण करने की दो प्रणालियाँ अर्थग्रहण और बिम्बग्रहण नामक मानी हैं जिनमें से पहली में प्रकृति के नाना पदार्थों की केवल नामावली ही रहती है और किसी भी प्रकार का चित्र प्रस्तुत नहीं किया तथा दूसरी में नाम-परिगणन न कर प्रकृति का एक भव्य एवं पूर्ण चित्र-सा अंकित कर दिया जाता है। प्रियप्रवासकार ने इन दोनों प्रणालियों का सफलता के साथ प्रयोग किया है और इस प्रकार उसने नवम् सर्ग में गोवर्द्धन गिरि की प्राकृतिक छटा का वर्णन करते समय जम्बु, रसाल, कदम्ब, निम्ब, फालसा, निम्बू, आँवला, लीची, दाड़िम, नारिकेल, इमली, शिंशपा, इंगुदी, नारंगी, अमरूद, बिल्व, बदरी, सागौन, ताल, तमाल, केला, शाल्मली, अशोक, पारिजात, मधूक, पीपल, वट, पनस आदि वृक्षों के नाम गिनाकर अर्थग्रहण प्रणाली ही अपनायी है लेकिन कवि ने यह नहीं सोचा कि कृष्ण के समय ये वृक्ष वृज में होंगे भी या नहीं कारण कि सागौन पहाड़ी वृक्ष है और नारियल पूर्वी-प्रदेशों में उत्पन्न होता है; इतना ही नहीं कवि ने वृंदावन के विशिष्ट वृक्ष करील का नाम तक नहीं लिया। हर्ष की बात है कि प्रियप्रवास में इस प्रकार के वर्णन न्यून संख्या में ही हैं और कवि ने बिम्बात्मक प्रणाली को भी अपनाया है तथा कहीं तो उसने प्रकृति के सौम्य रूप का मनोमुग्धकारी वर्णन किया है[3] और कहीं उसके उग्र रूप का भी दर्शन कराया

---

१. चिन्तामणि—आचार्य रामचंद्र शुक्ल (पृ. १४९)

२. विशेष अध्ययन के लिए देखिए—लेखक की 'अनुभूति और अध्ययन' नामक पुस्तक (पृ. २१२-२४५)

३. देखिए—

सरसता लय सुन्दरता सने।
मुकुर-मंजुल से तरु-पुंज थे।
विपिन में सर थे बहु सोहते।
सलिल से लसते मन मोहते॥

है ।[1] साथ ही कवि ने अनेक वृक्षों, लताओं, बेलों, झाड़ियों, सरोवरों, पक्षियों और मेघों का भी

लसित थीं रस-सिंचित वीचियाँ ।
सर समूह मनोरम अंक में ।
प्रकृति के कर थे लिखते मनों ।
कल-कथा जल केलि कलाप की ।।
द्युतिमती दिननायक दीप्ति से ।
स द्युति वारि सरोवर का बना ।
अति-अतुत्तम कांति निकेत था ।
कुलिश सा कल-उज्जवल काँच सा ।।
परम-स्निग्ध मनोरम-पत्र में ।
सु-विकसे जलजात-समूह से ।
सर-अतीव अलंकृत थे हुए ।
लसित थीं दल पै कमलासना ।।
विकच-वारिज-पुंज विलोक के ।
उपजती उर में यह कलपना ।
सरस भूत प्रफुल्लित नेत्र से ।
वन-छटा सर हैं अवलोकते ।।

और भी—

सरस सुन्दर सावन मास था ।
घन रहे नभ में घिर-घूमते ।
विलसती बहुधा जिनमें रही ।
छविवती-उड़ती - बक-मालिका ।।
घहरता गिरि-सानु समीप था ।
बरसता छिति-छू-नव वारि था ।
घन कभी रवि-अंतिम-अंशु ले ।
गगन में रचता बहु-चित्र था ।।
नव-प्रभा परमोज्जवल-लीक सी ।
गति-मती कुटिला-फणिनी-समा ।
दमकती दुरती घन अंक में ।
विपुल केलि-कला खनि दामिनी ।।
विविध रूप धरे नभ में कभी ।
विहरता वर वारिद-व्यूह था ।
वह कभी करता रस सेक था ।
वन सके जिससे सरसा-रसा ।।

[1] देखिए—

फिर अचानक धूलिमयी महा ।
दिवस एक प्रचंड हवा चली ।

सजीव चित्रण किया है तथा ऋतुओं के भी चित्र अंकित करने की चेष्टा की है लेकिन प्रियप्रवास में

श्रवण से जिसकी गुरु गर्जना।
कँप उठा सहसा उर दिग्वधू॥

उपल वृष्टि हुई तम छा गया।
पट गई महि कंकर-पात से।
गड़गड़ाहट वारिद-व्यूह की।
ककुभ में परिपूरित हो गई॥

उखड़ पेड़ गये जड़ से कई।
गिर पड़ी अवनी पर डालियाँ।
शिखर भग्न हुए उजड़ी छतें।
हिल गये सब पुष्ट निकेत भी॥

बहु रजोमय आनन हो गया।
भर गये युग-लोचन धूलि से।
पवन-वाहति-पांशु-प्रहार से।
गत बुरी ब्रज-मानव की हुई॥

घिर गया इतना तम तोम था।
दिवस था जिससे निशि हो गया।
पवन गर्जन औ घननाद से।
कँप उठी ब्रज-सर्व वसुन्धरा॥

और भी—

प्रगटती बहु-भीषण मूर्ति थी।
कर रहा भय ताण्डव नृत्य था।
बिकट-दन्त भयंकर-प्रेत भी।
बिचरते तरु-मूल-समीप थे॥

वदन व्यादन पूर्वक प्रेतिनी।
भयप्रदर्शन थी करती महा।
निकलती जिससे अविराम थी।
अनल की अति-त्रासकारी-शिखा॥

तिमिर-लीन-कलेवर को लिये।
विकट-दानव पादप थे बने।
भ्रममयी जिनकी विकरालता।
चलित थी करती पवि-चित्त को॥

अति सशंकित और सभीत हो।
मन कभी यह था अनुमानता।
ब्रज समूल विनाशन को खड़े।
यह निशाचर हैं नृप-कंस के॥

केवल चार ऋतुओं—निदाघ, वर्षा, शरद् एवं वसंत—का ही चित्रण किया गया है और शिशिर एवं हेमंत की ओर कवि का ध्यान नहीं गया।

चूंकि बाह्य जगत का अनुभूत ज्ञात ही अंतर्जगत का मूलाधार होता है अतः प्रकृति-सौंदर्य के साथ-साथ मानव के अंतर्जगत का सौन्दर्य-वर्णन करने की ओर भी कवियों की दृष्टि गयी है। वस्तुतः आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण करते समय कवि अपनी भावस्थिति में ही प्रकृति के समक्ष रहता था लेकिन काव्य का विस्तार तो प्राचीन भावों में है और प्रकृति द्वारा ही उनके भावोद्दीपन की प्रेरणा होती है अतः स्वाभाविक ही कवियों ने अपनी कृतियों में प्रकृति के उद्दीपन रूप का ही विशेष चित्रण किया है। स्मरण रहे कि आलम्बन रूप में प्रकृति-वर्णन करते समय प्रकृति कवियों के लिए साध्य ही थी लेकिन उद्दीपन रूप में तो वह साधन ही हो गयी और इस प्रकार वह कवियों के लिए अनुराग का विषय न होकर विविध भावों को उद्दीपन करने का साधन मात्र रही। इस प्रकार प्रियप्रवासकार ने भी स्वाभाविक ही अपनी कृति में प्रकृति का उद्दीपन रूप में अत्यंत अनूठा वर्णन किया है और संयोग श्रृंगार की अभिव्यंजना करते समय उसे प्रकृति मानसिक उल्लास की वृद्धि में सहायक तथा शारीरिक उपभोग की वस्तु जान पड़ती है और प्राकृतिक वस्तुओं एवम् कार्य-व्यापारों से प्रेमी-प्रेमिका के मन में जिन नवीन भावनाओं का संचार होता है, उनका भी कलात्मक वर्णन देख पड़ता है[1] लेकिन रीतिकालीन कवियों की भाँति कामुकता एवम् विलासिता का प्रदर्शन उसने कहीं भी नहीं किया। साथ ही अधिकांश हिंदी कवियों की भाँति प्रियप्रवास में भी

---

[1] देखिए—

उत्साहिता विलसिता बहु-मुग्ध-भूता।
आई विलोक जनता अनुराग-मग्ना।
की श्याम ने रुचिर क्रीड़न की व्यवस्था।
कान्तार में पुलिन पै तपनांगजा के॥

हो हो विभक्त बहुशः दल में सबों ने।
प्रारंभ की विपिन में कमनीय-क्रीड़ा।
बाजे बजा अति-मनोहर-कण्ठ से सा।
उन्मत्त-प्राय बन चित्त-प्रमत्तता से॥

मंजीर नूपुर मनोहर-किंकिणी की।
फैली मनोज्ञध्वनि मंजुल वाद्य की सी।
छेड़ी गई फिर स-मोद गई बजाई।
अत्यंत कान्त कर से कमनीय-वीणा॥

× × ×

हो हो सुवादित मुकुन्द सदंगुली से।
कान्तार में मुरलिका जब गूँजती थी।
तो पत्र-पत्र पर था कल-नृत्य होता।
रागांगना-विधुमुखी चपलांगिनी का॥

विशेष रूप से विप्रलंभ शृंगार में ही प्रकृति के उद्दीपन रूप का वर्णन हुआ है और विरहिणी ब्रजांगनाओं तथा विरह-विदग्धा राधा के अंतस्तल की दशा का चित्रण करते समय प्रकृति के बाह्य दृश्यों को भी अंकित किया गया है तथा संयोगावस्था में जो वस्तुएँ सुखदायिनी प्रतीत होती थी वे ही अब वियोगावस्था में दुःखप्रद एवं पीड़ावर्द्धिनी जान पड़ती हैं।[1] चूंकि इस

भू-व्योम-व्यापित्र कलाधर की सुधा में।
न्यारी सुधा मिलित हो मुरली स्वरों की।
धारा अपूर्व-रस की महि में बहा के।
सर्वत्र थी अति-अलौकिकता लसाती ॥

उत्फुल्ल थे विटप-वृन्द विशेष होते।
माधुर्य्य था विकच-पुष्प-समूह पाता।
होती विकाश-मय मंजुल-वेलियाँ थीं।
लालित्य-धाम बनाती नवला लता थी ॥

क्रीड़ामयी ध्वनि-मयी कल ज्योतिवाली।
धारा अश्वेत सरि की अति तद्गता थी।
थी नाचती उमगती अनुरक्त होती।
उल्लासिता विहँसिती प्रफुल्लिता थी ॥

पाई अपूर्व स्थिरता मृदु वायु ने थी।
मानों अचंचल विमोहित हो बनी थी।
वंशी मनोज्ञ-स्वर से बहु-मोदिता हो।
माधुर्य्य साथ हँसती सित-चंद्रिका थी ॥

[1] देखिए—

यह सकल दिशायें आज रो सी रही हैं।
यह सदन हमारा, है हमें काट खाता।
मन उचट रहा है चैन पाता नहीं है।
विजन-विपिन में है भागता सा दिखाता ॥

× × ×

दुख अनल शिखायें व्योम में फूटती हैं।
यह किस दुखिया का है कलेजा जलाती।
अहह अहह देखो टूटता है न तारा।
पतन दिलजले के गात का हो रहा है ॥

और भी—

नीला प्यारा उदक सरि का देख के एक श्यामा।
बोली हो के विरस-वदना अन्य गोपांगना से।
कालिन्दी का पुलिन मुझको उन्मना है बनाता।
लीला-मग्ना जलद-तन की मूर्त्ति है याद आती ॥

प्रकार के प्रकृति-चित्रण में प्रकृति साधक न होकर साध्य ही रही है अतएव उसे साधन के रूप में चित्रित करने के लिए कवियों ने प्रकृति को मानवीय भावनाओं और कार्यों की भूमिका अथवा पृष्ठभूमि के रूप में भी अंकित किया है तथा मानव का प्राकृतिक जीवन प्रकृति के क्रोड़ में ही होने के कारण प्रेमी-प्रेमिका के प्रेमभाव की भूमिका के रूप में भी प्रकृति ने कार्य-सम्पादन किया है। प्रियप्रवास में भी इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन देख पड़ते हैं जो कि मानवीय कार्यों और भावनाओं की पृष्ठभूमि के रूप में अंकित हैं तथा प्रसंगानुसार प्रकृति को कहीं पर अनुकूल और कहीं पर प्रतिकूल पृष्ठाधार के रूप में अंकित किया गया है।[1]

---

[1] जहाँ कि निम्नांकित उद्धरण में प्रकृति अनुकूल पृष्ठाधार के रूप में अंकित हुई है—

विशाल वृन्दावन भव्य-अंक में।
रही धरा एक अतीव-उर्वरा।
नितान्त-रम्या तृण-राजि-संकुला।
प्रसादिनी प्राणि समूह दृष्टि की॥

कहीं कहीं विकसे प्रसूत भी।
उसे बनाते रमणीय जो रहे।
हरीतिमा में तृण-राजि मंजु की।
बड़ी छटा थी सित रक्त-पुष्प की॥

विलोक शोभा उसकी समुत्तमा।
समोद होती यह कान्त-कल्पना।
सजा बिछौना हरिताभ है बिछा।
वनस्थली बीच विचित्र-वस्त्र का॥

स चारुता होकर भूरि-रंजिता।
सु-श्वेतना रक्तिमता-विभूति से।
विराजती है अथवा हरीतिमा।
स्वकीय-वैचित्र्य विकाश के लिये॥

विलोकनीया इस मंजु भूमि में।
जहाँ तहाँ पादप थे हरे भरे।
अपूर्व-छाया जिनके सु-पत्र की।
हरीतिमा को करती प्रगाढ़ थी॥

कहीं कहीं था विमलाम्बु भी भरा।
सुधा समासादित संत-चित्त सा।
विचित्र क्रीड़ा जिसके सु-अंक में।
अनेक-पक्षी करते स-मत्स्य थे॥

वहाँ इस उदाहरण में प्रकृति को प्रतिकूल पृष्ठाधार के रूप में भी चित्रित किया गया है—

समय था सुनसान निशीथ का।
अटल भूतल में तम राज्य था।

प्रस्तुत काव्य का आरम्भ ही दिवसावसान से होता है जो कि इस बात का परिचायक है कि अब कोई अप्रिय घटना घटने वाली है। द्वितीय सर्ग का रात्रि वर्णन तो श्रीकृष्ण वियोग से गोकुल-ग्राम में व्याप्त हो जाने वाली वियोगावस्था तथा निराशा का द्योतक है और इसी तरह तृतीय सर्ग के प्रारम्भ का प्रकृति-चित्रण भी व्रजभूमि में निश्चल रूप में व्याप्त हो जाने वाली निराशा, वेदना एवं घोर उदासी की सूचना देता है। पंचम सर्ग में तो प्रकृति-चित्रण

प्रलय-काल समान प्रस्तुत हो।
प्रकृति निश्चल, नीरव, शांत थी॥
परम धीर समीर प्रवाह था।
वह मनों कुछ निद्रित था हुआ।
गति हुई अथवा अति-धीर थी।
प्रकृति को सुप्रसुप्त विलोक के॥
सकल पादप नीरव थे खड़े।
हिल नहीं सकता यक पत्र था।
च्युत हुए पर भी वह मौन ही।
पतित था अवनी पर हो रहा।
विविध-शब्द-मयी वन की धरा।
अति प्रशान्त हुई इस काल थी।
ककुभ औ नभ-मण्डल में नहीं।
रह गया रव का लवलेश था॥
सकल तारक भी चुपचाप ही।
बितरते अवनी पर ज्योति थे।
बिकटता जिससे तम-तोम की।
कियथ थी अपसारित हो रही॥
अवश तुल्य पड़ी निशि अंक में।
अखिल-प्राणि-समूह अवाक था।
तरु-लतादिक बीच प्रसुप्ति की।
प्रवलता प्रतिबिम्बित थी हुई॥
रुक गया सब कार्य-कलाप था।
वसुमती - तल भी अति मूक—था।
सचलता अपनी तज के मनों।
जगत था थिर होकर सो रहा॥
सतत शब्दित गेह समूह में।
विजनता परिवर्द्धित थी हुई।
कुछ विनिद्रित हो जिनमें कहीं।
झनकता यक झींगुर भी न था॥

से ही कृष्ण वियोग से उत्पन्न होने वाली व्यथा एवं वेदना के विषय में जानकारी मिल जाती है और सप्तम सर्ग में भी ब्रज-प्रदेश के शोकाकुल वातावरण का मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। इसी प्रकार अन्य सर्गों में भी कवि ने वातावरण-निर्माण के हेतु प्रकृति का पूर्ण सफलता के साथ उपयोग किया है।

जिस प्रकार प्राचीन संस्कृत तथा हिन्दी कवियों ने कहीं-कहीं प्रकृति और प्राकृतिक दृश्यों को उपदेश का माध्यम बनाकर भी चित्रित किया है उसी प्रकार हरिऔध ने भी प्रिय-प्रवास में प्रकृति-चित्रण की इस उपदेशात्मक प्रणाली को यथासंभव अपनाया है। वस्तुतः प्रकृति हमें सर्वदा ही गहन से गहन शिक्षा प्रदान करती रही है और उसके साधारण से साधारण पदार्थों एवं दृश्यों को भी कवि अपने आत्मानुभव के बल पर अपनी प्रत्यक्ष ज्ञानशक्ति का आधार लेकर निजी कल्पना, संवेदना और बुद्धि से अनुरंजित कर इस प्रकार अंकित करता है कि वे न केवल हृदयस्पर्शी जान पड़ते हैं और रस संचार करते हैं बल्कि साथ ही अटल-सत्य की अलौकिक शिक्षा भी प्रदान करते हैं। यद्यपि प्रियप्रवास में ऐसे प्रसंग न्यून ही हैं—जहाँ कि प्राकृतिक दृश्यों, वस्तुओं और कार्य-व्यापारों को उपदेश तथा नीति के माध्यम के रूप में अंकित किया गया हो लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि इन उदाहरणों में हमें नीति और कला का अद्‌भुत संगम अवश्य दृष्टिगोचर होता है।[1]

बहुत से कवियों ने प्रकृति को उपमा, रूपक आदि अलंकारों के रूप में भी प्रस्तुत किया हैं और इस प्रकार अलंकारों की सहायता से न केवल वस्तु वर्णन किया जाता है अपितु प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में भी उनकी सहायता लेने से प्रकृति-सौंदर्य द्विगुणित हो उठता है। जिस प्रकार रम्य से रम्य भाव और कल्पना भी अलंकारों के अभाव में उतने सुन्दर नहीं प्रतीत होते जब कि साधारण भाव भी उनके सहयोग से चमत्कृत हो उठते हैं उसी प्रकार प्राकृतिक वस्तुओं और कार्य व्यापारों के चित्रण में भी अलंकारों की सहायता लेने से वे अधिक चमत्कृत तथा चित्ताकर्षक जान पड़ते हैं। इस प्रकार स्वाभाविक ही कवियों ने अपनी मनोभावनाओं को अनुरंजित करने के लिए प्रकृति से सहायता ली है और उससे उपमाएँ उधार लेकर अलौकिक भावों, भावनाओं तथा प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराया है जिससे कि जड़ और चेतन तथा प्रकृति और मानवता में समानता सी उत्पन्न हो जाती है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और संदेह आदि अलंकारों की सहायता से नायिका का रूप चित्रण करते समय कवियों ने प्रकृति की ही सहायता ली है और इस प्रकार के चित्रों में चाहे साहित्यशास्त्र में निर्धारित शैली का आश्रय

---

[1] आलोक से लसित पादप-वृन्द नीचे।
छाये हुए तिमिर को कर से दिखा के।
थे यों मुकुंद कहते मलिनाननों का।
है बाह्य रूप बहु-उज्जवल दृष्टि आता।

ऐसे मनोरम प्रभामय काल में भी।
म्लाना नितान्त अवलोक सरोजिनी को।
थे यों ब्रजेन्द्र कहते कुल-कामिनी को।
स्वामी बिना सब तमोमय है दिखाता।

लेकर परम्परागत वर्णन प्रणाली का आधार भी लिया जाता हो लेकिन बहुत से कवियों की उक्तियों में नवीनता भी दीख पड़ती है जिसका कि कारण उनकी बाह्य प्रकृति न होकर अन्तरंग प्रकृति ही है। इसीलिए प्रियप्रवासकार ने भी इस प्रणाली का उपयोग करते हुए जहाँ कहीं भी इस प्रकार के चित्र अंकित किए हैं वहाँ वे केवल काल्पनिक न होकर अनुभूति के आधार पर अंकित किए जाने के कारण सजीव और नवीन जान पड़ते हैं। इस तरह प्रस्तुत महाकाव्य में कृष्ण के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन करते समय परम्परायुक्त प्राकृतिक उपमानों का अवलम्ब बहुत थोड़े प्रसंगों में लिया गया है और प्रायः उन्हीं स्थलों की अधिकता है जहाँ कि कवि ने स्वानुभव और कवि-कल्पना का आश्रय लिया है।[1] साथ ही यशोदा के हृदय-तल को एक अति भव्य उद्यान का रूप देते हुए मानस में उत्पन्न भावों और उद्यान में विकसित विविध प्रकार के पुष्पों आदि का सांग रूपक की सहायता से सुन्दर समन्वय किया गया है।[2] इस प्रकार प्रकृति और मानव की दशा में अलंकार रूप में तादात्म्य स्थापित करते हुए उसने यशोदा की संयोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओं का उद्यान की दोनों अवस्थाओं से सामंजस्य प्रदर्शित किया है। कवि का कहना है कि कृष्ण के संयोग-सुख में यशोदा का हृदय एक सुंदर उद्यान था जिसमें कल्पना की क्यारियों, भावों के सुमन और उत्साहों के बिल्व आदि थे[3] लेकिन अब उनके मथुरा चले जाने के पश्चात्

---

१. अधर सांध्य सु-व्योम समान थे।
वसन थे युग तारक से लसे।
मृदु हँसी वर ज्योति समान थी।
जननि मानस की अभिनंदिनी॥

२. ऊधो मेरा हृदय-तल था एक उद्यान-न्यारा।
शोभा देती अमित उसमें कल्पना-क्यारियाँ थीं।
न्यारे-प्यारे-कुसुम कितने भाव के थे अनेकों।
उत्साहों के विपुल विटपी थे महा मुग्धकारी॥

३. सच्चिन्ता की सरस-लहरी संकुला-वापिका थी।
नाना चाहे कलित-कलियाँ थीं लतायें उमंगें।
धीरे-धीरे मधुर हिलती वासना बेलियाँ थीं।
सद्वांछा के विहग उसके मंजुभाषी बड़े थे॥

भोला-भाला-मुख सुत-बधू-भाविनी का सलोना।
प्रायः होता प्रकट उसमें फुल्ल-अम्भोज-सा था।
बेटे द्वारा सहज-सुख के लाभ की लालसायें।
हो जाती थीं विकच बहुधा माधवी-पुष्पिता सी॥

प्यारी आशा-पवन जब थी डोलती स्निग्ध हो के।
तो होती थी अनुपम-छटा बाग के पादपों की।
हो जाती थीं सकल लतिका-वेलियाँ शोभनीया।
सद्भावों के सुमन बनते थे बड़े सौरभीले॥

माँ के हृदय की दशा कुछ और ही हो गयी है अतः उस उद्यान में भी स्वाभाविक ही परिवर्तन देख पड़ते हैं।[1]

जैसा कि डॉ० किरणकुमारी गुप्ता का कथन है "हरिऔध जी ने प्रकृति में मानवीकरण की भावना को सबसे अधिक प्रधानता दी है। प्रकृति उन्हें मानव की-सी चेष्टा करती हुई प्रतीत होती है, जड़ प्रकृति उनके लिए चेतन हो गई है, और वह उनके साथ रोती और हँसती है, कभी वह ममतामयी माँ के समान स्नेह प्रकट करती और कभी सहृदय की भाँति संवेदना, सहानुभूति और एकात्मय प्रकट करती है, प्रकृति के चेतन प्राणी मानव की भाँति हर्ष के साथ प्रमुदित होते और मानव के वियोग में दुःख का अनुभव करते हैं।[2] यद्यपि वैदिक ऋचाओं में भी मानवीकरण के उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं तथा मध्ययुग की हिंदी कविता में भी यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप में देख पड़ती है लेकिन आधुनिक हिन्दी कविता में ही विशेष रूप से प्रकृति-सौंदर्य को मानव रूप में प्रतीक की भाँति अंकित करने की चेष्टा की गयी है और अपनी सौंदर्य-भावना के अनुरूप कवियों ने उसे विशेषतः नारी रूप में ही अंकित किया है। यों तो छायावादी कविताओं की यह एक विशेषता ही है कि छायावादी कवियों ने प्रकृति में मानव रूप, मानव गुण, मानव क्रिया और मानव-भावना का आरोपकर प्रकृति के सचेतन रूप की सृष्टि की है परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो द्विवेदी युग में भी मानवीकरण के कुछ सुन्दर उदाहरण अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं। 'प्रियप्रवास' में भी पवन को दूती रूप में मथुरा भेजते समय कवि ने मानवीकरण का ही प्रयोग किया है क्योंकि वह एक व्यक्ति की भाँति ही समस्त क्रियायें करने के लिए बाध्य की गयी है और उसको 'भगिनि' तथा 'मर्मज्ञे' आदि शब्दों से सम्बोधित भी किया गया है। इतना ही नहीं पवनदूती का चित्रण करने के साथ-साथ कवि ने गोवर्द्धन पर्वत को भी पूर्णतया एक दर्पपूर्ण उन्नत ग्रीवावाले व्यक्ति की भाँति चित्रित किया है। स्मरण रहे कि जिस प्रकार हरिऔध ने प्रकृति को मानवीय भावों, क्रियाओं और व्यापारों की प्रतिकृति के रूप में अंकित किया है उसी प्रकार मानव को भी अपनी भाव-

---

राका-स्वामी सरस-सुख की दिव्य-न्यारी-कलायें।
धीरे-धीरे पतित जब थीं स्निग्धता साथ होतीं।
तो आभा में अतुल छवि में औ मनोहारिता में।
हो जाता सो अधिकतर था नन्दनोद्यान से भी॥

[1] ऐसा प्यारा-रुचिर रस से सिक्त उद्यान मेरा।
मैं होती हूँ व्यथित कहते आज है ध्वंस होता।
सूखे जाते सकल-तरु हैं नष्ट होती लता है।
निष्पुष्पा हो विपुल-मलिना बेलियाँ हो रही हैं॥

प्यारे पौधे कुसुम-कुल के पुष्प ही हैं न लाते।
भूले जाते विहग अपनी बोलियाँ हैं अनूठी।
हा! जावेगा उजड़ अति मंजु-उद्यान मेरा।
जो सींचेगा न घन-तन आ स्नेह सद्वारि-द्वारा॥

[2] हिंदी कविता में प्रकृति-चित्रण—डॉ. किरणकुमारी गुप्ता (पृ. ३३१-३३२)

नाओं और क्रिया-व्यापारों में प्रकृति का प्रतिरूप मानकर प्रकृति और मानव में भावनाओं का एक प्रकार से रहस्यालोकित आदान-प्रदान होता हुआ चित्रित किया है अतः इस प्रकार प्रकृति में परम तत्त्व का आभास सा प्रतीत होता है और वह विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम सी जान पड़ती है। जैसा कि प्रियप्रवास के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि राधा ने प्रकृति द्वारा ही उस विराट् पुरुष के दर्शन प्राप्त किए हैं और उनके हृदय में विश्व-प्रेम भी उत्पन्न हुआ है।[1]

साथ ही प्रिय-प्रवास में कहीं-कहीं मानव और प्रकृति की चेष्टाओं में बिम्ब-प्रतिबिम्ब के भाव भी प्रदर्शित किए गए हैं अतः जब यशोदा अश्रुपात करती हैं तब ओस के लिए रजनी भी अश्रुपात करती जान पड़ती है और कभी तो प्रकृति मानव जगत से सहानुभूति प्रकट कर अपनी उद्दाम प्रकृति को भी त्याग देती है। इस प्रकार के प्रसंगों की प्रियप्रवास में अधिकता सी है जहाँ कि प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करने की भावना से प्रकृति और मानव की एकता चरमसीमा पर पहुँच जाती है तथा दोनों में एक ही सत्ता की व्यापकता भी दीख पड़ती है और इसी सत्ता के दर्शन के आधार पर समस्त प्राणी-समूह के साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी कविता में प्रकृति-चित्रण की जो विविध शैलियाँ प्रचलित हैं प्रियप्रवासकार ने प्रायः उन सभी को अपनाया है और अपनी विशिष्ट भावनाओं का आधार ले प्रकृति-निरिक्षण कर प्रकृदि-सौंदर्य का मनोहर चित्रण किया है। यह अवश्य है कि कतिपय त्रुटियाँ भी इस महाकव्य में दीख पड़ती हैं जिसके फलस्वरूप कहीं-कहीं अस्वाभाविकता, कृत्रिमता और अनुपयुक्तता भी झलक उठती है लेकिन इतने बड़े काव्य में इन दोषों का आविर्भाव सहज ही है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि द्विवेदीयुगीन कवियों में प्रकृति के प्रति अपना अतीव अनुराग प्रदर्शित कर प्रकृति का इतना विशद चित्रण करने का प्रयास सर्वप्रथम प्रियप्रवासकार ने ही किया है अतः जैसा कि डॉ. किरणकुमारी गुप्ता का कथन है "समग्र प्रकृति-काव्य का विवेचन किया जाय तो हरिऔध जी को अपने युग का सर्वश्रेष्ठ कवि कहने में अत्युक्ति न होगी।"[2]

(सितम्बर १९५८)

---

[1] यों ही जो है अवनि नभ में दिव्य प्यारा उन्हें मैं।
जो छूती हूँ श्रवण करती देखती सूँघती हूँ।
तो होती हूँ मुदित उनमें भावतः श्याम की पा।
न्यारी-शोभा सगुणगरिमा अंग संभूत साम्या॥

[2] हिंदी काव्य में प्रकृति-चित्रण—डॉ. किरणकुमारी गुप्ता (पृ. ३५३)

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और प्रेमचंद की 'गबन'

शेक्सपियर का एक पात्र कहता है "होरेशिओ, क्षितिज के परे भी कुछ है जिसे तुम्हारे भौतिक नेत्र नहीं देख सकते" और वह 'कुछ' क्या है इसका अनुसंधान करने के लिए ही दार्शनिक की प्रज्ञा त्रस्त और व्यस्त रहती है तथा कलाकार की कल्पना उड़ने के लिए पंख फैलाया करती है। वस्तुतः मानव जीवन द्वन्द्वात्मक ही है और वह अपने वातावरण—दृश्य जगत—को उसके वास्तविक रूप में देख उसके अन्तर में निहित रहस्य को जानने के लिए आतुर हो उठता है तथा इस जगत के परे किसी अन्य लोक की कल्पना को भौतिक आदर्श कहा जाता है जिसके अस्तित्व के संबंध में मानव-मन विचित्र प्रकार के रूपों की सृष्टि करता है। डॉ० विनयमोहन शर्मा के शब्दों में "दार्शनिक की दृष्टि में दृश्य जगत सत्य है और असत्य भी। अदृश्य जगत के लिए भी उसका तर्क विभ्रम से ऊपर नहीं उठ पाया। परन्तु कलाकार उन दोनों लोकों को सत्य मानता है। उसकी दृष्टि इन्द्रियगम्य वस्तु के प्रति उतनी ही सहज भावमय हो जाती है जितनी वह किसी अगोचर लोक के प्रति हो सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि कलाकार और कलाकार का सत्य इंद्रियगम्य मात्र नहीं है।"[१] इतना ही नहीं शर्मा जी यह भी कहते हैं कि "साहित्य में वे ही भावनाएँ यथार्थवाद के अन्तर्गत आती हैं, जिनका क्षेत्र इन्द्रियगम्य है और जो केवल कल्पना लोक की सृष्टि है उसे आदर्शवाद में परिगणित किया जाता है। परन्तु यह लोक विभाजन कलाकार की वृत्ति के अनुरूप नहीं है। उसकी सृष्टि में जैसा कि ऊपर कहा गया है, द्वित्व नहीं है। वह अपने जीवन के द्वन्द्व के साथ सहमत नहीं होता। उसका यही 'रसवाद' उसे जन-साधारण से पृथक् करता है। उसकी सत्ता निर्बन्ध है।"[२] परन्तु कलाकार की निर्बन्ध सत्ता होते हुए भी साहित्य में इन दो वादों—यथार्थवाद और आदर्शवाद—की प्रतिस्थापना अवश्य हुई है तथा कलाकारों का कृतित्व भी इन दोनों से प्रभावित होता रहा है अतः यहाँ उन दोनों की चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा।

वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी में विशेषकर फ्रांस के कलाकारों ने रोमेंटिसिज्म की कल्पनाशीलता के विरुद्ध यथार्थ और वास्तविकता की प्रतिस्थापना को आवश्यक समझ कथा-साहित्य के अंतर्गत उसका प्रवेश कराया। उनका कहना था कि विक्टर ह्यूगो जैसा कल्पनावादी लेखक मिट्टी की भीत पर मूल्यवान चित्र बनाने का गूढ़ प्रयत्न कर रहा है और चित्र चाहे कितना ही अधिक सुन्दर क्यों न हो लेकिन जब भित्ति ही कमजोर और अस्थायी है तब उन चित्रों का मूल्य ही क्या ? आदर्शवादियों के प्रति उनका कहना था कि वे शून्य में

---

१. दृष्टिकोण—डॉ० विनयमोहन शर्मा (पृ० ५०)

२. वही (पृ० ५०)

घोड़े दौड़ा रहे हैं। "They are ridding on horseback over vacum" यों तो कजामियाँ (cazamian) के अनुसार "यथार्थवाद साहित्य में एक शैली नहीं बल्कि एक विचारधारा है" और इस प्रकार बहुत से लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि यथार्थवाद साहित्य में अभिव्यक्ति की एक शैली का नाम है लेकिन वास्तव में वह सत्य की प्रवहमान धारा में एक प्रधान मोड़ है और इसकी अपनी एक विशेष धारा है जो कि साहित्यिक परम्पराओं में एक आधुनिकतम नूतन परम्परा है। जार्ज लूकस (George Lukaces) ने तो Study in European Realism नामक कृति में सच्चे यथार्थवादी साहित्य की यह एक प्रमुख विशेषता मानी है कि वह बिना किसी भय या पक्षपात के ईमानदारी सहित जो कुछ भी अपने आस-पास देखता है उसका चित्रण करे और हैवर्ड फास्ट ने Litera--ture and Reality नामक कृति में यथार्थवाद को वह साहित्यिक संयोग कहा है जो चुनाव तथा रचना के माध्यम से अपने वास्तविक विचारों को समुन्नत रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। पाश्चात्य विचारकों की भाँति हिन्दी समीक्षकों ने भी इस सम्बन्ध में अपने मत व्यक्त किए हैं और जहाँ कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का विचार है "यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक् सत्ता का समर्थक है। वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रहता है। यथार्थवाद का सम्बन्ध प्रत्यक्ष वस्तु जगत से है"[1] वहाँ श्री शिवदान सिंह चौहान के शब्दों में "महान साहित्य और कला सदा निर्विकल्प रूप से जीवन की वास्तविकता को ही प्रभावित करती है अत: उसकी एक मात्र कसौटी भी उसका यथार्थवाद है।"[2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार "यथार्थवाद का मूल सिद्धान्त है, वस्तु को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करना। न तो उसे कल्पना के द्वारा विचित्र रंगों से अनुरंजित करना, और न किसी धार्मिक या नैतिक आदर्श के लिए उसे काट-छाँटकर उपस्थित करना[3]" तथा इस संबंध में स्वर्गीय प्रेमचंद जी ने सर्वप्रथम विस्तार सहित विचार करते हुए लिखा था कि "यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुच्चरित्रता का परिणाम अच्छा—उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बदी नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है—नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं—उनको नेकी का फल उलटा मिलता है, बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं—उनको बदी का फल उलटा मिलता है। प्रकृति का नियम विचित्र है। यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्रों में भी कुछ न कुछ दाग धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा

---

[1] आधुनिक साहित्य—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी (पृ० ४४५)

[2] आलोचना (त्रैमासिक) सम्पादकीय—सन् १९५२

[3] हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (पृ० ४२७)

विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।[१]" परन्तु श्री त्रिभुवन सिंह ने प्रेमचंद जी के इन विचारों का खंडन किया है और उनकी दृष्टि में तो "यथार्थवाद का यह लक्ष्य नहीं, वह तो उसके बारे में बना ली गई गलत एवं संकीर्ण धारणा है।"[२] तथा उनका विचार है कि "जो साहित्यकार मानव-जीवन एवं समाज का सम्पूर्ण वाम्तविक चित्र उपस्थित करता है और अपने साहित्य का वस्तु विषय काल्पनिक संसार से न लेकर वास्तविक संसार से लेता है उसे ही हम यथार्थवादी लेखक कह सकते हैं। यथार्थवादी लेखक अपनी कल्पनात्मक प्रतिज्ञा के बल पर बाह्य पदार्थों का यथातथ्य चित्र उपस्थित करने का भी प्रयत्न करता है, अथवा भौतिक तत्वों का चित्रण करते समय अपनी भावुकता तथा अपनी अनुभूतियों को बाधक नहीं होने देता। यथार्थवादी लेखक का विश्वास है कि साहित्य में सत्य की अभिव्यक्ति तभी संभव है जब कि उसका मूलाधार शुद्ध बाह्य तथ्यों पर आश्रित हो। यथार्थवादी साहित्य के अन्दर निर्भयता पूर्वक स्वीकार किया जाता है कि किसी भी साहित्य को यथार्थवादी साहित्य की संज्ञा तभी दी जाती है जबकि उसमें उन निश्चित समस्याओं का समावेश हो, जो कि यथार्थवादी साहित्य के लिए आवश्यक है।"[3] इस प्रकार साहित्य में यथार्थवाद की प्रतिस्थापना को आवश्यक माना जाता रहा और जैनेन्द्र जैसे विचारकों का भी यही कहना है कि "साहित्य वही है जो यथार्थ का सच्चा अक्स उतार कर हमें पेश करता है।"[४] परन्तु यथार्थ ही सब कुछ नहीं है और कई ऐसे प्रसंग आते हैं जबकि दुर्बलताओं का चित्रण करने में वह शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है और आपत्तिजनक जान पड़ता है फलतः हमें आदर्श का सहारा लेना पड़ता है और साहित्य-सृजन में हमारा आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रखर हो उठता है। डॉ० भगीरथ मिश्र के शब्दों में "आदर्शात्मक साहित्य-रचना का कारण विश्व के अविचलित नियमों की खोज के साथ-साथ भी उनकी संचालक शक्ति का आभास है और वर्तमान समय में तथ्य के अनुभव और दिग्दर्शन के साथ-साथ ही विशालता की अनुभूति के आधार पर पूर्णता की ओर प्रगति देने का विचार आदर्श-साहित्य के सृजन की मूल में है। अतएव आदर्शवाद का अन्त कभी नहीं हो सकता"[५] परन्तु वास्तव में साहित्यकार अपनी कृतियों में अधिकांशतः यथार्थ का ही चित्रण करता है तथा यथार्थ को हो बल प्रदान करने के लिए आदर्श की मनोहर झाँकी अंकित करता है। इस प्रकार दोनों में पारस्परिक सम्बंध सा है[६] और जैसा कि जैनेन्द्र ने लिखा है "साहित्य वह जो यथार्थ से आँख नहीं

---

१. कुछ विचार—प्रेमचंद (पृ० ३९-४०)

२. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—श्री० त्रिभुवन सिंह (पृ० १०)

३. वही (पृ० ७)

४. साहित्य का श्रेय और प्रेय—श्री० जैनेन्द्रकुमार (पृ० ५४)

५. अध्ययन—डॉ० भगीरथ मिश्र (पृ० १६)

६. एक साहित्यकार आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनों ही हो सकता है और सत्य बात तो यह है .... दोनों ही वादों को लेकर चलना आवश्यक है, क्योंकि साहित्य यदि कोई आदर्शवाद को लेकर चलता है, तो लोक की आस्था उस पर नहीं जमती, वह केवल स्वप्न लोक या स्वर्ग की बात हो जाती है, मनुष्य उस तक पहुँचने के लिए

मींचना चाहता, पर स्वप्न तो आदर्श को ही लेता है। इसी प्रकार त्याग द्वारा भोग का उपनिषद् ने भी विधान किया है। साहित्य इस प्रकार आदर्श को यथार्थ से और यथार्थ को आदर्श से तौलता और जोड़ता रहता है।"[1] साथ ही डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल का विचार है "यथार्थ जीवन का सत्य और आदर्श जीवन की कल्पना है। मानव अपने विकास के प्रारंभिक क्षणों से यथार्थ का वरण और आदर्श की कल्पना करता आ रहा है। उसकी कल्पना आदर्श के रूप का निर्माण करती है, किन्तु जब वही कल्पना भविष्य को छोड़ कर वर्तमान जीवन के विभिन्न रूपों में साकार हो उठती है तब वह यथार्थ बनती है। मानव स्वभावतः स्वप्नदृष्टा प्राणी है। उसके स्वप्नों में ही उसकी महत्वाकांक्षा पलती है। आशा के तंतुओं से बँधी हुई मानव की महत्वाकांक्षा उसकी जीवन-यात्रा का सम्बल बनती है। अपने यात्रा-पथ में संचरणशील मानव जिस सत्य का दर्शन करता है, जिस सत्य का प्रयोग करता है, वही उसका यथार्थ स्वरूप है। वह अपने देशकाल की सीमाओं से सीमित पूर्णता की केवल कल्पना कर पाता है, उसकी उपलब्धि नहीं। साथ ही मानवगत दुर्बलताएँ तथा उसके परिणाम भी उसके साथ रहते हैं। इस प्रकार वह अपने जीवन में एक प्रकार की त्रुटि या अभाव का अनुभव करता है। आदर्श इन अभावों को पूर्ण करने का प्रयत्न उपस्थित करता है। फलतः जीवन में एक गति विशेष उत्पन्न होती है जो अपनी मोहकला में, आकर्षण में एक स्वस्थ वातावरण का निर्माण करती है और मानव उसी वातावरण में पहुँच कर अपने अभावों को भूल सा जाता है। अतएव जीवन के लिए आदर्श उतना ही आवश्यक है जितना यथार्थ। जीवन की सार्थकता आदर्श और यथार्थ के मिश्रण में ही संभव है।"[2] इस प्रकार आदर्श और यथार्थ का पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण ही वही कृतियाँ उच्चकोटि की समझी गयीं जिनमें इन दोनों का समावेश हो गया हो और प्रेमचंद जी ने तो इसे 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहा है तथा उनका विचार है कि "आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्रों में वह गुण नहीं है, वह दो कौड़ी का

अपने को समर्थ नहीं पाता अतः उसको छोड़ बैठता है। इसी प्रकार यदि कोई साहित्यकार कोरे यथार्थवाद का ही चित्रण करता है तो मनुष्य के संकल्प और उन्नति की प्रवृत्ति तथा सद्भावना को प्रेरणा नहीं मिलती। उसकी आत्मा को संतोष नहीं प्राप्त होता और समाज की अनेक समस्याओं का सुलझाव भी नहीं होता, अतः वह लोक का अधिक कल्याण नहीं कर सकता। इससे आवश्यक यही है कि साहित्य, आदर्श और यथार्थवाद दोनों ही को अपनावें। साहित्य का भवन यथार्थवाद की नींव पर खड़ा हो, पर उसके विकास, प्रस्तार और ऊँचाई के लिए आदर्शवाद का विस्तृत और उन्मुक्त आकाश रहे। ऐसा साहित्य ही सर्वजन सुलभ, सर्वमान्य और सर्वहितकारी हो सकता है।"

——हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास : डॉ० भगीरथ मिश्र (पृष्ठ ४२२–४२३)

[1] साहित्य का श्रेय और प्रेय—श्री जैनेन्द्रकुमार (पृष्ठ ८८)

[2] हिंदी साहित्य में विविध वाद——डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल (पृष्ठ २४८)

है।"[1] यों तो प्रेमचन्द के पश्चात् इस 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की परिपाटी निभाने वाले कलाकारों का अभाव सा रहा और साहित्य में या तो आदर्श की ही प्रधानता रही या यथार्थ की। इतना ही नहीं ऐसे समीक्षकों की भी कमी नहीं है जो प्रेमचंद जी की कृतियों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की प्रतिस्थापना पर संदेह करते हैं लेकिन यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस प्रकार के आरोप युक्तिसंगत नहीं हैं। इसी निकष पर हम गबन की परीक्षा कर यह जानने का प्रयास करेंगे कि वास्तव में किन अंशों तक उमें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कृति कहा जा सकता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द्र जी युगप्रवर्तक के रूप में आए और उपन्यास साहित्य की परम्परा में तो हमें उन्हें निर्विवाद रूप से युग सृष्टा के रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा कारण कि वे सर्वप्रथम उपन्यासकार हैं जिनकी दृष्टि महलों की ओर न जाकर सबसे पहले झोपड़ियों की ओर गयी और उन्होंने टूटी-फूटी झोपड़ियों में पुआलों पर पड़ी तड़पती हुई भारतीय आत्माओं को निहारा तथा फटे चीथड़ों में सरल एवम् स्वाभाविक यौवन के सौष्ठव की अनुभूति कर दरिद्रता की चक्की में पिसने वाले दीन-जनों में भी महलों सी प्रेम की पीर पायी। वस्तुतः उनके उपन्यासों में तत्कालीन जीवन और युग का यथार्थ चित्र अंकित हुआ है तथा जैसा कि श्री त्रिभुवन सिंह का कहना है "प्रेमचन्द जी का अनुभव इतना विशाल था कि उसके अंदर मानव-जीवन का प्रत्येक पक्ष सिमट कर आ गया है। मानव-जीवन के प्रति उनका अपना एक अलग दृष्टिकोण था। मानवता के पक्के हिमायती होते हुए भी उन्होंने अपने उपन्यासों में मानव की स्वाभाविक दुर्बलताओं को खुल कर चित्रित किया है। परन्तु इतना अवश्य था कि वे मानवता की विजय की कामना करने वाले महापुरुषों में से एक थे। उन्होंने किसी वाद-विवाद के पचड़े में अधिक न पड़कर, अपने लिए एक समन्वयवादी दृष्टिकोण अपना लिया था। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि बिना यथार्थ की कठोर भूमि का सहारा लिए कला का भव्य भवन निर्मित ही नहीं हो सकता और जब तक उसमें आदर्श का समुचित योग न होगा तब तक उसमें सौन्दर्य की प्रतिष्ठापना भी नहीं की जा सकती। उनकी दृष्टि में उच्च कोटि के उपन्यास के लिए यथार्थ और आदर्श दोनों अनिवार्य तत्त्व हैं जिनमें से एक के अभाव में भी कला में दोष का आ जाना स्वाभाविक है। प्रेमचन्द जी मर्यादावादी थे जिससे उन्होंने अपनी कृतियों में अधिक से अधिक मर्य्यादा की रक्षा करने का प्रयत्न किया है। कर्म-फल पर आस्था रखने के कारण अधिकतर उन्होंने अच्छे पात्रों का अच्छा और बुरे पात्रों का बुरा अन्त दिखलाया है और जहाँ कहीं हो सका है बुरे पात्रों का सुधार भी कर लिया है।"[2] उनके इसी मर्यादावादी—जिसे हम आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को कह सकते हैं—इस दृष्टिकोण का प्रभाव गबन में भी विद्यमान है।

सामान्यतः गबन की कथावस्तु का अनुशीलन करने पर ही स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने यथार्थ की भित्ति पर कथा का भवन निर्मित अवश्य किया है लेकिन दीवारें सभी आदर्श की हैं। प्रेमचन्द जी ने उतने घोर यथार्थवादी नहीं थे कि किसी समस्या का स्पष्टतः

---

१. कुछ विचार—प्रेमचन्द (पृष्ठ ४१)

२. हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद—श्री त्रिभुवन सिंह (पृष्ठ ६९–७०)

हूबहू जैसा का तैसा चित्रण करते। गबन की नायिका जालपा आभूषण-प्रिय, स्वच्छंद और बाल्यकाल से हठी प्रकृति की लड़की कही गई है लेकिन उपन्यासकार उसके चरित्र को आदर्श के ढाँचे में ढालना ही चाहता था अतः उसने जालपा के चरित्र में यथोचित परिवर्तन भी किया है। आभूषण-प्रिय होते हुए भी वह रमानाथ को हृदय से चाहती है और सब कुछ त्यागने को प्रस्तुत हो जाती है। कहीं-कहीं तो प्रेमचन्द जी यह भी भूल जाते हैं कि अमुक घटना स्वाभाविक है या अस्वाभाविक और कलकत्ते की सभी घटनाएँ इसीलिए दी गयी हैं कि उनसे जालपा का चरित्र निखर उठेगा लेकिन उपन्यासकार यह भूल सा गया कि ये सब बातें सम्भव हो सकती थीं या नहीं। इतना तो अवश्य ही है कि कलकत्ते जैसे बड़े शहर में सभी कार्य आसानी से कर लेना जैसे दिनेश के घर जाकर सेवा-परिचर्या करना आदि बातें थोड़ी देर के लिए भले ही असंभव जान पड़ें परन्तु वे प्रेमचन्द के इस आदर्शोन्मुख यथार्थवादी दृष्टिकोण का समर्थन निस्सन्देह करती हैं। साथ ही गबन में रतन का चरित्र भी इसी प्रकार का कहा जाएगा। रतन समाज के अभिशाप—गरीबी—के कारण वृद्ध इन्द्रभूषण के पल्ले बाँध दी गयी जो कि उनकी यौवनाकांक्षाओं की पूर्ति में सक्षम नहीं थे। युवा नारी अपने पति से प्रेम चाहती है और यह प्रेम केवल आत्मिक प्रेम नहीं होता परन्तु इन्द्रभूषण के पास रतन की इस क्षुधा-शांति के लिए क्या था। जहाँ तक 'रतन' के फारवर्ड होने का प्रश्न है और इधर-उधर सैर-सपाटे का प्रश्न है वह हमें स्वाभाविक ही लगता है परन्तु प्रेमचन्द जी ने कहीं भी 'रतन' को पतन की ओर बढ़ते हुए नहीं अंकित किया। 'रतन' का यथार्थवादी चित्रण लेखक अवश्य करता है और ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार के हृदय में उसके प्रति अत्यंत सहानुभूति थी परन्तु उसने रतन द्वारा यह भी कहलाया है कि "मुझे तो कभी यह ख्याल भी नहीं आया बहन कि मैं युवती हूँ और वे बूढ़े हैं। मेरे हृदय में जितना अनुराग है वह सब मैंने उनके ऊपर अर्पण कर दिया। अनुराग यौवन या घर से नहीं उत्पन्न होता। अनुराग अनुराग से उत्पन्न होता है।" इतना ही नहीं वह अपने पति को बीमार देखकर यह भी कहती है "अपने आराम को देखूँ या उनकी बीमारी को देखूं। बहन कभी-कभी ऐसा जी ऊब जाता है कि थोड़ी सी संखिया खाकर सो रहूँ। विधाता से इतना भी नहीं देखा जाता। अगर कोई मेरा सर्वस्व लेकर भी इन्हें अच्छा कर दे कि इस बीमारी की जड़ टूट जाए तो मैं खुशी से दे दूँगी।" वस्तुतः रतन के इन उद्‌गारों में वस्तुपरक यथार्थ की अपेक्षा आदर्शोन्मुख यथार्थवाद ही विशेष रूप से है अन्यथा कोई दूसरा यथार्थवादी कलाकार होता तो वह रतन को रमानाथ से प्रेम करते हुए अंकित कर बैठता या फिर उसे एक सोसाइटी गर्ल के रूप में अंकित करता। हमें यह न भूलना चाहिए कि यथार्थवाद को ही सब कुछ समझने वाले कई कलाकार ऐसे हैं जिन्होंने अपनी कृतियों में अश्लीलता का नग्न चित्रण किया है और जैनेन्द्र की सुनीता, निराला के अपूर्ण उपन्यास 'चमेली' तथा सर्वदानन्द वर्मा के 'नरमेध' में इसी प्रकार के चित्रों की अधिकता है परन्तु प्रेमचंद जी कोरे यथार्थवादी न थे और न वे प्रत्येक वस्तु का फोटोग्राफ मात्र ही प्रस्तुत करना चाहते थे अतः उन्होंने स्वाभाविक ही रतन के चरित्र को भी उच्च भूमि पर प्रतिस्थापित किया है। इतना ही नहीं जोहरा जैसी वेश्या भी इसी दृष्टिकोण के कारण सद्‌गुणों से उक्त मानी गयी है तथा उपन्यासकार ने उसे प्रतिष्ठित समाज में प्रतिष्ठा के साथ रहने योग्य भी माना है। स्वयं उपन्यासकार ने वेश्या जोहरा और

सेविका जोहरा की तुलना करते हुए कहा है "इन चार सालों में जोहरा ने अपनी सेवा, आत्म-त्याग और सरल स्वभाव से सभी को मुग्ध कर लिया था। अपने अतीत को मिटाने के लिए अपने पिछले दागों को धो डालने के लिए उसके पास उसके सिवा और क्या साधन था। उसकी सारी कामनाएँ सारी वासनाएँ सेवा में लीन हो गईं। कलकत्ते में वह विलास और मनोरंजन की वस्तु थी। शायद कोई भला आदमी उसे अपने घर में घुसने देता! यहाँ सभी उसके साथ अपने प्राणी का सा व्यवहार करते थे। दयानाथ और रामेश्वरी को यह कहकर शांत कर दिया गया था कि वह देवीदीन की विधवा बहू है। जोहरा ने कलकत्ते में जालपा से केवल उसके साथ रहने की भिक्षा माँगी थी। अपने जीवन से उसे घृणा हो गई थी। जालपा की विश्वास-मय उदारता ने उसे आत्म-शुद्धि के पथ पर डाल दिया, रतन का पवित्र निष्काम जीवन उसे प्रोत्साहित किया करता था।"

इसी प्रकार गबन में जो घटनाएँ अंकित की गयी हैं वे भी इसी दृष्टिकोण को रखकर की गयी हैं और लेखक का उद्देश्य सर्वत्र अपने आदर्शोन्मुख यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रधानता देना रहा है। आभूषण-प्रेमी जालपा का आभूषणों से घृणा करना, आभूषण बेंच देना, विला-सिता की सामग्री को जाह्नवी में प्रवाहित कर देना, सेवा कार्य को अंगीकार करना, झूठी गवाही देने के कारण रमानाथ का भी विरोध करना लेकिन साथ ही अपने पति की सुरक्षा एवं मर्या-दाओं के प्रति चिंतित रहना भी इसी दृष्टिकोण का परिचायक है। चूँकि 'गबन' मध्यम-वर्गीय जनता को दृष्टि में रखकर लिखा गया है फलतः उसमें इसी वर्ग की समस्याओं का चित्रण हुआ है लेकिन लेखक इस दिशा में भी न तो कोरा आदर्शवादी ही होना चाहता है और न घोर यथार्थवादी। लेखक कोरा आदर्शवादी होने के पक्ष में भी नहीं है और इसीलिए उसने दयानाथ के रूप में एक ऐसे आदर्शवादी का चित्रण किया है जिन्हें अपने पल्ले केवल आदर्श और सिद्धान्तों के कुछ नहीं पड़ता। ठीक इसके विपरीत रमानाथ का चरित्र यथार्थवाद की भूमि पर पनपा है तथा उससे सम्बंधित सभी घटनाएँ यथार्थ की तुला पर स्वाभाविक ही जान पड़ती हैं परन्तु लेखक उसे घोर यथार्थवादी नहीं होने देता। रमानाथ रिश्वत लेता है, उधार आभूषण खरीदता है और झूठी शहादत देता है परन्तु उसे भी मर्यादा का ध्यान आ जाता है। उपन्यासकार ने भारतीय पुलिस की कार्यवाहियों का खोखलापन वास्तविक रूप में दिखलाया है; पुलिस की तिकड़मों का भी प्रभाव स्पष्ट रूप से अंकित किया गया है परन्तु यहाँ भी वह आदर्श की स्थापना करने में दत्त-चित्त रहा है।

साथ ही गबन में जो सूक्तियाँ दी गयी हैं और विचार प्रगट किए गए हैं उन पर भी आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की प्रतिच्छाया विद्यमान है। पहली पत्नी की मृत्यु के पश्चात् रमेश अपना दूसरा विवाह न करने का कारण बतलाते हुए कहता है "बरफी खाने के बाद गुड़ खाने को किसका जी चाहता है। महल का सुख भोगने के बाद झोपड़ा किसे अच्छा लगता है? मैं तुमसे सच कहता हूँ इस विधुर जीवन में मैंने किसी स्त्री की ओर आँख तक नहीं उठाई। कितनी ही सुंदरियाँ देखीं, कई बार लोगों ने विवाह के लिए घेरा भी, लेकिन कभी इच्छा ही न हुई। उस प्रेम की मधुर-स्मृतियों में मेरे लिए प्रेम का सजीव आनन्द भरा हुआ है।" चूँकि उपन्यास-कार का उद्देश्य आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को प्रश्रय देना ही रहा है अतः उसने कुव्यसनों से दूर रहने और ऋण आदि लेने के संबंध में भी विचार प्रकट किए हैं। उपन्यासकार अपने पात्र से

यही कहलाता है कि "कर्ज से बड़ा पाप दूसरा नहीं । न इससे बड़ी विपत्ति दूसरी है । जहाँ एक बार धड़ाका खुला कि तुम आए दिन सराफ की दूकान पर नजर आओगे । भविष्य के भरोसे पर और चाहे जो काम करो पर कर्ज न लेना ।" उपन्यासकार ने यह भी माना है कि विश्वास बड़ी बुरी चीज है लेकिन यहाँ भी वह प्रारंभ में अपनी इस यथार्थवादी विचारधारा का चित्रण करता है "जिस घर में बहुत से आदमी हों; लड़की की पढ़ाई, लड़कियों की शादियाँ वह आदमी क्या कर सकता है । जब तक छोटे-छोटे आदमियों का वेतन इतना न हो जायगा कि वह भलमनसी के साथ निर्वाह कर सके तब तक रिश्वत बंद न होगी । यही रोटी, दाल, घी, दूध तो वह भी खाते हैं फिर एक को तीस रुपये दूसरे को तीन सौ रुपये क्यों देते हो" लेकिन अंततोगत्वा यहाँ भी कलाकार आदर्श की ओर उन्मुख हो उठता है और उसके कथनानुसार रिश्वत भी कायदे के अंदर लेनी चाहिए ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गबन में प्रेमचंद का दृष्टिकोण सर्वत्र आदर्शोन्मुख यथार्थवादी ही रहा है और यही कारण है कि डॉ. त्रिलोकीनारायण दीक्षित ने उनके सम्बंध में स्पष्टत: यह स्वीकार किया है कि "प्रेमचन्द के साहित्य की उपयोगिता एवं महत्व तो आज है ही भविष्य में भी बना रहेगा । प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य दंभी, कुत्सित तथा शोषक शक्तियों तथा पतनोन्मुख समाज के लिए भारी चुनौती है ।"[1]

(फरवरी १९५९)

---

[1] **प्रेमचंद—डॉ. त्रिलोकीनारायण दीक्षित (प्रक्कथन, पृ. क-ख)**

कवि पंत की विचारधारा

कविवर सुमित्रानन्दन पंत विकासशील कवि माने जाते हैं और उन्होंने अपने काव्य-संग्रह 'उत्तरा' की भूमिका के पृष्ठ दो में स्वयं ही स्वीकार किया है—"लेखक एक सजीव अस्तित्व या चेतना है और वह भिन्न-भिन्न समय पर अपने युग के स्पर्शों तथा संवेदनों से किस प्रकार आन्दोलित होता है, उन्हें किस रूप में ग्रहण तथा प्रदान करता है, इसका निर्णय ही उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने में अधिक उपयोगी है।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पंत जी समय-समय पर न केवल युग के स्पर्शों से आन्दोलित होते रहे हैं अपितु उन युग-स्पर्शों को ग्रहण भी करते रहे हैं अतः स्वाभाविक ही उनकी विचारधारा में विविधता विद्यमान है। यों तो श्रीमती शचीरानी गुर्टू ने पन्त जी की समग्र काव्य-कला को प्रधानतः इस प्रकार विभाजित किया है:—

"१—प्रारम्भ में अर्थात् वीणा से गुंजन तक उनकी कविता का मूल भाव प्रकृति प्रेम एवं ऐन्द्रिय उल्लास है, जिसमें वस्तु सत्य के साथ आतमसत्य के समन्वय का प्रयास है।

२—गुंजन के बाद युगान्त से आगे युगवाणी और ग्राम्या तक कवि की अनुभूति और जिज्ञासा-वृत्ति अधिक सजग और सचेष्ट हो उठी है। उसके भावोन्माद का अब प्रौढ़ विकास हुआ है और उसकी चिन्तासरणि भावजगत में पैठने की अपेक्षा वस्तु-जगत में अधिक खुलकर विचरण करती है।

३—स्वर्णकिरण और स्वर्णधूलि में कवि का सूक्ष्मचेता मन मार्क्सवादी भौतिक संघर्षों से ऊबकर अध्यात्मवाद की ओर मुड़ा है।

४—और युगपथ, उत्तरा आदि उसकी इधर की कृतियों में आत्मोन्मुख मनोभूमि अर्थात् उसके अवचेतन मन के साथ ऊर्ध्वमुखी वृत्तियों का समाहार है, जहाँ उसकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि स्थूल तथ्यों पर उतराती हुई सूक्ष्म-सत्यों में रम गयी है।"

इस विभाजन को ध्यान में रखते हुए जब हम पंत की विचारधारा पर विचार करने बैठते हैं, तब हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि रोमांटिक काव्यधारा के प्रवर्त्तक होते हुए भी उनकी रचनाओं में उनकी कविता का विकास-क्रम विभिन्न प्रवृत्तियों, भावों और विचारों की भूमि का स्पर्श करता हुआ प्रवाहित होता है। सामान्यतः उनकी विचारधारा को निम्नांकित तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

१—छायावादी और रहस्यवादी—सन् १९१८ से १९३६ तक की कृतियों को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है और इस प्रकार वीणा, ग्रन्थि, पल्लव, गुंजन तथा ज्योत्स्ना इसी के अन्तर्गत आती हैं।

२—प्रगतिवादी—इसमें सन् १९३६ से ४० तक की रचनाएँ युगान्त, युगवाणी एवं ग्राम्या आदि आती हैं।

३—अध्यात्मवादी—यह विचारधारा उनकी नवीनतम कृतियों स्वर्णकिरण, स्वर्ण-धूलि, युगपथ, उत्तरा, अतिमा और वाणी आदि काव्य-संग्रहों में दृष्टिगोचर होती है। यहाँ यह स्पष्टीकरण असंगत नहीं है कि पंत की विचारधारा का यह कोई वैज्ञानिक विभाजन नहीं है और न इसका अभिप्राय यह है कि किसी एक युग में कवि की एक ही विचारधारा रही है अपितु इससे केवल-मात्र पंत की विचार-सरणि के अध्ययन में सुविधा मिलती है। अब हम प्रत्येक विचारधारा का संक्षिप्त मूल्यांकन करेंगे।

छायावादी और रहस्यवादी विचारधारा

वस्तुतः पंत की प्रारम्भिक काव्य-कृतियों में इसी की प्रधानता दीख पड़ती है और वीणा से युगान्त तक की रचनाओं में यही विचारधारा विद्यमान है। यों तो श्री विश्वम्भर 'मानव' का विचार है कि "जहाँ तक छायावाद का सम्बन्ध है वहाँ अब तक कवियों ने प्रकृति को अपने दृष्टिकोण से देखा था, पंत ने उसे निरपेक्ष दृष्टि से देखा, अब तक उसे जड़ समझा जाता था, पंत ने उसे चेतन माना, अब तक उसे किसी न किसी प्रकार मानव-जीवन से संबंध करके रखा गया था, पंत ने उसके जीवन को अपने में पूर्ण और स्वतन्त्र घोषित किया। प्रकृति के प्रति यह अभिनव दृष्टिकोण बीसवीं शताब्दी की ही विशेषता है और इस सम्बन्ध में दो मत नहीं कि प्रकृति की इस मुक्ति में पंत का सबसे बड़ा हाथ है। पर जहाँ तक रहस्यवाद का सम्बन्ध है वहाँ पंत जी का काव्य रहस्य-भावना के विकास की नहीं, ह्रास की कहानी है। प्रारम्भ में उनकी सुकुमार-वृत्ति जिस सौंदर्य-प्रेम के कारण अनन्त सत्ता का चिंतन करने में लीन रही, बाद में वही अन्य विषयों की ओर मुड़ी।" वस्तुतः पराधीनता के विद्रोह की भावना उस समय के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन की जाग्रति की हलचल का प्रधान कारण थी तथा यह विद्रोह भावना साहित्य जगत में बौद्धिक प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न हुई, अतः जो कलाकार चिंतन-प्रधान, एकान्तप्रिय और वास्तविक जीवन के यथार्थ संघर्ष से दूर थे, उनमें प्रलायन-वृत्ति उत्पन्न हुई। साथ ही वे मानव समाज की मूर्त समस्याओं की ओर ध्यान न देकर उन्हें स्थूल और बाह्य प्रवृत्ति समझ अन्तर्मुख हो गए तथा सृष्टि सौंदर्य में ईश्वर की कौतूहल पूर्ण एवं रागमय खोज करने लगे। यही उनका स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह था जो कि छायावाद या रहस्यवाद के रूप में काव्य-जगत में प्रस्तुत हुआ। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि पंत पर बँगला के रवीन्द्र और अँग्रेजी के शैली, कीट्स आदि की काव्य विशेषताओं का प्रभाव पड़ा है अतः उन्होंने भी रूढ़िगत रीतिकालीन काव्य-परम्परा से विद्रोह कर प्राचीन काव्य-भाषा ब्रजभाषा से विद्रोह कर, खड़ी बोली को काव्योचित कोमलता और प्रभाव पूर्ण मार्दवता प्रदान की। इस प्रकार वीणा से युगान्त तक की रचनाओं में सौंदर्य भावनाओं की ही प्रधानता है तथा कवि को प्रकृति भी सजीव सत्ता धारण किए हुए खेल रही दीख पड़ती है:—

उस अकेली हरयाली में
कौन अकेली खेल रही माँ—
वह अपनी वय-बाली में ?
सजा हृदय की थाली में ?
क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता

मोद, मधुरता, हास, विलास
लीला, विस्मय, अस्फुरता, भय
स्नेह, पुलक, सुख, सरल, हुलास ?
ऊषा की मृदु लाली में

चूँकि छायावाद की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का ही दूसरा रूप शृंगारिकता है; अतः पंत की इन रचनाओं में शृंगार-भावना भी स्पष्टतः दीख पड़ती है और दुःखवाद एवं करुणा की धारा भी उसमें प्रवाहित हो रही है तथा कवि का करुण-हृदय जगत की प्रत्येक वस्तु को करुणा से प्रभावित देखता है:—

सिसकते हैं समुद्र से मन
उमड़ते हैं नभ से लोचन
विश्व वाणी ही है क्रंदन
विश्व का काव्य अश्रुकन ।
गगन के उर से भी घाव
देखती ताराएँ भी है राह,
बँधा विद्युत छवि में जलवाह
चन्द्र के चितवन में है चाह
दिखाते जड़ भी तो अपनाव
अनिल भी भरता ठंडी आह

प्रगतिवादी विचारधारा

यों तो 'युगान्त' में ही कवि ने राजनैतिक विचारधारा को प्रश्रय दिया है और वह उस कृति में गाँधीवाद से भी प्रभावित जान पड़ता है लेकिन भारतीय स्वातंत्र्य-आंदोलन को और भी अधिक तीव्रगति से चलाने के लिए विभिन्न राजनैतिक दलों की भी स्थापना हुई तथा रूस में होने वाली समाजवादी क्रान्ति से प्रभावित हो भारतीय नवयुवकों ने भी समाजवादी दल स्थापित किया । इस समाजवादी विचारधारा में भी दो वर्ग थे जिनमें से प्रथम में क्रान्ति के लिए हिंसा और अहिंसा सभी-कुछ उपयुक्त समझा जाता था तथा द्वितीय में घोषणा की समाप्ति हेतु शोषक वर्ग की सत्ता से सक्रिय विद्रोह अनिवार्य माना गया । वस्तुतः साम्यवादी विचारधारा ने शोषण और अन्याय के प्रति विद्रोह-भावना जाग्रत कर साहित्य में नयी प्रवृत्तियों की उद्भावना की है तथा भारत की सभी भाषाओं में प्रमतिवाद एक विद्रोही चेतना के रूप में अग्रसर हुआ है । यद्यपि जिस समय प्रगव्रिवादी विचारधारा का प्रारम्भ हुआ था, उस समय अँग्रेजों के साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध विद्रोह भावना रखने वाले किसी भी साहित्य को प्रगतिवादी कह विया जाता था लेकिन विदेशियों के चले जाने पर भी भारत में साम्राज्यवादी शोषण का अन्त नहीं हुआ बल्कि अन्य सामाजिक आर्थिक शोषण जनजीवन को और भी अधिक संकट ग्रस्त बनाते जा रहे हैं । अतः स्वाभाविक ही उसके प्रति विद्रोह भावना भी वलवती हो नाती है । इस प्रकार प्रगतिवाद से अभिप्राय है, साम्राज्यवादी एवं पूँजीवादी शक्तियों द्वारा समाज, साहित्य एवं संस्कृत आदि जन-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादक श्रम-शक्तियों के

होने वाले शोषण के प्रति जनता में विद्रोही भावना भरकर एक ऐसे मनुष्य के निर्माण की प्रेरणा देना जो समस्त गतिरोधों पर विजय प्राप्त कर विराट विश्वमानवता का निर्माण कर सके। यों तो स्वयं पंत जी का विचार है कि—"वैसे सभी युगों का लक्ष्य सदैव प्रगति ही की ओर रहा पर आधुनिक प्रगति ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जनसमाज के सामूहिक प्रगति के सिद्धान्तों की पक्षपाती है" और श्री शिवदानसिंह चौहान भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "पंत जी के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि वह प्रारम्भ से ही प्रगति के समर्थक रहे हैं, जीवन-संघर्ष से भागने की प्रवृत्ति उन पर अधिकार न कर सकी। पल्लव में भी उन्होंने परिवर्तन का स्वागत किया है और गुंजन में उनके बिदग्ध हृदय की भावुकता और कोमल कल्पना का लय आत्मचिन्तन और लोक-कल्याण की भावना में हो गया था।" परन्तु पंत जी की प्रगतिवादी विचारधारा युगवाणी और ग्राम्या में ही विशेष रूप से दीख पड़ती है अतः इन्हीं के आधार पर हम उनके प्रगतिशील विचारों का अध्ययन करेंगे। वस्तुतः युगवाणी में कवि की चेतना परिपक्व हो गई है और आत्मचिन्तन एवं कठोर अन्तर्द्वन्द्व के पश्चात् उसे मानव विकास का एक नूतन मार्ग मिल गया है तथा साथ ही अब उसे कविता के बन्धन ही टूटते हुए दीख पड़ते हैं—

खुल गए छन्द के बंध,
प्रास के रजत पाश।
अब गीत मुक्त,
औ' युगवाणी बहती अयास!
बन गए कलात्मक भाव,
जगत के रूप नाम।
जीवन संघर्षण देता सुख,
लगता ललाम।

स्मरण रहे, कवि ने स्वयं ही इस बात का उत्तर दे दिया है कि उसने छायावाद को तज वास्तविक जगत में क्यों प्रवेश किया है "कविता के स्वप्न भवन को छोड़कर हम इस खुरदुरे पथ पर क्यों उतर आये?···इस युग की वास्तबिकता ने जैसा उग्र आकार धारण किया है, उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आंदोलित हो उठा और काव्य की स्वप्न जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गयी। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। और युग जीवन ने उसके चिर-संचित सुख स्वप्नों को चुनौती दी है, उसको उसे स्वीकार करना पड़ा।" कदाचित् इसलिये कवि का विचार है कि प्राचीन मूल्यों के निकट हुए बिना जगत का कल्याण संभव नहीं और वह रूढ़िवादिता का खंडन कर जगत के जीर्ण-शीर्ण पत्रों को ध्वस्त होता हुआ देखना चाहता है—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र।
हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण॥

हिम ताप पीत मधु वात मीत।
तुम वीतराग जड़ पुराचीन॥

उन्हें कोकिला की मधुर तान से भी मोह नहीं रहा और वे यही चाहते हैं कि वह पावक कण बरसा उठे ताकि जिनमें जीवित रहने का साहस न हो वे स्वयं मर जायँ—

गा कोकिल बरसा पावक कण
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन
ध्वंस भ्रष्ट जग के जड़ बन्धन
पावक पग धर आवें नूतन
हो पल्लवित नवल मान पन

युगवाणी में मार्क्सवादी विचारधारा की ही प्रधानता है और कवि ने 'मार्क्स के प्रति' रचना में मार्क्स को प्रलयंकार शिव का तृतीय ज्ञान-चक्षु बतलाया है। इतना ही नहीं अनेक रचनाओं में मार्क्सवादी दर्शन की स्पष्ट छाप है तथा साम्यवादियों के अनुकूल ही पंत जी ने भी संसार, इतिहास और समाज की व्याख्या की है। श्री विश्वम्भर 'मानव' के शब्दों में "वही संसार को सत्य मानना, वही सामूहिक हित की दृष्टि से सब कुछ सोचना, वही पूँजीवाद को सब प्रकार के कष्टों के लिए उत्तरदायी ठहराते हुए उसे मरणासन्न घोषित करना, वही द्वंद्वात्मक तर्क प्रणाली से काम लेना, वही साम्यवाद के साथ स्वर्णयुग का पदार्पण मानना—सब कुछ वही है। साम्राज्यवाद और पूँजीपतियों की निन्दा भी कवि ने साम्यवादी दृष्टिकोण से की है। दूसरी दिशा में इसी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर किसानों और मजदूरों की प्रशंसा भी की गई है। यहीं तक नहीं, हथौड़े पर भी एक रचना प्रस्तुत है।" इतना ही नहीं 'मानव' जी यह भी स्पष्टतः स्वीकार करते हैं कि "साम्यवादी दर्शन और साम्यवादी दृष्टिकोण को अब तक एक स्थान पर जिस स्पष्टता, विश्वास और पूर्णता से पंत जी ने उपस्थित किया है, उस प्रकार अन्य किसी साम्यवादी कवि ने नहीं। उन जैसी चिन्तन की व्यापकता और गहराई भी दूसरे छोटे-मोटे साम्यवादी कवियों में नहीं पाई जाती। ये रचनाएँ कवि की दृढ़ आस्था से उद्भूत हैं, अतः कहीं-कहीं सिद्धान्तों और परिचित विचारों को चाहे दुहराने वाली हो गयी हों, पर उस कट्टर प्रचारात्मक प्रवृत्ति की गन्ध इनमें नहीं है जिसके लिए अन्य नारे लगाने वाले कवियों को दोषी ठहराया जाता है। पंत जी की संस्कृत-रुचि के अनुशासन में चलने के कारण इनमें अश्लीलता और कुरुचि का पुट भी कहीं नहीं दिखलाई देता।" परन्तु कविवर पंत ने मार्क्सवाद को उसी रूप में स्वीकार नहीं किया है जिस रूप में वह पाया जाता है। फलतः मार्क्सवादियों से उनका मतभेद भी प्रारम्भ हो गया और कालान्तर में तो इन साम्यवादी समीक्षकों ने पंत की काव्य-कला को सर्वथा हीन-कोटि की सिद्ध करने का दृढ़ निश्चय सा कर लिया। डॉ० रामविलास शर्मा ने इसी उद्देश्य से पंत जी पर आक्षेप करते हुए लिखा है "दूसरे महायुद्ध के पहले जब कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने थे तब 'उत्तरा' के लिखने तक जनता की चेतना और उसके साथ हिन्दी जनता की चेतना में काफी परिवर्तन हो गया। अन्तर्चेतनावादी पंत जी से सामाजिक चेतना के ये परिवर्तन छिपे नहीं हैं लेकिन वह इस नयी सामाजिक चेतना से सहानुभूति नहीं रखते—न बौद्धिक, न हार्दिक। वह अपने पुराने समन्वयवाद को नया जामा पहनाकर हिन्दी पाठकों से कहते हैं—मैं प्रतिगामी नहीं, लेकिन मार्क्सवाद का कौन सा विरोधी

अपने को प्रतिगामी मानता है। उसका व्यवहार उसकी प्रतिगामिता प्रकट कर देता है। पंत जी यदि अपने अन्तर्चेतनावाद से लोगों को बहकाना चाहते हैं तो कुछ दिन और कोशिश करके देखें।" स्वयं पंत जी ने भी 'उत्तरा' की भूमिका में स्पष्टतः कह दिया है—"हमारे कतिपय प्रगतिशील विचारक प्रगतिवाद को वर्गयुद्ध की भावनाओं से संबंधित साहित्य तक ही सीमित रखना चाहते हैं। उन्हें इस युग की अन्य सभी प्रकार की प्रगति की धाराएँ प्रतिक्रियात्मक, पलायनवादी, सुधार-जागरणवादी तथा युगचेतना से पीड़ित दिखाई देती हैं। वे आलोचक अपने सांस्कृतिक विश्वासों में मार्क्सवादी ही नहीं अपने राजनीतिक विचारों में कम्युनिस्ट भी हैं।" यद्यपि पंतजी ने मार्क्सवाद को सर्वथा हेय नहीं समझा है लेकिन वह उसे उस रूप में स्वीकार नहीं करते जिस रूप में प्रगतिवादी विचारक करते हैं। पंत जी का विचार है "मार्क्सवाद का आकर्षण उसके खोखले दर्शन के पक्ष में नहीं, उसके वैज्ञानिक लोकतन्त्र के रूप में मूर्त आदर्शवाद में है जो जनहित अथवा सर्वहारा का पक्ष है, किन्तु उसे वर्ग-क्रान्ति का रूप देना अनिवार्य नहीं है। वर्ग-युद्ध का पहलू फासिज्म की तरह ही निकट भविष्य में पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी युग की दूसरी प्रतिक्रिया के रूप में विकृत एवं विकीर्ण हो जाएगा। हीगल के द्वन्द्वतर्क में बिंबित पश्चिम के मनोजगत का अन्तर्द्वन्द्व मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में बहिर्द्वन्द्व का रूप धारण कर लेता है। इस दृष्टि से इन युग प्रवर्तकों का मानव-चिन्तन, ऐंजिल्स के अनुसार 'अपनी युग सीमाओं से बाहर' अवश्य नहीं जा सका है। × × × हीगल और मार्क्स दोनों ही अपने युग के बहुत बड़े मनस्वी हुए हैं, किन्तु उनकी मनःशक्ति ही इनकी सीमाएँ भी बन गयीं।" इसीलिए कवि ने मार्क्स के सम्बन्ध में यह भी कहा है "सहस्रों वर्षों से अध्यात्म-दर्शन की सूक्ष्म-सूक्ष्मतम झंकारों से रहस्य-मौन निनादित भारत के एकान्त मनोजगत में मार्क्स तथा ऐंजिल्स के विचार-दर्शन की गूँज बौद्धिकता के शुभ्र अंधकार के भीतर रेंगनेवाले झींगुरों की रुँधी हुई झंकारों से अधिक स्पंदन नहीं पैदा करती। ऐंजिल्स के शाश्वत सत्य की व्याख्या, जिसके उदाहरणस्वरूप "नैपोलियन ५ मई को मरा है" तथा हीगल का 'विचार-निरपेक्ष' जो कण-कण जोड़कर विकसित होता है, अथवा ऐसे इतर सिद्धान्तों की दुहाई देकर द्वन्द्व-तर्क तथा भौतिकवाद का महत्व दिखाना भारतीय दर्शन के विद्यार्थी के लिए हास्यास्पद दार्शनिक तुतलाहट से अधिक गौरव नहीं रखता। जिन मार्क्स तथा ऐंजिल्स के उद्धरणों को दुहराते हुए हमारा तरुण बुद्धिजीवी नहीं थकता, उसे अन्य दर्शनों के साथ अपने देश के दर्शनों का भी सांगोपांग तुलनात्मक अध्ययन अवश्य करना चाहिए और देखना चाहिए कि ऊँट और हिमालय के शिखर में कितना अन्तर और क्या भेद है।" कविवर पंत की दृष्टि में आध्यात्मिक, मानसिक तथा भौतिक तीनों को सम्बोधित किए बिना मानव-कल्याण नभ-कुसुमवत् है और इसीलिए उन्होंने यही कहा है कि "मैं मार्क्सवादी (आर्थिक दृष्टि से वर्ग संतुलित) जनतन्त्र तथा भारतीय जीवनदर्शन को विश्व-शान्ति तथा लोक-कल्याण के लिए आदर्श संयोग मानता हूँ" तथा वह अपने अन्तर्चेतनावाद को भी प्रगतिवाद से कोई भिन्न वस्तु नहीं समझते, अपितु उनका यही कहना है कि "मैं जनवाद को राजनीतिक संस्था या तन्त्र को बाह्यरूप में ही न देखकर भीतरी प्रजात्मक मानव-चेतना के रूप में भी देखता हूँ और जनतन्त्र की आन्तरिक (आध्यात्मिक) परिणति को ही 'अन्तर्चेतनावाद' अथवा 'नव मानववाद' कहता हूँ— × × दूसरे शब्दों में जिस विकासगामी चेतना को हम संघर्ष के धरातल पर प्रजातन्त्र नाम से

पुकारते हैं उसी को ऊर्ध्व सांस्कृतिक धरातल पर मैं अन्तर्चेतना—अन्तर्जीवन कहता हूँ । × × मैं वर्गहीन सामाजिक-विधान के साथ ही मानव अंहता के विधान को भी नवीन-चेतना के रूप में परिणति संभव समझता हूँ और युग-संघर्ष में जन-संघर्ष के अतिरिक्त अन्तर्मानव का संघर्ष भी देखता हूँ ।"

इस प्रकार कवि की प्रगतिवादी विचारधारा की समीक्षा हमें स्वयं कवि के कथन को कसौटी मानकर करनी चाहिए अन्यथा हम उनका उचित मूल्यांकन न कर सकेंगे । यों तो हम पंत जी को किसी वाद-विशेष का प्रचारक न मानकर जीवन का दृष्टा ही मानते हैं तथा युगवाणी और ग्राम्या में संकलित उनकी रचनाओं में हमें भविष्यदृष्टा की दृष्टि ही दीख पड़ती है । श्री शिवदानसिंह चौहान के शब्दों में—"पंत जी की युगवाणी और ग्राम्या की कविता साहित्य में भविष्यवाद की कविता है । रूसी समाजवादी क्रान्ति के समय वहाँ भविष्यवाद की कविता सर्वप्रधान थी । क्लेवनी कँव और मयकवस्की प्रभृति कवियों ने भविष्यवाद की कविता का विकास किया था । + + + पंत की युगवाणी और ग्राम्या की कविताओं में रूसी भविष्यवाद की कविताओं की सी मांसल-रक्तिम कला नहीं है, लेकिन उनमें नूतन की बौद्धिक कल्पना अवश्य है ।"

स्मरण रहे युगवाणी को कतिपय समीक्षक भारतीय साम्यवाद की वाणी ही मानते थे और स्वयं कवि ने अपनी कृति के सम्बन्ध में कहा था "मैंने युगवाणी में मध्य-युग की संकीर्ण नैतिकता का घोर खंडन किया है और जनता के मन में जो अन्ध-विश्वास और मृत आदर्शों के प्रति मोह घर किए हैं, उसे छुड़ाने का प्रयत्न कर उन्हें नवीन जागरण का संदेश दिया है ।" इसीलिए कवि ने उस युग की कल्पना की हैं जहाँ—

श्रेणी में मानव नहीं विभाजित
धन बल से हो जहाँ न जन-श्रम शोषण
पूरित भवजीवन के निखिल प्रयोजन

'ग्राम्या' में तो यथार्थवाद का पुट और भी अधिक हो गया है तथा केवल बौद्धिक सहानुभूति प्रदान करने की घोषणा करते हुए भी कवि ने गाँव के व्यापक जीवन पर दृष्टि फेरी है और जहाँ कि एक ओर धोबियों, कहारों, चमारों आदि के नृत्य, ग्रामश्री ग्रामयुवती आदि का वर्णन किया है, वहाँ दूसरी ओर धूलि में खेलते बच्चों, बिदा होती बहन-बेटियों और पीतल तथा गहने लादे किसानों की पत्नियों को नहाने के लिए जाते देखा है । साथ ही उसने ग्राम्य-जीवन के उस पक्ष पर भी दृष्टि फेरी है जहाँ कि दरिद्रता, अज्ञान, रोग और कराह आदि है तथा क्षुधा-शान्ति को अन्न, तन ढँकने को वस्त्र और रक्षा पाने को घर आदि वस्तुओं का अभाव है । नर-नारी रूढ़ियों में बँधे हुए हैं और छोटी-छोटी बातों पर लड़ते झगड़ते हैं तथा जीवन के प्रकाश से मुँह फेरे बैठे हैं अतः शिक्षा, संस्कृति और कला की बातें वहाँ करना व्यर्थ ही है । ग्राम्य-जीवन की यह झलक भी कवि ने पूर्णतः यथार्थवादी दृष्टिकोण से अंकित की है:—

यहाँ धरा न मुख कुरूप है
कुत्सित गर्हित जन का जीवन
सुन्दरता का मूल्य वहाँ क्या
जहाँ उदर है क्षुब्ध नयन तन

और भी—

मिट्टी से भी मटमैले तन
अधफटे, कुचैले जीर्ण वसन—
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए
ये गँवई लड़के—भू के धन !
कोई खंडित, कोई कुण्ठित
कृश बाहु पसलियाँ रेखांकित—
टहनी सी टाँगें बड़ा पेट
टेढ़े - मेढ़े विकलांग घृणित !
जगजीवन धारा में बहते
ये मूक, पंगु बालू के कण !

इसमें कोई संदेह नहीं कि ग्रामीण-जीवन की इन स्थितियों का अध्ययन साम्यवादी भी करते हैं तथा प्रगतिवादी भी इनका चित्रण करते हैं लेकिन पंत जी के चित्रों में अधिक यथार्थता है और इनमें प्रचारात्मकता की अपेक्षा स्वाभाविकता ही विशेष-रूप से है अतः हम उन्हें संकीर्ण सीमाओं से घिरा हुआ प्रगतिवादी कवि चाहे न मानें परन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि उनकी विचारधारा में प्रगतिशीलता अवश्य विद्यमान है। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में "पहले उन्होंने छायावाद की ललित कला दी थी और आज समाजवाद की वस्तु-कला दे रहे हैं। पहले उन्होंने 'भू पलकों' पर स्वप्न-जाल-सी छाया का रेशमी संसार बुन दिया था, आज वे भू-पृष्ठों पर जीवन के स्थापत्य के कठिन उपकरण चुन रहे हैं। आज वे सौन्दर्य के नये आकार और जीवन के नए मोड़ की रचना कर रहे हैं।"

अध्यात्मवादी विचारधारा

पंत जी की प्रगतिवादी विचारधारा भी सर्वथा स्थिर नहीं रही और मार्क्सवाद में आस्था रखते हुए भी वे उससे पूर्णतः प्रभावित न हो सके तथा मार्क्सीय सिद्धान्तों को वाणी देने के साथ-साथ उन्होंने आत्मवाद, ईश्वरवाद और अहिंसावाद के विषय में भी कुछ न कुछ अवश्य लिखा। यों तो छायावादी रचनाओं के प्रणयन काल में ही वे गांधीवाद से साम्यवाद की ओर आकर्षित हुए थे लेकिन भूत और आत्मा के समन्वय का संकेत भी उन्होंने अनेक स्थानों पर किया है तथा सन् १९४० तक 'ग्राम्या' के समाप्त हो जाने पर सन् १९४२ में होने वाले भारतीय आन्दोलन का प्रभाव भी उन पर पड़ा। इसी बीच में वह अस्वस्थ भी रहे तथा पांडिचेरी जाकर संत अरविन्द के सम्पर्क में रहने का भी उन्हें सुअवसर प्राप्त हुआ और लोक-जीवन से दूर हो एकान्त में ही अधिक रहने के कारण न केवल वे अन्तर्मुखी हो गए, उनका दृष्टिकोण भी दार्शनिक हो गया। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि अपनी प्रगतिवादी काव्य-कृतियों में उन्हें मूर्त समस्याओं तथा साम्यवादी लोक-जीवन की ओर जो आकर्षण था वह युगीन प्रभाव से उत्पन्न अस्थायी बौद्धिक जागरण मात्र था। अतः उसे अपने सहज रूप में परिवर्तित होते देर नहीं लगी और फिर अरविन्दाश्रम में तो मार्क्सवाद की सीमाएँ भी स्पष्ट दिखाई दे गईं—"मैं आध्यात्म और

भौतिक दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ हूँ, पर भारतीय दर्शन की सामंतकालीन, परिस्थितियों के कारण जो एकान्त-परिणति व्यक्ति की प्राकृतिक मुक्ति में हुई है (दृश्य-जगत एवं ऐहिक जगत की माया होने के कारण उसके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उपसंहार-मात्र है) और मार्क्स के दर्शन की पूँजीवादी परिस्थितियों के कारण, वर्ग-युद्ध और रक्तक्रान्ति में परिणत हुई हैं—ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।" साथ ही अरविन्द की 'दी लाइफ डिवाइन' ने भी उन्हें प्रभावित किया और उन्होंने 'उत्तरा' की भूमिका में स्वयं ही यह स्वीकार किया है कि "श्री अरविन्द को मैं इस युग की महान तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ। उनके जीवन-दर्शन से मुझे पूर्ण संतोष हुआ है। उनसे अधिक व्यापक, ऊर्ध्व तथा अतल-स्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन-दर्शन में अध्यात्म का सूक्ष्म बुद्धि, अग्राह्य सत्य, नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा से मंडित हो उठा है मुझे दूसरा कहीं देखने को नहीं मिला। विश्व-कल्याण के लिए मैं श्री अरविन्द की देन को इतिहास की सबसे बड़ी देन मानता हूँ। उसके सामने इस युग के वैज्ञानिकों की अणु-शक्ति की देन अत्यन्त तुच्छ है। उनके दान के बिना शायद भूत विज्ञान का बड़े से बड़ा दान भी जीवान्मृत मानव-जाति के भविष्य के लिए आत्म-पराजय तथा अशान्ति ही का वाहक बन जाता है। मैं नहीं कह सकता, संसार के मनीषी तथा लोकनायक श्री अरविन्द की इस विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि का उपयोग किस प्रकार करेंगे अथवा भगवान उसके लिए कब क्षेत्र बनाएँगे।" पंतजी की नूतन काव्य-कृतियों—स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, उत्तरा तथा अतिमा—में अरविन्द का प्रभाव दर्शनीय है और महर्षि अरविन्द के प्रति श्रद्धा रहने के कारण ही उन्होंने स्वर्णधूलि के एक गीत में उन्हें अपनी श्रद्धांजलि भी प्रदान की है:—

श्री अरविन्द, सभक्ति प्रणाम
स्वमानस के ज्योतित सरसिज
दिव्य जगत जीवन के दर द्विज
चिदानन्द के स्वर्णिम मनसिज
ज्योति ललाम
सज्ञान प्रणाम !

वस्तुतः 'ज्योत्सना' में जिस आध्यात्मिक मानववाद के दर्शन हुए थे, वही इन कविताओं में समन्वय के आधार पर विकसित होने वाला 'अन्तर्चेतनावादी' 'नवमानववाद' बन गया और यही कारण है कि कतिपय समीक्षक पंत जी की समस्त कृतियों में ही आध्यात्मिकता देखते हैं। श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के शब्दों में "पंत जी के सारे काव्य में एक ही आध्यात्मिक आस्था का विकास मिलता है। अरविन्द से प्रभावित होने के पूर्व भी वह ब्रह्मवादी था और अरविन्द से प्रभावित काव्य में तो वह उसको स्पष्ट रूप से स्वीकार ही करता है। बीच के काव्यों—युगान्त, युगवाणी आदि में—मार्क्सवाद से प्रभावित कुछ कविताएँ भी हैं।" उपाध्याय जी के इस कथन की आलोचना करना हम यहाँ उचित नहीं समझते क्योंकि हम यह पहले ही स्वीकार कर चुके हैं कि कवि किसी एक ही विचारधारा से प्रभावित नहीं रहा लेकिन यहाँ यह तो कहा ही जा सकता है कि उसकी कृतियों में आध्यात्मिक भावों की प्रधानता अरविन्द के सम्पर्क में आने पर ही आई और जिस प्रकार अरविन्द ने अन्तर

और बाह्य दोनों के भव्य समन्वय से ही सुख-शान्ति संभव समझी है उसी प्रकार पंत जी ने भी इसी समन्वय को स्वीकार किया है—"भविष्य में हम जिस मानवता अथवा लोक-संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं उसके लिए हमें बाहर-भीतर दोनों ओर से प्रयत्न करना चाहिए, सूक्ष्म और स्थूल दोनों शक्तियों से काम लेना चाहिए। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि स्थूल में सूक्ष्म अपने आप संगठित हो जायगा—जैसा कि आज का भौतिक दर्शन या मार्क्सवादी कहता है, अथवा सूक्ष्म में सामंजस्य स्थापित कर लेने से स्थूल में अपने आप संतुलन आ जाएगा, जैसा कि मध्ययुगीन विचारक कहता आया है। ये दोनों दृष्टिकोण अति वैयक्तिकता तथा अति सामाजिकता के दुराग्रह मात्र हैं।" इसीलिए पंत जी ने सृष्टि-विकास का वर्णन भी अरविन्द की विचारधारा के अनुरूप ही किया है:—

नभ से बन पवन, पवन से जल, लालायित यह चेतना अमर।
सोई धरती से लिपट जगाने, उसे, युगों की जड़ता हर॥

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि पंत का अध्यात्मवाद न तो किसी साम्प्रदायिक धार्मिकता में ही विश्वास रखता है और न किसी दर्शन विशेष के सिद्धान्तों का ही प्रचार करता है तथा उसका आधार विरक्त न होकर मानव की मानसिक विश्वास के प्रति मनोवैज्ञानिक अनुरक्ति ही है। कवि बाह्य-विकास के लिए अन्तर का विकास अनिवार्य समझता है और उसका अध्यात्मवाद मनोवैज्ञानिक अध्यात्मवाद है, जो अन्तर्चेतना के विकास के आधार—अपार्थिव मानवता के पूर्ण विकास-हेतु उत्सुक है। कवि को इसीलिए वर्ग संघर्षवादियों की भाँति जनवाद नहीं अपितु मानववाद अभीष्ट है और वह इसी में संसार का सुख निहित देखता है—"केवल राजनीतिक, आर्थिक हलचलों की बाह्य सफलताओं द्वारा ही मानव-जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के सभी आन्दोलनों की परिपूर्णता प्रदान करने के लिए संसार में एक व्यापक 'सांस्कृतिक आंदोलन' को जन्म लेना होगा जो मानव चेतना के राजनैतिक, आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सम्पूर्ण धरातलों में मानवीय संतुलन तथा सामंजस्य स्थापित कर आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि पंत का विचार-जगत विस्तृत, भाव पूर्ण और विशद है। जैसा कि श्री फूलचन्द्र पांडे का कहना है "विचारधाराओं के माध्यम से सम्पूर्ण जीवन का इतना बड़ा चिन्तक और भी हुआ है या नहीं—मैं नहीं कह सकता।"

(अप्रैल १९५९)

निबंधकार शुक्ल जी और उनकी चिंतामणि

प्रवेश

वस्तुतः आचार्य रामचंद्र शुक्ल बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार ही थे और उन्होंने साहित्य के जिस अंग को अपने हाथ में लिया उसी को अपनी उपज्ञात प्रतिभा द्वारा चमका दिया पर हिन्दी समीक्षा-जगत में तो उनकी देन सर्वथा अनूठी ही है। यह कहना कि हिन्दी साहित्य में सत्समीक्षा की स्थापना सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल द्वारा ही हुई, कोई अत्युक्तिपूर्ण कथन न होगा और वास्तविकता तो यह है कि "उन्होंने हिन्दी-साहित्य के एक सुन्दर इतिहास का निर्माण किया जिससे हिंदी साहित्य की बिखरी हुई विशाल सामग्री का क्रमबद्ध और सुसंगठित स्वरूप हमारे सामने आया। उन्होंने काव्य का एक बहुत ऊचा मानदंड निर्धारित किया, जिससे ज्ञानयोग के समकक्ष भावयोग की स्थिति को पहुँचाकर उन्होंने उसे मानव-जीवन के लिए प्रत्येक युग की दृष्टि से नितांत उपयोगी प्रमाणित किया। उन्होंने प्रकृति को एक नवीन रूप में देखा, जिसमें एक ओर तो वह केवल उद्दीपन सामग्री के उपयोग में आने से मुक्त हो सकी और दूसरी ओर मानवीय भावनाओं के आरोप से ही ग्रस्त न होकर अपने मूल व्यक्तित्व के सौन्दर्य से मंडित हुई। शुक्ल जी ने अपने समय की साहित्यिक समस्याओं को सुलझाने के लिए छोटे-छोटे निबन्धों के अतिरिक्त लम्बे-लम्बे आलोचनात्मक प्रबन्ध लिखे। कविता क्या है ? काव्य में प्राकृतिक दृश्य, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद आदि निबन्धों में उन्होंने काव्य-सम्बन्धी अपने बहुत सुलझे हुए विचार व्यक्त किए। वे रस-सिद्धांत के समर्थक थे और अव्यक्त सत्ता को ही काव्य का विषय मानते थे। काव्य की साधनावस्था और सिद्धावस्था का प्रतिपादन करके उन्होंने गत्यात्मक सौंदर्य की संगति में लाकर खड़ा कर दिया। पाश्चात्य साहित्य से प्रस्थान करके हिंदी साहित्य में पहुँचने वाले 'कला-कला के लिए' काव्य-सिद्धांत के रूप में ग्रहण की जाने वाली रहस्योन्मुखता, अभिव्यञ्जनावाद आदि के विरोध में उन्होंने अपनी आवाज उठायी। साथ ही समीक्षा के जिन सिद्धांतों की उन्होंने स्थापना की, उन्हीं पर आधारित करके जायसी, तुलसीदास तथा सूरदास के संबंध में भूमिकाओं के रूप में लम्बे प्रवन्ध भी लिखे। इसमें सन्देह नहीं कि संक्रमण काल के पथप्रदर्शक एक साहित्यिक नेता की तरह उन्होंने साहित्य के विद्यार्थियों में स्वाभिमान, आत्म-निर्भरता आदि का भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया।"[1] इस प्रकार शुक्ल जी एक समर्थ समालोचक थे और साथ ही

---

[1] **समीक्षकप्रवर श्री रामचंद्र शुक्ल—श्री गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' (पृ० १०६-१०८)**

उत्कृष्ट निबंधकार भी।[१] श्री शिवनाथ एम० ए० के शब्दों में "हिंदी निबंध के क्षेत्र में उन्होंने जो कार्य किया वह किसी भी देशी व विदेशी साहित्य द्वारा स्पृहणीय है। निबंध के क्षेत्र में भी उनका कार्य अभूतपूर्व है। वर्तमान युग में कोई ऐसा निबन्धकार नहीं दृष्टिगत होता जो उनकी श्रेणी के समकक्ष रखा जा सके।"[२] शुक्ल जी के निबंध चिंतामणि के दो भागों में संगृहीत हैं। चिंतामणि द्वितीय भाग स्वयं शुक्ल जी द्वारा संगृहीत होकर प्रकाश में नहीं आया अपितु काशी विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के सुयोग्य प्राध्यापक और शुक्ल जी के प्रिय शिष्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा संकलित-सम्पादित होकर प्रकाश में आया है। इसमें शुक्ल जी के तीन विशद निबन्ध काव्य में प्राकृतिक दृश्य, काव्य में रहस्यवाद तथा काव्य में अभिव्यंजनावाद संकलित किये गये हैं। इस प्रकार चिंतामणि पहला भाग ही शुक्ल जी द्वारा स्वयं संकलित एकमात्र निबन्ध-संग्रह है। इस दिशा में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबन्धों का एक संग्रह पहले सन् १९३० में 'विचार-वीथी' नाम से प्रकाशित हुआ था और बाद में वही परिवर्धित तथा परिष्कृत होकर चिन्तामणि पहला भाग के रूप में सन् १९३९ में प्रकाशित हुआ। इसके पूर्व विचार-वीथी या चिंतामणि पहला भाग के मनोविचार-सम्बन्धी निबन्ध सन् १९१२ से सन् १९१८ तक नागरी प्रचारिणी पत्रिका में धारावाहिक रूप में 'मनोविकारों का विकास' शीर्षक से प्रकाशित हुए थे।

चिंतामणि पहला भाग में कुल सत्रह निबन्ध भाव या मनोविकार, उत्साह, श्रद्धाभक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय, क्रोध, कविता क्या है, भारतेंदु हरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्ति-मार्ग, मानस की धर्म-भूमि, काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद, रसात्मक बोध के विविध रूप नामक हैं। इन सत्रह निबन्धों में से प्रथम दस निबन्ध भाव या मनोविकार विषयक तथा शेष सात काव्यशास्त्र से सम्बन्धित विवेचनात्मक या सैद्धान्तिक गंभीर निबंध हैं अतः शुक्ल जी के निबंधों को मूलतः मनोभावात्मक अर्थात् भाव या मनोविकार संबंधी निबन्ध और आलोचनात्मक निबन्ध नामक दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध में से प्रथम निबन्ध भाव या मनोविकार पर है, शेष में से उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लाभ और प्रीति, घृणा, भय तथा क्रोध का सम्बन्ध रस के मूल स्थायी भावों से है। अवशिष्ट दो लज्जा और ग्लानि तथा ईर्ष्या का सम्बन्ध संचारी भावों से है। आलोचनात्मक निबन्धों में से कविता क्या है, काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद तथा रसात्मक बोध के विविध रूप सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी हैं। शेष तीन निबन्ध भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्ति-मार्ग व मानस की धर्म-भूमि व्यावहारिक आलोचना से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार चिता-

---

१. "शुक्ल जी ने अपने निबंधों द्वारा हिन्दी के काव्यशास्त्र को एक नया मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार दिया।"

—आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना

—डॉ. रामविलास शर्मा (पृ. २५३)

२. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—श्री शिवनाथ एम. ए. (पृ. ३०२)

मणि पहला भाग के आलोचनात्मक निबन्धों को सहज ही सैद्धांतिक व व्यावहारिक या व्याख्यात्मक नामक दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है ।

मनोभावात्मक निबंध : कसौटी पर

चिंतामणि पहला भाग में संगृहीत मनोभावात्मक निबन्धों को भाव या मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध भी कहा जाता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि "भाव या मनोविकारों का मनोवैज्ञानिक शैली से हिंदी साहित्य में कदाचित पहली बार ही इतना मार्मिक विश्लेषण हुआ है ।[1] साथ ही "भावों वा मनोविकारों पर आचार्य शुक्ल द्वारा इन निबन्धों का प्रस्तुत किया जाना हिन्दी साहित्य में एक नवीन घटना है । इस विषय पर जिस रूप में ये निबन्ध हैं उस रूप में प्रस्तुत होकर चाहे किसी भी साहित्य का मस्तक ऊँचा कर सकते हैं । इस विषय का प्रतिपादन (ट्रीटमेंट) आचार्य शुक्ल ने जिस रूप में किया उस रूप में इस विषय पर विचार शायद ही किसी देश के साहित्य में मिले । आचार्य शुक्ल के पूर्व हिन्दी के निबन्धकारों ने भावों या मनोवेगों को अपने निबन्ध का विषय तो बनाया पर वे इन पर साहित्यिक दृष्टि से विचार न कर सके जैसा कि आचार्य शुक्ल ने किया । किसी भी विषय पर लिखकर उसे साहित्यिक पुट या रंग देने की क्षमता उन निबन्धकारों में नहीं लक्षित होती । श्री बालकृष्ण भट्ट ने मानसिक शक्ति से सम्बद्ध 'आत्म-निर्भरता' पर निबन्ध तो प्रस्तुत किया पर उसमें अधिकतर इसके द्वारा होने वाले लाभों की ही चर्चा की । उन्होंने इसको एक आत्मशक्ति व भावरूप में ग्रहण करके इस पर विचार नहीं किया । श्री प्रतापनारायण मिश्र ने अपने 'मनोयोग' नामक निबन्ध में भी इसके लाभ-हानि का ही विचार किया है । श्री माधवप्रसाद मिश्र के 'धृति और क्षमा' नामक निबन्ध में भी इनका (धृति और क्षमा का) भावों के रूप में विवेचन नहीं है प्रत्युत धर्मशास्त्रीय विवेचन है । वे ऐसे ही विषयों पर लिखते भी थे । इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के अन्य निबन्धकारों ने भावों पर निबन्ध लिखा तो अवश्य, पर उन्होंने उन पर विशुद्ध भावों की दृष्टि से विचार नहीं किया । उन्होंने मनोभावों की उत्पत्ति, उनके लक्षण और विकास का अध्ययन व्यावहारिक जीवन और समाज में करके उन पर निबन्ध प्रस्तुत किये । शुद्ध मनोविज्ञान व मनोशास्त्र की आँख से भावों व मनोविकारों को देखकर उन्होंने उन पर निबन्ध नहीं लिखा, उन्होंने इनको (भावों को) जीवन और समाज में अपनी आँख से देखा, उनका अनुभव किया और उन्हें निबन्ध का रूप दिया । संभव है, उन्हें इस कार्य में कहीं-कहीं मनोशास्त्र से कुछ सहायता मिली हो; पर जिस रूप में ये निबन्ध हमारे सम्मुख हैं उस रूप में उन्हें देखने पर स्पष्टतः विदित हो जाता है कि लेखकों को भावों का सामाजिक और व्यावहारिक अनुभव है । उसने अपनी अनुभवशीलता के वल पर इनका विवेचन किया है, शास्त्र के वल पर नहीं । भावों पर लिखे गए निबन्धों द्वारा इनके विषय में आचार्य शुक्ल की पूर्ण और सच्ची अनुभवशीलता का परिचय मिलता है । इनसे विदित होता है कि उन्हें इनके (भावों के) सामाजिक और व्यावहारिक स्वरूप का कितना सम्यक् ज्ञान था । उनकी दृष्टि भावों के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंगों या स्वरूपों पर गई है, जिससे उनकी अनुभूतिशीलता

---

[1] समीक्षात्मक निबन्ध—डॉ० विजयेन्द्र स्नातक (पृ. २७)

द्योतित होती है।"[१] एक उदाहरण देखिए—"लज्जा का एक हलका रूप संकोच है जो किसी काम को करने के पहिले ही होता है। कर्म पूरा होने के साथ ही उसका अवसर निकल जाता है, फिर तो लज्जा ही लज्जा हाथ रह जाती है। सामान्य से सामान्य व्यवहार में भी संकोच देखा जाता है। लोग अपना रुपया माँगने में संकोच करते हैं, साफ-साफ बात करने में संकोच करते हैं, उठने-बैठने में संकोच करते हैं, लेटने में संकोच करते हैं, खाने-पीने में संकोच करते हैं, यहाँ तक कि एक सभा के सहायक मंत्री हैं जो कार्य-विवरण पढ़ने में संकोच करते हैं। सारांश यह कि एक बेवकूफी करने में लोग संकोच नहीं करते और सब बातों में करते हैं। इससे उतना हर्ज भी नहीं क्योंकि बिना बेवकूफ हुए बेवकूफी का बुरा लोग प्रायः नहीं मानते। इतनी क्रियाओं का प्रतिबन्धक होने के कारण संकोच शील का एक प्रधान अंग, सदाचार का एक सहज साधक और शिष्टाचार का एकमात्र आधार है। जिसमें शील-संकोच नहीं वह पूरा मनुष्य नहीं। बाहरी प्रतिबन्धों से ही हमारा पूरा शासन नहीं हो सकता—इन सब बातों की रुकावट नहीं हो सकती जिन्हें हमें न करना चाहिए। प्रतिबन्ध हमारे अन्तःकरण में होना चाहिए। यह आभ्यन्तर प्रतिबन्ध दो प्रकार का हो सकता है—एक विवेचनात्मक जो प्रयत्न-साध्य होता है, दूसरा मनः प्रवृत्यात्मक जो स्वभावज होता है। बुद्धि द्वारा प्रवृत्ति जबरदस्ती रोकी जाती है, पर लज्जा संकोच आदि की अवस्था में प्राप्त होकर प्रवर्तक मन आप से आप रुकता है—चेष्टाएँ आप से आप शिथिल पड़ती हैं। यही रुकावट सच्ची है। मन की जो वृत्ति बड़ों की बात का उत्तर देने से रोकती है, बार-बार किसी से कुछ माँगने से रोकती है, किसी पर किसी प्रकार का भार डालने से रोकती है, उसके न रहने से भलमनसाहत भला कहाँ रहेगी? यदि सबकी धड़क एकबारगी खुल जाय तो एक ओर छोटे मुँह से बड़ी बातें निकलने लगें, चार दिन के मेहमान तरह-तरह की फरमाइशें करने लगें, उँगली का सहारा पानेवाला बाँह पकड़ कर खींचने लगे, दूसरी ओर बड़ों का बहुत-कुछ बड़प्पन निकल जाय, गहरे गहरे साथी बहरे हो जायँ या सूखा जवाब देने लगें, जो हाथ सहारा देने के लिए बढ़ते हैं वे ढकेलने के लिए बढ़ने लगें—फिर तो भलमनसाहत का भार उठाने वाले इतने कम रह जायँ कि वे उसे लेकर चल ही न सकें।"[२]

इतना ही नहीं, "मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में विषय का प्रसार मानसशास्त्र की स्वीकृति गतिविधि तथा सीमा के अनुसार नहीं है, वरन् तद्विषयक अध्ययन, अनुभूति तथा प्रेरणा के अनुसार है। भाव-संबंधी जो कुछ भी मनोवैज्ञानिक सामग्री शुक्ल जी को अध्ययन से मिली उसका प्रयोग उन्होंने इस व्याख्या की दृष्टि से भाव-निरूपण के संदर्भ में किया है। शुक्ल जी ने अपने अध्ययन में अपनी अनुभूति का मणिकांचन संयोग करके, साहित्य तथा जीवन की तत्कालीन समस्याओं को सुलझाने की प्रेरणा को निबन्धों का उत्स बनाकर रस की शास्त्र-जड़ीभूत यंत्रगतिक व्याख्या को नवजीवन तथा नये आदर्शों से प्रदीप्त कर इन निबन्धों द्वारा रस-सिद्धान्त का नव निर्माण, पुनर्प्रतिष्ठा तथा स्थापना बहुत ही सुदृढ़ भूमिका पर करने का प्रयत्न किया है। इन निबन्धों में साहित्य के मूल भावों का विवेचन साहित्य की दृष्टि से

---

[१] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—श्री शिवनाथ एम० ए० (पृष्ठ २३९-२४०)

[२] चिन्तामणि पहला भाग—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृष्ठ ६५-६६)

विशेषत: नव रस-विवेचन की दृष्टि से मनोविज्ञान का सहारा लेकर लोकगत व्यावहारिक जीवन की पृष्ठभूमि पर किया गया है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उन्होंने इन मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों द्वारा आधुनिक मनोविज्ञान, अपनी निजी अनुभूति तथा चिन्तन की सहायता से रस की अधुनातन व्याख्या करने की चेष्टा की है।

इन निबन्धों को लिखते समय उनकी दृष्टि मूलत: साहित्य पर, गौणत: जीवन पर केन्द्रित रही, मानसशास्त्र के किसी सैद्धान्तिक अथवा तथ्य संबंधी अनुसंधान पर नहीं। इसीलिए इनमें न तो मानस-शास्त्र के समान प्रयोगों द्वारा अथवा कोरे तथ्य-संग्रहों द्वारा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की चर्चा की गई है और न किसी मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय अथवा सिद्धांत-विवेचना की पद्धति पर मनोविकार के अवान्तर रूपों का स्पष्टीकरण। मनोविज्ञान की दृष्टि से किसी मनोविकार के जितने संभावित भेदोपभेद हो सकते हैं, इन सबका विवेचन किसी भी मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध में नहीं है, वरन् भाव या रस की दृष्टि से लोक-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में किसी मनोविकार के जितने शुद्ध भेद हो सकते हैं, केवल उन्हीं का विवेचन रस-सिद्धान्त की पद्धति पर जीवन तथा साहित्य के उदाहरणों द्वारा किया गया है, जो व्यावहारिक जीवन के भीतर सामान्य-जनों को भी दिखाई दे सकते हैं। मानव जीवन के वे मूल भाव किस प्रकार समग्र जीवन व्यापिनी सत्ता रखते हैं, किस प्रकार त्रिकालवर्तिनी अशेष सृष्टि व्यापिनी अनुभूति अपने भीतर समाहित करते हैं, किस प्रकार व्यक्ति-जीवन तथा लोक-जीवन की सभी घटनाओं, चेष्टाओं तथा क्रियाओं के मूलस्रोत हैं, किस प्रकार शील के आदि संस्थापक हैं, किस प्रकार जीवन-शक्ति के केन्द्र-विन्दु हैं, किस प्रकार उसके भिन्न-भिन्न अवयव साहित्यात्मा के निर्माणकर्त्ता हैं—वे किस प्रकार जीवन तथा साहित्य के अविच्छेद्य सम्बन्ध को स्थापित करते हैं। मूल रूप से इन्हीं उक्त बातों को दिखाने का प्रयत्न इन निबन्धों में किया गया है। प्रत्यक्ष रूप से इन मनोविकारों का सम्बन्ध रस के प्रधान अवयवों—स्थायी तथा संचारी भावों से है।

इन मनोविकारों के सामाजिक स्वरूप की व्याख्या इनका प्रतिपाद्य विषय है; इनके वैयक्तिक अथवा तद्भव स्वरूप तुलना के लिए लाये गये हैं। साहित्य तथा जीवन में किसी भाव का कौन-सा स्वरूप उचित है, कौन-सा अनुचित; कौन सा स्वरूप रस के भीतर जाता है; कौन स्वरूप भाव, भावाभास अथवा रसाभास के भीतर जाता है; किसी मनोविकार का कौन स्वरूप लोक-मंगल की स्थापना में समर्थ है तथा कौन स्वरूप मानसिक रोग का रूप धारण कर लेता है, जीवन संतुलन को चर जाता है, मनुष्यता को नष्ट कर देता है—आदि बातों की बलपूर्वक व्याख्या इन निबंधों में की गई है। इन मनोविकार संबंधी निबंधों में स्थायी तथा संचारी भावों के सामाजिक स्वरूप की प्रशंसा, वैयक्तिक स्वरूप की निन्दा, उनके सुख-शांति स्थापक स्वरूप की आशंसा, मानसिक व्याधि उत्पन्न करने वाले स्वरूप की कुत्सा इस बात को प्रमाणित करती है कि उन्होंने रस के सामाजिक आधार को बलपूर्वक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।"[1] चिन्तामणि पहला भाग के निबंधों में अनेक स्थलों पर शुक्ल जी ने रस के दार्शनिक सिद्धान्त—अद्वैत सिद्धान्त—का प्रसंगानुसार उल्लेख भी किया है। इस प्रकार हम कह

---

[1] आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त—डॉ० रामलाल सिंह (पृ० ८५-८६)

सकते हैं कि शुक्ल जी के इन मनोभावात्मक निबन्धों का न केवल मनोवैज्ञानिक आधार है अपितु इनमें सामाजिक व दार्शनिक आधारों को स्पष्ट करने की क्षमता भी है।

चूँकि उनकी दृष्टि में सामान्यतः रस के अंतर्गत वे सब प्रकार की उक्तियाँ, चेष्टाएँ, विचार, प्रवृत्तियों व मानसिक वेगों का समावेश होता है जिनका संबंध मन के किसी विश्वात्मक भाव वा भावात्मक वृत्ति से होता है[1] अतः उन्होंने किसी भी मनोविकार पर विचार करते समय तत्सम्भूत उक्तियों, चेष्टाओं, विचारों, प्रवृत्तियों, मानसिक वेगों, तद्भव भावों आदि रस के समस्त अवयवों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इससे यही जान पड़ता है कि उनके इन निबंधों का एक प्रमुख उद्देश्य जीवन व साहित्य में रस की व्याप्ति स्पष्ट करना भी है।[2] यहाँ यह भी भी ध्यान में रखना चाहिए कि भावों की गतिविधि पर विचार करते समय अनुभावों का तथा उनके कारणों पर विचार करते समय विभावों का भी विवेचन किया गया है और इस प्रकार रससिद्धान्त की सम्पूर्ण सामग्री इन मनोभावात्मक निबन्धों में समाहित

---

१. "………मन के वेग। ये स्वतंत्ररूप में बहुत कम आते हैं अधिकतर किसी भाव के कारण उत्पन्न होकर उसी के अंतर्गत उद्भूत और विलीन होते हैं। जैसे भय, आश्चर्य, हर्ष आदि के कारण आवेग, लज्जा के कारण अवहित्था, रति के कारण औत्सुक्य, शोक, दुःख आदि के कारण ग्लानि, साथ-साथ उत्पन्न होती हैं। हर्ष और विषाद के मूल में भी व्यक्त या अव्यक्त रूप में रति, शोक, जुगुप्सा आदि भाव रहते हैं क्योंकि इष्ट या प्रिय तथा अनिष्ट या अरुचिकर की प्राप्ति से ही हर्ष और विषाद का सम्बंध रहता है।"

—रस-मीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (पृ० १६८)

२. "शुक्ल जी के निबंधों में पहले एक बात सूत्र-रूप में कही जाती है फिर उसकी विश्लेषणात्मक व्याख्या की जाती है और जीवन के लिए हुए उदाहरणों द्वारा वह बात स्पष्ट की जाती है। उनके उदाहरण बड़े मार्मिक होते हैं। शुक्ल जी सिद्धान्त की गगनचुम्बी अट्टालिका से साधारण लोगों के धरातल पर उतर आना चाहते हैं। बेकन, कारलायल, इमर्सन आदि में इतना उतार-चढ़ाव नहीं जितना कि हम शुक्ल जी में देखते हैं।

वास्तव में जीवन से सम्पर्क उनकी विचारधारा की कुंजी है, यह भाव उनकी सभी आलोचनाओं तथा निबंधों में ओत-प्रोत है। जीवन से सम्पर्क हटने के कारण ही उन्होंने छायावाद का विरोध किया। जीवन से सम्बंध ही उनकी कविता की परिभाषा का मूल स्वर है। प्रकृति को आलम्बनरूप मानते हुए भी उसमें मानव-जीवन के सम्बंध को वे मुख्यता देते हैं। शुक्ल जी में सम्बंध-भावना बड़ी प्रबल थी। वे वस्तु को उसके स्वाभाविक सम्बंधों से अलग निरपेक्ष रूप में नहीं देखना चाहते थे। वे विशिष्ट में साधारण को और साधारण में विशिष्ट को देखते थे। इसीलिए वे जीवन सम्पर्क-विहीन केवल देशभक्ति के विरोधी थे और ऐसे देशभक्तों की हँसी उड़ाने में कमी नहीं छोड़ते थे।"

—अध्ययन और आस्वाद : डॉ० गुलाबराय (पृ० ३७०)

है। शुक्ल जी ने इन निबन्धों में भावों व रसों की ऐसी अवस्थाओं का उल्लेख किया है जो किसी भी प्राचीन शास्त्रीय ग्रंथ में उपलब्ध नहीं है। उदाहरणार्थ रौद्र रस का विवेचन करते समय उन्होंने राजकोप, धर्मकोप, लोककोप का विवेचन भी किया है; देखिए—''सामाजिक जीवन में क्रोध की जरूरत बराबर पड़ती है। यदि क्रोध न हो तो मनुष्य दूसरों के द्वारा पहुँचाए जानेवाले बहुत से कष्टों की चिरनिवृत्ति का उपाय ही न कर सके। कोई मनुष्य किसी दुष्ट के नित्य दो-चार प्रहार सहता है। यदि उसमें क्रोध का विकास नहीं हुआ है तो वह केवल आह-ऊह करेगा जिसका उस दुष्ट पर कोई प्रभाव नहीं। उस दुष्ट के हृदय में विवेक, दया आदि उत्पन्न करने में बहुत समय लगेगा। संसार किसी को इतना समय ऐसे छोटे-छोटे कामों के लिए नहीं दे सकता। भयभीत होकर भी प्राणी अपनी रक्षा कभी-कभी कर लेता है पर समाज में इस प्रकार प्राप्त दुःख-निवृत्ति चिरस्थायिनी नहीं होती। हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि क्रोध के समय क्रोध करनेवाले के मन में सदा भावी कष्ट से बचने का उद्देश्य रहा करता है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि चेतन सृष्टि के भीतर क्रोध का विधान इसीलिए है।

जिससे एक बार दुःख पहुँचा, पर उसके दुहराए जाने की सभावना कुछ भी नहीं है उसको जो कष्ट पहुँचाया जाता है वह प्रतिकार मात्र है, उसमें रक्षा की भावना कुछ भी नहीं रहती। अधिकतर क्रोध इसी रूप में देखा जाता है। एक दूसरे से अपरिचित दो आदमी रेल पर चले जा रहे हैं। इनमें से एक को आगे ही के स्टेशन पर उतरना है। स्टेशन तक पहुँचते-पहुँचते बात ही बात में एक ने दूसरे को एक तमाचा जड़ दिया और उतरने की तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते-उतरते उसे एक तमाचा लगा दे तो यह उसका बदला या प्रतिकार ही कहा जायगा क्योंकि उसे फिर उसी व्यक्ति से तमाचा खाने का कुछ भी निश्चय नहीं था। जहाँ और दुःख पहुँचने की कुछ भी संभावना होगी वहाँ शुद्ध प्रतिकार न होगा, उसमें स्वरक्षा की भावना भी मिलेगी।

हमारा पड़ोसी कई दिनों से नित्य आकर हमें दो चार टेढ़ी सीधी सुना जाता है। यदि हम एक दिन उसे पकड़कर पीट दें तो हमारा यह कर्म शुद्ध प्रतिकार न कहलाएगा, क्यों कि हमारी दृष्टि नित्य गालियाँ सहने के दुःख से बचने के परिणाम की ओर भी समझी जायगी। इन दोनों दृष्टांतों को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगेगा कि दुःख से उद्विग्न होकर दुःखदाता को कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति दोनों में है, पर एक से वह परिणाम आदि का विचार बिलकुल छोड़े हुए है और दूसरे में कुछ लिए हुए। इनमें से पहले दृष्टान्त का क्रोध उपयोगी नहीं दिखाई पड़ता। पर क्रोध करने के पक्ष में उसका उपयोग चाहे न हो पर लोक के भीतर वह बिलकुल खाली नहीं जाता। दुःख पहुँचाने वाले से हमें फिर दुःख पहुँचाने वाले से हमें फिर दुःख पहुँचाने का डर न सही, पर समाज को तो है। इससे इसे उचित दंड दे देने से पहले तो उसी की शिक्षा या भलाई हो जाती है, फिर समाज के और लोगों के बचाव का बीज भी बो दिया जाता है। यहाँ पर भी वही बात है कि क्रोध के समय लोगों के मन में लोक-कल्याण की यह व्यापक भावना सदा नहीं रहा करती। अधिकतर तो ऐसा क्रोध प्रतिकार के रूप में ही होता है।''[1]

---

[1] चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० १३१-१३३)

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि चिड़चिड़ाहट को सर्वप्रथम शुक्ल जी ने ही क्रोध का एक हलका रूप कहा है और इस दृष्टि से इसे उनकी मौलिकता ही समझना चाहिए। देखिए—"क्रोध का एक हलका रूप है चिड़चिड़ाहट जिसकी व्यंजना प्रायः शब्दों ही तक रहती है। इसका कारण भी वैसा उग्र नहीं होता। कभी-कभी चित्त व्यग्र रहने, किसी प्रवृत्ति में बाधा पड़ने या किसी बात का ठीक सुभीता न बैठने के कारण ही लोग चिड़चिड़ा उठते हैं। ऐसे सामान्य कारणों के अवसर बहुत अधिक आते रहते हैं। इससे चिड़चिड़ाहट स्वभावगत होने की संभावना बहुत अधिक रहती है। किसी मत, सम्प्रदाय या संस्था के भीतर निरूपित आदर्शों पर ही अनन्य दृष्टि रखने वाले बाहर की दुनिया देख-देखकर अपने जीवन भर चिड़चिड़ाते चले जाते हैं। जिधर निकलते हैं, रास्ते भर मुँह बिगड़ा रहता है। चिड़चिड़ाहट एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है, इसी से रोगियों और बुड्ढों में अधिक पाई जाती है। इसका स्वरूप उग्र और भयंकर न होने से यह बहुतों के—विशेषतः बालकों के—विनोद की एक सामग्री भी हो जाती है। बालकों को चिड़चिड़े बुड्ढों को चिढ़ाने में बहुत आनन्द आता है और कुछ विनोद बुड्ढे भी चिढ़ने की नकल किया करते हैं। कोई राधाकृष्ण कहने से, कोई सीताराम पुकारने से और कोई करेले का नाम लेने से चिढ़ता है और कोई अपने पीछे लड़कों की एक खासी भीड़ लगाए फिरता है। जिस प्रकार लोगों को हँसने के लिए कुछ लोग मूर्ख या बेवकूफ बनते हैं उसी प्रकार चिड़चिड़े भी। मूर्खता मूर्ख को चाहे रुलाए पर दुनिया को तो हँसाती ही है। मूर्ख हास्यरस के बड़े प्राचीन आलम्बन हैं। न जाने कब से वे इस संसार की रुखाई के बीच हास का विकास कराते चले आ रहे हैं। आज भी दुनिया को हँसाने का हौसला बहुत कुछ उन्हीं की बरकत से हुआ करता है।"[१]

इस प्रकार "भावों की भाव-दशा, स्थायी-दशा, शील-दशा तथा उनके अन्य भेदोपभेदों का जैसा तुलनात्मक विवेचन इन निबन्धों में मिलता है वैसा संस्कृत अथवा हिन्दी के किसी शास्त्रीय ग्रंथ में नहीं मिलती। किसी भाव-विवेचन के प्रसंग में तज्जन्य प्रकृतिगत जिन मानसिक अवस्थाओं का उल्लेख शुक्ल जी ने किया है वे रस की बँधी लीक पीटने वाले हिन्दी या संस्कृत के ग्रंथों में नहीं मिलतीं। शुक्ल जी इन निबन्धों में भाव की उच्चता सर्वत्र सामाजिक भूमि पर, औचित्य तथा लोक-धर्म की कसौटी पर निरूपित करते हैं। इसलिए इन निबंधों में मूलरूप से रस-सिद्धांत पर, गौणरूप से नीतिवाद, लोकधर्म, मानवतावाद तथा उदात्तता के सिद्धांतों पर प्रकाश पड़ता है। रस-सम्बन्धी अनेक भ्रांतियों, त्रुटियों एवं गुत्थियों के निराकरण का प्रयत्न शुक्ल जी ने इन निबन्धों में किया है, जैसे, किसी भावदशा या रसस्थिति के समय उत्पन्न छोटे-छोटे भाव संचारी नहीं कहलाते।"[२] उदाहरणार्थ, उनका विचार है कि श्रृंगार रस में रतिभाव के कारण उत्पन्न व्रीड़ा संचारी भाव है पर किसी बुरे काम के करने पर उत्पन्न होनेवाली व्रीड़ा स्वतन्त्र भाव ही कही जायगी। इसी प्रकार स्वपत्नी के प्रति व्यंजित ईर्ष्या श्रृंगार रस के संचारी भाव के अन्तर्गत आती है लेकिन किसी व्यक्ति के ऐश्वर्य की डाह से उत्पन्न होनेवाली ईर्ष्या स्वतंत्र भाव। शुक्ल जी काव्य में प्रकृति-वर्णन आलंबन और उद्दीपन

---

१. चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ. १३९)

२. आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत—डॉ. रामलाल सिंह (पृ. ८७)

दोनों रूपों में किए जाने के पक्ष में हैं तथा उन्होंने काव्य में प्रकृति-वर्णन के आलम्बन रूप को सैद्धांतिक दृष्टि से प्रतिस्थापित करने का प्रयास 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबंध में किया है। देखिए—"किसी को कोई स्थान बहुत प्रिय हो जाता है और वह हानि और कष्ट उठाकर भी वहाँ से नहीं जाना चाहता। हम कह सकते हैं कि उसे उस स्थान का पूरा लोभ है। जन्मभूमि का प्रेम, स्वदेश-प्रेम यदि वास्तव में अंत:करण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देशप्रेम कोरी बकवास या फैशन के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु-पक्षी, लता-गुल्म, पेड़-पत्ते, वन-पर्वत, नदी-निर्झर सबसे प्रेम होगा; सबको वह चाह भरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुधि करके वह विदेश में आँसू बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है ? जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय सौरभपूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं ? जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें, तो उनसे पूँछना चाहिए कि 'भाइयों ! बिना परिचय के यह प्रेम कैसा ? जिनके सुख-दु:ख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े या खड़े-खड़े तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो।' प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करनेवाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करनेवाले नहीं। हिसाब-किताब से देश की दशा का ज्ञान-मात्र हो सकता है। हित-चिन्तन और हित-साधन की प्रवृत्ति इस ज्ञान से भिन्न है। वह मन के वेग पर निर्भर है, उसका सम्बन्ध लोभ या प्रेम से है जिनके बिना आवश्यक त्याग का उत्साह हो ही नहीं सकता। जिसे ब्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार कहेगा—

नैननि सों रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
केतिक ये कलधौत के धाम करील के कुञ्जन ऊपर वारौं।

रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देश-प्रेम की दुहाई देनेवालों में कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझकर या कम से कम न खीझकर, बिना मन मैला किये कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे ? मोटे आदमियों ! तुम जरा सा दुबला हो जाते—अपने अँदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।

अब पूछिए कि जिनमें यह देश-प्रेम नहीं है उनमें यह किसी प्रकार का हो भी सकता है ? हाँ, हो सकता है—परिचय से, सान्निध्य से। जिस प्रकार लोभ से सान्निध्य की इच्छा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार सान्निध्य से लोभ या प्रेम की प्रतिष्ठा होती है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें हम बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें हम बराबर सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ हो जाता है, सारांश यह कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। जिस स्थान पर कोई बहुत दिनों तक रह

जाता है उसे छोड़ते हुए उसे दुःख होता है। पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उन्हें परच जाते हैं। यह 'परचना' परिचय से निकलता है। परिचय प्रेम का प्रवर्त्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देश-प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँखें खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे वह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, चौपायों के झुण्ड कैसे चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा हैं, अमराइयों के बीच में गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसो, देखो तो क्या हो रहा है। जो मिले उनसे दो-दो बातें करो, उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी आधी-घड़ी बैठ जाओ और समझो कि ये सब हमारे हैं। इस प्रकार जब देश का रूप तुम्हारी आँखों में समा जायगा, तुम उसके अंग-प्रत्यंग से परिचित हो जाओगे, तब तुम्हारे अंतःकरण में इस इच्छा का उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटें, वह सदा हराभरा और फलाफूला रहे, उसके धनधान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें। यह तो वर्तमान प्रेम-सूत्र हुआ। अतीत की ओर भी दृष्टि फैलाओ। राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, विक्रम, कालिदास, भवभूति इत्यादि का स्मरण करो जिससे ये सब नाम तुम्हें प्यारे हो जायँ। इसके नाते भी यह भूमि और इस भूमि के निवासी तुम्हें प्रिय होंगे।"[१]

शुक्ल जी शृंगार रस को रसराज मानते हैं[२] और रसों की संख्या के सम्बन्ध में विचार करते समय नव से अधिक रसों की संख्या स्वीकार नहीं करते। यों तो उन्होंने अपने श्रद्धा-भक्ति शीर्षक निबन्ध में भक्ति को स्वतंत्र रस कहा है[३] पर वहाँ भक्ति शृंगार का एक भेद ही जान पड़ती है, कारण कि भक्ति का स्थायी भाव राग कहा गया है। इसके अतिरिक्त इन मनोवैज्ञानिक निबन्धों में, शास्त्रीय तथा शाश्वत कोटि के विषयों को लेकर भी शुक्ल जी ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक व साहित्यिक समस्याओं की व्यंग्य रूप में आलोचना की है[४] और उनके सुझाव के संकेत भी सांकेतिक रूप में दिए

---

१. चिन्तामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० ७६-७८)

२. "मनुष्य की अंतर्वृत्तियों पर लोभ या प्रेम के शासन का वही दीर्घ विस्तार देखकर लोगों ने शृंगार को रसराज कहा है।"

—चिंतामणि पहला भाग : पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० ९६)

३. "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्य-भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। जब श्रद्धेय के दर्शन, श्रवण, कीर्तन, ध्यान आदि में आनंद का अनुभव होने लगे—जब उससे सम्बन्ध रखनेवाले श्रद्धा के विषयों के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होने लने, तब भक्तिरस का संचार समझना चाहिए।"

—चिंतामणि पहला भाग : पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० ६२)

४. कुछ उदाहरण देखिए—

"समाज-सुधार के वर्तमान आंदोलनों के बीच जिस प्रकार सच्ची अनुभूति से प्रेरित

हैं[1] अतः स्वाभाविक ही उनके इन निबन्धों में एक प्रकार की व्यापकता सी दीख पड़ती है

उच्चाशय और गंभीर पुरुष पाये जाते हैं उसी प्रकार तुच्छ मनोवृत्तियों द्वारा प्रेरित साहसी और दयावान भी बहुत मिलते हैं। मैंने कई छिछोरों और लम्पटों को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के बड़े लम्बे-चौड़े दास्तान हरदम सुनते सुनाते पाया है। ऐसे लोग वास्तव में कामकथा के रूप में ऐसे वृत्तान्तों को तन्मयता के साथ कथन और श्रवण करते हैं। इन ढाँचे के लोगों से सुधार के कार्य में कुछ सहायता पहुँचने के स्थान पर बाधा पहुँचने ही की संभावना रहती है। 'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे लोग गंदगी फैलाते पाये जाते हैं।"

—चिंतामणि पहला भाग : पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० ८-९)

और भी—

"प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग भी रहता है। कुछ कर्मों में तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ-साथ चलती है। उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ-पैर चलवाती है उसी प्रकार बुद्धि से भी काम कराती है। ऐसे उत्साहवाले और को कर्मवीर कहना चाहिए या बुद्धिवीर—यह प्रश्न मुद्राराक्षस बहुत अच्छी तरह हमारे सामने लाता है। चाणक्य और राक्षस के बीच जो चोटें चली हैं वे नीति की हैं—शास्त्र की नहीं। अतः विचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि-व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में। हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है; अतः कर्मवीर ही कहना ठीक है।

बुद्धिवीर के दृष्टांत कभी-कभी हमारे पुराने ढंग के शास्त्रार्थों में देखने को मिल जाते हैं जिस समय किसी भारी शास्त्रार्थी पंडित से भिड़ने के लिए कोई विद्यार्थी आनन्द के साथ सभा में आगे आता है उस समय उसके बुद्धि साहस की प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते या हारे, बुद्धिवीर समझा ही जाता है। इस जमाने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायगी। ये वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाए जाते हैं और काफी तादाद में।"

—चिंतामणि पहला भाग : पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० १०)

[1] उदाहरणार्थ—

"एक जाति को मूर्ति-पूजा करते देख दूसरी जाति के मत प्रवर्त्तक ने उसे गुनाहों में दाखिल किया है। एक सम्प्रदाय को भस्म और रुद्राक्ष धारण करते देख दूसरे सम्प्रदाय के प्रचारक ने उनके दर्शन तक में पाप लगाया है। भावक्षेत्र अत्यंत पवित्र क्षेत्र है। उसे इस प्रकार गंदा करना लोक के प्रति भारी अपराध समझना चाहिए।"

—चिंतामणि पहला भाग : पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० ४-५)

और कदाचित यही कारण है कि शुक्ल जी के इन मनोवैज्ञानिक निबन्धों को साहित्य के लिए अनूठी देन कहा जाता है।[1]

अंत में हम यही कहेंगे कि "शुक्ल जी मनोविकार-सम्बन्धी निबन्धों द्वारा साहित्य-शास्त्र को इतने कलात्मक ढंग से व्यावहारिक जीवन की सामग्री के माध्यम से व्यक्त करते हैं कि इनके पाठकों को इन्हें पढ़ते समय साहित्य-शास्त्र पढ़ने या समझने का रंचमात्र श्रम प्रतीत नहीं होता। उन्हें इन निबन्धों को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे व्यावहारिक जीवन का एक उदात्त एवं व्यापक चित्र देख रहे हों। वस्तुतः शुक्ल जी ने जीवन-सामग्री से साहित्य-शास्त्र को विवेचित कर जीवन तथा साहित्य दोनों को एक कर दिया है। स्थायी तथा संचारी भावों की ऐसी जीवन-सम्बन्धी साहित्यिक तथा सामाजिक व्याख्या शुक्ल जी के पूर्व हिन्दी अथवा संस्कृत साहित्य के किसी शास्त्रीय ग्रंथ में नहीं मिलती। संस्कृत ग्रंथों में तो केवल संचारियों का नाम गिना दिया गया है। स्थायी भावों के निरूपण के समय उनका स्वरूप-विवेचन प्रायः एक सा है। स्थायी भावों में से प्रत्येक के लक्षण, भेदोपभेद, तुलना आदि की सामग्री संस्कृत ग्रंथों में नहीं मिलती। भावों या मनोविकारों पर आचार्य शुक्ल द्वारा इन निबन्धों का प्रस्तुत किया जाना हिंदी साहित्य में एक ऐतिहासिक घटना है। शुक्ल जी के पूर्व हिन्दी के निबन्धकारों ने भावों या मनोवेगों को अपने निबन्ध का विषय तो बनाया पर वे इन पर मनोविज्ञान का आधार लेकर साहित्यिक दृष्टि से विचार नहीं कर सके। उदाहरणार्थ, श्री माधवप्रसाद मिश्र 'धृति और क्षमा' नामक भावों को अपने निबन्ध का विषय बनाकर भी मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक ढंग से उनका प्रतिपादन नहीं कर सके। उक्त दोनों भावों का उनका सम्पूर्ण विवेचन धर्मशास्त्रीय कोटि का है। भावों या मनोविकारों का प्रतिपादन आचार्य शुक्ल ने जिस रूप में किया उस रूप में इस विषय पर कदाचित ही किसी देश के साहित्य में मिले।"[2]

आलोचनात्मक निबन्धों की आलोचना

वस्तुतः "हिन्दी साहित्य में शुक्ल जी ही प्रथम आलोचक हैं जिन्होंने प्रयोगात्मक और सैद्धांतिक समालोचना को मिला दिया है। इन्होंने इन रूपों का ऐसा सुन्दर समन्वय किया है कि आलोचना के ये दोनों रूप एक दूसरे के विकास में सहायक हुए हैं।"[3] इतना ही नहीं "आचार्य शुक्ल ही हिन्दी के पहले समर्थ आलोचक हैं जिन्होंने अपनी सजग ऐतिहासिक चेतना, सूक्ष्म उद्भावन-शक्ति तथा तीव्र-समीक्षण दृष्टि के द्वारा परम्परा के वर्तमानकालीन

---

१. "मनोविकारों पर तर्कमय चिंतन के साथ हिन्दी में प्रथम बार ये निबंध लिखे गये हैं। सत्रहवीं शताब्दी में अँग्रेजी में 'बेकन' ने मनोविकारों पर लघु निबंधों के रूप में अवश्य चिंतन किया है, पर जितनी पूर्ण विवेचना शुक्ल जी के निबंधों में पाई जाती है, उतनी उनमें कहाँ है? ये निबंध शुक्ल जी की साहित्य को निश्चय ही अनुपम देन हैं।"
—साहित्यावलोकन : डॉ. विनयमोहन शर्मा (पृ. १३८-१३९)

२. आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त—डॉ. रामलाल सिंह (पृ. ८९-९०)

३. हिंदी आलोचना : उद्भव और विकास—डॉ. भगवत्स्वरूप मिश्र (पृ. ३४३)

प्रवहमान सूत्रों को ग्रहण कर, भारतीय काव्यशास्त्र के युग की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों की माँग के अनुसार नवीन पदावली में वैज्ञानिक विवेचन किया, हिन्दी को सर्वप्रथम मौलिक काव्यशास्त्र से परिचित कराया, अपने प्रतिपादित समीक्षा-सिद्धांतों द्वारा हिन्दी समीक्षा को स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान किया तथा अपने सभी पूर्ववर्ती समीक्षकों के आदर्शों का समाहार करके हिन्दी समीक्षा के लिए सर्वग्राही तथा सर्व-सामान्य आदर्श का निर्माण किया।"[1] इस प्रकार समर्थ समीक्षक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने न केवल आलोचनात्मक कृतियों का प्रणयन किया है अपितु स्फुट निबन्धों के रूप में भी अपने आलोचनात्मक विचार प्रस्तुत किए हैं। चिंतामणि पहला भाग में उनके सात समीक्षात्मक निबन्ध संगृहीत हैं जिनमें से कविता क्या है, काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था, साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद तथा रसात्मक बोध के विविध रूप सैद्धांतिक समीक्षासम्बन्धी निबन्ध हैं। शेष तीन निबन्ध भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्ति-मार्ग और मानस की धर्म-भूमि व्यवहारिक या व्याख्यात्मक आलोचना की कोटि में आएँगे।

सैद्धांतिक समीक्षा सम्बन्धी निबन्धों में से सर्वप्रथम निबन्ध 'कविता क्या है' सबसे पहले सन् १९०८ ई० में सरस्वती में प्रकाशित हुआ था और तदनन्तर 'हिन्दी निबन्ध माला' भाग २ में सन् १९२१ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके उपरान्त वह चिन्तामणि पहला भाग में सन् १९३९ ई० में संगृहीत हुआ। शुक्ल जी की काव्य-सम्बन्धी विचारधारा इस निबन्ध से स्पष्ट हो जाती है और यदि हम विचारपूर्वक देखें तो उन्होंने इस निबन्ध में कविता के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह प्रायः सब का सब साहित्य के दूसरे रूपों या अंगों पर भी लागू होता है। इस दृष्टि से उनका यह निबन्ध उनके सम्पूर्ण साहित्य-दर्शन को निरूपित करने में समर्थ है।

यहाँ यह स्मरण रहना चाहिए कि कविता क्या है यह विषय समीक्षा जगत में विवादास्पद ही रहा है और भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुरूप भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। शुक्ल जी कविता को कर्मयोग की भाँति भावयोग मानते हैं और उनका कहना है कि "मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों को लिये दिये दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलाता और कहीं लड़ाता हुआ अंत तक चला चलता है और इसी को जीना कहता है। जिस अनन्त रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यवसाय चलता रहता है उसका नाम है जगत्। जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र से नानारूपों और व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने आपको बिलकुल भूलकर विशुद्ध अनुभूतिमात्र रह जाता है तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता

---

[1] आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त—डॉ. रामलाल सिंह (पृ. २)

कहते हैं। × × कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भवभूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिकस्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"[1]

डॉ० गुलाबराय ने शुक्ल जी की इस परिभाषा की व्याख्या में दो बातें समझना आवश्यक कहा है और इस प्रकार उनकी दृष्टि में "पहली बात यह कि मनुष्य जब तक संसार से स्वार्थ-सम्बन्ध रखता है तब तक वह उसके संघर्ष को अधिक देखता है और सौंदर्य को कम। मछली पकड़नेवाला जल में उछलकर एक साथ विलीन हो जानेवाली मछली का वह सौंदर्य नहीं देख सकता जो कि एक निरपेक्ष-दृष्टा। इसी प्रकार जब तक हमारी दृष्टि स्वार्थ से संकुचित रहती है तब तक हम संसार के नाना व्यापारों में आनन्द नहीं ले सकते। जब हम अपना व्यक्तित्व भूलकर मानवता की सामान्य भाव-भूमि में आते हैं तभी व्यक्तिगत हानि-लाभ के कारण आई हुई संसार की कटुता, उसका नुकीलापन, उसका ताप और ईर्ष्या-द्वेष एक मधुर, स्निग्ध, शीतल और शान्त सौन्दर्यमय रूप धारण करता है। व्यक्तिगत सम्बन्धों से बँधा हुआ प्रेम भी ईर्ष्या-द्वेष की भावना से कलुषित हो जाता है और व्यक्तिगत सम्बन्ध से उठे हुए क्रोध और घृणा के भाव भी मानवता की सामान्य भावभूमि में सात्विक-रूप धारण करके सौंदर्य का उत्पादन करते हैं। × × इस सम्बन्ध में दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि मनुष्य व्यक्तिगत हानि-लाभ की भावना से ऊँचा उठकर भाव को नहीं खोता। कविता द्वारा स्थापित सम्बन्ध भावात्मक होता है किन्तु वे भाव स्वार्थ से कलुषित नहीं होते। काव्य की अनुभूतियाँ विज्ञान की अनुभूतियों की भाँति कोरी ज्ञानात्मक नहीं होतीं। वे रागात्मक होती हैं—यह रागात्मकता शुद्ध और सात्विक होती है। इस रागात्मक सम्बन्ध में आकर्षण और विकर्षण दोनों ही सम्मिलित हैं—तभी प्रेम और करुणा जैसे सुखद अनुभव और क्रोध, घृणा, भय जैसे दुःखद अनुभव काव्य के विषय बनते हैं। शुक्ल जी जगत की अनेक रूपात्मकताओं के साथ हृदय की अनेक भावात्मकताओं का सामंजस्य चाहते हैं। वे लिखते हैं—'इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है जब कि इन सबका प्रकृत सामंजस्य जगत के भिन्न-भिन्न रूपों, व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाय।' (चिंतामणि पृष्ठ १४१-१४२)। इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने विभाव-पक्ष और भाव-पक्ष दोनों को ही समान महत्व दिया है, वरन् यह कहना अधिक ठीक होगा कि विभाव पक्ष बाह्य जगत के ऊपर ही भाव जगत को आश्रित रखता है। इस बाह्य जगत या शेष सृष्टि में मनुष्य तथा मनुष्येतर जीव, जन्तु तथा वन, पर्वत, कछार, नदी, नाले आदि सब कुछ आ जाते हैं।"[2] शुक्ल जी ने कहा भी है "वन, पर्वत,

---

१. चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० १८१)

२. आचार्य शुक्ल जी की काव्य संबंधी विचार धारा (निबंध) —डा. गुलाबराय (आलोचक रामचंद्र शुक्ल सं. डा. गुलाबराय और डा. विजयेन्द्र स्नातक पृ. १७१-१७२)

नदी, नाले, निर्झर, कछार, पत्थर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़ी, फूस, शाखा, पशु-पक्षी, आकाश, मेघ, नक्षत्र, समुद्र इत्यादि ऐसे ही चिर सहचर रूप हैं। खेत, ढुर्री, हल, झोपड़े, चौपाए इत्यादि भी कुछ कम पुराने नहीं हैं। इसी प्रकार पानी का बहना, सूखे पत्तों का झड़ना, बिजली का चमकना, घटा का घिरना, नदी का उमड़ना, मेह का बरसना, कुहरे का छाना, डर से भागना, लोभ से लपकना, छीनना, झपटना, नदी या दलदल से बाँह पकड़कर निकालना, हाथ से खिलाना, आग में झोंकना, गला काटना, ऐसे व्यापारों का भी मनुष्य जाति के भावों के साथ अत्यंत प्राचीन साहचर्य्य है। ऐसे आदिम रूपों और व्यापारों में, वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा के प्रभाव से, भावों के उद्बोधन की गहरी शक्ति संचित है; अतः इनके द्वारा जैसा रस-परिपाक संभव है वैसा कल, कारखाने, गोदाम, स्टेशन, हवाई जहाज ऐसी वस्तुओं तथा अनाथालय के लिए चेक काटना, सर्वस्व हरण के जाली दस्तावेज बनाना, मोटर की चरखी घुमाना या एंजिन में कोयला झोंकना आदि व्यापारों द्वारा नहीं।"[1]

काव्य की इस भावात्मक अनुभूति के सम्बन्ध में शुक्ल जी उन वस्तुओं व व्यापारों पर अधिक जोर देते हैं जिनसे कि मनुष्य आदिम जीवन से परिचित रहा है और जो आदिम युग से मानव जीवन को लुब्ध व क्षुब्ध करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में इन वस्तुओं से ही हमारी भावनाओं का सीधा संबंध है और उनका विचार है कि कवि कर्म की सार्थकता सभ्यता के आवरण को चीर उन मूल रूपों को निकाल लेने में है जिनसे कि हमारा प्रत्यक्ष सम्बंध है। उनका विचार है कि ये मूलरूप मानवजाति से चिर सम्बंध रखने के कारण अधिक आकर्षक व भावोत्पादक होते हैं अतः कवि का कर्त्तव्य है कि वह हमारे दैनिक व्यापारों में से सभ्यता का आवरण पृथक कर उन मूल रूपों का उद्धार करे जिससे कि वे हमें अधिक प्रभावित कर सकें। यही कारण है कि शुक्ल जी ने कवि से साधारण व व्यापक सिद्धान्तों की विवेचना न कराकर विशिष्ट मूर्त व गोचर रूप में अनुभूतियों का उल्लेख कराना चाहा है जिससे कि हमारी कल्पना प्रभावित हो सके। इस प्रकार उन्होंने अमूर्त भावों के पीछे मूर्त और साकार रूपों को छिपा हुआ देखा है। अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी ने कहा भी है "भावों के विषयों और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में जटिलता आने पर भी उनका संबंध मूलविषयों और मूल व्यापारों से भीतर-भीतर बना है और बराबर बना रहेगा। किसी का कुटिल भाई उसे सम्पत्ति से एकदम वंचित रखने के लिए वकीलों की सलाह से एक नया दस्तावेज तैयार करता है। इसकी खबर पाकर वह क्रोध से नाच उठता है। प्रत्यक्ष व्यावहारिक दृष्टि से तो उसके क्रोध का विषय है वह दस्तावेज या कागज का टुकड़ा। पर उस कागज के भीतर वह देखता है कि उसे और उसकी संतति को अन्न-वस्त्र न मिलेगा। उसके क्रोध का प्रकृत विषय न तो वह कागज का टुकड़ा है और न उस पर लिखे हुए काले-काले अक्षर। ये तो सभ्यता के आवरण-मात्र है। अतः उसके क्रोध में और उस कुत्ते के क्रोध में जिसके सामने का भोजन कोई दूसरा कुत्ता छीन रहा है काव्य-दृष्टि से कोई भेद नहीं है—भेद है केवल विषय के थोड़ा रूप बदल कर आने का। इसी रूप बदलने का नाम है सभ्यता। इस रूप बदलने से होता यह

---

[1] चिंतामणि पहला भाग—पं. रामचंद्र शुक्ल पृ. १४२)

है कि क्रोध आदि को भी अपना रूप बदलना पड़ता है, वह भी कुछ सभ्यता के साथ अच्छे कपड़ लत्ते पहन कर समाज में आता है जिससे मार-पीट, छीन-खसोट आदि भद्दे समझे जानेवाले व्यापारों का कुछ निवारण होता है ।

पर यह प्रच्छन्न रूप वैसा मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता । इसी से इससे प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि-कर्म का एक मुख्य अंग है । ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों कवियों के लिए यह काम बढ़ता जायगा । मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा संबंध रखनेवाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पदों को हटाना पड़ेगा । इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण बढ़ते जायँगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा । ऊपर जिस क्रुद्ध व्यक्ति का उदाहरण दिया गया है वह यदि क्रोध से छुट्टी पाकर अपने भाई के मन में दया का संचार करना चाहेगा तो क्षोभ के साथ उससे कहेगा 'भाई ! तुम यह सब इसीलिए न कर रहे हो कि तुम पक्की हवेली में बैठकर हलवा-पूरी खाओ और मैं एक झोपड़ी में बैठकर सूखे चने चबाऊँ, तुम्हारे लड़के दोपहर को भी दुशाले ओढ़कर निकलें और मेरे बच्चे रात को भी ठंड से काँपते रहें—यह हुआ प्रकृत रूप का प्रत्यक्षीकरण । इसमें सभ्यता के बहुत से आवरणों को हटाकर वे मूलगोचर रूप सामने रखे गए हैं जिनसे हमारे भावों का सीधा लगाव है और जो इस कारण भावों को उत्तेजित करने में अधिक समर्थ हैं । कोई बात जब इस रूप में आएगी तभी उसे काव्य के उपयुक्त रूप प्राप्त होगा । 'तुमने हमें नुक्सान पहुँचाने के लिए जाती दस्तावेज बनाया' इस वाक्य में रसात्मकता नहीं ।"[१] संभवतः यही कारण है कि शुक्ल जी काव्य-भाषा में चित्रांकन की क्षमता पर विशेष जोर देते हैं और अर्थग्रहण की अपेक्षा बिम्बग्रहण के अधिक पक्षपाती हैं ।

काव्य-विषय पर विचार करते समय शुक्ल जी ने कविता और सृष्टि-प्रसार के अंतर्गत प्रकृति के आदिम रूपों का आलम्बन रूप में वर्णन किए जाने पर जोर दिया है । वस्तुतः इस प्रसंग में शुक्ल जी का प्रकृति-वर्णन संबंधी सिद्धांत ही विस्तृत रूप में अभिव्यक्त हुआ है । इस संबंध में हमें यह स्मरण रखना होगा कि शुक्ल जी के जीवन तथा साहित्य से प्रकृति का बड़ा घनिष्ट संबंध रहा है और वे प्रकृति के अनन्य प्रेमी थे । उनके अनुज श्री हरिश्चन्द्र शुक्ल ने लिखा भी है "वसंत और वर्षा ऋतुओं में वे सुरभित द्रुमलताच्छादित वनस्थलियों में विहार करते थे और शरद आदि अन्य ऋतुओं में नदी की कछारों या हरे-भरे मैदानों में । प्रत्येक ऋतु में वे प्राकृतिक-सौंदर्य का आनन्द लिया करते थे । वनस्थलियों में भ्रमण करते-करते थक जाने पर वे मंद-मंद बहती और कल-कल शब्द करती हुई किसी निर्झरिणी के किनारे जा ठहरते । वहाँ अपने चारों ओर प्राकृतिक विभूति की अपार राशि लगी देख उन्हें न तन की सुध रहती और न मन की और भावावेश में बहुत ही धीमे स्वर से श्लोक पढ़ने लगते थे । मिर्जापुर के आस-पास शायद ही कोई टीला होगा, विरला ही कोई गिरिशिखर होगा, जिस पर वे न चढ़े हों, शायद ही कोई दर्रा होगा, मुश्किल से कोई घाटी होगी जिसे उन्होंने पार न किया हो ।" यही कारण है कि उन्होंने काव्य में प्रकृति-चित्रण का महत्व विशेषरूप से प्रतिपादित किया है और

---

[१] **चिंतामणि पहला भाग—पं. रामचंद्र शुक्ल (पृ. १४३-१४४)**

यदि हम विचारपूर्वक देखें तो "जिसे हम जगत कहते हैं, उसमें मनुष्यकृत कृत्रिम वस्तु व्यापारों के अतिरिक्त जो कुछ स्वाभाविक है वह सब प्रकृति ही है । इसे यों कहें तो और स्पष्ट हो जाय कि जगत के वस्तु-व्यापार, क्रिया-कलाप आदि प्रकृति के क्षेत्र में ही चलते हैं; उस प्रकृति में जिसे मानव ने अपनी सुविधा के लिए कुछ परिवर्तित कर लिया है । पर प्रकृति बहुत विस्तृत है और मानव की पहुँच अभी तक इतनी अधिक नहीं कि वह उसे सर्वत्र अपनी सुविधा के अनुकूल मोड़ ले, इसलिये अब भी शुद्ध प्राकृतिक-क्षेत्र बहुत व्यापक और विस्तृत है । इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार का कार्य प्रकृति के रंगमंच पर ही चलता है, संसार प्रकृति में ही स्थित है, पर जिस प्रकृति में स्थित है, उसका रूप कुछ परिवर्तित हो गया है, पर समूची प्रकृति परिवर्तित नहीं है, वह अपने शुद्ध रूप में भी बड़े ही विस्तृत और विशाल आधार में वर्तमान है । काव्य के साथ जब प्रकृति का नाम आता है तो उससे प्रायः इसी शुद्ध प्रकृति का तात्पर्य होता है ।

वैसे तो मनुष्य प्रकृति का ही प्राणी है पर वह अपनी विशिष्टताओं तथा इनके द्वारा संपादित छोटे-बड़े क्रिया-कलापों के कारण प्रकृति के अन्य प्राणियों से अपना कुछ विशिष्ट वा पृथक् स्थान रखता है । 'प्रकृति के प्राणी का नाम लेने पर अब उसका स्पष्टतः बोध नहीं होता, उसका मानव क्षेत्र अब अलग ही स्थापित हो गया है । इसलिए काव्य का विषय मानव-क्षेत्र एक अलग ही विषय माना जाता है । आचार्य शुक्ल ने भी केवल मानव क्षेत्र के कवियों का उल्लेख किया है,........अभिप्राय यह है कि मनुष्य अब प्रकृति का एक विशिष्ट प्राणी हो गया है और उसकी गणना इतर प्राणियों से पृथक् होने लगी है ।

मनुष्य की ही भाँति चेतन, पर निम्नकोटि के अन्य प्राणी भी प्रकृति में रहते हैं, जिसके अंतर्गत विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि आते हैं । शुद्ध प्रकृति की सीमा में इन मनुष्येतर चेतन प्राणियों की भी गणना होती है, और इन पर भी कविता की जाती है, ये भी काव्य के विषय बनते हैं ।

इन चेतन प्राणियों के अतिरिक्त प्रकृति में अचेतन जड़ वस्तुएँ भी हैं, जो नदी, निर्झर पहाड़, टीले, पत्थर, समुद्र, मेघ, उषा, सूर्य, चंद्र आदि विभिन्न रूपों में दृष्टिगत होती हैं । प्रकृति का यही विभाग वा उसके ये ही रूप मनुष्य को अपनी ओर प्रधान रूप से आकर्षित करते हैं । अतः देखा यह जाता है कि काव्य में इन्हीं का वर्णन विशेष प्राप्त होता है । वस्तुतः काव्यगत प्रकृति चित्रण के अंतर्गत उसके (प्रकृति के) प्रायः ये ही रूप अब तक समझे गए हैं । इन रूपों के संबंध से ही मनुष्येतर चेतन प्राणियों का भी चित्रण काव्य में मिलता है । बिना प्रकृति के उस जड़ रूप के चित्रण के उपर्युक्त चेतन प्राणियों का चित्रण सुन्दर नहीं प्रतीत होता, जड़ प्रकृति ही चेतन प्रकृति के चित्र की पीठिका है ।

इस प्रकार हम देखते हैं प्रकृति से प्रायः मनुष्येतर चेतन प्राणी तथा जड़ वस्तुओं का बोध होता है, जिनका स्वरूप ऊपर देखा गया है । काव्य में प्रकृति-चित्रण की सीमा के अंतर्गत आचार्य शुक्ल भी प्रायः इन्हीं दो रूपों का ग्रहण मानते हैं । इस विषय में एक बात और कहनी है । प्रकृति के इन रूपों का चित्रण करने वाला मनुष्य होता है, इसलिए कभी-कभी प्रकृति चित्रण के साथ मनुष्य के संबंध की चर्चा भी आ जाती है । वस्तुतः बात तो यह

है कि मनुष्य और प्रकृति का संबंध अन्तोन्याश्रित है, दोनों का पारस्परिक बिलगाव संभव नहीं अतः ऐसा होना स्वाभाविक है।

पाश्चात्य विकासवादी वा भारतीय दोनों दृष्टियों से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज के नगरों की सभ्यता जंगल, वन, पहाड़, नदी तट आदि प्राकृतिक स्थलों से होकर इस पर में दिखाई पड़ रही है। विकासवादी मानते हैं कि मानव अपने बुद्धि-बल का विकास करते-करते वनों-जंगलों की असभ्यावस्था से सभ्यावस्था में आकर नगरों में बसा और भारतीय इस पर आस्था रखते हैं कि हमारी सभ्यता का निर्माण और विकास वनों-जंगलों, नदी तटों पर हुआ, और आज की नागरिक (नगर की) सभ्यता उसी वन्य सभ्यता के आधार पर स्थित है, जो वन में ही अपनी पूर्णावस्था पर थी। अस्तु, हमारा लक्ष्य यहाँ सभ्यता के विकास का विवेचन करना नहीं हैं, प्रत्युत हम यह दिखाना चाहते हैं कि आज का मानव प्रकृति के क्षेत्र से ही होकर यहाँ तक आया है। प्रकृति के जड़-चेतन वस्तु वा प्राणी उसके कभी अपने रह चुके हैं, वह इसके साथ निवास कर चुका है। वह प्रकृति का सहचर रह चुका है।"[१] इसीलिए आचार्य शुक्ल का विचार है कि मानव अपनी सभ्यतावश बाध्य होकर प्रकृति से दूर चला आया और उसका वास्तविक रूप ढँक सा गया है लेकिन उसे चाहिए कि वह अपने वास्तविक रूप का उद्घाटन करे क्योंकि प्रकृति से विलग हो जाने पर उसमें क्रूरता और निष्ठुरता ही अधिक मात्रा में आ गयी है।[२] इस प्रकार उन्होंने मानव का प्रकृति की ओर लौटकर वहाँ की जड़-चेतन वस्तुओं का पारस्परिक सौंदर्य देखना आवश्यक समझा है।

प्रकृति-वर्णन में शुक्ल जी ने अर्थग्रहण की अपेक्षा बिम्बग्रहण पर अधिक जोर दिया है और उनका विचार है कि अर्थग्रहण से केवल मानसिक बोध का तथा बिम्बग्रहण से वस्तु का पूर्णरूप ज्ञान अभिप्रेत है। यहाँ वस्तु से मतलब है उसको पूर्णरूपेण परिस्थिति व उचित वातावरण में देखना क्योंकि केवल नाम से परिचय प्राप्त करना ही उचित नहीं है। साथ ही उन्होंने प्रकृति का केवल सौम्यरूप ही देखना पसन्द नहीं किया बल्कि उसका उग्र रूप भी देखना चाहा है। उनके कथनानुसार "अनंत रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूपों में, कहीं रूखे, बेडौल या कर्कश रूप में; कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में; कहीं उग्र कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके उन सब में लीन होता है क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख भोग नहीं, बल्कि चिर-

---

[१] आचार्य रामचंद्र शुक्ल—श्री शिवनाथ (पृ० ७३-७५)

[२] "ज्यों-ज्यों मनुष्य अपनी सभ्यता की झोंक में इन प्राचीन सहचरों से दूर हटता हुआ अपने क्रिया-कलाप को कृत्रिम आवरणों से आच्छन्न करता जा रहा है त्यों-त्यों उसका असली रूप छिपता चला जा रहा है। इस असली रूप का उद्घाटन तभी हुआ करेगा जब वह अपने बने हुए घने जाल के घेरे से निकल कभी-कभी प्रकृति के अपार क्षेत्र की ओर दृष्टि फैलाएगा और अपने इन पुराने सहचरों के संबंध का अनुभव करेगा। अपने घेरे से बाहर की क्रूरता और निष्ठुरता के अभ्यास का परिणाम अंत में अपने घेरे के भीतर प्रगट होता है।"

—काव्य में रहस्यवाद : आचार्य रामचंद्र शुक्ल (पृ० १९)

साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है, जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून-प्रसार के सौरभ संचार, मकरन्द-लोलुप मधुप गुंजार, कोकिल-कूजित निकुंज और शीतल-सुखस्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं वे विषयी या भोग-लिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्तामास हिम बिन्दु-मंडित मरकताभ-शाद्वल-जाल अत्यंत विशाल गिरि-शिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गंभीर गर्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ कर पाते है; वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं। प्रकृति के साधारण-असाधारण सब प्रकार के रूपों में रमाने वाले वर्णन हमें वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों में मिलते हैं। पिछले खेवे के कवियों ने मुक्तक रचना में तो अधिकतर प्राकृतिक वस्तुओं का अलग-अलग उल्लेखमात्र उद्दीपन की दृष्टि से किया है। प्रबंध-रचना में जो थोड़ा-बहुत संश्लिष्ट चित्रण किया है वह प्रकृति की विशेष रूप-विभूति को लेकर ही। अंगरेजी के पिछले कवियों में वड्सवर्थ की दृष्टि सामान्य, चिर-परिचित सीधे-सादे प्रशान्त और मधुर दृश्यों की ओर रहती थी, पर शैली की असाधारण, भव्य और विशाल की ओर।"[1] इसी उपशीर्षक के अन्तर्गत शुक्ल जी का समन्वय सिद्धान्त, प्रबन्ध काव्य सम्बंधी सिद्धान्त, प्रत्यक्ष जीवन में रसानुभूति सम्बंधी सिद्धान्त, संश्लिष्ट चित्रण का सिद्धान्त और साहचर्य सिद्धान्त भी अभिव्यक्त हुआ है तथा शुक्ल जी प्रकृति में आनन्द-मग्न होने का कारण सुख-भोग नहीं बल्कि उसके चिर साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना को मान कर अपनी समन्वयवादी प्रकृति का परिचय देते हैं।[2]

'मार्मिक तथ्य' अनुशीर्षक के अन्तर्गत शुक्ल जी ने प्रकृति के मार्मिक तथ्यों के ग्रहण पर जोर दिया है[3] और उनका विचार है कि इस प्रकार के तथ्यों को ग्रहण कर मानव व मानवेतर जाति में एक प्रकार का सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

शुक्ल जी प्रवृत्ति का मूल कारण भाव ही मानते हैं तथा काव्य और व्यवहार अनुशीर्षक के अन्तर्गत उन्होंने कहा भी है "मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूल-वृत्ति भावात्मिका है। केवल तर्क बुद्धि या विवेचना के बल से हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। जहाँ जटिल बुद्धि व्यापार के अनन्तर किसी कर्म का अनुष्ठान देखा जाता है वहाँ भी तह में

---

[1] चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० १४९-१५०)

[2] "जो केवल अपने विलास या शरीर सुख की सामग्री ही प्रकृति में ढूँढा करते हैं उनमें उस रागात्मक 'सत्व' की कमी है जो व्यक्त सत्ता-मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है। सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परमसत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परमभाव के अंतर्भूत हैं। अतः बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्व-रस के प्रभाव से पहुँचता है। इस प्रकार अंत में जाकर दोनों पक्षों की वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। इस समन्वय के बिना मनुष्यत्व की साधना पूरी नहीं हो सकती।"

—चिंतामणि पहला भाग : पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० १५०)

[3] पेड़-पौदे, लता-गुल्म आदि भी इसी प्रकार कुछ गूढ़ भावों या तथ्यों की व्यंजना करते हैं जो कभी-कभी कुछ गूढ़ होती हैं। सामान्य दृष्टि भी वर्षा की झड़ी के पीछे उनके हर्ष

कोई भाव या वासना छिपी रहती है। चाणक्य जिस समय अपनी नीति की सफलता के लिए किसी निष्ठुर व्यापार में प्रवृत्त दिखाई पड़ता है उस समय वह दया, करुण आदि सब मनोविकारों या भावों से दिखाई पड़ता है। पर थोड़ा अंतर्दृष्टि गड़ाकर देखने से कौटिल्य को नचानेवाली डोर का घेर भी अंतःकरण के रागात्मक खंड की ओर मिलेगा।[1]" इसके पश्चात् 'मनुष्यता की उच्च भूमि' के अंतर्गत उन्होंने काव्य-प्रयोजन पर विचार करते हुए उदात्तता, लोकमंगल व मानवता का सिद्धान्त निरूपित किया है। देखिए—"कवि वाणी के प्रसार से हम संसार के सुख-दुःख, आनन्द-क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थ मुक्तरूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास से हृदय का बंधन खुलता है और मनुष्यता की उच्चभूमि की प्राप्ति होती है। × × × कविता ही हृदय को प्रकृति दशा में लाती है और जगत के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत के साथ तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है।"[2]

भावना या कल्पना के अंतर्गत उन्होंने प्रतिभा और भावना को कल्पना का पर्याय माना है तथा धर्म के क्षेत्र में जो स्वरूप उपासना का स्थिर किया जाता है वही स्वरूप साहित्य-क्षेत्र में भावना वा कल्पना का स्थिर किया है। चूँकि उन्होंने काव्य को भावयोग माना है और भावयोग को कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के समकक्ष रखा है अतः उनकी दृष्टि में जिस प्रकार कर्म तथा ज्ञान का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत करके अनुभव करना है उसी प्रकार काव्य का भी अंतिम उद्देश्य सर्वभूत को आत्मभूत करके अनुभव करना ही है। इसीलिए उन्होंने उपासना तथा कल्पना की एकता स्थापित कर उपासना को भी भावयोग का एक अंग मानते हुए उसका तथा कल्पना वा भावना का स्वरूप समान रूप से निर्धारित किया है। देखिए—"यहाँ पर अब यह कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि उपासना भावयोग का ही एक अंग है। पुराने धार्मिक लोग उपासना का अर्थ ध्यान ही लिया करते हैं। जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्यवाले इसी को भावना कहते हैं और आजकल के लोग 'कल्पना'।' जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार और भावों के प्रवर्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है।"[3] इस प्रकार शुक्ल जी ने कल्पना को मन की एक

और उल्लास को; ग्रीष्म के प्रचण्ड आतप में उनकी शिथिलता और म्लानता को; शिशिर के कठोर शासन में उनकी दीनता को; मधुकाल में उनके रसोन्माद, उमंग और हास को; प्रबल वात के झकोरों में उनकी विकलता को; आकाश के प्रति उनकी ललक को देख सकती है। इसी प्रकार भावुकों के समक्ष वे अपनी रूपचेष्टा आदि द्वारा कुछ मार्मिक तथ्यों की भी व्यंजना करते हैं।"

—चिंतामणि पहला भाग : पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० १५३)

[1] चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० १५७)

[2] चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० १६०)

[3] चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० १६१)

क्रिया कहा है जो देखी व सुनी वस्तु के आकार-प्रकार को अंतश्चक्षु के सम्मुख उपस्थित करती है अतः वही कल्पना सार्थक कही जायगी जो वस्तु के रूप को सांगोपांग रूप में उपस्थित करे। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर भी कल्पना भाव से ही सम्बद्ध जान पड़ती है और भारतीय रसवादियों की भाँति आचार्य शुक्ल ने भी अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य समेम्लन की साहित्य परिषद् के सभापति पद से भाषण देते समय कल्पना को भाव-क्षेत्र की ही वस्तु माना है।[1] उन्होंने 'कविता क्या है' निबंध में कल्पना के दो रूप विधायक और ग्राहक कहे हैं तथा उनकी दृष्टि में "कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक। अधिकतर कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ कवि पूर्ण चित्रण नहीं करता वहाँ पाठक या श्रोता को भी अपनी ओर से कुछ मूर्ति-विधान करना पड़ता है। योरोपीय साहित्य-मीमांसा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है। है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन, पर है साधन ही, साध्य नहीं।"[2] शुक्ल जी कविता का उद्देश्य मनोरंजन या चमत्कारोत्पादन नहीं मानते बल्कि उनका कहना है कि "कविता का अंतिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य स्थापन है। इतने गंभीर उद्देश्य के स्थापन पर केवल मनोरंजन का हलका उद्देश्य सामने रखकर जो कविता का पठन-पाठन का विचार करते हैं वे रास्ते में ही रह जानेवाले पथिक के समान हैं। × × कविता अपनी मनोरंजनशक्ति द्वारा पढ़ने या सुननेवाले का चित्त रमाए रहती है। जीवन-पट पर उक्त कर्मों की सुन्दरता या विरूपता अंकित करके हृदय के मर्मस्थलों का स्पर्श करती है। × × मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनंद पहुँचाना ही यदि कविता का अंतिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई।"[3] इस प्रकार शुक्ल जी मनोरंजन को कविता का साध्य नहीं मानते।

कविताके संबंध में विचार करते समय उन्होंने सौन्दर्य- पर अत्यधिक जोर दिया है'सौन्दर्य' अनुशीर्षक में उनका वस्तुवादी सिद्धान्त तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी सिद्धान्त अभिव्यक्त हुआ है। उनका कहना है कि "सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरोपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। इसके विपरीत कुछ रूपरंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी प्रतीति या जिनकी भावना मन में कुछ देर टिकने ही नहीं पाती और एक मानसिक आपत्ति भी जान पड़ती है। जिस वस्तु के

---

[1] "कल्पना है काव्य का क्रियात्मक बोधपक्ष जिसका विधान हमारे यहाँ के रसवादियों ने भाव के योग में ही काव्य के अन्तर्गत माना है।"

[2] चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० १६१-१६२)

[3] चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० १६२-१६३)

प्रत्यक्ष ज्ञान या भावनासे तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी। इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर-बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है वही बाहर है।

यही बाहर हँसता-खेलता, रोता-गाता, खिलता-मुरझाता जगत् भीतर भी है जिसे हम मन कहते हैं। जिस प्रकार यह जगत् रूपमय और गतिमय है उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का संघात ही है। रूप, मन और इन्द्रियों द्वारा संघटित है या मन और इन्द्रियाँ रूपों द्वारा—इससे यहाँ प्रयोजन नहीं। हमें तो केवल यही कहना है कि हमें अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है।

किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की वस्तु के रूप में परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौन्दर्य की अनुभूति कही जायगी। जिस प्रकार की रूप-रेखा-या वर्ण-विन्यास से किसी की तदाकार परिणति होती है उसी प्रकार की रूप-रेखा या वर्ण-विन्यास उसके लिए सुन्दर है। मनुष्यता की सामान्य भावभूमि पर पहुँची हुई संसार की सब सभ्य जातियों में सौन्दर्य के सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं। भेद अधिकतर अनुभूति की मात्रा में पाया जाता है। न सुन्दर को कोई एकबारगी कुरूप कहता है और न बिलकुल कुरूप को सुन्दर।"[१] उन्होंने सौन्दर्य को रूप-रंग तक सीमित नहीं माना बल्कि मन, वचन और कर्म सर्वत्र उसका रहना स्वीकार किया है।[२] उनकी दृष्टि में कर्म का सौंदर्य ही शिव बन जाता है और इस प्रकार आचार व कला में कोई भेद नहीं रहता। उनका विचार है कि हमें जहाँ भी सच्ची सुन्दरता दीख पड़ती है वहीं हम अपने व्यक्तित्व को भूल जाते हैं और जो वस्तु की दृष्टि से सौंदर्य है वह अनुभवकर्त्ता की दृष्टि से रस।

'चमत्कारवाद' अनुशीर्षक के अंतर्गत शुक्ल जी ने स्पष्टतः उक्ति-वैचित्र्य मात्र को कविता नहीं माना[३] और इस संबंध में सूक्ति व काव्य में अन्तर भी स्थापित किया है।[४] इस

---

[१] चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० १६४-१५५)

[२] "कविता केवल वस्तुओं के रूप-रंग के सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती प्रत्युत कर्म और मन के सौन्दर्य के भी अत्यंत मार्मिक दृश्य सामने रखती है।"

—चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० १६६)

[३] "चमत्कार मनोरंजन की सामग्री है; इसमें संदेह नहीं। इससे जो लोग मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य समझते हैं वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूँढा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर जो लोग इससे ऊँचा और गंभीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कारमात्र को काव्य नहीं मान सकते।"

—चिंतामणि पहला भाग—पं. रामचंद्र शुक्ल (पृ० १६८)

[४] ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौन्दर्य आदि) में लीन न होकर एकबारगी कथन से अनूठे ढंग, कार्य-विन्यास या पद प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं सूक्ति है। बहुत से लोग काव्य और सूक्ति को एक ही समझा करते

प्रकार शुक्ल जी कुंतक की भाँति 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' अर्थात् वक्रता को काव्य का अनिवार्य माध्यम मानने के पक्ष में नहीं हैं[1] और स्वाभावोक्ति को ही अलंकार मानते हैं।[2] यों तो उन्होंने अलंकारों को प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष साधन के लिए ही आवश्यक कहा है तथा साधर्म्य या सादृश्य दिखाने के हेतु उनकी उपयोगिता नहीं स्वीकार की पर स्वाभावोक्ति को अलंकार न मानना विवादास्पद जान पड़ता है। हाँ वस्तु की स्वाभाविक रमणीयता को निश्चय ही आवश्यक माना है और उनकी दृष्टि में उसके बिना अलंकारों का समुदाय भी सौंदर्य की सृष्टि नहीं करता। शुक्ल जी ने अलंकार क्या हैं; इस पर विचार व्यक्त करते हुए कहा है "सूक्ष्म दृष्टिवालों ने काव्यों के सुन्दर-सुन्दर स्थल चुने और उनकी रमणीयता के कारणों की खोज करने लगे। वर्णनशैली या कथन की पद्धति में एसे लोगों को जो-जो विशेषताएँ मालूम होती गईं उनका वे नामकरण करते गए। जैसे, विकल्प अलंकार का निरूपण पहले-पहल राजानक रुय्यक ने किया। कौन कह सकता है कि काव्यों में जितने रमणीय स्थल हैं सब ढूंढ डाले गए, वर्णन की जितनी सुन्दर प्रणालियाँ हो सकती हैं सब निरूपित हो गईं अथवा जो-जो स्थल रमणीय लगे उनकी रमणीयता का कारण वर्णन प्रणाली ही थी? आदि-काव्य रामायण से लेकर इधर तक के काव्यों में न जाने कितनी विचित्र वर्णन प्रणालियाँ भरी पड़ी हैं जो न निर्दिष्ट की गईं हैं और न जिनके कुछ नाम रखे गये हैं।"[3]

इसी प्रकार कविता की भाषा का विचार करते समय उनका रीति-सिद्धान्त निरूपित हुआ है और उन्होंने काव्यभाषा की चार विशेषतायें मानी हैं। "पहली विशेषता तो यह है कि अगोचर बातों और भावनाओं को भी, जहाँ तक हो सके भाषा स्थूलगोचर रूप दे। उस मूर्ति-विधान के लिए भाषा लक्षणा शक्ति से काम ले—'बनन में बागन में बगरो बसन्त है' (पद्माकर)

हैं। पर इन दोनों का भेद सदा ध्यान में रहना चाहिए। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचनावैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।

—चिंतामणि पहला भाग—पं. रामचंद्र शुक्ल (पृ. १७१)

[1] "उक्ति ही काव्य होती है, यह सिद्ध बात है। हमारे यहाँ भी व्यंजक वाक्य ही काव्य माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि कैसी उक्ति, किस प्रकार की व्यंजना करने वाला वाक्य। वक्रोक्तिवादी कहेंगे कि ऐसी उक्ति जिसमें कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हो, व्यंजना चाहे जिसकी हो, या किसी ठीक-ठीक बात की न भी हो। पर जैसा कि हम कह चुके हैं; मनोरंजन मात्र काव्य का उद्देश्य न माननेवाले उनकी इस बात का समर्थन करने में असमर्थ होंगे। वे किसी लक्षण में उसका प्रयोजन अवश्य ढूँढेंगे।"

—चिंतामणि पहला भाग—पं. रामचंद्र शुक्ल (पृ.१७४)

[2] "............स्वभावोक्ति अलंकारों के भीतर आ ही नहीं सकती। वक्रोक्तिवादी कुंतक ने भी इसे अलंकार नहीं माना है।"

—चिंतामणि पहला भाग—पं. रामचंद्र शुक्ल (पृ. १८४)

[3] चिंतामणि पहला भाग—पं. रामचंद्र शुक्ल (पृ.१८४-१८५)

उसी के फलस्वरूप दूसरी माँग यह है कि भाषा जाति संकेतवाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्दों का अधिक व्यवहार करे। (यह भी उनकी विषय-प्रधान प्रतिभा का फल है)

तीसरी विशेषता भाषा सुन्दर वर्णविन्यास की होनी चाहिए। 'शुष्को वृक्षास्तिष्ठत्यग्रे' के स्थान में 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' अधिक कर्ण-सुखद लगता है। नाद-सौन्दर्य से कविता का स्थायित्व बढ़ता है। तो भी विशेषता कोरे नाम की अपेक्षा उनके रूप, गुण या कार्यबोधक शब्दों के व्यवहार की है। यह बात संस्कृत में अधिक है, जैसे मेघनाद आदि शब्दों में। किन्तु साधारण कविता में भी अवसर के अनुकूल सम्बोधन किये जा सकते हैं—संकट के समय में कृष्ण को कंस-निकन्दन या मुरारी कहना अधिक अर्थबोधक होगा।"[1] शुक्ल जी यह भी मानते हैं कि कविता पर अत्याचार भी बहुत हुआ है[2] और अपने निबन्ध के अन्त में उन्होंने यही कहा है कि "मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में किसी न किसी रूप में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा। बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मंडल बाँधता चला आ रहा है कि जिसके भीतर बँधा-बँधा वह सृष्टि के साथ अपना सम्बन्ध भूला सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर बराबर रहता है इसी से अन्तःप्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं।"[3]

सैद्धांतिक समीक्षा सम्बन्धी दूसरा निबंध **'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था'** है और यदि हम विचारपूर्वक देखें तो शुक्ल जी के सिद्धांतों वा विचारधारा में सर्वत्र लोक सिद्धांत वा लोक भावना की ही प्रमुखता दीख पड़ती है। श्री विश्वनाथ एम० ए० के शब्दों में "इस लोक सिद्धांत को लेकर ही इनके साहित्य वा काव्य-सम्बन्धी सिद्धांत स्थिर हुए हैं। उन्होंने धर्म का स्वरूप भी इसी आधार पर स्थिर किया है। ये उसी धर्म, उसी साहित्य, उसी काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं, जिससे अधिक से अधिक लोगों को अधिक से अधिक नैतिक लाभ और आनन्द

---

१. आलोचक रामचंद्र शुक्ल—डा० गुलाबराय और डा० विजयेन्द्र स्नातक (पृ० १७६)

२. "लोभियों, स्वार्थियों और खुशामदियों ने उसका गला दबाकर कहीं अपात्रों की—आसमान पर चढ़नेवाली—स्तुति कराई है, कहीं द्रव्य न देनेवालों की निराधार निंदा। ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास योग्य नहीं। कविता देवी के मंदिर ऊँचे, खुले, विस्तृत और पुनीत हृदय हैं। सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौन्दर्य नहीं ढूँढा करते। वे फूस के झोपड़ों, धूल-मिट्टी में सने किसानों, बच्चों के मुँह में चारा डालते हुए पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में कभी-कभी ऐसे सौन्दर्य का दर्शन करते हैं जिसकी छाया भी महलों और दरबारों तक नहीं पहुँच सकती। श्रीमानों के शुभागमन पर पद्य बनाना, बात-बात में उनको बधाई देना, कवि का काम नहीं।"

—चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ. १८५)

१ चिन्तामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० १८५-१८६)

प्राप्त हो सके। शुक्ल जी की लोकवाद की भावना बड़ी व्यापक, उदार और सर्वदेशीय है। ये उसका सम्बन्ध भारतवर्ष से ही नहीं प्रत्युत विश्व भर से जोड़ना चाहते हैं। इनके लोकवाद का अभिप्राय है सभी देशों के लोग और समाज की सुरक्षा तथा उसकी स्थिति और सम्यक् स्थापना। जिस रूप में इन्होंने लोकवाद का प्रतिपादन किया है उसको देखते हुए हम उस (लोकवाद) की दो श्रेणियाँ मान सकते हैं। एक श्रेणी तो वह है जो किसी विशिष्ट देश के अन्तर्गत समाज-रक्षा की रक्षा तथा संस्थापना से सम्बद्ध है। अभिप्राय यह कि इनका लोकवाद उत्तरोत्तर अपनी सीमा बढ़ाता चलता है। उसका सम्बन्ध किसी देश के समाज की रक्षा और स्थिति से चल कर किसी देश द्वारा दूसरे की रक्षा और स्थिति तक पहुँचता है।"[1]

शुक्ल जी का यह निबंध उनकी पुस्तक रसमीमांसा में काव्य विभाग के एक अंश रूप में संगृहीत है।[2] और उस कृति के सम्पादक पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उनके निबंधों का रचना काल सन् १९२२ के पूर्व माना है।[3] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह निबंध सन् १९२२ के पूर्व ही लिखा गया था। यों तो वह सन् १९३२ ई० में मालवीय कमेमोरशन वाल्यूम में प्रकाशित हुआ था और इसके उपरान्त सन् १९३९ में यह स्वयं शुक्ल जी द्वारा चिंतामणि पहला भाग में संगृहीत हुआ। तदुपरान्त सन् १९३९ ई० में आनन्द की सिद्धावस्था व माधुर्य पक्ष के साथ सूरदास नामक पुस्तक में काव्य में लोकमंगल शीर्षक से पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र द्वारा संकलित किया गया।

इस निबंध में लेखक ने काव्य में लोकमंगल का सिद्धांत मुख्य रूप से प्रतिपादित किया है और वह अपने निबंध के प्रारंभ में ही कहता है "सत्, चित्, और आनन्द—ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्ति मार्ग आनन्द स्वरूप को ले कर चले। विचार करने पर लोक में इस आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएँ पाई जायँगी—साधनावस्था और सिद्धावस्था। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म के आनन्द स्वरूप का सतत् आभास नहीं रहता, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इस जगत में न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसंत विकास रहता है, न सुखसमृद्धिपूर्ण हास-विलास। शिशिर के आंतक से सिमटी और झोंके झेलती वनस्थली की खिन्नता और हीनता के बीच से ही क्रमशः आनन्द की अरुण आभा धुंधली-धुंधली फूटती हुई अंत में बसंत की पूर्ण प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप में फैल जाती है, इसी प्रकार लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय और अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्दज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमंगल और लोकरंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।

कुछ कवि और भक्त तो जिस प्रकार आनन्द मंगल के सिद्धांत या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख सौंदर्यमय माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम व्यापार इत्यादि उपयोग पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं उसी प्रकार आनन्द-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी—उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गतिविधि में भी—पूरी रमणीयता देखते हैं। वे जिस प्रकार

---

[1] आचार्य रामचंद्र शुक्ल—श्री शिवनाथ एम० ए० (पृ० २६-२७)

[2] रस-मीमांसा—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० ४७-५६)

[3] रस-मीमांसा—पं० रामचंद्र शुक्ल (प्रस्तावना पृ० ३)

प्रकाश को फैला हुआ देखकर मुग्ध होते हैं उसी प्रकार फैलने के पूर्व उसका अंधकार को हटाना देखकर भी। ये ही पूर्ण कवि हैं, क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर ये सौंदर्य का साक्षात्कार करते हैं। साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को ग्रहण करने वाले कुछ ऐसे कवि भी होते हैं जिनका मन सिद्धावस्था या उपयोग पक्ष की ओर नहीं जाता, जैसे भूषण। इसी प्रकार कुछ कवि या भावुक आनंद के केवल सिद्धस्वरूप या उपयोग पक्ष में ही अपनी वृत्ति रमा सकते हैं। उनका मन सदा सुख-सौंदर्यमय माधुर्य, दीप्ति, उल्लास, प्रेम-क्रीड़ा इत्यादि के प्राचुर्य ही की भावना में लगता है। इसी प्रकार की भावना या कल्पना उन्हें कला-क्षेत्र के भीतर समझनी पड़ती है।

उपर्युक्त दृष्टि से हम काव्यों के दो विभाग कर सकते हैं—

(१) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को ले कर चलने वाले।

(२) आनन्द की सिद्धावस्था या उपयोग पक्ष को ले कर चलने वाले।"[१]

वस्तुतः "इन विभाजन द्वारा आचार्य शुक्ल जी ने यह बतला दिया है कि सौंदर्य को हम केवल श्रृंगार-प्रधान कविताओं में ही नहीं नायक-नायिकाओं या चन्द्र, ज्योत्स्ना, यमुनापुलिन, गीत-वाद्य, मलय-समीर में ही नहीं देख सकते हैं वरन् ऐसे स्थलों में भी देख सकते हैं जहाँ क्रोध, घृणा और मारकाट हो। यह क्रोध, घृणा और मारकाट अत्याचार और जीवन की वीभत्सताओं को दूर करने के प्रयत्न में होती है। इसलिए सौंदर्य (जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का शामिल है) के स्थापन का जहाँ प्रयत्न दिखाई पड़े वह भी सुन्दरता है।

प्रयत्न के सौंदर्य के लिए सफलता अनिवार्य नहीं है। क्योंकि इस संसार में 'साधुता सीदति' और 'विलसित खलई' के उदाहरण सहज ही मिल जाया करते हैं। कर्तव्य का सौंदर्य असफलता में भी प्रकाश देता है। यदि प्रयत्न की सफलता हो जाय तो उसे उपदेशातमकता (Diadacticism) न समझना चाहिए। 'कवि जहाँ मंगल शक्ति की सफलता दिखाता है वहाँ कला की दृष्टि से सौंदर्य का प्रभाव डालने के लिए; धर्म शासक की हैसियत से डराने के लिए नहीं कि यदि ऐसा कार्य करोगे तो ऐसा फल पाओगे। कवि-कर्म सौंदर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अंतःप्रकृति में उत्पन्न करता है, उसका उपदेश नहीं देता। सौंदर्य दिखाने में आकर्षण की भावना रहती है। आकर्षण स्वाभाविक होता है, वह प्रसन्नता देता है, आदेश भारस्वरूप हो जाता है।"[२] यह उल्लेखनीय है कि इस निबंध का शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति की दृष्टि से अपना निजी महत्व भी है क्योंकि उन्होंने इसी निबंध द्वारा सूरदास के काव्य-विवेचन के लिए साहित्यिक पृष्ठभूमि निर्मित की है।

साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद शुक्ल जी का तीसरा सैद्धांतिक समीक्षा सम्बन्धी निबंध है तथा "इस निबंध की सामग्री रस-मीमांसा में प्रस्तुत रूप-विधान शीर्षक के अंतर्गत पृष्ठ ३०८ से ३२४ तक बिखरी हुई मिलती है। इसके कुछ अंश जैसे, साधारणीकरण की परिभाषा, उसकी उत्तम स्थिति आदि रस-मीमांसा के ८९, ९०, ९२, ९९, ४१५ तथा ४१६

---

१. **चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० २१२-२१४)**

२. **आलोचक रामचंद्र शुक्ल—डॉ. गुलाबराय और डॉ. विजयेन्द्र स्नातक (पृ. १७६-१७७)**

पृष्ठों पर भी यथा-प्रसंग विवेचित हुए हैं। उपर्युक्त निबंध की सामग्री ही नहीं पदावली भी प्रायः ज्यों की त्यों रस-मीमांसा के 'प्रस्तुत रूप-विधान' वाले अंश के उक्त पृष्ठों में मिलती है, केवल कहीं-कहीं कतिपय प्रघट्टकों का क्रम परिवर्तित दिखाई पड़ता है। अतः रस-मीमांसा के सम्पादक के रचनाकाल संबंधी मत के अनुसार इस निबंध का रचनाकाल भी १९२२ ई० के पूर्व ही निश्चित होता है। सर्वप्रथम यह निबंध द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ में सम्वत् १९९० ई० के तदानुसार १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ। तदनन्तर सन् १९३९ वि० में शुक्ल जी द्वारा चिंतामणि (पहला भाग) में संगृहीत हुआ।"[1] वस्तुतः इस निबंध का मूलतः संबंध रस प्रक्रिया से ही है और शुक्ल जी ने रस-प्रक्रिया संबंधी भारतीय मत—साधारणीकरण—का समर्थन करते हुए उसके सैद्धांतिक व व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। निबंधकार ने साधारणीकरण के सैद्धांतिक पक्ष की स्पष्टता हेतु साधारणीकरण की परिभाषा, अभिप्राय, कारण, महत्व, प्रमुख तत्व तथा कवि, पाठक या श्रोता की मनःस्थिति आदि को सूत्रात्मक ढंग से निरूपित किया है। व्यावहारिक पक्ष समझाते समय उसने काव्य में साधारणीकरण की विविध अवस्थाओं व स्वरूपों के विवेचन के साथ-साथ उसकी अपवादीय अवस्थाओं व स्वरूपों को स्पष्ट किया है। वस्तुतः हमारे प्राचीन आचार्यों ने प्रायः श्रृंगार व वीर को ही लेकर साधारणीकरण सिद्धांत का प्रयोग किया था लेकिन शुक्ल जी ने अन्य रसों के साथ भी उसके प्रयोग की विधि बतलाई है और जहाँ कि प्राचीन विचारक इस सिद्धांत का प्रयोग प्रबंध-काव्य-नाटक के ही प्रसंग में करते थे वहाँ शुक्ल जी ने अन्य अधुनातन भारतीय साहित्य-रूपों व योरोपीय काव्य-रूपों के साथ भी इसे प्रयुक्त कर इसे समीक्षा का सार्वभौम सिद्धांत सिद्ध करने का प्रयास किया है।

सामान्यतः साधारणीकरण की समस्या इस प्रकार है "किसी काव्य का श्रोता या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौंदर्य, रहस्य-गांभीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है वे अकेले उसी के हृदय से सम्बन्ध रखनेवाले नहीं होते; मनुष्य-मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालनेवाले होते हैं। इसीसे उक्त काव्य को एक साथ पढ़ने या सुननेवाले सहस्त्रों मनुष्य उन्हीं भावों या भावनाओं का थोड़ा या बहुत अनुभव कर सकते हैं। जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधक की पूर्णशक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है। यह सिद्धांत यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।"[2] शुक्ल जी का विचार है कि काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं और वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं। उनका कहना है कि यह बात आधुनिक कला-समीक्षा के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर हो चुकी है और अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक क्रोसे

---

[1] आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त—डॉ. रामलाल सिंह (पृ. ९२-९३)

[2] चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ. २२७)

(Croce) का उद्धरण देते हुए उन्होंने बताया है कि काव्य का काम है कल्पना में 'बिम्ब' (Images) या मूर्त-भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं। इस प्रकार बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का होगा सामान्य या जाति का नहीं। अतः शुक्ल जी ने कवि-कर्म में मूर्त-विधान को ही उपस्थित करना आवश्यक कहा है। उन्होंने इस दिशा में भी विचार किया है कि हमारे यहाँ विभावन व्यापार में जो 'साधारणीकरण' कहा गया है उसके विरुद्ध तो यह सिद्धान्त नहीं पड़ता क्योंकि एक ओर तो साधारणीकरण पर जोर दिया जाता है और दूसरी ओर मूर्खता पर, जो व्यक्ति से संबंधित है। अतः इनका समन्वय किस प्रकार हो सकता है यह शुक्ल जी ने इस प्रकार समझाया है—"साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है। जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है।"[१]

शुक्ल जी का यह भी कहना है कि समस्त अवस्थाओं में पाठक का आश्रय की अनुभूति से तादात्म्य नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ यदि कोई निरपराध के प्रति क्रोध करे तो हम क्रोध करनेवाले आश्रय के भावों से तादात्म्य नहीं रखते अपितु घृणा के भाव रखते हैं। ऐसी दशा में आश्रय आश्रय न रहकर हमारा आलम्बन बन जाता है। इसका उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है कि क्रोधी परशुराम तथा अत्याचारी रावण की कठोर बातों व निर्दयता से पाठकों का तादात्म्य स्थापित नहीं होता। इसी प्रकार यदि कोई पुरुष किसी कुरूपा स्त्री पर अपनी आसक्ति प्रकट करता है तो वह हमारे हास्य का आलम्बन बन जाता है। अतः यदि हमारा तादात्म्य होता है तो वह कवि के उस गुप्त भाव से होता है जिसके फलस्वरूप उस पात्र को मंच पर या काव्य में वह लाता है। हाँ इसके लिए स्वयं कवि का शीलवान होना आवश्यक है अन्यथा वह भी हमारी घृणा का आलम्बन बन जायगा।

सैद्धांतिक समीक्षा सम्बन्धी अन्तिम निबन्ध **"रसात्मक बोध के विविध रूप"** है और वह चिंतामणि पहला भाग के साथ-साथ 'रस-मीमांसा' में भी संगृहीत है अतः इसका रचनाकाल भी सन् १९२२ ई० के आसपास माना जाना चाहिए। डॉ० रामलाल सिंह के कथनानुसार "इस निबन्ध में शुक्ल जी रस की व्याप्ति तथा स्वरूप स्पष्ट करते हुए रस को काव्य की सीमा से आगे ले जाकर प्रत्यक्ष जीवन तक विस्तृत करते हैं। शुक्ल जी का कहना है कि कल्पित रूप-विधान द्वारा जागरित अनुभूति काव्यशास्त्र के ग्रंथों में रसानुभूति के रूप में विवेचित की गई थी; किंतु प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति कोटि की होती है—रसात्मक बोध के इस तथ्य की ओर आचार्यों का ध्यान नहीं गया था। रसात्मक बोध के इन्हीं दो स्वरूपों—प्रत्यक्ष रूप-विधान तथा स्मृति रूप-विधान की ओर पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करते हुए शुक्लजी अपने रस-सिद्धांत की व्याप्ति प्रत्यक्ष जीवन तक ले जाकर रस द्वारा साहित्य तथा जीवन के एकीकरण के सिद्धांत पर बल देते हुए यह बताना चाहते

---

२. चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० २२९-२३०)

हैं कि साहित्य का अध्ययन, विवेचन एवं अध्यापन जीवन से विच्छिन्न करके यथार्थ कोटि का नहीं हो सकता अर्थात् जीवन की भूमिका पर ही साहित्य अथवा साहित्यशास्त्र की वास्तविकता, समग्रता तथा पूर्णता का अध्ययन एवं विवेचन ठीक ढंग से हो सकता है। इस प्रकार इस निबंध का उद्देश्य रस-स्वरूप तथा रस-व्याप्ति का स्पष्टीकरण है।"[1]

शुक्ल जी ने प्रत्यक्ष रूप-विधान, स्मृति रूप-विधान और कल्पित रूप-विधान नामक तीन प्रकार के रूप-विधान मानते हुए कहा है कि "इन तीनों प्रकार के रूप-विधानों में भावों को इस रूप में जागरित करने की शक्ति होती है कि वे रस कोटि में आ सकें, यही हम यहाँ दिखाना चाहते हैं। कल्पित रूप-विधान द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति तो सर्वत्र रसानुभूति मानी जाती है। प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति की कोटि में आ सकती है, इसी बात की ओर ध्यान दिलाना इस लेखक का उद्देश्य है।"[2] यहाँ यह भी तथ्यपूर्ण है कि रसात्मक बोध के इन त्रिविध स्वरूपों के वर्गीकरण का मूल श्रोत एडीसन का कल्पना के आनंद (Pleasures of Imagination) नामक निबन्ध है और एडीसन ने अपने इस दीर्घकाय निबन्ध में इस दिशा में विस्तृत प्रकाश डाला है कि प्रत्यक्ष जीवन के सुन्दर एवं साधारण रूपों के दर्शन से कल्पनात्मक आनंद उत्पन्न होता है। एडीसन का कहना है "I must therefore desire him to remember that by the pleasures of the imagination I mean only such pleasures as arise originally from sight and that I divide these pleasures into two kinds; my design being first of all to discourse of those primary pleasures of the imagination, which entirely proceed from such objects as are before our eyes; and in the next place to speak of those imagination which flow from the ideas of visible objects, when the objects are not actually before eyes, but are called up into our memories or formed in to agreeable visions of things that are either absent or fictitious."[3]

इस प्रसंग में शुक्ल जी ने जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात कही है वह यह कि रसानुभूति केवल अप्रत्यक्ष रूप-व्यापारों की ही नहीं होती बल्कि प्रत्यक्ष की भी होती है और उन्होंने रसानुभूति के लिए दो बातें आवश्यक कही हैं। प्रथम तो व्यक्तित्व का भूल जाना और द्वितीय साधारणीकरण। उनका विचार है कि प्रत्यक्ष रूप-विधानों के साथ भी यह दो बातें रसानुभूति के लिए मिल सकती है। साथ ही "सुन्दर वस्तु के देखने से मनुष्य अपने व्यक्तित्व को भूल जाता है (शुक्ल जी ने सौंदर्य की परिभाषा ही इन शब्दों में की है) और उसका हृदय दृष्टाओं के साथ स्पंदित होने लगता है, यही साधारणीकरण है। यही बात शृंगार, हास, वीर, अद्भुत

---

१. आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त—डॉ० रामलाल सिंह (पृ० ९५)

२. चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ. २४३)

3. The Spectator, Vol. III, No 411, Jnne 2I (1712) P. 277.

और शांत के साथ विशेष रूप से लागू होती है । करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स के साथ जरा मुश्किल से लागू होगी । शुक्ल जी ने करुण के संबंध में तो स्वयं ही कह दिया है कि हम अपने शोक में रसानुभूति नहीं कर सकते, दूसरे के शोक में करुण की रसानुभूति कर सकते हैं । इसी प्रकार क्रोध और जुगुप्सा के भाव भी सात्विक हो सकते हैं । शास्त्रकारों ने शायद रसानुभूति को अलौकिक ही माना है । लौकिक रसानुभूति तभी हो सकती है जब कि अनुभवकर्त्ता स्वयं उसका आनंदमय आस्वादन कर सके । यह हर अवस्था में नहीं हो सकता ।

श्रृंगार आदि रसों की प्रत्यक्ष अनुभूति के सम्बन्ध में इतना जान लेना चाहिए कि इस अनुभूति की कमी-वेशी भिन्न-भिन्न आदमियों की ग्राहकता पर निर्भर रहेगी । इसके साथ सौंदर्य आदि की विषय-प्रधानता (adjectivity) माननी पड़ेगी । स्मृति के तीन विभाग किये हैं—(क) विशुद्ध स्मृति (ख) प्रत्यभिज्ञान और (ग) स्मृत्याभास कल्पना । विशुद्ध स्मृति उन बातों के स्मरण से सम्बन्ध रखती है जो हमारी मनोवृत्ति को शरीर यात्रा के विधानों की उलझन से अलग करके शुद्ध मुक्त भाव-भूमि से ले जाता है—जैसे बाल्यकाल के अतीत जीवन का स्मरण । प्रत्यभिज्ञान का अर्थ पूर्व परिचित चीज को पहचानना है—जैसे रामचंद्र जी जब दंडकारण्य में गये थे और उन्होंने पूर्व परिचित पर्वत-मालाओं को देख कर कहा था कि ये वे ही पर्वत हैं । स्मृत्याभास वास्तविक स्मृति नहीं होती वरन् कल्पना द्वारा उसका आभास होता है—जैसे किसी खंडहर को देख कर उससे सम्बन्धित पूर्व स्मृतियों का अनुमान करना । कल्पित विधानों में कवि की सृष्टि आ जाती है । इसके सम्बन्ध में इतना ही ख्याल रखना चाहिए कि इसका आधार वास्तविकता से हटने न पाये ।"[1]

अंत में हम इन सैद्धांतिक समीक्षा सम्बन्धी निबंधों के आधार पर कह सकते हैं कि "सैद्धांतिक आलोचना का जो पुष्ट रूप हमें आचार्य शुक्ल की रचना में मिलता है वह सम्पूर्ण हिंदी आलोचना साहित्य में नहीं मिलता । × × × शुक्ल जी की सैद्धांतिक आलोचना निज में आदर्श है । इस समीक्षा प्रकार में साहित्य-शास्त्र को आधार मानकर काव्य-विवेचन किया जाता है । दर्शन-सिद्धान्त-विशेष का बोधगम्य निरूपण तथा उस कसौटी पर रचना निहित, उस सिद्धान्त पर आधारित भाव-पक्ष की परख, अलंकारों के रस-वर्द्धक-प्रयोग की व्याख्या; रचना-शिल्प की परीक्षा; रस-निष्पत्ति का विवेचन; आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन का स्वरूप और रसोत्कर्ष में उनकी समीचीनता आदि सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं । इन सब अंगों में निरूपण का प्रयोजन है, काव्य में रस-पक्ष का उद्घाटन ।"[2]

व्यावहारिक या व्याख्यात्मक आलोचना सम्बन्धी तीन निबंधों—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्तिमार्ग और मानस की धर्म-भूमि—में से अन्तिम दो निबन्ध गोस्वामी तुलसीदास और उनकी सुप्रसिद्ध कृति रामचरित मानस से सम्बन्धित हैं । इस दिशा में हमें यह स्मरण रखना होगा कि तुलसी शुक्ल जी के आदर्श कवि हैं और इस बात का प्रमाण उनकी गोस्वामी तुलसीदास और हिन्दू जाति नामक कविता में मिलता है ।[3] साथ ही शुक्ल जी की माता "गाना

---

[1] आलोचक रामचंद्र शुक्ल—डा. गुलाबराय और डा. विजयेन्द्र स्नातक (पृ. १७९)

[2] आचार्य रामचंद्र शुक्ल—श्री जगन्नाथ 'ललित' (पृ. १२२-१२३)

[3] देखिए—इतने में सुन पड़ी अतुलसी तुलसी की वर बानी ।
जिसने भगवत्कृपा लोक के भीतर की पहचानी ।।

के एक पुनीत मिश्र घराने की कन्या थीं। इसी गाना के मिश्र-भक्त-शिरोमणि, प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास जी थे। इस प्रकार गोस्वामी जी पं० रामचंद्र शुक्ल के सीधे मातुलवर्ग में आते हैं। × × × पं० रामचंद्र शुक्ल को अपने जीवनकाल में जितनी शक्ति तथा शान्ति गोस्वामी जी की पावन-निर्मल वाणी द्वारा प्राप्त हुई उतनी उन्हें और किसी भावभूमि में जाकर नहीं मिली।"[1] इस प्रकार शुक्ल जी "ज्यों-ज्यों वय में बड़े होते गये, त्यों-त्यों उन्होंने जनता के ऊपर तुलसी का प्रभाव देखा। लोक-निरीक्षण, काव्य-अध्ययन, दार्शनिक-चिन्तन तथा मनन से ज्यों-ज्यों उनकी बुद्धि विकसित होती गई, त्यों-त्यों तुलसी उनकी बौद्धिक कसौटी पर बड़े सिद्ध होते गये। उन्होंने काव्य-सिद्धान्तों का ज्यों-ज्यों गंभीर अध्ययन किया उनकी कसौटी पर भी तुलसी महान होते गये। अंततोगत्वा उनकी आनुवंशिक परम्परा से प्राप्त संस्कार के अनुसार तुलसी उनके आदर्श कवि सिद्ध हुए। इस तथ्य का प्रमाण गोस्वामी तुलसीदास नामक उनकी कविता तथा 'गोस्वामी तुलसीदास नामक' पुस्तक में विस्तार से मिलता है; प्रसंगानुकूल तुलनात्मक समीक्षा के अवसर पर 'सूरदास', जायसी-ग्रंथावली की भूमिका तथा इतिहास में भी मिलता है जहाँ वे तुलसी को इन दोनों कवियों से महान सिद्ध करते हैं। इनके मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक निबन्धों में भी विचारों के उदाहरणरूप में तुलसी के उद्धरणों को सबसे अधिक मात्रा में देखकर यह मानना पड़ता है कि वे तुलसी से सबसे अधिक प्रभावित थे, तुलसी उनके सर्वप्रिय कवि थे। उनकी विचारधारा का मूल उत्स तुलसीदास जी की कृतियों में है। अपने व्यावहारिक जीवन में भी वे तुलसी का उद्धरण सबसे अधिक देते थे।"[2]

'तुलसी का भक्ति मार्ग' नामक निबन्ध में शुक्ल जी ने यह दिखाना चाहा है कि उनकी भक्ति-पद्धति प्राचीन भारतीय भक्ति-परम्परा से संबंधित है और वह हिन्दू जनता की युग-चेतना की उपज है तथा उसमें सामाजिक जीवन की पूर्ण स्वीकृति है। इस प्रकार "गोस्वामी जी के भक्तिक्षेत्र में शील, शक्ति और सौंदर्य तीनों की प्रतिष्ठा होने के कारण मनुष्य की सम्पूर्ण भावात्मिक प्रकृति के परिष्कार और प्रसार के लिए मैदान पड़ा हुआ है। वहाँ जिस

शोभा, शक्ति, शीलमय प्रभु का रूप मनोहर प्यारा।
दिखा, लोक जीवन के भीतर जिसने दिया सहारा॥
शक्ति बीज शुभ भव्यभक्ति वह पाकर मंगलकारी।
मिटी खिन्नता जीने की रुचि फिर कुछ जगी हमारी॥

× × ×

उभय रूप में देते हैं जिसमें भगवान दिखाई।
वह प्राचीन भक्ति तुलसी से फिर हमने है पाई॥
वही भक्ति है जगत बीच जीना बतलानेवाली।
किसी जाति के जीवन की जो करती रखवाली॥

—माधुरी, अगस्त १९२७

---

[1] साहित्य संदेश, शुक्लांक

[2] आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त—डा० रामलाल सिंह (पृ० २९६)

प्रकार लोक-व्यापार से अपने को अलग करके आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होनेवाले काम, क्रोध आदि शत्रुओं से बहुत दूर रहने का मार्ग पा सकते, उसी प्रकार लोक व्यवहार में मग्न रहनेवाले अपने भिन्न-भिन्न कर्त्तव्यों के भीतर ही आनंद की वह ज्योति पा सकते हैं जिससे इस जीवन में दिव्य-जीवन का आभास मिलने लगता है और मनुष्य के वे सब कर्म, वे सब बचन और वे सब भाव—क्या डूबते हुए को बचाना, क्या अत्याचारी पर शस्त्र चलाना, क्या स्तुति करना, क्या निन्दा करना, क्या दया से आर्द्र होना, क्या क्रोध से तमतमाना जिनसे लोक का कल्याण होता आया है, भगवान के लोक-पालन करनेवाले कर्म, वचन और भाव दिखाई पड़ते हैं।"[1] शुक्ल जी का यह भी कहना है कि 'तुलसी के भक्ति-मार्ग में भगवान के लोक-व्यापार-व्यापी शील, शक्ति, सौन्दर्ययुक्त मंगलमय रूप की प्रतिष्ठा है और उसमें सदाचार को भक्ति का आवश्यक अंग कहा गया है। इतना ही नहीं उसमें व्यक्ति-कल्याण व लोक-कल्याण दोनों का समन्वय कर किसी भी गिरी हुई जाति को उन्नत बनाने की अपूर्व-शक्ति है और पारमार्थिक ज्ञान, अलौलिक सिद्धि व रहस्यदर्शन का कोई दावा नहीं किया गया। शुक्ल जी यह भी मानते हैं कि यह भक्ति सर्व-सुलभ है। इसी प्रकार **'मानस की धर्मभूमि'** में उन्होंने तुलसी के धार्मिकमत पर प्रकाश डालते हुए उनके अंगीधर्म तथा अंगधर्म की व्याख्या की है। इस प्रसंग में शुक्ल जी ने लोकधर्म तथा उसके अंगधर्मों पर अपना अभिमत प्रकट किया है जिससे उनकी सामाजिक नीति व सामाजिक सिद्धांत का भी बोध होता है। उनका यही कहना है कि धर्मभावना अपने गृह या कुल के तंग घेरे के भीतर बद्ध नहीं रह सकती। वह समस्त विश्व के कल्याण का व्यापक लक्ष्य रखकर प्रवृत्त होती है।"[2] इस प्रकार उक्त निबन्ध में धर्म की ऊँची-नीची भूमियों—गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म, लोकधर्म और विश्वधर्म या पूर्णधर्म का वर्णन करते हुए पूर्णधर्म या विश्वधर्म को ही श्रेष्ठ माना गया है; देखिए—"किसी परिमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाले धर्म की अपेक्षा विस्तृत जनसमूह के कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाला धर्म उच्चकोटि का है। धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृहधर्म या कुलधर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है, समाजधर्म से लोकधर्म, लोकधर्म से विश्वधर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ता है। यह पूर्णधर्म अंगी है और शेष धर्मअंग। पूर्ण धर्म, जिसका सम्बन्ध अखिल विश्व की स्थिति-रक्षा से है, वस्तुतः पूर्ण पुरुष या पुरुषोत्तम में ही रहता है, जिसकी मार्मिक अनुभूति सच्चे भक्तों को ही हुआ करती है। इसी अनुभूति के अनुरूप उनके आचरण का भी उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। गृहधर्म पर दृष्टि रखनेवाला किसी परिवार की रक्षा देखकर, वर्गधर्म पर दृष्टि रखनेवाला किसी वर्ग या समाज की रक्षा देखकर और लोकधर्म पर दृष्टि रखनेवाला लोक या समस्त मनुष्य जाति की रक्षा देखकर आनंद का अनुभव करता है। पूर्ण या शुद्ध धर्म का स्वरूप सच्चे भक्त ही अपने और दूसरों के सामने लाया करते हैं, जिनके भगवान पूर्णधर्म स्वरूप हैं, अतः वे कीट पतंग से लेकर मनुष्य तक सब प्राणियों की रक्षा देखकर आनन्द प्राप्त करते हैं। विषय की व्यापकता के अनुसार

---

[1] चिन्तामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० २००)

[2] चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचन्द्र शुक्ल (पृ० २१२)

उनका आनंद भी उच्चकोटि का होता है।।"[1] व्यावहारिक आलोचना सम्बन्धी तीसरा निबन्ध **'भारतेंदु हरिश्चन्द्र'** है। 'भारतेन्दु साहित्य' नामक संकलन ग्रंथ के आरंभ में शुक्ल जी ने एक विस्तृत भूमिका दी है जिसमें भारतेंदु के जीवन-वृत्त व कृतित्व पर विचार किया गया है। इस भूमिका की आलोचनात्मक सामग्री लगभग वही है जो पहले उनके द्वारा भारतेंदु पर लिखे गये दो समीक्षात्मक निबन्धों में प्रस्तुत की जा चुकी है। उनके ये दोनों निबन्ध क्रमशः नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १४, संख्या १०, सन् १९०९ ई० तथा भाग १५, संख्या १० सन् १९१० ई० में प्रकाशित हुए थे। इन दोनों का सम्मिलित रूप चिन्तामणि पहला भाग में उपलब्ध है और हम देखते हैं कि निबन्धकार ने भारतेन्दु की भाषा-सम्बन्धी विशिष्टताओं का संक्षेप में उल्लेख करते हुए यह बतलाया है कि किस प्रकार उन्होंने हिंदी भाषा की रूप-प्रतिष्ठा की। इतना ही नहीं लेखक ने भारतेन्दु सम्बन्धी अपनी निजी साहित्यिक स्थापनायें भी दी हैं।

इस प्रकार आचार्य शुक्ल के आलोचनात्मक निबन्धों पर विचार करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "साहित्य सम्बन्धी उनकी जो धारणाएँ और मान्यताएँ थीं उन्हीं के अनुसार उन्होंने आलोच्य-साहित्य को देखा और उस पर अपनी संमति प्रकट की। आचार्य शुक्ल की इस क्षेत्र में सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने साहित्य सम्बन्धी जो सिद्धांत एक बार स्थापित कर लिए थे उनका पालन आदि से अन्त तक किया। उन्होंने अपनी साहित्यिक धारणाओं में कभी चंचलता (फिकिलनेस) नहीं आने दी। एक सतसमालोचक की यह सबसे बड़ी विशेषता है। यह प्रश्न दूसरा है कि उसके सिद्धान्त अन्यों की दृष्टि में कैसे हैं। उसने अध्ययन, मनन और चिंतन से जो कुछ निर्धारित किया है, वह उसे लोगों के संमुख रख देता है और उसी को दृष्टि में रखकर जीवन-पर्यन्त कार्य करता है। आचार्य शुक्ल में हम यह विशेषता पाते हैं।"[2]

चिंतामणि के निबंध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान

चिंतामणि पहला भाग में संगृहीत सत्रह निबंधों पर विचार करते समय पाठकों का ध्यान इस ओर भी जाता है कि आखिर इन निबन्धों को विषय-प्रधान माना जाय या व्यक्ति-प्रधान। स्वयं शुक्ल जी ने तो अपने निवेदन में यह निर्णय पाठकों पर ही छोड़ दिया है कि वे स्वयं निर्णय करें कि ये निबन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान।[3] अतः इस दिशा में

---

१. चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचन्द्र शुक्ल (२०७-२०८)

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—श्री शिवनाथ एम. ए. (पृ० १५९)

३. "इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़नेवाले कुछ अंश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँचती है वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धिपथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।

वस इतना ही निवेदन करके इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निवन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान।"

—चिंतामणि पहला भाग (निवेदन)

समीक्षकों में मतवैपरीत्य सा दीख पड़ता है। जहाँ कि डा० गुलाबराय का यह कहना है "चिंतामणि के निबन्ध दो प्रकार के हैं—कुछ मनोवैज्ञानिक—जैसे उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, लज्जा-ग्लानि, लोभ-प्रीति, ईर्ष्या, भय आदि और कुछ साहित्यिक और आलोचनात्मक जैसे—कविता क्या है, साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद, रसात्मक-बोध के विविध रूप। इन दोनों ही प्रकार के निबन्धों में शुक्ल जी का निजी दृष्टिकोण स्पष्ट और व्यक्त दिखाई पड़ता है। मनोवैज्ञानिक निबन्ध भी मनोविज्ञान की दृष्टि से नहीं लिखे गए। उनमें एक सूक्ष्म विश्लेषण है जिसकी संगति उनकी तुलसी, सूर और जायसी की आलोचनाओं में से है और उनमें एक नैतिक पुट भी है। उनकी सारी आलोचनाओं में लोक-संग्रह को महत्व दिया गया है और इन निबन्धों में भी लोकहित की भावना को महत्व दिया गया है। क्रोध और भय को सामाजिक महत्व दिया गया है। उसी क्रोध की सराहना की गई है जो अत्याचारी के अत्याचार को दूर करने के लिए हो। श्रद्धा में श्रद्धास्पद के कार्यों को महत्ता दी गई है। प्रीति के प्रेम की एकनिष्ठता और वैयक्तिकता पर बल दिया गया है। इस प्रकार 'कविता क्या है' में भी उनके वैयक्तिक दृष्टिकोण को प्रधानता मिली है। उसमें लोक-सामान्य की भावभूमि, वैयक्तिकों के स्वार्थों का निषेध और मानव-प्रवृत्ति के मूलरूपों पर जो सभ्यता की पेचीदगियों के भीतर भी झलकते दिखाई देते हैं, बल दिया गया है। साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद में उन्होंने पश्चिम की अतिवैयक्तिकता का घोर विरोध किया है। प्रत्येक निबन्ध में शुक्ल जी की आत्मा बोलती हुई सुनाई पड़ती है और उनकी विषयगत प्रतिभा की झाँकी मिलती है। × × विषय की दृष्टि से तो शुक्ल जी के निबन्धों में वैयक्तिकता है ही किन्तु शैली के दृष्टिकोण से यह वैयक्तिकता और भी निखार में आ गई है। × × शुक्ल जी के निबन्धों में विषय का प्रतिपादन अवश्य है किन्तु उनमें उनके दृष्टिकोण की प्रधानता है।"[१] वहाँ श्री गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का कहना है "शुक्ल जी के निबन्ध में प्रधानता बुद्धितत्व की है, हृदयतत्व की नहीं, हृदयतत्व सहायक मात्र है। इसके अतिरिक्त यह भी लक्षित करना चाहिए कि माइकेल मांटेन का हृदयतत्व बहुत अधिक हलका है, उसमें वह सहृदयता नहीं है जिसमें रागात्मिकता वृत्ति का समावेश माना जा सके; इसके विपरीत शुक्ल जी का जो कुछ भी हृदयतत्व निबन्धों में समाविष्ट हुआ है वह समष्टि विरोधी वैयक्तिक इंद्रिय-सुख की ओर न ले जाकर शेष सम्पूर्ण विश्व के प्रति सौहार्द्र और एकाकार के भाव की ओर अग्रसर करनेवाला है। अन्य शब्दों में इसे यों कह सकते हैं कि यदि मांटेन के निबन्ध का हृदयतत्व अथवा आत्मज्ञापन तत्व चन्द्रिका की तरह कोमल और सरस है तौ शुक्ल जी के निबन्ध का हृदयतत्व सूर्य की किरणों की तरह कठोर है जिनके कल्याणकारी प्रभाव से ही शस्य का परिपाक सम्पन्न होनेवाला है। × ×"

चिंतामणि के प्रथम भाग के आंतरिक पृष्ठ पर लिखा गया है—'विचारात्मक निबन्धों का संग्रह' क्या सारे के सारे सत्रह निबन्ध विचारात्मक निबन्ध ही हैं? इस प्रश्न के उत्तर में 'हाँ' नहीं कहा जा सकता, कारण यह है कि अनेक निबन्ध ऐसे हैं जिनमें विचार-संतुलन, विचार-संगठन और विचारोत्पादन की क्षमता के स्थान में किसी आलम्बन के सहयोग से भाव का

---

[१] अध्ययन और आस्वाद—डा. गुलाबराय (पृ०.३७५-३७७)

विकास करने की प्रवृत्ति अधिक है, जिससे उन्हें भावात्मक निबन्ध कहना ही अधिक सार्थक होगा। किन्तु भावात्मक निबन्धों की नींव में भी एक ऐसी विचारात्मकता विद्यमान है जो उनके स्वर को साधारण भावात्मक निबन्धों के स्तर से ऊँचा उठा देती है; इस दृष्टि से यदि हम चाहें तो उक्त सभी निबन्धों को भावात्मक और विचारात्मक दो श्रेणियों में विभक्त करके ही अध्ययन की सुविधा करनी होगी।"[१] इसी प्रकार श्री जयनाथ 'नलिन'[२], श्री ब्रह्मदत्त शर्मा[3] और श्री शिवनाथ एम० ए०[४] ने भी अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं।

वस्तुतः स्वयं शुक्ल जी भी यह नहीं निर्णय कर पाए थे कि आखिर उनके निबन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान और यह प्रश्न बार-बार उनके मन में उठता रहा है तभी उन्होंने यह निर्णय पाठकों पर ही छोड़ दिया। परन्तु "शुक्ल जी ऐसा क्यों सोच रहे थे? उनकी दृष्टि व्यक्ति या विषय के चक्कर में क्यों अटकी थी? इसके पीछे है पश्चिमी निबन्धकारों की वैयक्तिकता जो पश्चिमी निबन्धों में प्रधान तत्व मानी गई हैं। पश्चिम में विषय को प्रधानता प्राप्त नहीं हुई। विषय कुछ भी क्यों न हो, खरिया का टुकड़ा (A piece of chalk), बिल्लियाँ (cats), हत्यारा (Murder) इत्यादि, वहाँ प्रधानता मिली निबन्ध में घुली वैयक्तिकता को। पश्चिम में निबन्ध आत्मपरक अधिक थे। निबन्धकार अपने संबंध की अनेक घटनाएँ निबन्ध में भरता था। विषय का स्पर्श कर वह कहीं से कहीं पहुँच जाता था। निबन्धकार अपने जीवन से संबद्ध घटनाओं, व्यक्तियों इत्यादि को प्रमुखता देता था। वहाँ उसे ही वास्तविक निबन्ध स्वीकार किया जाता था जिसमें वैयक्तिकता का भरपूर समावेश हो और शैथिल्य भरा हो। इसी वैयक्तिकता की प्रमुखता देखकर आचार्य शुक्ल को बराबर ध्यान लगा था कि मेरे निबन्धों में पश्चिमी वैयक्तिकता कहाँ है?"[५] स्वयं शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास नामक अपनी

---

१. समीक्षक-प्रवर श्री रामचंद्र शुक्ल—श्री गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' (पृ. ५८-५९)

२. "शुक्ल जी ने विचारात्मक निबन्ध ही लिखे। × × शुक्ल जी के निबन्ध विचारात्मक होते हुए भी, मस्तिष्क और तत्व का सानुपातिक योग हैं।"

—हिंदी निबन्धकार : श्री जयनाथ 'नलिन' (पृ. १४६-१४९)

३. "उनके निबन्धों में विषय की प्रधानता और लेखक के व्यक्तित्व का बराबर स्थान ठहरता है। अतएव कहा जा सकता है कि विषय तथा व्यक्ति का सामंजस्य इनके निबंधों का मुख्य गुण है।"

—हिंदी साहित्य में निबन्ध : श्री ब्रह्मदत्त शर्मा (पृ. ८५-८६)

४. "उनके निबन्ध विचारात्मक होने के कारण विषय प्रधान तो हैं ही, पर साथ ही उनमें व्यक्तित्व की भी अप्रधानता नहीं है। उनके निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की पूरी छाप है। हिंदी में वस्तुतः उन्होंने वैयक्तिक निबन्धों का आदर्श प्रस्तुत किया।"

—आचार्य रामचंद्र शुक्ल : श्री शिवनाथ (पृ० २४४)

५. साहित्य सरोवर—डॉ० गोपीनाथ तिवारी (पृ० ३७२)

सुप्रसिद्ध कृति में निबन्ध की जो परिभाषा दी है[1] उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि निबन्धों में वैयक्तिकता या व्यक्तित्व का प्रकाशन वे दो प्रकार से मानते हैं—प्रथम तो शैली द्वारा और द्वितीय लेखक के भाव-विचारों के रूप में। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन में साहित्य-परिषद् के सभापति पद से भाषण देते समय भी उन्होंने यही कहा था "काव्य-समीक्षा के अतिरिक्त और प्रकार के विचारात्मक निबन्ध साहित्य-कोटि में वे ही आते हैं जिनमें बुद्धि के अनुसंधानक्रम या विचार-परम्परा द्वारा गृहीत अर्थों या तथ्यों के साथ लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ पूरी-पूरी झलकती हों।" इस प्रकार शुक्ल जी के कथनानुसार निबन्धों में विषय की प्रधानता के साथ-साथ व्यक्तित्व का प्रकाशन भी संभव है और यही कारण है कि चिंतामणि पहला भाग के निबन्ध उद्देश्य, प्रवृत्ति व शैली तथा पाठक को उपलब्धि आदि की दृष्टि से विषय-प्रधान होते हुए भी निजी जीवन-अनुभूतियों, व्यक्तिगत संस्मरणों व घटनाओं से शून्य नहीं हैं। हाँ इतना अवश्य है कि इन निबन्धों में पाठकों का ध्यान विशेषरूप से विषय की ओर ही रहता है और उसकी बुद्धि विषय के गंभीर पक्षों पर ही दौड़ती है। लेखक की शैली भी विषय-प्रधान ही रही है,' फलतः इन निबन्धों को विषय-प्रधान ही माना जाता है पर विषय-प्रधान होते हुए भी ये व्यक्तिनिष्ठ हैं और इनमें शुक्ल जी का व्यक्तित्व पूर्णरूप से प्रतिफलित हुआ है। यदि हम विचारपूर्वक देखें तो शुक्ल जी के इन निबन्धों में हमें उनके व्यक्तित्व का प्रकाशन तीन रूपों में दीख पड़ता है। पहला रूप तो

---

[1] "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिये विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जान-बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिये ऐसी अर्थयोजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्राकृत या लोक-सामान्य स्वरूप से कोई संबंध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से काम कराए जायँ जिसका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।

संसार की हर एक बात और सब बातों से संबद्ध है। अपने-अपने मानसिक संधान के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये सम्बन्धसूत्र एक दूसरे से नथे हुए पत्तों के भीतर की नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्त्व-चिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध-सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-सम्बंधी विशेषता है। अर्थ-सम्बंधी सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध सूत्र पर दौड़ता है; किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।"

—हिंदी साहित्य का इतिहास—पं० रामचंद्र शुक्ल (५०५-५०६)

वह है जहाँ उन्होंने अपने जीवन के किसी प्रसंग का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है; [1] दूसरा रूप वह है जब उक्त बर्णन संकेत मात्र तक सीमित होकर रह गया है [2] और तृतीय रूप वह है जिसमें उन्होंने वस्तु, विचार या परिस्थिति के पक्ष या विपक्ष में कुछ कहकर अपनी मनोवृत्ति की एक झलक दिखलाई है। [3] इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि चिंतामणि के निबन्धों में विषय और व्यक्तित्व का जैसा सुयोग है, वैसा बहुत कम देखने में आता है तथा वास्तव में विश्व-साहित्य में बहुत ही कम ऐसे विचारातमक निबन्ध मिलेंगे जिनमें विचारों की गहनगुंफित परम्परा के साथ-साथ व्यक्तित्व का भी इस प्रकार विविध मार्मिक प्रकाशन हुआ है।

अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चिंतामणि में संगृहीत निबंधों में विषय के साथ-साथ व्यक्तित्व की निहित स्वत: हो गई है और उनमें उन दोनों तत्वों का उपयुक्त व संयत सन्निवेश मिलता है।

---

[1] "खलियानों और रेलवे स्टेशनों पर जाने से भिन्न-भिन्न प्रकार की गंध का अनुभव होता है। पुराने कवियों ने तुरन्त की जोती हुई भूमि से उठी हुई सोंधी महक का, हिरनों द्वारा चरी हुई दूब की ताजी गमक का उल्लेख किया है। फ्रांसीसी उपन्यासकार जोला की गंधानुभूति बड़ी सूक्ष्म थी। उसने योरोप के कई नगरों और स्थानों की गंध की पहचान बताई है। इसी प्रकार बहुत से शब्दों का अनुभव भी बहुत सूक्ष्म होता है। रात्रि में, विशेषत: वर्षा की रात्रि में, झींगुरों और झिल्लियों के झंकार मिश्रित चीत्कार का बँधा तार सुनकर लड़कपन में मैं यही समझता था कि रात बोल रही है।"

—चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० २४४)

[2] "थोड़े दिन हुए, किसी लेखक ने कहीं पढ़ा कि प्रतिभाशाली लोग कुछ उग्रता और पागलपन लिए होते हैं। तब से वे बराबर अपने में इन दोनों शुभ लक्षणों की स्थापना के यत्न में लगे रहते हैं। सुनते हैं कि पहले में वे कुछ कृतकार्य भी हुए हैं, पर पागलपन की नकल करना कुछ हँसी-खेल नहीं, भूल-चूक से कुछ समझदारी की बातें मुँह से निकल ही जाती हैं।"

—चिंतामणि पहला भाग—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० २८)

[3] "बहुत से पुराने मकानों की कारीगरी देखिए तो उसमें बहुत सा काम गिचपिच किया हुआ दिखाई देगा; ऐसे महीन बेलबूटों की भिन्न-भिन्न पटरियाँ दीवारों में लगी हुई मिलेंगी जो बिना आँख को पास ले जाकर सटाये स्पष्ट न जान पड़ेंगे। सारे मकान को एक बार में देखने से इन सबों का सम्मिलित प्रभाव दृष्टि और मन पर क्या पड़ेगा, इसका कुछ भी विचार बनानेवालों ने नहीं किया, वह स्पष्ट दिखाई पड़ेगा। ऐसे कामों में अभ्यास का तथा समय और श्रम के व्यय (वा अपव्यय) का पूरा परिचय मिलता है, पर विचार और सफलतापूर्वक उनके उपयोग का बहुत कम। समझने की बात है कि इमारत हाथ पर लेकर देखने की चीज नहीं है, दस-पाँच हाथ दूर पर खड़े होकर देखने की चीज है।"

—चिंतामणि पहला भाग—पं. रामचंद्र शुक्ल (पृ. २४)

शिल्प-विधान

एक विचारक के शब्दों में "निबंध के शिल्प का आदर्श तलाश करना हो तो आप हिंदी के अनुपम निबन्ध-शिल्पी शुक्ल जी के निबन्ध पढ़ें। व्यक्तित्व निबन्ध की रीढ़ है और शैली उसकी शक्ति—यह उनके निबन्धों में सर्वव्यापक है।"[१] साथ ही "शुक्ल जी का एक-एक निबंध हिंदी गद्य शैली के विकास की शानदार मंजिल है; एक-एक पैरा प्रगति और प्रौढ़ता के पथ पर बढ़ता हुआ पग, एक-एक पंक्ति गंभीर मौलिक चिंतन की साँस और एक-एक शब्द अभिव्यंजना की सिद्धि।"[२] शुक्ल जी की गद्य-शैली का सोदाहरण विस्तृत विवेचन करने और उसका अनुशीलन करने पर चिंतामणि पहला भाग में संगृहीत इन निबन्धों की भाषा-शैली का परिचय सहज ही मिल जाता है, अतः यहाँ संक्षेप में ही उनके शिल्प-विधान की विशेषताओं का ही विवेचन करेंगे।

डॉ० रामरतन भटनागर के शब्दों में "संक्षेप में, हम शुक्ल जी की भाषाशैली की विशेषताओं को इस प्रकार रख सकते हैं—

१. तत्सम शब्दों का विशेष प्रयोग।

२. नए शब्दों का निर्माण, विशेषतयः परिभाषा और विवेचन के क्षेत्र में—जैसे परिवर्तन, तुल्यानुराग, एकान्तिक और लोकबद्ध प्रेम, स्वायत्त रक्षा की इच्छा और स्वनिरपेक्ष रक्षा की इच्छा, प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छा आदि। शुक्ल जी के समय तक साहित्यशास्त्र और मनोविज्ञान के क्षेत्र में हिंदी के माध्यम से कुछ काम नहीं हो पाया था। इसलिए उन्हें इन क्षेत्रों में अनेक पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करना पड़ा। इन पारिभाषिक शब्दों ने उनकी भाषाशैली को सामान्यजन के लिए कठिन बना दिया।

३. विचार और तर्कवाद की सुगठित परम्परा जो सूत्रों के रूप में सामने आती है। तर्कवाद और विचार-परम्परा से कसी हुई यह अत्यंत चुस्त भाषा-शैली कभी-कभी दूर तक चली जाती है और अनेक वाक्य बोझिल और दुरूह होने लगते हैं। इसमें संदेह नहीं कि शुक्ल जी ने बीच-बीच में अथवा स्थान-स्थान पर भावुक प्रसंगों और हास-परिहास, वाग्वैचित्र्य एवं लोक-जीवन के उदाहरणों से श्रम का परिहार करना चाहा है, परन्तु समष्टि रूप में उनकी शैली विचारों की गहनता और तर्क-तारतम्य के कारण दुर्बोध-सी लगती है।

४. कभी-कभी शुक्ल जी एक ही वाक्य में चिंतन और मनन के लिए बहुत बड़ी सामग्री उपस्थित कर देते हैं जैसे 'जब तक प्रवृत्ति का यह व्यभिचार रहेगा, तब तक हम रूप-लोभी ही माने जाएँगे।' यहाँ प्रवृत्ति के व्यभिचार से सौंदर्यासक्ति के कारण एकनिष्ठा का अभाव सूचित है। यहाँ व्यभिचार शब्द रूढ़ार्थ में प्रयुक्त न होकर धात्वार्थ को सूचित करता है। इसी प्रकार 'लोभ स्वविषयान्वेषी होने के कारण अपनी स्थिति और वृद्धि का आधार आप खड़ा करता है।' इस वाक्य में अभिप्राय यह है कि लोभ के विषय की आसक्ति इतनी स्वतंत्र और पूर्ण है कि लोभी की सारी प्रवृत्तियाँ उसी में केन्द्रित हो जाती हैं। 'स्वविषयान्वेषी' शब्द में

---

१. आचार्य रामचंद्र शुक्ल—श्री जयनाथ 'नलिन' (पृ. ७८)

२. हिंदी निबन्धकार—श्री जयनाथ 'नलिन' (पृ. १४६)

'गागर में सागर' भर दिया गया है, परंतु इससे भाषाशैली में दुरूहता ही बनी है। कहीं-कहीं संदर्भ की पुष्टि में नए शब्द स्वतः ही आ गए है, जैसे विरोध-शून्यता के लिए अविरोध। जहाँ शब्द किसी पश्चिमी शब्द का अर्थबोधक है, वहाँ शुक्ल जी उसे कोष्टकों में देते हैं जैसे ज्ञातृपक्ष और ज्ञेयपक्ष (सब्जेक्टिव और आब्जेक्टिव के लिए) शब्द-निर्माण के क्षेत्र में यह नवीनता शुक्ल जी की विशेषता है। उन्होंने मनोविज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में हमारी शब्द-निधि का विस्तार ही किया।"[1] शुक्ल जी की इस उत्कृष्ट भाषा-शैली का एक उदाहरण दृष्टव्य है; "क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है इसी से अवसर पड़ने पर यह और मनोविकारों का भी साथ देकर उनकी तुष्टि का साधन होता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। एक क्रूर-कुमार्गी किसी अनाथ-अबला पर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय में उस अनाथ-अबला के प्रति दया उमड़ रही है। पर दया की अपनी शक्ति तो त्याग और कोमल व्यवहार तक होती है। यदि वह स्त्री अर्थकष्ट में होती तो उसे कुछ देकर हम अपनी दया के वेग को शान्त कर लेते। पर यहाँ तो उस अबला के दुःख का कारण मूर्तिमान तथा अपने विरुद्ध प्रयत्नों को ज्ञानपूर्वक रोकने की शक्ति रखनेवाला है। ऐसी अवस्था में क्रोध ही उस अत्याचारी के दमन के लिए उत्तेजित करता है जिसके बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले में दया की वाहवाही को नहीं बँटाता। काम क्रोध करता है, पर नाम दया का ही होता है। लोग यही कहते हैं कि उसने दया करके बचा लिया। यह कोई नहीं कहता कि 'क्रोध करके बचा लिया।' ऐसे अवसरों पर यदि क्रोध दया का साथ न दे तो दया अपनी प्रवृत्ति के अनुसार परिणाम उपस्थित ही नहीं कर सकती।"[2]

(दिसम्बर १९६०)

---

१. अध्ययन और आलोचना—डॉ. रामरतन भटनागर (पृ. २७२-२७३)

२. चिंतामणि पहला भाग—पं. रामचंद्र शुक्ल (पृ. १३५)

मूल्यांकन

तमिल साहित्य की मीरा : आंडाल

जिस प्रकार हिन्दी साहित्य में प्रेमयोगिनी मीरा का नाम अत्यधिक प्रसिद्ध है उसी प्रकार न केवल आलवार भक्तों में अपितु तमिल साहित्य में भी आंडाल वा गोदा का अद्वितीय स्थान माना जाता है। वस्तुतः आंडाल का अर्थ शासन करनेवाली या गोस्वामिनी होता है और चूंकि उन्हें अखिल विश्व के रक्षक परमात्मा की पत्नी-प्रेयसी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, अतः उनका यह नाम स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। आंडाल नाम के साथ-साथ उनका 'गोदा' नाम भी प्रसिद्ध है और जैसा कि श्री मोनियर विलियम्स ने अपनी महत्वपूर्ण कृति (Sanskrit English Dictionary) के पृष्ठ ३६८ में गोदा को एक सामवेदीय शाखा की आचार्या कहा है वहाँ साथ ही वे गोदा का अर्थ अपनी वाणी भगवान के लिये समर्पित करनेवाली, या अपने विश्वोपजीव्य पियूषमयी सूक्तियाँ प्रदान कर लोक-कल्याण करनेवाली भी मानते हैं। चूंकि आंडाल ने न केवल अपनी वाणी अपितु अपने आपको ही भगवान के लिये समर्पित कर दिया था अतः गोदा नाम भी स्वाभाविक और सार्थक प्रतीत होता है। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि आंडाल का शैशवावस्था में नाम 'कोदई' था और चूंकि तमिल में 'कोदई' का अर्थ फूलों के समान कोमल होता है, अतः यह नाम भी पूर्ण स्वाभाविक प्रतीत होता है।

आंडाल की उत्पत्ति के विषय में कहा जाता है कि नियमानुसार एक दिन जब प्रातःकाल प्रसिद्ध आलवार संत पेरि आलवार भगवान की पूजा के हेतु वाटिका में पुष्पचयन कर रहे थे कि अचानक उन्हें तुलसी के वृक्षों के मध्य एक ऐसी नवजात बालिका दृष्टिगोचर हुई जो कि उन वृक्षों में से एक को जननी समझकर लेटी हुई थी, पुष्पवृक्ष उस पर सुमन

बरसा रहे थे, कोकिलाएँ उसे अपना सुरीला राग सुना रही थीं, मराल अपने पंखों से उसकी रक्षा कर रहे थे तथा साथ ही उसके शरीर से दिव्यकान्ति सी दृष्टिगोचर हो रही थी। उस बालिका को पाकर पेरि आलवार अत्यंत प्रसन्न हुए तथा उसे ले जाकर उन्होंने वटपत्रशायी भगवान नारायण के चरणों में रखकर कहा—"यह तुम्हारी ही सम्पत्ति है, जो तुम्हारी सेवा के हेतु आई है। इसे अपने चरण कमलों में स्थान दो।" कहते हैं कि उस मूर्ति में से यह आवाज आई कि इस लड़की को अपने ही घर रखकर अपनी लड़की के सदृश्य इसका पालन-पोषण करो और उस परमपिता परमात्मा की आज्ञा शिरोधार्य कर पेरि आलवार उसे लेकर घर चले आए तथा अत्यंत स्नेह के साथ उसका पालन-पोषण करने लगे। वस्तुतः आंडाल का जीवनवृत्त प्रारंभ से ही "होनहार विरवान के होत चीकने पात" नामक कहावत को चरितार्थ करता है और कहा जाता है कि शैशवावस्था में जब उस बालिका ने कुछ बोलना प्रारंभ किया था तो उसके मुख से 'विष्णु' के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा नाम ही न निकलता था और जब वह युवा हुई तो भगवान के गीत गाने लगी तथा पेरि आलवार के मंदिर चले जाने के पश्चात् वह भी बाग में जा पहुँचती और पुष्पमालाएँ गूँथा करती। किशोरावस्था में तो उसने श्रीरंगम के भगवान श्री रंगनाथ को अपने पति के रूप में वरण कर लिया था और कहा जाता है कि वह अपने प्रियतम के प्रेम में कभी-कभी इस प्रकार इतनी अधिक तन्मय हो जाती कि भगवान के लिये गूँथे हुए हारों को स्वयं पहनकर दर्पण के सामने खड़ी हो जाती और अपनी छवि को निहार कर अपने आप से पूँछने लग जाती कि क्या मैं उनके अनुरूप हूँ और क्या मेरा सौंदर्य मेरे प्रियतम को मेरी ओर आकृष्ट कर सकेगा? एक दिन पुजारी ने उसकी धारण की हुई माला यह कहकर पेरि आलवार को वापिस कर दी कि उसमें किसी व्यक्ति के सिर का बाल लगा हुआ है तथा दूसरे दिन भी उसने यह आरोप लगाकर कि आज तो यह हार अत्यधिक मुरझा गया है, उसे वापिस कर दिया। पेरि आलवार को इससे अत्यंत दुःख हुआ और चूँकि वे नित्य नए-नए पुष्पों की ही माला बनाते थे अतः वे सोचने लगे कि इस घटना में अवश्य कुछ न कुछ रहस्य है और एक दिन उन्होंने परदे के पीछे नए पुष्पों की माला धारण किये हुए आंडाल को देखा जो कि न जाने मन ही मन क्या कह रही थी। वे तुरन्त ही उसके पास गये और उससे कहने लगे कि "अरे यह तूने क्या पागलपन किया है जो कि भगवान के लिए तैयार किए गए हार को स्वयं ही पहिन लिया है' और फिर वे तुरन्त नए पुष्पों की माला बनाकर मंदिर में पहुँचे लेकिन उसी रात्रि भगवान ने उन्हें स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि "मुझे आंडाल द्वारा पहनी गई मालाओं को धारण करने में ही विशेष सुख मिलता है। अतः वे ही हार मुझे चढ़ाया करो।" पेरि आलवार को अब यह विश्वास हो गया कि आंडाल कोई साधारण लड़की नहीं है। इधर वह उत्तरोत्तर कृष्ण के प्रति आकृष्ट होती जा रही थी और उसके मानस में कृष्णानुराग की भावना इतनी अधिक बढ़ चुकी थी कि वह स्वयं अपने आपको श्रीकृष्ण के दर्शनों की उत्सुक किसी गोपी का अवतार समझने लगी और इस प्रकार जब परिवार में उसके विवाह की चर्चा छिड़ने लगी तो उसने स्पष्ट कर दिया कि "मैंने श्रीरंगम के भगवान श्री रंगनाथ को पति रूप में वरण कर लिया है अतः अब मैं अन्य किसी दूसरे से विवाह नहीं कर सकती।" एक दिन वह अपने प्रियतम कृष्ण के विरह में अत्यंत व्याकुल हो गयी तो भगवान रंगनाथ ने मंदिर के अधिकारियों को स्वप्न देकर कहा कि "शीघ्र

ही मेरी प्रियतमा आंडाल को मेरे पास ले आओ" और उन्होंने पेरि आलवार को भी स्वप्न दिया कि "तुम तुरन्त ही आंडाल को लेकर चले आओ, मैं उससे पाणिग्रहण करूँगा" तथा साथ ही उन्होंने आंडाल को भी स्वप्न दिया। कहा जाता है कि दूसरे ही दिन वैवाहिक विधियों के साथ पेरि आलवार ने उसे भगवान को अर्पित कर दिया और जब प्रेम में मतवाली आंडाल ने मंदिर में प्रवेश किया तथा जैसे ही वह भगवान की शेषशय्या पर चढ़ी कि अचानक ही एक दिव्यालोक सर्वत्र व्याप्त हो गया और उस प्रकाश में आंडाल सबके देखते-देखते विद्युत की चमक के सदृश अचानक ही अंतर्हित हो गई अर्थात् वह भगवान नारायण के शरीर में मिल गई और उसके जीवन की साधना इस प्रकार पूर्ण हुई। कहते हैं दक्षिण भारत के वैष्णव मंदिरों में आज भी आंडाल का विवाहोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है।

वस्तुतः आंडाल केवल एक भक्त ही नहीं थी अपितु वह एक श्रेष्ठ कवयित्री भी थी तथा उसकी काव्य-कृतियाँ न केवल तमिल साहित्य की अपितु समस्त भारतीय साहित्य की जाज्वल्यमान रत्न समझी जाती हैं और न जाने कितने ही पौर्वात्य तथा पाश्चात्य विद्वानों एवं दार्शनिकों ने उनकी प्रशंसा भी की है। तमिल भाषा के कवि चक्रवर्ती एवं राष्ट्रीय कवि स्व० श्री सुब्रह्मण्य भारती ने अपने 'आर्य सम्पत्' नामक निबन्ध में स्पष्ट रूप से आंडाल की सूक्तियों का महत्व प्रतिपादित करते हुए उन्हें भारतीय सम्पदा का एक अनमोल रत्न माना है और इसी प्रकार तमिल साहित्य के सुप्रसिद्ध चिन्तनशील समालोचक स्वर्गीय श्री व. वे. सुब्रह्मण्य अय्यर ने भी एक स्थल पर लिखा है, "नायिका की भावना से भगवद्भक्ति करने की परम्परा प्राचीन काल के भक्तों एवं कवियों द्वारा ही प्रारम्भ हो चुकी थी। रोमन कैथलिक धर्म में भी भक्तवर्ग को नायिका और ईसामसीह को नायक मानकर बहुत सी सूक्तियाँ लिखी गई हैं। वस्तुतः श्रीमद्भागवत में भी गोपियों के उपाख्यान इसी भावना से युक्त हैं।........ कहा जाता है कि श्री रामकृष्ण परमहंस ने भी अपनी भावनाओं में एक बार नायिकानुभव का रसास्वादन करने की इच्छा से साड़ी पहनकर राधा सदृश्य भावना से श्रीकृष्ण की उपासना की थी। तमिल जनता के हेतु 'तिरुक्कोवैयार' एवं रामलिंग स्वामी जी के 'तिरुवरुपा' से यह भक्ति-साधना कुछ विलक्षण नहीं है।........परन्तु इस भावना को निभाना असिधार पर चलने के सदृश्य है तथा इसके लिए एक सीमा भी निर्धारित है।......करुप्पूरम् नारुमरे से प्रारम्भ होकर आंडाल तक ने अपनी कविताओं में इस भावना का जिस निर्दोष ढंग से अन्त तक निर्वाह किया है उस ढंग से उसे पूर्ण रूपेण बिना किसी भी दोष के निभाना सहज नहीं है।" वस्तुतः आंडाल के वास्तविक स्वरूप के विज्ञ होने के हेतु यह आवश्यक है कि उनकी 'तिरुप्पावै' तथा 'नाच्चियार तिरुमोलि' नामक दोनों काव्य-कृतियों पर संक्षेप में विचार किया जाय।

कहा जाता है कि श्रीमद्भागवत में उल्लिखित 'हेमन्ते प्रथमे मासे' अर्थात् अगहन के महीने में किया जाने वाला कात्यायनी व्रत तमिलनाड़ में पावैनोम्बु अर्थात् कन्याव्रत कहलाता है। कहते हैं अगहन के महीने में कन्याएँ अपनी सभी सहेलियों सहित भोर होते ही सरिता तट पर जाती हैं और स्नान कर अत्यन्त पवित्र तथा शुद्ध मन से वहीं पर उस नदी के रेत से देवी कात्यायनी की प्रतिमा बना कर उसका पूजन करती हैं और इस प्रकार स्नान करते समय वे कन्याएँ अपनी सुप्तावस्था की सहेलियों को जाग्रत करती हुई ईश्वर का गुणगान करती हुई जाती हैं अतएव भक्त कवियों ने भी स्नान करने वाली कन्याओं तथा सोती-अलसायी सहेलियों

में लाक्षणिक अर्थ स्थापित कर अत्यन्त मर्मस्पर्शी गेय पदों का सृजन किया है जिन्हें 'तिरुप्पावै' कहा जाता है। वस्तुतः पावै का एक अर्थ कन्या और दूसरा पुतली या प्रतिमा मानकर पावै पूजा अर्थात् प्रतिमा पूजा के हेतु पावै (कन्या) को सम्बोधित कर रचे गए पदों का समूह तिरुप्पावै कहलाता है। वस्तुतः आंडाल ने भी यही परम्परा अपनाई है तथा उसके इन तीसों पदों में अगहन मास के स्नान का ही आमंत्रण है। 'दिव्य प्रबन्धम्' में संगृहीत चार सहस्र पदों में श्री रामानुजाचार्य को ये तीस पद इतने अधिक प्रिय थे और वे उनका इतना ज्यादा मनन करते थे कि वे स्वयं ही 'तिरुप्पावैणीवर' अर्थात् तिरुप्पावै संत कहलाने लगे थे। आज भी वैष्णव मंदिरों में तथा वैष्णव घरों में भी अगहन मास के तीसों दिन अत्यन्त श्रद्धा एवं भक्ति के साथ प्रातः 'तिरुप्पावै' के तीसों पदों का गान होता है। उन पदों के सम्बन्ध में तो एक भक्त ने यहाँ तक कहा है कि जो मनुष्य आंडाल के इन तीस पदों से विज्ञ नहीं है, वस्तुतः उसका जीवित रहना वसुधा के लिये भारस्वरूप ही है। चौदह दशमों में विभक्त तथा प्रत्येक में दस या ग्यारह पदों वाला यह संग्रह तमिल प्रदेश में 'नाच्चियार तिरुमोलि' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके १४३ पदों में नारी हृदय की व्याकुलता तथा आत्मसमर्पण की आकुलता का ही चित्रण किया गया है और साथ ही उनमें कुलकानि, लोकलाज, मानमर्यादा, कथ्य-अकथ्य सबका परित्याग कर अपना सर्वस्व परमात्मा के ही चरणों में अर्पित करने की प्रेरणा दी गई है। वल्लभाचार्य ने भक्ति में प्रपत्ति अर्थात् आत्मसमर्पण को जो महत्व दिया था उसका स्रोत आंडाल की सूक्तियों में स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं। 'नाच्चियार तिरुमोलि' एक सुखान्त काव्य ही है तथा यह तमिल साहित्य में कृष्ण-काव्य की परम्परा का जाज्वल्यमान रत्न भी है और उसमें वे सभी काव्यगत विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं जो कि श्रष्ठतम काव्य में परमावश्यक हैं। पावस के सजल काले-काले वारिदों का कितना सुन्दर वणन निम्नांकित अवतरण में किया गया है :—

विण्णील मेलाप्पु विरित्रायोंल मेहंगाल
मामुत्त निधि शोरित्रुम मामुह्तिव्हाल
मिन्नाहत्तेलुहिन्द मेहंगाल
वान् कोंण्डु किलन्देलुन्द मामुतिलव्हाल
जलम् कोण्डु किलन्देंलुन्द तण्मुहिल
काहीलातु खलुहिन्द कामुहिलहाल

चूंकि सरस और सहृदय व्यक्ति से सहानुभूति तथा सहायता प्राप्ति की संभावना शीघ्र की जा सकती है अतः विरहणी आंडाल उन मेघों को कहती है कि तुम मेरी यह व्यथा मेरा सर्वस्व हरण करनेवाले उस नारायण से अवश्य कह देना—

एन्ने नलम् कोण्ड नारणकुं
एव नडलै नोय चेप्पिमिने।

(त्रिपथगा १९५६)

मराठी काव्य-साहित्य के वाल्मीकि : संत ज्ञानेश्वर

यद्यपि विचारकों ने संतों को तत्त्वदर्शी और कवियों को सौन्दर्यान्वेषी माना है, परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सौन्दर्य और सत्य एक ही वस्तु के दो पहलू हैं तथा भावावेश एवं जिज्ञासापूर्ण अवस्था में ही इन दोनों का साक्षात्कार संभव हो सकता है और इस प्रकार संत तथा कवि दोनों के लिए एक ही प्रकार की सुषमा का अवलोकन तथा एक ही प्रकार की आनन्दानुभूति प्राप्त करना आवश्यक है। वस्तुतः संत और कवि दोनों ही भाव-राज्य में विचरते हैं जहाँ से वे हमारी उच्च भावनाओं को जाग्रत कर इस पार्थिव जगत् से हमें ऊपर की ओर ले जाते हैं। स्मरण रहे, वैदिक साहित्य में कवि को क्रांतिदर्शी कहा जाता था, क्योंकि वह अपने स्थान पर बैठा हुआ किसी भी दूर स्थित वस्तु के रहस्य से विज्ञ हो सकता था और ऋग्वेद की "ऋस्तस्य पन्थामन्येति साधुः", नामक उक्ति के अनुसार साधु अर्थात् संत वही है जिसने सत्य का साक्षात्कार किया हो। इस प्रकार विश्व के वास्तविक रूप से परिचित होने के हेतु यह आवश्यक है कि संत भी हो तथा साथ ही संत के लिए भी कवि होना परमावश्यक है जिससे वह ईश्वरीय विभूति का चित्रण अपनी सूक्तियों में इस कुशलता के साथ कर सके कि पाठक या श्रोता उनसे प्रभावित हो जायँ। वस्तुतः वैदिक कविता को इसीलिये श्रेष्ठ माना जाता है कि प्राकृतिक दृश्यों एवं घटनाओं के रूप में ईश्वरीय विभूति का दर्शन प्राप्त करने से मानवीय हृदय में जो दिव्य एवं अलौकिक भावनाएँ संचित हुईं उनका जिस कुशलता के साथ हमारे प्राचीन ऋषियों ने चित्रण किया है वैसा वर्णन विश्व के अन्य किसी साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि संत साहित्य का अध्ययन केवल धार्मिक दृष्टिकोण से न करना चाहिए अपितु उसकी काव्यगत विशिष्टताओं पर भी प्रकाश डालना परमावश्यक है। जिस प्रकार वैदिक कवियों ने "असतो मा सद्गमय। तमसो माज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतंगमय।" नामक उक्ति द्वारा असत् से सत्, अन्धकार से प्रकाश और मृत्यु से अमरत्व में जाने की इच्छा व्यक्त की थी, उसी प्रकार संत काव्य में भी असत् से सत्, गहन तिमिर से दिव्यलोक और मृत्यु से अमरत्व में पहुँचने की भावनाएँ अंकित की गयी हैं। अतएव न केवल महाराष्ट्र अपितु समस्त भारतवर्ष के महान् संत ज्ञानेश्वर की काव्य-कला-कुशलता पर प्रकाश डालना प्रत्येक समीक्षक का अनिवार्य कर्त्तव्य है और इसमें कोई संदेह नहीं कि सन्त ज्ञानेश्वर न केवल एक महान् आत्मानुभावी संत, सुधारक और प्रखर तत्व-ज्ञानी थे अपितु वह श्रेष्ठ कवि थे। यदि हम यह कहें कि सर्वप्रथम उन्होंने ही मराठी भाषा को संस्कृत के समकक्ष स्थान दिलाने का प्रयास किया तो तनिक भी अत्युक्ति न होगी। यद्यपि कुछ विचारकों ने महाराष्ट्र के महानुभाव पंथानुयायी कवियों को ही इस बात का

गौरव प्रदान किया है कि सर्वप्रथम उन्होंने मराठी भाषा को साहित्य सर्जन के हेतु उपयुक्त समझा है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने मराठी भाषा को काव्य-सर्जन के हेतु सर्वथा उपयोगी बताया हो। वस्तुतः काव्यगत विशिष्टताओं की दृष्टि से महानुभाव पंथ की "रुक्मिणी स्वयंवर" नामक कृति ही श्रेष्ठ मानी जाती है। परन्तु डॉ० वि० भि० कोलते ने उसका लेखन-काल शक् १२१४ (सन् १२९२) माना है जबकि ज्ञानेश्वरी का लेखन-काल उसके पूर्व का अर्थात् शक् १२१२ (सन् १२९०) है। अतः ज्ञानेश्वरी उसकी पूर्ववर्ती कृति है। इतना ही नहीं यदि हम विचारपूर्वक देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानेश्वरी का प्रभाव विशेष रूप से रुक्मिणी स्वयंवर पर पड़ा है तथा इन दोनों ही कृतियों में बहुत से ऐसे स्थल दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें भाव-साम्य दृष्टिगोचर होता है। यों तो इस प्रकार के उदाहरणों की अधिकता-सी है लेकिन हम यहाँ कुछ थोड़े से ही अवतरण प्रस्तुत करेंगे जो हमारे कथन की पुष्टि करते हैं।—

हो कां जे शार दिये चेनि बोलें। चंद्रबिंब पाल्हैल।—(ज्ञा० ६—२५८)
दान-मंदाकिनी एचेनि बोलें : विद्यांचें नंदनवंदन पाल्हैलें।—(रु० ३)
कैसे उन्मेख चांदिणें तार। —(ज्ञा० ६–१३४)
उन्मेख-चन्द्राचां तुषारीं। —(रु० २५)
चातकाचिये कणवे। मेघु पाणियांसीं धांवें।
तेथ चराचर आधवें। निवालें जेवीं॥ —(ज्ञा० १८–१४६८)
जैसे मेघांचिये जवलिके : जरि बापैये नव्हेति बोलिके।
तरी भू-गोलकाची पव्हे उदकें: कवण भरितें ?

हम यह भी स्वीकार करते हैं कि मुकुन्द मराठी साहित्य के कुछ अंशों में आदि कवि अवश्य हैं और उनका विवेक सिंधु भी उल्लेखनीय कृति है, लेकिन मुकुन्दराज का मराठी साहित्य में वह स्थान नहीं है जो संस्कृत में वाल्मीकि का है। वस्तुतः सर्वप्रथम ज्ञानेश्वर ने ही मराठी भाषा को संस्कृत के समकक्ष सुमधुर और सरल माना है।[1] अन्यथा उनके पूर्व संस्कृत भाषा का अधिक प्रसार था और भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से तो एकमात्र शृंगार रस को ही प्रधानता दी जाती थी। इतना ही नहीं, शृंगार रस ही अन्य

---

[1] देखिये—

देशिये चेंति नागरपण। शांत शृंगाररातें जिणें।
वरिवोविया होती लेणें। साहित्यासी॥
मूल ग्रंथीचिया संस्कृता-। वरी मऱ्हटी नीट पाहतां।
अभिप्राय मानलियां चित्ता। कवण भूमी हें न चोजवे॥
जैसे आंगाचेनि सुंदरपणें। लेणिया आंगची होय लेणें।
तेय अलंकारिले कवण कवणें। हें निर्वचेना॥
तैसी देशी आणि संस्कृत वाणी। एका भावार्थ सुरवासनीं।
शोभती अयणी। चोखट आइगा।

—ज्ञानेश्वरी अ० १०-४२-४५

नव रसों का भी समाहार मान लिया गया था और जैसा सर्वविदित है उनका पूर्ववर्ती मराठी का सर्वप्रिय ग्रंथ 'गाथा सप्तशती' भी विशेष रूप से श्रृंगार रस से ही सराबोर है। ज्ञानेश्वर जी ने जिस प्रकार मराठी को संस्कृत के सदृश्य सुमधुर, सरस भाषा मानकर परवर्ती कवियों को उसका व्यवहार करने की प्रेरणा दी उसी प्रकार शांत रस को भी अन्य सभी रसों से श्रेष्ठ मानते हुए उसी का महत्व प्रधान रूप से प्रतिपादित किया है। यह अवश्य है कि उन्होंने ज्ञानेश्वरी में भाव वा सात्विक भाव आदि पर भी प्रकाश डाला है[1] और यह भी कहा है कि रसों की संख्या नौ है, लेकिन उनके नाम उन्होंने कहीं भी नहीं दिये तथा केवल श्रृंगार, शांत एवम् अद्‌भुत नामक रसों का ही उल्लेख किया है।

यद्यपि ज्ञानेश्वरी के प्रारम्भ में ही उन्होंने शांत रस का महत्व स्वीकार किया है तथापि वहाँ वह शांत रस को सर्वप्रथम स्थान देते हुये ज्ञानेश्वरी को शांत रूप का निवास-स्थान मानकर अद्‌भुत रस रूपी अतिथि का उसमें आना स्वीकार करते हैं। श्रृंगार का स्पष्ट उल्लेख केवल दो स्थानों पर ही हुआ है और वहाँ भी शांत रूप को ही प्रधानता प्राप्त है[2] साथ ही "माधुर्या मधुरता। श्रृंगारा सुरेखता" में श्रृंगार का अभिप्राय सौंदर्य से है और "इंद्रिय प्रौढ़ि मंडला। श्रृंगारु एकचि निर्मला" (१८,३४९) में श्रृंगार का अर्थ शोभा ही है। इसी प्रकार 'ज्ञानेश्वरी' के ग्यारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण के लिए जो 'करुणारस-रसाल' विशेषण प्रयुक्त हुआ है उसमें 'करुणा रस' शब्द से करुण रस का अभिप्राय न मानकर उसका सीधा-सादा अर्थ कारुण्य भावना ही लेना चाहिए। साथ ही 'ज्ञानेश्वरी' (१३—२४९) में जो एक बार 'कारुण्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है वहाँ भी करुण रस की व्यंजना नहीं हुई। अतः इससे स्पष्ट है कि ज्ञानेश्वरी का प्रधान रस 'शांत' ही है तथा उन्होंने उसमें साहित्य कला, सौंदर्य एवम् शांत रस दोनों के उत्कर्ष का सहज सामंजस्य ही प्रस्तुत किया है। ज्ञानेश्वर का कवि कर्म मुकुन्दराज तथा महानुभाव पंथी कवियों की अपेक्षा अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

संत ज्ञानेश्वर का जन्म शक् ११९७ अर्थात् वि० सं० १३३२ भाद्र कृष्णाष्टमी की मध्यरात्रि में आलंदी ग्राम में हुआ था। उनके पिता विट्ठल पंत पहले तो संन्यासी थे लेकिन गुरु की आज्ञा मानकर उन्होंने पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार कर लिया था। अतः आलंदी ग्राम के ब्राह्मणों ने उनका बहिष्कार कर दिया। वह यह नहीं चाहते थे कि उनके पुत्रों का जीवन

---

[1] विशेष अध्ययन के लिए देखिये मराठी चे साहित्य शास्त्र—डा० मा० गो० देशमुख (पृ० १९१-२०१)

[2] देखिये—

देशिये चोनि नागर पणें। शांत श्रृंगारातें जिणें।
तरी औंविया होती लेणें। साहित्यासी॥

—ज्ञाने० १०-४२

नुयधीचि शांतिकथा। आणिजल कीर वाक्यथा।
जे श्रृंगाराच्या माथां। पाया ठेवी॥

—ज्ञाने० १३-११५६

कष्ट में व्यतीत हो। अतः उन्होंने प्रायश्चित करना चाहा, लेकिन आलंदी ग्राम के ब्राह्मणों ने उनसे यही कहा कि पुन: गृहस्थ बनने का जो पाप है वस्तुतः उसकी निष्कृति देहान्त प्रायश्चित द्वारा ही हो सकती है। अतः विट्ठल पंत एवम् उनकी सहधर्मिणी रुक्मिणी देवी दोनों ने धर्मशास्त्र की मर्यादा और पुत्रों के कल्याण-हेतु अपने तपःपूत शरीर को प्रयागराज में त्रिवेणी संगम को अर्पित कर जल-समाधि ग्रहण की।

ज्ञानेश्वर जी की वय उस समय पांच वर्ष की थी तथा उनके लघु भ्राता सोपान की चार वर्ष और सबसे छोटी बहिन मुक्ता की केवल तीन वर्ष की थी। अतः उन सबको बचपन में ही अनाथ हो जाना पड़ा, लेकिन इन कठिन परिस्थितियों में भी उन्होंने अपना साहस नहीं छोड़ा ओर भिक्षावृत्ति द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते हुए सर्वदा भगवद्-भजन, कीर्तन एवम् भगवद्-चर्चाओं में ही अपना समय व्यतीत करते रहे। आलंदी के ब्राह्मणों की राय पर ज्ञानेश्वर जी अपने भाई-बहनों के साथ शुद्धि-पत्र प्राप्त करने और उपनयन संस्कार की आज्ञा लेने पैठण पहुँचे, लेकिन वहाँ भी ब्राह्मणों ने इन बालकों की शुद्धि होना असंभव माना तथा प्रायश्चित की दुरूह व्यवस्था रख कर उन सब का उपहास भी किया।

कहते हैं, परंपरा से प्रसिद्ध एक कथा के अनुसार उसी समय ज्ञानेश्वर जी ने एक भैंसे से वेद मंत्रों का उच्चारण करवा कर पैठण के समस्त विद्वान ब्राह्मणों को आश्चर्यचकित कर दिया और उन्हें तब यही प्रतीत हुआ कि वस्तुतः वे सब जिसे एक साधारण बालक समझते थे वह कोई साधारण मनुष्य नहीं बल्कि भगवान् की महनीय विभूति है। अतः उन्होंने न केवल उन्हें शुद्धि-पत्र प्रदान दिया अपितु लज्जित हो कर क्षमा-याचना भी की। परन्तु ज्ञानेश्वर जी को इस पर तनिक भी गर्व न हुआ और उनकी इस अद्भुत समर्थता, विनय एवं विद्वता की प्रशंसा दूर-दूर तक की जाने लगी।

पैठण में ही ज्ञानेश्वर जी ने श्री मच्छंकराचार्य का भाष्य, श्रीमद्भागवत, योगवशिष्ठ आदि ग्रंथों का अनुशीलन किया और कालांतर में जिन ग्रंथों का प्रणयन उन्होंने किया उनकी भी भूमिका वहीं तैयार की तथा भगवद्भक्ति का प्रचार भी किया। पैठण से वे आलें और तत्पश्चात् नेवासें पहुँचे जहाँ उन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ ज्ञानेश्वरी का, जिसे भावार्थ—दीपिका भी कहा जाता है और जो श्रीमद्भगवद्गीता का भाष्य ही है, सृजन प्रारम्भ किया। उन्होंने अपनी पन्द्रह वर्ष के वय में ही ज्ञानेश्वरी की रचना की थी और इसमें कोई संदेह नहीं कि उनके समान सर्वाङ्ग सुन्दर एवं सर्वथा निराला भाष्य अभी तक दूसरा नहीं लिखा गया तथा भाष्य होते हुए भी वह एक मौलिक ग्रंथ कहे जाने की क्षमता रखता है। इसके पश्चात ज्ञानेश्वर ने तीर्थ-यात्रा प्रारम्भ की जिसमें कि उनके साथ-साथ कई अन्य संत भी थे। इस प्रकार भगवद्भक्ति का प्रचार करते हुए अपनी केवल इक्कीस वर्ष तीन मास पांच दिन की अल्पावस्था में ही संवत् १३५३ कार्तिक कृष्ण १३ को उन्होंने जीवित समाधि ग्रहण की और उनके समाधि लेने के पश्चात एक वर्ष के अन्दर ही, उनके अग्रज निवृत्तिनाथ तथा लघुभ्राता सोपानदेव एवं बहिन मुक्ताबाई ने भी अपना शरीर त्याग दिया।

यद्यपि संत ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' और 'अमृतानुभव' नामक दो कृतियाँ ही अत्यधिक प्रसिद्ध हैं तथापि उनकी स्फुट रचनाओं में हरिपाठ (ओंव्या २७), चांगदेव पासष्टि (ओंव्या ६५), नमन (ओंव्या १०८) व अभंग (संख्या ९२७) की भी गणना की जाती

है। साथ ही लिखित, योगवाशिष्ट लेखणी, पंचमुद्रा, भक्तराज, प्राकृतगीता और वशिष्टबोध नामक कुछ अन्य कृतियाँ भी उन्हीं की मानी जाती हैं। कतिपय समीक्षकों ने दो ज्ञानेश्वर मानकर इन सबके पृथक्-पृथक् दो लेखक माने हैं[1] लेकिन वास्तव में उन्हीं विचारकों की संख्या अधिक है जो एक ही ज्ञानेश्वर मानते हैं[2] इधर डॉ० शं० गो० तुलपुले ने भी कई प्रमाण प्रस्तुत करते हुए दो ज्ञानेश्वर मानने वाले समीक्षकों के विचारों का खंडन किया है।[3] वस्तुतः ज्ञानेश्वर जी की कृतियों में ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव और अभंग ही विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं तथा इन तीनों में भी एकमात्र ज्ञानेश्वरी ही उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पर्याप्त है।

'ज्ञानेश्वरी' के मंगलाचरण में कवि ने शब्द को ही साहित्य का मूलद्रव्य माना है और उसकी व्यापकता को भी स्वीकार किया है, लेकिन उनकी दृष्टि में शब्द तथा अर्थ दोनों का ही समान उत्कर्ष आवश्यक है तथा अर्थयुक्त पदावली ही साहित्य है। यों तो वे शब्द-सौंदर्य की विभवता शुद्ध शास्त्रीय दृष्टिकोण से मानते हैं, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह काव्य में केवल कलापक्ष का उत्कर्ष ही प्रतिपादित करते हैं। वस्तुतः उन्होंने शब्द-शब्द से अभिप्रेत होने वाला अर्थ और सार्थक शब्दावली से अभीष्ट होने वाला अभिप्राय तथा फिर अभिप्राय द्वारा भाव-सृष्टि—यही क्रम ज्ञानेश्वरी में उचित माना है अर्थात् भाषा की अपेक्षा वह भाव को ही प्रधानता देते हैं। इस प्रकार जैसा कालिदास ने 'वागर्थाविव संपृक्तौ' नामक उक्ति द्वारा सुन्दर शब्दावली और विशिष्ट विचारों के सामंजस्य को ही साहित्य माना है, ज्ञानेश्वर भी दोनों का सहज सामंजस्य अत्यावश्यक समझते हैं तथा जिस प्रकार महामुनि भरत ने 'भावेभ्यो रसानाभि निवृत्तः' नामक उक्ति के अनुसार भावों द्वारा ही रस-निष्पत्ति को आवश्यक माना है उसी प्रकार 'ज्ञानेश्वरी' में भी भावों द्वारा ही रसाभिव्यक्ति आवश्यक समझी गयी।

वस्तुतः 'ज्ञानेश्वर' में प्राकृतिक सौंदर्य का वास्तविक चित्रण कर देने की अपार क्षमता थी और उनके शब्द-चित्रों में तो प्रकृति काव्यमय होकर जाग्रत हो उठी है। कदाचित् सृष्टि-सौंदर्य में उनकी आत्मा का चिरंतन तारतम्य मिल-सा गया है और इसीलिए कल्पनोचित

---

१. देखिये—

(१) ज्ञानश्वरांचे तत्वज्ञान—डॉ० शं० दा० येंडसे (पृ० १२)

(२) ज्ञानेश्वरदर्शन भाग २, शास्त्रीय खंड (पृ० १९४)

(३) सुधारक—इ० सं० १८९८-९९

२. देखिये—

(१) इंडियन इंटरप्रेटर जुलै १९१४

(२) मराठी वाङ्मयाचा इतिहास—श्री ल० रा० पांगारकर—खंड १ (पृ० ५९७-६०१)

(३) श्रीज्ञानदेव, प्रो० शं० वा० दांडेकर (पृ० ६९-७२)

(४) श्री ज्ञानेश्वर दर्शन भाग १, साहित्य खंड

३. "ज्ञानेश्वरींच्या बाजूनेंहि विचार करता दोन ज्ञानेश्वरांची विचार सरणी असत्यच ठरते। ज्ञानेश्वरींत अभंगकार आहेत, आणि अभंगांत ज्ञानेश्वरीकार आहेत, हेंच खरें।"
—महाराष्ट्र सारस्वत पुरवणी सह (पृ० ८९३-८९५)

भावुकता तथा अनुभूति की गहराई से पूर्ण प्रकृति-जन्य सौन्दर्य उनकी ज्ञानेश्वरी को उल्लास से परिपूर्ण कर देता है। 'ज्ञानेश्वरी' में रंगों की जैसी निराली छटा अंकित की गयी है वैसी मराठी साहित्य में क्या अन्य भाषा साहित्य में भी शायद ही दृष्टिगोचर हो। संभवतः कवि की वृत्ति पीतरंग को अंकित करने में विशेष रूप से रमी है, क्योंकि कई स्थलों पर पीले रंग का चित्रण किया गया है और चन्द्रलोक की सुषमा को अंकित करते समय भी वह उसे विस्मरण न कर सके।[1] स्मरण रहे कि महामुनि भरत ने नीलवर्ण को वीभत्स रस का वर्ण कहा है, लेकिन ज्ञानेश्वर जी ने अपनी नवोन्मेषणी प्रतिभा शक्ति के बल पर नीले रंग का कलात्मक वर्णन किया है। यों तो उन्होंने श्वेत, अरुण और हरे रंग का भी चित्रण किया है। इतना ही नहीं कवि को न केवल विविध रंगों की स्वतंत्र छटा अंकित करने में अप्रतिम सफलता मिली है बल्कि साथ ही उसमें दो या अधिक रंगों का सम्मिश्रण कर एक निराली सुषमा का चित्रण करने की कुशलता भी विद्यमान थी और इन्द्रधनुष की छवि का अंकन करते समय तो वह अनेक रंगों की सुषमा प्रस्तुत कर सका है।[2]

वस्तुतः कविता में कल्पना-शक्ति को अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है और जैसा डॉ० एस० पी० खत्री का मत है "कल्पना उस चालक के समान है जो आकाश में उड़ता हुआ सभी स्थलों की सूचना चित्ररूप में उपस्थित करता है अथवा वह उस माली के समान है जो द्रुत गति से पुष्पों की आकर्षक माला बना दे अथवा वह उस संदेशवाहक द्रुतिगामी हंस के समान है जो हमारे स्मरण शक्ति के कोष से, चित्ररूप में, नीरक्षीर विच्छेद करके हमारे विचार प्रस्तुत कर देता है।[3] अररतू ने भी कल्पनात्मक प्रदर्शन को मूल से अधिक सत्य-ग्राह्य तथा सुन्दर मानते हुए यही कहा है कि कल्पना यथार्थ के मूल में छिपे हुए सत्य को खोज निकालती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ज्ञानेश्वर में भी कल्पना शक्ति की विभवता विद्यमान

---

[1] देखिये—

एग्हीवीं दिठी वेधली कवलें। तें चांदणियाँतें म्हणे पिवलें

—ज्ञाने० ९-१४१

नाना सांडिलेनि कवलें चंद्रीचे धुयें पिवलें।

—ज्ञाने० १८-१३९३

[2] देखिये—

नाना रंगी गजबजे। जैसे इंद्रधनुष्य देखिजे।
तैसा नेणतया आपजे। आहे ऐसा॥

—ज्ञाने० १५-२४०

और भी—

इंद्रधनुष्याचिये आउणी। माजीं मेघ गग तरंगिणी।
तैसें आवरिलें शार्ंगपाणी वैजयंतिया।

—ज्ञाने० ११-६०३

[3] आलोचना—इतिहास तथा सिद्धांत—डॉ० एस० पी० खत्री (पृ० २३०

थी तथा उनकी चित्रणकला में कल्पना का निखरा हुआ रूप दृष्टिगोचर होता है । कुंडलिनी का निम्नलिखित वर्णन उत्कृष्ट शब्द-शक्ति का एक सुन्दर उदाहरण है—

> नागिणीचें पिलें, कुंकुमें नाहलें । वलण घेऊनि आलें, सेजे जैसें ॥
> तैसी ते कुण्डलिनी, मोटकी औंर वलणी । अधोमुख सर्पिणी, निवेली असे ॥
> विद्रयुल्लेची विडी, वन्हिज्वलांची घड़ी । पंधरेयाची, चीरवडी घोंटीव जैशी ॥
> —ज्ञाने० ६-२२२-४

ज्ञानेश्वरी में ऋतुवर्णन के कई ऐसे पद मिलते हैं जो भाव की पूर्णता, कल्पना की उड़ान, वस्तु-चित्रण, सुकुमारता, प्रभावान्वित की दृष्टि से मराठी साहित्य के श्रेष्ठतम विभाव-चित्र कहे जा सकते हैं और उनमें कल्पना तथा भावुकता का इतना सुन्दर समन्वय है कि भावों का वैसा समतुल्य निर्वाह एवं एकरूपता बहुत ही कम अन्य कवियों की कविताओं में दीख पड़ती है । न केवल भावपक्ष अपितु कलापक्ष की दृष्टि से भी ज्ञानेश्वर मराठी साहित्य के श्रेष्ठ कवि माने जा सकते हैं । मराठी साहित्य में उपमा का सर्वाधिक सफलता और सुचारुता के साथ वही उपयोग कर सके है ।

ग्रेनव्हिल क्लायझर ने अपनी कृति में वर्णनात्मक कल्पना सम्बद्ध अलंकारात्मक और सुभाषित नामक चार प्रकार की उपमाएँ मानी हैं और इसमें संदेह नहीं कि इन चारों प्रकार की उपमाओं का चित्रण 'ज्ञानेश्वरी' में सफलता के साथ हुआ है ।[1] इतना ही नहीं 'ज्ञानेश्वरी' में रूपकालंकारयुक्त उत्कृष्टतम शब्दयोजना भी कवि ने की है और सांग-रूपक वा मालारूपक की भी कुशलता के साथ-साथ अभिव्यक्ति की गयी है । इनके अतिरिक्त अन्य अलंकारों की भी कवि ने प्रसंगानुसार अभिव्यंजना की है, परन्तु उनकी योजना स्वाभाविक ही है और कहीं भी उन्हें अशिखापादांत परिश्रम नहीं करना पड़ा । चूँकि प्रत्येक भाषा-साहित्य में छंद का महत्व स्वीकार किया जाता है, अतः हमें ज्ञानेश्वर की कृतियों में भी उनकी उत्कृष्टतम छंद साधना दृष्टिगोचर होती है और मराठी कविता में ओवी व अभंग नामक स्वतंत्र छंदों का निर्माण कर उनका सफलतापूर्वक प्रयोग करने का श्रेय भी उन्हें ही है । इस प्रकार जैसा श्री वि० ल० ने लिखा है—"ज्ञानदेव की कृति 'ज्ञानेश्वरी' ही नहीं अपितु वागीश्वरी भी है । वह जैसे एक धर्मक्षेत्र है वैसे ही वह काव्यगंगा भी है । ज्ञानदेव की कल्पनालता के पुष्पों में वह दिव्य गुण है कि न तो वह मुरझाते हैं और न उनकी सुगंध ही कभी घटती है । ऐसे अमूल्य सुमनों की वाग्वैजन्ती से ज्ञानदेव ने महाराष्ट्र शारदा को सुशोभित किया है ।"[2]

(त्रिपथगा, सितम्बर १९५७)

---

१. विशेष अध्ययन के लिए देखिये—
ज्ञानेश्वरींतील विदग्ध रसवृत्ति—डॉ० रा० शं० वाळिंबे (पृ० ३०७-४०२)

२. महाराष्ट्र सारस्वत—श्री वि० ल० भावे (पृ० ९९)

बिहारी का भाषा-सौन्दर्य

एक विद्वान् समालोचक का कथन है कि 'यदि भाव कविता का प्राण है तो भाषा कविता का शरीर।' जिस प्रकार शरीर और प्राण दोनों का समान ही महत्व है उसी प्रकार भाषा और भाव भी अपना-अपना समान महत्व रखते हैं। भाव भाषा में ही रहता है। भाव या मनोविकार तो प्रायः सभी के हृदय में उठा करते हैं परन्तु जब तक उनको उत्तमोत्तम शब्दों द्वारा प्रगट नहीं किया जायगा तब तक श्रोता अथवा पाठक को तनिक भी आनन्द न आयेगा। सुन्दर, सबल और सजीव भाषा की सहायता से कभी-कभी साधारण भाव भी चमक उठते हैं। संस्कृत के साहित्यज्ञों ने किंचित इसीलिए लिखा है कि 'शब्दार्थः काव्यम्'—शब्द और अर्थ अर्थात् भाषा और भाव दोनों मिलकर ही काव्य कहे जाते हैं। और फिर 'कविहिं अरथ—आखर बल साँचा' के अनुसार तो भाषा ही कवि के लिए कसौटीस्वरूप है। अतएव भाव और भाषा दोनों का श्रेष्ठ होना ही उत्तम काव्य के लिए आवश्यक है। 'साहित्यालोचन' में बाबू श्यामसुन्दरदास ने भाषा का महत्व स्वीकार करते हुए लिखा है कि—"जिस प्रकार चित्र के लिए रेखाएँ और मूर्ति के लिए प्रस्तर की काट-छाँट अनिवार्य है, उनके बिना चित्र और मूर्ति की सत्ता ही नहीं हो सकती उसी प्रकार भाषा के बिना साहित्य का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है।"[१]

भाषा में सबसे प्रधान गुण तो यही होना चाहिए कि उसके द्वारा लेखक या कवि अपने भावों को पूर्णतः प्रगट कर सके, अर्थात् भाषा में भावों को प्रकट करने की पूर्ण क्षमता होनी चाहिए। भाषा की स्वाभाविक अर्थ-शक्ति ही उत्तम भाषा की कसौटी कही जा सकती है। कवि को अपने अनुकूल उत्तमोत्तम शब्दों का चयन कर अपनी पदावली का निर्माण करना पड़ता है। इसलिए कहा गया है:—

चरन धरत, चिन्ता करत, चितवन चारिहु ओर।
सुबरन को खोजत फिरत कवि व्यभिचारी चोर॥

उत्तम भाषा के द्वारा कवि ठीक मतलब की बात बहुत थोड़े से शब्दों द्वारा ही प्रकट कर सकता है। पाठक अथवा श्रोता को कवि के अभिप्राय तक पहुँचने के लिए घण्टों व्यर्थ की माथापच्ची नहीं करनी पड़ती। साथ ही भाषा में मनोरंजकता, सबलता और सजीवता भी आवश्यक है। कृत्रिम भाषा के द्वारा कवि की विद्वत्ता प्रगट नहीं होती बल्कि उसे उपहासास्पद होना पड़ता है। उत्तम भाषा में अलंकारों का प्रादुर्भाव आप ही आप होता है और उन्हें लाने के लिए आकाश-पाताल एक नहीं करना पड़ता बल्कि "वाग् वश्यैवानुवर्तते" अर्थात् वाणी तक उनके वश में हो जाती है। भाषा में माधुर्य भी आवश्यक है। सुन्दर, मधुर पदावली जब

---

[१] साहित्यालोचन—डॉ० श्याम सुन्दर दास (पृष्ठ ६७)

कर्णकुहरों में प्रवेश करती है तब आनन्द से मानसपयोधि उमड़ उठता है। भाषा में लचीलापन भी होना चाहिए। जैसा कि "We test a language by its elasticity, its responce to rhythm, by the kindness with which it looks upon the figurative desires of a child and the poet."

रीतिकाल ब्रजभाषा के लिए स्वर्णयुग के समान था। सैकड़ों कवियों द्वारा ब्रजभाषा इस समय परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँच रही थी। परन्तु व्याकरण की त्रुटियों का भी उसमें बाहुल्य-सा था। हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि ब्रजभाषा के कवि व्याकरण की निरी अवहेलना ही करते थे पर हाँ, यह अवश्य है कि व्याकरण की अशुद्धियाँ साधारण ही नहीं महाकवियों तक की भाषा में उपलब्ध होती हैं। और कुछ होता या न होता यदि कम से कम शब्दों का रूप ही स्थिर हो जाय तो कविगण उन्हें विकृत करने का उतना साहस न कर पाते। साथ ही शनैः-शनैः वाक्यदोषों का निराकरण भी होना आवश्यक था। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि भाषा की गड़बड़ी का मुख्य कारण ब्रज और अवधी दोनों का कवियों की इच्छानुसार सम्मिश्रण काव्य में प्रस्तुत करना भी है। यह अवश्य है कि एक सामान्य साहित्यिक भाषा किसी एक प्रदेश विशेष के प्रयोगों तक ही सीमित नहीं रह सकती; पर कम से कम ढाँचे में तो परिवर्तन न होना चाहिए। फलस्वरूप ब्रजभाषा के कवियों की भाषा में पूरबी का बाहुल्य है। ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि एक मात्र ब्रजभूमि के ही निवासी नहीं थे और यह आवश्यक भी नहीं था कि ब्रजभाषा में ही रहने वाला ब्रज-भाषा में काव्य रचना कर सके। दास जी ने लिखा भी है—

सूर, केशव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चिंतामणि, मतिराम, भूषण सु जानिये।
लीलाधर, सेनापति, निपट, नेवाज निधि,
नीलकण्ठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए॥
आलम, रहीम, रसखान, सुन्दरादिक,
अनेकन सुमति भए कहाँ लौ बखानिए।
ब्रजभाषा हेत'ब्रजवास ही न अनुमानौ,
ऐसे-ऐसे कबिन की वानी हूँ सों जानिए॥

इसी प्रकार मिली-जुली भाषा के प्रमाण में भी दास जी का मत है कि तुलसी और गंग ने जो कि कवियों में शिरोमणि गिने जाते हैं मिली-जुली भाषा का उपयोग किया है।

तुलसी गंग दुवौं भए, सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली, भाषा विविध प्रकार॥

पूरबी प्रयोगों का आविर्भाव तो ब्रजभाषा में हुआ ही साथ ही कवि निरंकुशता के फलस्वरूप कारक-चिन्हों और क्रिया के रूपों का भी कवियों ने मनमाना व्यवहार किया। उदाहरणार्थ 'देना' क्रिया के सामान्य भूतकाल वाले रूप, दीन, दियो, दीन्हें आदि तक पाए जाते हैं। अतएव भाषा में वह स्थिरता न आ सकी जोकि एक साहित्यिक-भाषा के लिए परमावश्यक थी। साथ ही भक्तिकाल में ही कवियों का संसर्ग मुसलमान कवियों से हो

चुका था अतएव कविता में फारसी के शब्दों का भी प्रादुर्भाव होने लगा। मुसलमानी राज्य होने से इनकी बाढ़ सी आ गई। तुलसी की ही कविता में गनी, गरीब, साहेब, उमरदराज आदि शब्द उपलब्ध होते हैं। फिर दूसरों का तो कहना ही क्या है? 'खुसबोयन' सरीखे विकृत शब्द काव्य में मिलते हैं। रीतिकालीन ब्रजभाषा की यह झलक मात्र है।

बिहारी रीतिकाल के प्रशंसनीय महाकवियों में से हैं। यों तो उनकी 'बिहारी सतसई' के पूर्व ही ब्रजभाषा का सौन्दर्य कई रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है पर जैसा सुन्दर साहित्यिक-रूप उनकी सतसई में दिखाई देता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। 'न भूतो न भविष्यति' वाली कहावत चरितार्थ-सी होती दीखती है। 'सिलाकारी' जी ने उचित ही लिखा है—"शब्दों का प्रयोग सतसई में बड़े ही अनूठे ढंग से वजन तौल कर, देश, काल, पात्र का ध्यान रख कर किया है। बिहारीलालजी की भाषा में मनोभावों का प्रतिबिम्ब निर्मल-दर्पण की तरह झलकता है। वहुत थोड़े में गम्भीर अर्थ ध्वनित करने वाले सुन्दर से सुन्दर प्रचलित शब्दों की सुघर सजावट, रसानुकूल भाषा का प्रवाह, मुहावरे की तेजी आदि सभी दर्शनीय हैं। फिर बिहारीलाल जी ने माधुर्य और प्रसाद को तो अनुचर-सा बना डाला है।"[1]

जैसा कि दास जी ने लिखा है—

माधुर्योज प्रसाद के सब गुन हैं आधीन।
तातें इनहीं को गनें मम्मट सुकवि प्रवीन॥

वास्तव में भाषा में माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन गुणों का होना नितान्त आवश्यक है। उत्तम भाषा के ये तीन प्रमुख गुण हैं। परन्तु इन सबों में माधुर्य का होना तो परमावश्यक है। बिहारी की भाषा इस गुण के लिए बहुत अधिक प्रसिद्ध है। उनकी सतसई तो मधुरिमा से ओत-प्रोत ही है। ऐसा विदित होता है कि मानों वह पीयूष से परिपूर्ण कोई पयोधि हो, अथवा मधुरता से उमड़ा हुआ कोई पारावार। श्री पद्मसिंह शर्मा ने उचित ही लिखा है कि—"संस्कृत-भाषा के माधुर्य में किसी को कलाम नहीं है, पर ब्रजभाषा का माधुर्य भी एक निराली चीज है। वह सितोपला है तो यह द्राक्षा है। बिहारी श्रृंगारी कवि, भाषा ब्रजभाषा, श्रृंगार रस की कविता (श्रृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्) अहो रम्य परम्परा! इसका आस्वादन कर चुकने पर भी यदि चित्तवृत्ति कुसंस्कार-वश कहीं अन्यत्र रसास्वाद के लिए जाना चाहती है तो सहृदयता बिहारी के शब्दों में मचल कर कहती है—

मो रस राच्यो आन रस कहै कुटिलमति क्रूर।
जीभ निबौरी क्यों लगै बौरी चाखि अँगूर॥"[2]

मन को द्रवीभूत करने वाला आल्हाद माधुर्य कहलाता है। जिस रचना में ट, ठ, ड, ढ, ड़, ढ़, आदि वर्णों का अभाव हो, कोमलकान्त पदावली हो, अनुस्वार युक्त वर्ण हों, साथ ही न तो मीलित वर्णों का ही बाहुल्य हो और न लम्बे-लम्बे समास ही हों वह रचना माधुर्य-

---

[1] बिहारी दर्शन—श्री लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी (पृष्ठ ५८)

[2] सतसई संजीवन-भाष्य—पं० पद्मसिंह शर्मा, (भूमिका, पृष्ठ २४)

गुण सम्पन्न कहलाती है। सानुनासिक वर्णों के प्रयोग से शोभा और भी अधिक द्विगुणित हो उठती है। देखिए उदाहरणस्वरूप बिहारी सतसई के ये दोहे—

अरुन वरुन तरुनी चरन अँगुरी अति सुकुमार।
चुँवति सुरंग रंग-सी मनों चंपि विछियन के भार॥

नहिं पराग नहिं मधुर-मधु नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही तैं बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

घाम घरीक निवारिए, कलित ललित अलि पुंज।
जमुना—तीर—तमाल—तरु—मिलित मालती-कुंज॥

पल सोहैं पगि पीक रंग, छल सोहै सब बैन।
बल सोहैं कत कीजियत, ये अलसौहैं नैन॥

भाषा में उस समय एक विशेष प्रकार का माधुर्य दीख पड़ता है, जबकि उनके शब्दों के उच्चारण से किसी प्रकार की झंकार-सी उठती हो। यह शब्द-झंकृति मानस में एक नूतन-आह्लाद उत्पन्न करती है। जिस प्रकार कि घनानन्द के एक कवित्त के एक चरण की इस पंक्ति "आनन्द-निधान सुखदान दुखियानि दै" में मृदंग की धीमी-धीमी ध्वनि-सी कर्णगोचर होती है उसी प्रकार बिहारी के इस दोहे को देखिए जिसमें घण्टा बँधे हुए मतंग के चलने और वायु के संचरित होने की ध्वनि-सी निकलती है—

रुनित भृंग घंटावली झरत दान मधु—नीर।
मंद-मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर॥

इसी प्रकार निम्नांकित दोहे के शब्द युग्म 'झमकि-झमकि' द्वारा आभूषणों की ध्वनि-सी उत्पन्न होती है—

ज्यों-ज्यों आवति निकट निसि त्यों-त्यों खरी उताल।
झमकि-झमकि टहलैं करै लगी रहचँटै बाल॥

बिहारी की भाषा की यह एक खास विशेषता है। बिहारी ने बोलचाल में भी भाषा की उत्कृष्टता प्रदर्शित की है कदाचित इसीलिए मिश्र-बन्धुओं ने हिन्दी नवरत्न में लिखा है—

"कविरत्न की बोलचाल बहुत ही स्वाभाविक है। इन महाकवि ने इबारत-आराई भी खूब ही की है।"[1]

नायक ने रात्रि में अन्य नायिका से सुरति की। उसके अंग पर अन्य स्त्री संभोग-सूचक चिन्ह देखकर प्रौढ़ा धीरा नायिका ने कोप किया। नायक ने उसे मनाना चाहा और उसे चन्द्रमुखी कहकर सम्बोधित किया। अब देखिये नायिका कितना सुन्दर मुँहतोड़ उत्तर उसे देती है। व्यंग के साथ-साथ बोलचाल की उत्कृष्टता भी दर्शनीय है।

ससि बदनि मोसों कहत, सो यह सांची बात।
नैन-नलिन ये रावरे न्याय निरखि नै जात॥

---

[1] हिन्दी नवरत्न—मिश्रबन्धु, (पृ० २९०)

एक उदाहरण और देखिए—

लाज गहो, बेकाज कत घेर रहे? घर जाँहिं।
गोरस चाहत फिरत हो गोरस चाहत नाँहिं॥

गोरस शब्द के दो अर्थों दूध-दही और इन्द्रियों के रस ने तो कमाल-सा कर दिया है। यमक की सहायता से नायिका ने कितनी चतुराई से मनोभावों को प्रकट कर दिया है। वह थोड़े में ही सब कह देती है।

बिहारी शब्दालंकारों के प्रयोग में बहुत अधिक सफल रहे है। अनुप्रास द्वारा भाषा चमत्कृत-सी हो उठती है। बिहारी के अधिकांश दोहों में अनुप्रास की छबीली छटा छहरा रही है।

लहलहात तन तरुनई, लच लग लौं लफ जाइ;
लगै लंक लोयन भरी, लोयन लेत लगाइ॥

और भी—

मानहु मुख दिखरावती दुलहिन कर अनुराग;
सास सदन मन ललन हूँ सौतिन दियो सुहाग।

छेकानुप्रास और वृत्यानुप्रास बिहारी के कई दोहों में पाया जाता है। वृत्यानुप्रास का एक उदाहरण देखिए—

नख-रेखा सौंहैं नई, अलसौंहैं सब गात।
सौंहैं होत न नैन ये, तुम कत सौंहैं खात॥

बोल्ड टाइप के शब्दों के प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं और भी :—

नभ **लाली चाली** निसा, **चटकाली** धुनि कीन;
रति **पाली आली** अनत, आए **बनमाली** न।

शब्द-सौंदर्य का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

फूली **आँगन** में फिरै, **आँग न** आंगि समात।

साहित्यज्ञों ने यमक को सभी अलंकारों में सर्वश्रेष्ठ माना है। बिहारी के दोहों में यमक का प्रयोग कुशलता के साथ हुआ है।

वर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनान तें, हरि नीके ये नैन॥

और भी—

कनक-कनक तैं सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाए बौराय नर, यह पाए बौराय॥

कनक का अर्थ धतूरा और स्वर्ण दोनों हैं। कितनी सुन्दर है इस दोहे में यमकालंकार की छटा। अर्क का अर्थ आक का वृक्ष तथा सूर्य दोनों माना गया है।

गुनी-गुनी सब कोउ कहत, निगुनी गुनी न होत।
सुन्यौं कहूँ तरु अर्क तैं अर्क—समान उदोत ।।

इसी प्रकार रंग शब्द के क्रीड़ा या आनंद और वर्ण अथवा रंग नामक दो अर्थ मान कर बिहारी कितनी दूर की कौड़ी लाए हैं :—

कहै देत रँग रात के रँग निचूरत-से नैन।

इसी प्रकार केलि का अर्थ कदली और रति-क्रीड़ा माना गया है साथ ही तरुन का अर्थ वृक्ष और युवक है। देखिए—

केलि-तरुन दुखदैन ये, केलि तरुन सुखदैन।

यमकालंकार की भाँति श्लेषालंकार के भी बहुत से उदाहरण बिहारी सतसई में उपलब्ध होते हैं।

अजौं तरयोना हीं रह्यौ, श्रुति सेवत इक-रंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतनु कैं संग ।।

इन दोहों के शब्दों के अर्थ में श्लेष-सौंदर्य भी देखा जा सकता है।

तरयोना = (१) कर्णफूल, कान में पहनने का एक प्रकार का आभूषण
(२) जिसे मोक्ष न मिला हो
श्रुति = (१) कान (२) वेद
नाक = (१) नासिका (२) स्वर्ग
बेसर = (१) नथ, नाक का आभूषण (२) अति उत्तम
मुकतनु = (१) मोती (२) सांसारिक बन्धनों से मुक्त

मुहावरों के उपयोग से भाषा में एक नूतन रंग-सा चढ़ जाता है। भाषा-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए मुहावरों के प्रयोग में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई हैं । बाबू राधाकृष्णदास का कहना है कि—"मुहावरे और उत्प्रेक्षा के तो बिहारीलाल बादशाह थे। हिन्दी में ऐसी बोल-चाल और ऐसे गठे हुए वाक्य किसी कविता में नहीं पाए जाते। उर्दू के कवि-कुल-भूषण नसीम और अनीस भी कदाचित् बोलचाल में इनके सामने न ठहर सकेंगे"[1] बिहारी की भाषा के इस गुण की छटा देखिए :—

सीतलताऽरु सुबास कौ घटै न महिमा गुरु।
पीनसवारो जो तज्यौ सोरा जानि कपूर ।।

× × ×

जो न जुगुति पिय मिलन की,
धूरि मुकुनि मुँह दीन।

× × ×

आँखिन आँख लगी रहैं,
आंखैं लागति नाहिं।

---

[1] कविवर बिहारी लाल—बाबू राधाकृष्णदास (पृष्ठ ११७)

परन्तु कहीं-कहीं बिहारी मुसलमानी प्रभाव में मुहावरों की कलाबाजियाँ भी दिखा बैठते हैं। जैसे :—

मूड़ चड़ाऍंऊ रहै परयो पीठि कच-भारु।
रहै गरैं परि राखिवौं तऊँ हियैं पर हारु॥

मुहावरों के प्रयोग के साथ-साथ बिहारी के लाक्षणिक प्रयोग भी उल्लेखनीय हैं। लाक्षणिकता का विस्तृत मैदान खुला होने पर भी ब्रजभाषा के कवियों में घनानन्द ही इस क्षेत्र में अपना जौहर दिखा सके। दूसरे अन्य रीति-कालीन कवियों ने इस ओर बहुत कम ध्यान दिया है।

ह्वै ह्वै सोऊ घरी भाग—उघरी अनंदघन
सुरस बरसि लाल देखिहौं हरी हमें॥

× × ×

उघरो जग छाय रहे घन आनन्द,
चातक ज्यों तकिए अब तौ।

ब्रजभाषा के कवियों में बिहारी की भाषा में भी लाक्षणिकता दृष्टिगोचर होती है। लाक्षणिकता से भाषा की अर्थशक्ति तो बढ़ जाती है, साथ ही भाव-व्यंजना भी सुन्दर हो जाती है।

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरति चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हियैं, दई नई यह रीति॥

स्थान, काल, पात्र के अनुरूप भी भाषा का होना आवश्यक है बिहारी ने इस पर पूर्ण ध्यान दिया है। नागरी का वर्णन वे इस प्रकार से करते हैं—

खेलन सिखाए, अलि, भलैं चतुर अहेरी मार।
काननचारी नैन-मृग, नागर नरनु सिकार॥

उसी प्रकार ग्रमीण-नायिका के वर्णन में भी उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। जैसे :—

पहला-हारु हियै लसै, सन की बेंदी भाल।
राखति खेत खरी-खरी, खरे उरोजनु बाल॥

थोड़े में बहुत बड़ी बात कह देना भी भाषा की एक विशेषता ही है।

गोरी गदकारी परै हँसत कपोलनु गाड़।
कैसी लसति गँवारि यह सुन किरवा की आड़॥
बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय;
सौंह करैं, भौंहनि हँसै, देन कहै नटि जाय।
कर लै चूमि, चढ़ाय, सिर, उर लगाय भुज भेंटि;
लहि पाती पिय की लखति, बाँचति, धरति समेटि।
नैक हँसौंही बानि तजि, लख्यौ परत मुहुँ नीठि;
चौकत-चमकनि-चौंध मैं, परति चौंधि सी डीठि।

पलन प्रगटि, बरुनीन बढि, छिन कपोल ठहरायँ;
अँसुआ परि छतियाँ छिनकु, छनछनाय छिपी जायँ।

बिहारी सतसई में सामासिक पदावली भी उपलब्ध होती है। यह अवश्य है कि सामासिक पदावली के बाहुल्य से ब्रज-भाषा का काव्य-सौंदर्य नष्ट सा हो जाता है पर यह भी मानना पड़ेगा कि भाषा की अभिव्यंजना शक्ति इस शैली के द्वारा बढ़ जाती है और साथ ही भाषा का परिमार्जित रूप भी दृष्टिगोचर होता है। बिहारी के दोहों की शोभा भी सामासिक पदावली के योग से द्विगुणित हो उठी है कहीं भी नीरसता की झलक दृष्टिगोचर नहीं होती। देखिए—

विकसित—नवमल्ली—कुसुम, निकसित परिमल पाइ।
परसि पजारति बिरहि-हिय, बरसि रहे की बाइ॥

कहीं-कहीं पर दीर्घ सामासिक पदावली भी दृष्टिगोचर होती है—

समरस-समर-सकोच-बस-बिवस न ठिक ठहराइ;
फिरि-फिरि उझकति, फिरि दुरति, दुरि-दुरि उझकति आइ।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि बिहारी के भाषा-सौंदर्य की समीक्षा करते हुए मिश्र-बन्धुओं ने उचित ही लिखा है—"कुल बातों पर ध्यान देने से विदित होता है कि बिहारीलाल जी की भाषा बहुत मनोहर है। इन्होंने सभी स्थानों पर लहलहात, झलमलात, जगमगात आदि ऐसे बढ़िया शब्द रखे हैं कि......दोहा चमचमा उठता है। इस प्रकार जैसा वर्णन किया है, उसी के अनुसार भाषा भी लिखकर उसका रूप खड़ा कर दिया है।"[1]

रीतिकालीन ब्रजभाषा में पाए जाने वाले कुछ प्रमुख दोषों का उल्लेख हम इस लेख के प्रारम्भ में ही कर चुके हैं। पूरबी प्रयोगों का बाहुल्य, कवि-निरंकुशता और व्याकरण की अशुद्धियों से ब्रज-भाषा में कुछ दोषों का भी आविर्भाव हुआ है। बिहारी सतसई भी सर्वथा इन से रहित नहीं है। यह प्रारम्भ में ही लिखा जा चुका है कि ब्रज-भाषा के सभी प्रधान कवि ब्रज-भूमि के ही निवासी नहीं थे और यह आवश्यक भी न था। फलस्वरूप काव्य भाषा में स्थान विशेष के शब्दों के प्रयोग भी पाये जाते हैं। परन्तु काव्य-भाषा की विशेषता तो यह है कि उसमें इतना साहस होना चाहिये कि वह दूसरी भाषा के शब्दों को अपने में आत्मसात कर सके और यदि ऐसा वह न कर सकी तो उसका विकास भी फिर हो नहीं पाता है।

बिहारी पर बुन्देलखण्ड का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है और 'खण्ड बुन्देलेवाल' के अनुसार तो उनकी शैशवावस्था बुन्देलखण्ड में ही व्यतीत हुई जान पड़ती है। बुन्देलखण्डी के लखबी, करबी, वायबी आदि तो तुलसी तक की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं; यद्यपि वे अवध प्रान्त के ही निवासी थे। परन्तु बुन्देलखण्डी का अव्यय 'स्यौं' बिहारी की रचना में बहुत

---

[1] **हिंदी नवरत्न—'मिश्रबंधु' (पृष्ठ २९७)**

अधिक मिलता है; जो कि खास बुन्देलखण्ड का ही है और जिसका अर्थ संग या संधि माना जाता है। देखिए—

चिलक चिकनई,—चटक स्यौं, लफति सटक लौं आइ ;
नारि सलोनी साँवरी, नागिनलौं डसि जाइ।
स्यौं बिजुरी मनु मेह, आनि इहाँ बिरहा धरे;
आवै जाग अछेह दृग जु बरत बरसत रहत।

पहले दोहे के 'स्यौं' का पाठान्तर 'सौं' करके चाहे कोई बिहारी को इस दोष से मुक्त करने की चेष्टा करे भी परन्तु दूसरे दोहे में बुन्देलखण्डी 'स्यौं' तो है ही साथ ही अवधी का 'इहाँ' भी विराजमान है जो ब्रज में 'ह्याँ' माना जाता है। बिहारी के उपरांत इस स्यौं का प्रयोग और दूसरे कवियों ने भी किया। ठेठ अवधी के रहने वाले दास जी ने भी इसका उपयोग किया है।

स्यौं ध्वनि अर्थनि वाक्यनि लै,
गुन शब्द अलंकृत सों रति पाकी।

(काव्य-निर्णय)

निम्न दोहे में बिहारी ने 'लजियात' का प्रयोग किया है जो कि पूरबी प्रयोग तो है ही साथ ही तुकांत के लिए भी अनुपयुक्त है।

कहत, नटत, रीझत, मिलत, खिलत लजियात।
भरे भौन मैं करत हैं, नैननहीं सब बात॥

इसी प्रकार निम्न दोहे में तो निःसंकोच अवधी के आहि का प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ होता है—

मरी डरी कि टरी बिथा, कहा खरी चलि चाहि।
रही कराहि कराहि अति, अब मुँह आहि न आहि॥

इसी तरह 'लीन', 'कीन', 'दीन' आदि प्रयोग भी बिहारी की सूक्तियों में मिलते हैं जिनसे कि ब्रजभाषा का सौंदर्य विनष्ट हो जाता है। यह अवश्य है कि सूर ने भी 'मोर', 'हमार', 'कीन', 'अस' आदि पूर्वी प्रयोग अपनाए हैं पर उनकी संख्या बहुत कम है। बिहारी के दोहों में इन उदाहरणों की प्रचुरता है।

अपने अंग के जानि कै, जोवन-नृपति प्रवीन;
स्तन, मन, नैन, नितंब को बड़ो इजाफा कीन।

और भी—

पिय तिय सौं हँसि कै कह्यो, लखै दिठौना दीन।
चंदमुखी, मुखचंदु तैं भलौ, चंद समु कीन॥

इससे भी अधिक अरुचिकर प्रयोग तो 'किय' का किया गया है जिसे देखकर यही आभास होता है कि कवि भाषा के साथ खिलवाड़-सा कर रहा है।

मंगल–बिन्दु–सुरंग, ससि-मुख, केसर–आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत्॥

और भी—

मोर मुकुट की चंद्रिकनु यौं राजत नँदनंद।
मनु ससि सेखर की अकस किय सेखर सत चंद॥

इसी प्रकार खड़ी-बोली के कृदन्त और क्रियापद भी बिहारी ने अपनाये हैं। जैसे—

झुकि-झुकि झपकौंहै पलनु फिरि-फिरि जुरि जमुहाइ।
बींदि पिआगम, नींद-मिस, दीं सब अली उठाइ॥
नैकौं उहिं न जुदी करी, हरषि जुदी तुम माल।
डर तैं बास छुट्यो नहीं, बास छुटैहूँ लाल॥
गड़े बड़े छवि-छाक-छकि, छिगुनी-छोर छुटैं न।
रहे सुरँग रँग रँगि उहीं नहदी महदी नैन॥

बिहारी ने एक ही शब्द को यदि कहीं स्त्रीलिंग माना है तो उसी शब्द को दूसरे स्थान पर पुल्लिग माना है। यह अवश्य है कि इस लिंग का विपर्य्य का कारण स्थान भेद भी माना जाता है। 'गेंद' ब्रज-भूमि में स्त्रीलिंग माना जाता है। हो सकता है कि बिहारी-सतसई में उपलब्ध होने वाले इस लिंग-विपर्य्य का कारण यही हो परन्तु ऐसा करने से भाषा में दोष का आविर्भाव तो हो ही जाता है। कुछ उदाहरण देखिए—

लपटी पुहुप पराग-पट, सनी स्वेद मकरंद।
आवति नारि नवोढ़ लौं, सुखद वायु गति मंद॥

संस्कृत में वायु को पुल्लिग माना गया है, परन्तु खड़ी बोली में और ब्रज-भाषा में वायु स्त्रीलिंग माना गया है। संस्कृति का अनुसरण करने वाले अवश्य उसे पुल्लिग मानते हैं। बिहारी ने वायु का दोनों प्रकार के लिंगों में प्रयोग किया है। उपर्युक्त दोहे में 'वायु' स्पष्ट ही स्त्रीलिंग है परन्तु निम्नांकित दोहे में 'बाइ' (वायु) पुल्लिग है साथ ही 'चुवतु' क्रिया जो कि अकर्मक है, सकर्मक माननी पड़ेगी।

चुवतु स्वेद मकरंद-कन, तरु तरु-तर बिरमाइ।
आवतु दच्छिन देश तैं, थक्यो बटोही बाइ॥

इसी प्रकार 'उक्छ्वास' की भी अवस्था है। संस्कृति में 'उच्छ्वास' पुल्लिग माना जाता है। 'उच्छ्वास के विकृत रूप 'उसास' का प्रयोग बिहारी ने दोनों लिंगों में किया है। इन शब्दों की भाँति फारसी के 'रुख' शब्द को बिहारी ने स्त्रीलिंग माना है यद्यपि वह फारसी और हिंदी दोनों में पुल्लिग माना जाता है। जैसे—

रस की सी रुख, ससि मुखी, हँसि हँसि बोलत बैन।
गूढ़ मानु मन क्यों रहै, गए बूढ़–रँग नैन॥

इस प्रकार के कुछ और उदाहरण बिहारी सतसई में मिल सकते हैं। भाषा-सौंदर्य का ह्रास उस समय और अधिक तीव्रता से होता है जबकि निरंकुशता कर बैठता है। 'निरंकुशाः

कवय:' वाली उक्ति सभी स्थानों पर चरितार्थ नहीं होती। पर यह अवश्य है कि कवि-परम्परा विचार करने से कम से कम बिहारी के इस दोष का तो परिहार हो ही जाता है। ब्रज-भाषा के कवियों ने तुकान्त के लिए अथवा अनुप्रास की छटा दिखलाने के हेतु शब्दों को बहुत अधिक तोड़ा-मरोड़ा है। भाषा कहीं-कहीं विकृत और अरुचिकर हो गई है। पद्माकर की भाषा तो इसीलिये कहीं-कहीं निरी सौंदर्य-विहीन हो गई है × × बिहारी की भाषा में दो या तीन शब्द ही विकृत उपलब्ध होते हैं नहीं तो सर्वथा ही स्वच्छ, सबल, सरस और सुकुमार शब्दावली ही दृष्टिगोचर होती है। 'स्मर' के लिए 'समर' तथा 'ककै' आदि कुछ विकृत शब्द बिहारी सतसई में दृष्टिगोचर होते हैं, इस पर भी जो बिहारी की भाषा में दोष ही दोष देखते हैं— उन पक्षपात का चश्मा लगाने वालों को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अच्छा खासा मुँहतोड़ उत्तर दिया है। शुक्लजी लिखते हैं—"जो यह भी नहीं जानते कि संक्रान्ति को 'संक्रमण' (अप० संक्रोन) भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ के अर्थ में संस्कृत शब्द है, 'रोज' कलाई के अर्थ में आगरे के आस-पास बोला जाता है और कबीर, जायसी आदि द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है; 'सोन-जाई' शब्द 'स्वर्णजाति' से निकला है जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृति में 'बारि' और 'वार' दोनों शब्द हैं और 'बदि' का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती ब्रजभाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है, 'खटकति' का रूप बहुबचन में भी यही रहेगा, यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ तो बेचारे बिहारी का क्या दोष ?"[1]

हम देखते हैं कि बिहारी की भाषा में बहुत थोड़े से ही दोष उँगलियों पर गिनने लायक दृष्टिगोचर होते हैं। सुधाकर में भी कलंक का निवास है, सुन्दर-सुरभित सुमन काँटों में ही खिलते हैं, शुभ्र और स्वच्छ सलिल में सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीटाणु अवश्य ही रहते हैं; इस प्रकार से यदि बिहारी-सतसई में ये थोड़े से दोष उपलब्ध भी हों तो भी बिहारी का भाषा-सौन्दर्य कुछ न्यून नहीं होता। ब्रजभाषा को तो बिहारी सतसई पर गर्व है। यह तो बिहारी की भाषा का ही महत्व है जिसने बिहारी की कीर्ति-ध्वजा को अभी तक अक्षय रखा है। किसी कवि ने ठीक ही लिखा है :—

ब्रजभाषा बरनी सबै, बहु विधि बुद्धि-विशाल;
सब की भूषन सतसई, रची बिहारीलाल।

(विक्रम सं० २००८ वि०)

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचंद्र शुक्ल; (पृ० २५०)

हिन्दी की पहली कहानी

हिदी आलोचकों में मतभेत सा है कि हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी किसने लिखी है। डॉ० रामरतन भटनागर का विचार है कि "इंशाअल्लाह खाँ की केतकी की कहानी हिन्दी की पहली मौलिक कहानी-रचना है" तथा डॉ० श्रीकृष्णलाल ने श्री किशोरीलाल गोस्वामी की इन्दुमती की मौलिकता पर संदेह करते हुए भी उसे ही हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी माना है। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने काल-क्रम से प्रकाशित तीन कहानियों को मौलिक कहानियों के अन्तर्गत रखा है जिनमें किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' को प्रथम स्थान, स्व-रचित 'ग्यारह वर्ष का समय' को दूसरा स्थान और श्रीमती बंगमहिला द्वारा लिखित 'दुलाई वाली' को तीसरा स्थान दिया है; तदुपरान्त उन्होंने यह भी कहा है कि "यदि इन्दुमती किसी बंगला कहानी की छाया नहीं है तो हिन्दी की पहली मौलिक कहानी ठहरती है।"[१]

श्री रायकृष्णदास ने तो दुलाई वाली को हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी मानते हुए यहाँ तक कहा है कि "दुलाईवाली का लिखा जाना हम एक आकस्मिक घटना कह सकते हैं"[२] पर डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास' में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' को ही हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी माना है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि एक ओर तो श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के कथात्मक निबन्ध 'राजा भोज का सपना' को हिन्दी की प्रथम कहानी मानने के पक्ष में हैं और दूसरी ओर प्रो० वासुदेव का कहना है कि "प्रसाद जी की कहानी 'ग्राम' ही हिन्दी की प्रथम मौलिक रचना है।[३]"

हम हिन्दी कहानियों का उद्भवकाल इतना अधिक बाद का मानने के पक्ष में नहीं हैं और भले ही डॉ० रामरतन भटनागर का यह विचार अक्षरशः सही हो कि "मौलिक कहा-कहानियों के विकास में 'इन्दु' का हाथ प्रधान रहा है।" लेकिन हम उनके इस कथन को युक्तिसंगत नहीं समझते कि "वर्तमान युग की प्रथम मौलिक कहानी श्री जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' कहानी है।" इतना अवश्य है कि प्रसाद जी को युग प्रवर्तक कहानीकार कहा जा सकता है पर उन्हें हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक कहानीकार मानना कतिपय दृष्टियों से अत्युक्तिपूर्ण ही है। इसमें कोई सदेह नहीं कि उन्होंने इन्दु द्वारा कथा-साहित्य में सर्वथा नवीन शैली की कहानियों का सूत्रपात्र किया है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके पूर्व कहानियाँ लिखी ही नहीं गयीं। साथ ही राजा भोज का सपना और रानी केतकी की कहानी को भी कहानी नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रथम तो निबंध ही है और दूसरी रचना कथा-साहित्य के

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचंद्र शुक्ल (पृ० ५५६)

२. इक्कीस कहानियाँ— रायकृष्णदास और श्री वाचस्पति पाठक (पृ० ३०)

३. हिन्दी कहानी और कहानीकार—प्रो० वासुदेव (पृ० ३४)

विधायक तत्वों से रहित सी है। इस प्रकार इन्दुमती ही कालक्रम की दृष्टि से हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी कही जा सकती है लेकिन उसकी मौलिकता पर संदेह करने वालों की कमी नहीं है और आचार्य शुक्ल की तो उसमें बंगला कहानी की छाया होने का संदेह था ही लेकिन डॉ० श्रीकृष्णलाल तो स्पष्टत: कह देते हैं कि "यह पूर्णतया मौलिक कृति नहीं कही जा सकती क्योंकि इस पर शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'टेम्पेस्ट' की छाप बहुत स्पष्ट है।"[1] अपने शोधप्रबंध 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' में भी उन्होंने इसी मत को विस्तारपूर्वक स्पष्ट करते हुए कहा है "जून १९०० में किशोरीलाल गोस्वामी लिखित हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी 'इन्दुमती' सरस्वती में प्रकाशित हुई। इस पर शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' की स्पष्ट छाप मिलती है। यहाँ तक कि यदि इसे भारतीय वातावरण के अनुकूल उसका रूपांतर भी कहें तो अत्युक्ति न होगी। इन्दुमती भी मीरान्डा की भाँति विंध्याचल के सघन वन में अपने पिता के साथ रहती है; जहाँ उसने अपने पिता के अतिरिक्त किसी मनुष्य को नहीं देखा था। एक दिन वह अचानक पेड़ के नीचे एक सुन्दर नवयुवक—अजयगढ़ के राजकुमार चन्द्रशेखर—को देखती है जो पानीपत के प्रथम युद्ध में इब्राहीम लोदी की हत्या कर भागा हुआ था और जिसका पीछा लोदी का एक सेनापति कर रहा था। इसी दौड़-धूप में उसका घोड़ा मर गया और वह भूखा-प्यासा पेड़ के नीचे पड़ा था। इन्दुमती और चन्द्रशेखर प्रथम दर्शन में ही एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। इन्दुमती का वृद्ध पिता, जो वास्तव में देवगढ़ का राजा था और इब्राहीम लोदी द्वारा राज्य छिन जाने पर अपनी एक मात्र कन्या के साथ जंगल में रहता था, 'टेम्पेस्ट' के प्रास्पेरो की भाँति युगल-प्रेमी के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए चन्द्रशेखर से कठिन परिश्रम कराता है और स्वयं पहाड़ी के पीछे खड़े होकर नवयुवक हृदयों का प्रेम-संभाषण सुनता है। अंत में दोनों का विवाह हो जाता है क्योंकि इन्दुमती के पिता ने प्रतिज्ञा की थी कि जो इब्राहीम लोदी को मारेगा उसी को वह अपनी कन्या ब्याहेगा। चन्द्रशेखर ने अनजाने ही यह प्रतिज्ञा पूरी कर दी थी और इन्दुमती के प्रति उसका प्रेम भी सच्चा था। इससे पिता ने दोनों का विवाह करा दिया। इस प्रकार शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' और इसी प्रकार की एक राजपूती कहानी के सम्मिश्रण से हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी की रचना हुई।"[1] परन्तु डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा ने तो कथावस्तु, पात्र तथा वातावरण की दृष्टि से इन्दुमती को मौलिक कहानी ही माना है और उनका कहना है कि "यदि हिन्दी कहानियों में विदेशी अथवा देशी कथानक की छाया की खोज की जाय तो सम्भवत: पूर्णतया मौलिक कहानियाँ बहुत कम निकलेंगी। यह कहानी कथावस्तु, पात्र तथा वातावरण की दृष्टि से मौलिक कहानी ही मानी जायगी। ऐतिहासिकता की दृष्टि से इसका रचनाकाल उतना ही पुराना है जितना सर्वप्रथम अनूदित कहानी का। सरस्वती में प्रकाशित आरंभिक कहानियों में इन्दुमती सबसे प्राचीन रचना है। इसकी रचना पं० किशोरीलाल गोस्वामी-द्वारा जनवरी सन् १९०० में की गई। इसमें भाव, भाषा तथा कला का वह सौन्दर्य है जिसके आधार पर इसको १९ वीं शताब्दी की कहानियों से पृथक् किया जा सकता है। इस कहानी में विषय-वस्तु, पात्र तथा वातावरण की नवीनता है। इसमें

---

१. हिन्दी कहानियाँ—सं. डॉ. श्रीकृष्णलाल (भूमिका; पृष्ठ २३)

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डॉ. श्रीकृष्णलाल (पृष्ठ ३२२-३२३)

मार्मिकता, भावप्रधानता तथा साहित्यिकता का यह चमत्कार है जो निर्माणकाल की कहानियों में नहीं मिलता।"[१] इसी प्रकार डॉ० भगीरथ मिश्र का भी यही कहना है "इसी कहानी से ऐतिहासिक तथा रोमांटिक कहानियों का श्रीगणेश उसी प्रकार माना जा सकता है जिस प्रकार भारतेन्दु युग के नाटकों की ऐतिहासिक कथा-वस्तु से आगे के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा चली।"[२] इस प्रकार हमारी दृष्टि में इन्दुमती को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी मानने में कोई आपत्ति न करनी चाहिए और कथा-साहित्य के विधायक तत्वों की दृष्टि से भी यह एक सफल कहानी ही है।

'इन्दुमती' का आलोचनात्मक परिचय देने के पूर्व हम यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि इसके रचयिता पं० किशोरीलाल गोस्वामी अपने समय के ऊँचे साहित्यकार, संस्कृत के धुरन्धर पंडित तथा हिन्दी के कवि और लेखक थे। साथ ही ये 'उपन्यास' मासिक पत्र के जन्मदाता भी थे और इन्होंने लगभग ६५ छोटे-बड़े उपन्यासों के अतिरिक्त कई सुन्दर कहानियाँ भी लिखी हैं। उनके चन्द्रिका, इन्दुमती और गुलबहार नामक कहानी-संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। इन्दुमती साहस तथा प्रेम-प्रधान कहानी ही है और इसमें राजकुमार चन्द्रशेखर तथा देवगढ़ के शासक की पुत्री इन्दुमती के प्रेम की कथा अंकित की गयी है। संक्षेप में दो-चार पंक्तियों में इसकी कहानी साधारणतः यों दी जा सकती है।

इन्दुमती विन्ध्याचल के सघन वन में अपने बूढ़े पिता के साथ रहती थी और उसने अभी तक अपने पिता के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष को नहीं देखा था। एक दिन उसने अचानक ही पेड़ के नीचे एक सुन्दर नवयुवक को देखा और उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उसे पहली बार ज्ञात हुआ कि पुरुष इतना सुन्दर होता है। यह नवयुवक और कोई नहीं अजयगढ़ का राजकुमार चंद्रशेखर था जो कि पानीपत के प्रथम युद्ध में इब्राहीम लोदी की हत्या कर भागा हुआ था और उसका पीछा लोदी का एक सेनापति कर रहा था। इसी बीच उसका घोड़ा मर गया। वह भूखा-प्यासा पेड़ के नीचे पड़ा था। इन्दुमती प्रथम दर्शन में ही उसकी ओर आकृष्ट हो जाती है और उसे अपनी कुटी में ले जाती है लेकिन उसका पिता क्रुद्ध होता है तथा उस नवयुवक को कैदी बनाकर जन्मभर गुलामी में रहने की सजा देता है। इन्दुमती को अपने पिता का यह व्यवहार पसन्द नहीं आता और वह विवश हो मौन रहती है लेकिन उसकी प्रेमभावना बढ़ती ही जाती है। स्वयं राजकुमार भी उससे प्रेम करने लगता है अतः दोनों एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं। चंद्रशेखर को कठोर परिश्रम करना पड़ता है लेकिन वह सब कुछ सहन कर लेता है और इन्दुमती का पिता पहाड़ी के पीछे खड़े होकर अपनी पुत्री तथा चन्द्रशेखर की बातचीत सुन लेता है। बाहर से तो वह अवश्य नाराज होता है लेकिन अन्दर ही अन्दर प्रसन्न भी होता है। वह स्वयं भी देवगढ़ का राजा था लेकिन इब्राहीम ने उसकी राजधानी पर आक्रमण कर दिया और कहलाया कि या तो पत्नी को भेज दो या फिर युद्ध करो। यह सुनकर उसकी आँखों में खून उतर आया और उसने दूत को

---

[१] हिंदी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन—डॉ. ब्रह्मदत्त शर्मा (पृष्ठ ११२-११३)

[२] हिंदी कहानीमाला—डॉ. केसरी नारायण शुक्ल और डॉ. भगीरथ मिश्र, (भूमिका; पृष्ठ २७)

राज्य की सीमा से निकल जाने की आज्ञा दी। इस पर इब्राहीम लोदी ने देवगढ़ पर आक्रमण कर दिया और सम्पूर्ण नगर मुसलमानों के हाथ से श्मशान हो गया। उसकी स्त्री ने आत्म-हत्या की और वह अपनी चार वर्ष की अबोध लड़की को ले इस जंगल में रहने लगा। उसने बड़ी सावधानी के साथ सपनी पुत्री का बारह वर्षों तक पालन-पोषण किया था और उसे इस प्रकार पहरे में रखा था कि चन्द्रशेखर के पूर्व उसने किसी भी पुरुष को देखा न था। उसने राजस्थान के सभी राजाओं से सहायता भी माँगी थी और कहलाया था कि जो भी इब्राहीम का सिर काट कर लाएगा वह उसी के साथ अपनी लड़की का विवाह कर देगा परन्तु उसकी बात किसी ने न सुनी और सबने उसे पागल समझा। अंत में उसने यह प्रतिज्ञा की कि जो कोई इब्राहीम को मारेगा उसी से इन्दुमती का विवाह होगा अन्यथा वह जन्म भर कुँआरी रहेगी। अब उसकी वह प्रतिज्ञा पूरी हो गयी और इस प्रकार उसने प्रसन्नता के साथ इन्दुमती का विवाह चन्द्रशेखर के साथ कर दिया।

साधारणतः इस कथा-वस्तु पर एक सूक्ष्म-दृष्टि डालने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रेम-प्रधान कहानी ही है और ऐतिहासिक वातारण के होते हुये भी हम इसे ऐतिहासिक कहानी नहीं मान सकते। इसमें कोई संदेह नहीं कि इब्राहीम लोदी ऐतिहासिक पात्र ही है परन्तु उसका सांकेतिक उल्लेख-मात्र ही हुआ है और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो किसी ऐतिहासिक पात्र के उल्लेख मात्र से कोई कहानी ऐतिहासिक नहीं मानी जा सकती। पात्रों के साथ-साथ घटनाओं में भी ऐतिहासिकता का कुछ न कुछ पुट होना ही चाहिए और कल्पना का योग-मात्र ही ऐतिहासिक कथाओं में अपेक्षित होता है अन्यथा केवल मात्र कल्पना की प्रधानता से कथा में कल्पना-मात्र ही दीख पड़ती हैं। इसलिए हम इसे ऐतिहासिक कहानी नहीं मान सकते तथा डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा के शब्दों में "वह साहस तथा प्रेम-प्रधान कहानी है। इसमें अजयगढ़ के राजकुमार चन्द्रशेखर तथा देवगढ़ के शासक की पुत्री इन्दुमती की प्रेम की कथा वर्णित है। चन्द्रशेखर के हृदय में इन्दुमती के प्रति विशुद्ध तथा आदर्श प्रेम था। वह एक साहसी युवक था। उसकी मोहनी मूर्ति ने प्रथम दर्शन में ही इन्दुमती के हृदय में स्थान बना लिया। पिता उनकी प्रेम परीक्षा लेकर उनका विवाह करा देता है। वस्तुतः इस कहानी की कथा-वस्तु में आदर्श प्रेम झाँकता आया है।"[1] साथ ही यह कहानी घटना-प्रधान ही मानी जाएगी और जैसा कि मैंने अपनी एक पुस्तक में कहा है "घटना-प्रधान कथानक में घटनाओं या कार्य-व्यापारों की ही प्रधानता होती है तथा प्रत्येक घटना या कार्य-व्यापार की पारस्परिक सम्बद्धता भी अपेक्षित है। इस प्रकार की कहानियों में चरित्र विकास की ओर विशेष ध्यान न देकर घटनाओं को रोचक और कुतूहल वर्धक बनाकर पाठकों का मनोरंजन करने की चेष्टा की जाती है तथा दैवी घटनाओं और अति मानवीय प्रसंगों के योग से उनमें कार्य-व्यापारों की सीमा, स्वाभाविकता से बहुत आगे बढ़ जाती है। पाठकों की जिज्ञासावृत्ति चाहे इस प्रकार की कहानियों से शांत होती हो किन्तु उनमें कला-चरित्र का सौंदर्य नाममात्र होने से उन्हें निम्नकोटि की समझा जाता है।"[2] इन्दुमती कहानी भी इसी कोटि में आती है और इस

---

१. हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन—डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा (पृ० १४४)

२. विशेष अध्ययन के लिए देखिए : कहानी कला की आधार शिलाएँ—(पृ० ५०)

प्रकार उसमें भी इन्हीं गुणों की अधिकता है लेकिन इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि घटना-प्रधान कहानी होते हुए भी इसका कथा-प्रवाह सुन्दर व स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ता है तथा घटनाओं में इस प्रकार का तारतम्य है कि वे बिखरी हुई नहीं जान पड़तीं। जहाँ तक कथा-वस्तु के तीन प्रमुख अंगों—आरंभ, मध्य, और अंत —का प्रश्न है कहानीकार तीनों की संयोजना कुशलता के साथ कर सका है। कहानी अन्यपुरुष प्रधान शैली में अर्थात परम्परागत ऐतिहासिक शैली में लिखी गयी है और इसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ—"इन्दुमती अपने बूढ़े पिता के साथ विन्ध्याचल के घने जंगल में रहती थी। जब से उसके पिता वहाँ पर कुटी बनाकर रहने लगे, तब से वह बराबर उन्हीं के साथ रही। न जंगल के बाहर निकली और न किसी दूसरे का मुँह देख सकी। उसकी अवस्था चार वर्ष की थी जबकि उसकी माता का परलोकवास हुआ और उसके पिता उसे लेकर वनवासी हुए। जब से वह समझने योग्य हुई तब से नाना प्रकार के बनैले पशु-पक्षियों, वृक्षवल्लियों और गंगा की धारा के अतिरिक्त यह नहीं जानती थी कि संसार का संसारी सुख क्या है और इसमें कैसे-कैसे विचित्र पदार्थ भरे पड़े हैं? फूलों को बीन-बीन कर माला बनाना, हिरणों के संग में किलोल करना, दिन भर वन-वन घूमना और पक्षियों का गाना सुनना बस यही उसका काम था। वह यह भी नहीं जानती थी कि मेरे पिता के अतिरिक्त और कोई भी मनुष्य इस संसार में है।" कहानी के इस प्रारंभिक अंश में ही हमें कहानी की प्रधान पात्री का परिचय भी मिल जाता है और मध्य भाग में तो कहानीकार पूर्वापर की घटनाएँ भी संयोजित करता है तथा अंत में वह चन्द्रशेखर और इन्दुमती का विवाह कराकर कथा की समाप्ति कर देता है। जहाँ तक इस कहानी के अन्त का प्रश्न है वह भले ही कहानीकार के लक्ष्य की पूर्ति करता हो और वह असफल भी नहीं कहा जा सकता है लेकिन इतना तो मानना ही होगा कि उसमें वह कौतूहलता नहीं है और न वह मनोवैज्ञानिकता ही है जोकि पाठकों में उत्सुकता बनाए रख सके। सामान्यतया घटना-प्रधान कथावस्तु की चरम सीमा घटनात्मक ही होती है अतः इन्दुमती का अन्त संयोगात्मक ही है और साथ ही प्राचीन कहानियों की भाँति छोटे-छोटे उपसंहार व नीतिपरक वाक्य भी लेखक ने जोड़ दिए हैं। देखिए—

"इतना कह उन्होंने सीटी बजाई और देखते-देखते पचास जवान हथियारों से सजे घोड़ों पर सवार आ खड़े हुए। उनके साथ एक सजा हुआ घोड़ा चन्द्रशेखर के लिये और एक सुन्दर पालकी इन्दुमती के लिये थी। उसी समय बुड्ढे ने दोनों का विवाह कर उन वीरों के साथ विदा किया और आप हिमालय की ओर चला गया।

अहा! जो इन्दुमती इतने दिनों तक वन-विहंगिनी थी, वह आज घर के पिंजड़े में बन्द होने चली। परमेश्वर की महिमा का कौन पार पा सकता है।"

कहानी का शीर्षक प्रधान पात्री इन्दुमती के नाम पर रखा गया है और वह उपयुक्त तथा सार्थक ही प्रतीत होता है। पात्र तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से विचार करते समय हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि घटनाप्रधान कहानी होने के कारण कहानीकार ने स्वाभाविक ही चरित्र-चित्रण पर बहुत कम ध्यान दिया है। यों भी इन्दुमती, चन्द्रशेखर और इन्दुमती के पिता ही इस कहानी के प्रमुख पात्र हैं पर लेखक की दृष्टि मूलतः इन्दुमती और चन्द्रशेखर पर ही रही है तथा इस प्रकार उसने नायक-नायिका के चरित्र-चित्रण को ही अपनी लेखनी का

विषय बनाया है। साथ ही चरित्र-चित्रण के लिए वर्णनात्मक प्रणाली ही अपनायी गयी है और लेखक स्वयं ही विश्लेषणात्मक ढंग से पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालता है। कहीं-कहीं आत्मकथा और कथोपकथन द्वारा भी चरित्र विषयक संकेत दिए गए हैं लेकिन इस प्राचीन शैली की कहानी में मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण या मनोवैज्ञानिक तथ्य-निरूपण की अभिलाषा करना कदापि युक्ति-संगत न होगा। चूँकि यह कहानी वर्णनात्मक शैली में लिखी गयी है और इसकी कथा घटना-प्रधान है अतः स्वाभाविक ही लेखक ने इसमें कथोपकथन बहुत ही सीमित मात्रा में रखे हैं। कहानीकार का बस यही उद्देश्य रहा है कि संवादों की सहायता से घटनाएँ गतिशील होती रहें और पाठक को कहानी की घटनाएँ ज्ञात होती रहें। इतना अवश्य है कि संवाद यात्रानुकूल और स्वाभाविक हैं तथा भाषा भी प्रसंगानुकूल और सरल हैं। कहानीकार ने देश, काल तथा वातावरण पर भी ध्यान रखा है और परिपार्श्व-चित्रण करते समय प्राकृतिक दृश्यों को भी अंकित किया है। उदाहरणार्थ—"गर्मी की ऋतु—दोपहर का समय—जबकि उसके पिता अपनी कुटी में बैठे हुए गीता की पुस्तक देख रहे थे वह नदी किनारे पेड़ों की ठंडी छाया में घूमती, फूलों को तोड़-तोड़ कर नदी में बहाती हुई कुछ दूर निकल गई थी कि यकायक चौंककर खड़ी हुई।"

जैसा कि पोकॉक (Pocock) नामक एक पाश्चात्य विचारक का कहना है—"Every single part of the story must be relevant and to the point. There must be no padding out, no word spinning. Every epithet, every phrase, every sentence should bear in some way upon the plot, character or atmosphere, so that when we come to the end we feel sure that we could not have skipped a line without missing something essential." अतः कहानियों में भाषा की मार्मिकता पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है और "प्रत्येक कहानीकार की अपनी निजी भाषा शैली रहती है और इस प्रकार उसकी भाषा में शब्द-सौन्दर्य, भाषा-सौन्दर्य तथा रागात्मकता में अन्तर भी पाया जाता है। लेकिन यदि हम हिन्दी कथा-साहित्य का विचार पूर्वक अनुशीलन करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि उसमें बोलचाल की भाषा, गंभीर एवं परिष्कृत भाषा तथा अलंकृत तत्सम भाषा नामक भाषा-शैली के तीन रूप देख पड़ते हैं।"[१] 'इन्दुमती' में बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग हुआ है परन्तु उनमें अधिकांश उपन्यासों और कहानियों की भाँति इस कहानी की भाषा सदोष नहीं है बल्कि एक निराले ढंग का भाषा-सौन्दर्य 'इन्दुमती' में मिलता है। उदाहरणार्थ—"निदान बिचारा युवक अपने भाग्य पर भरोसा रखकर कुल्हाड़ा उठा हाथ में ले पेड़ काटने लगा और इन्दुमती पास ही खड़ी-खड़ी टकटकी लगाये उसे देखने लगी। दो ही चार बार के टाँगा चलाने से युवक के अंग-अंग से पसीने की बूँदें टपकने लगीं और वह इतने जोर से साँस लेने लगा जिससे जान पड़ता था कि यदि यों ही घंटे दो घंटे यह टाँगा चलावेगा तो अपनी जान से हाथ धो बैठेगा। उसकी ऐसी दशा देख इन्दुमती ने उसके लिए फल और जल ला आँखों में आँसू भर कर कहा—"सुनो जी, ठहर जाओ, देखो यह फल और जल मैं लायी हूँ, इसे खा लो, जरा ठंडे हो लो तो फिर काटना; छोड़ो मान जाओ।"

---

[१] विशेष अध्ययन के लिए देखिये : कहानी कला की आधार शिलाएं (पृ० १३०)

युवक ने प्रेम भरी बातों को सुन कर कहा—"सुन्दरी मैं सच कहता हूँ कि तुम्हारा मुँह देखने से मुझे इस परिश्रम का कष्ट जरा भी नहीं व्यापता। यदि तुम यों ही मेरे सामने खड़ी रहो तो मैं बिना अन्न-जल लिये ही सारे संसार के पेड़ काट कर रख दूँ और सुनो तो सही, अपने पिता की बातें याद करो, क्यों नाहक मेरे लिए अपने प्राण संकट में डालती हो ? यदि वे सुन लेंगे, तो क्या होगा ? और मैं जो सुस्ताने लगूँगा तो लकड़ी कौन काटेगा ? जब वे देखेंगे कि पेड़ नहीं कटा है तो कैसा उपद्रव करेंगे ? इसलिए हे सुशीले ! मुझे मेरे भाग्य पर छोड़ दो।" युवक की ऐसी करुणाभरी बातें सुनकर इन्दुमती की आँखों से आँसू बहने लगे। उसने बरजोरी युवक के हाथ से कुठार ले लिया और कहा "भाई ! चाहे कुछ भी हो, पर जरा तो ठहर जाओ, मेरे कहने से लाये हुए फल खाकर दम ले लो, तब तक तुम्हारे बदले मैं लकड़ी काटती हूँ।" युवक ने बहुत समझाया पर वह न मानी और अपने सुकुमार हाथों से कुठार उठाकर पेड़ पर मारने लगी।" इस उदाहरण से इन्दुमती की भाषागत विशिष्टता स्पष्ट हो जाती है और हम देखते हैं कि लेखक की भाषा उन्नीसवीं शताब्दी की भाषा का सुन्दर उदाहरण है तथा स्थानीय शब्दों के प्रयोगों की भरमार होते हुए भी उसमें निजता विद्यमान है। साथ ही प्रसंगानुकूल मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग हुआ है जिसके फलस्वरूप भाषा में अनूठा आकर्षण आ गया है।

अंत में उद्देश्य की दृष्टि से विचार करते समय हम देखते हैं कि 'इन्दुमती' उद्देश्य-प्रधान कहानी नहीं है और उसमें जीवन के किसी पक्ष-विशेष का मार्मिक चित्रण भी नहीं हुआ लेकिन सामान्य दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि चन्द्रशेखर का चरित्र अनुकरणीय अवश्य है और उसके चरित्र-चित्रण द्वारा कहानीकार ने हमें यह शिक्षा प्रदान करनी चाही है कि जीवन में दृढ़ता एवं साहस से सफलता अवश्यम्भावी है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि सच्चा प्रेम अमिट रहता है और पथ में चाहे कितनी ही बाधाएँ क्यों न आएँ लेकिन प्रेमी हृदय उन सब का ठुकराता हुआ आगे बढ़ता है और अपने लक्ष्य में सफल रहता है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन्दुमती एक सफल कहानी है।

(फरवरी, १९६०)

सेठ गोविन्ददास की नाट्यकला

सेठ गोविन्ददास साहित्य और स्वदेश दोनों के ही एकनिष्ठ सेवक के रूप में प्रसिद्ध हैं तथा इसमें कोई सन्देह नहीं कि जहाँ उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलनों में अपने आत्मार्पण का पूरा परिचय दिया है वहाँ साथ ही हिन्दी साहित्य भी उनकी सेवाओं से विशेष रूप में समलंकृत हुआ है। यद्यपि सेठ जी मध्य प्रदेश के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार ही नहीं अपितु हिन्दी के अग्रणी नाट्यप्रणेताओं में भी एक हैं और जैसा कि उन्होंने अपनी प्रसिद्ध नाट्यकृति 'तीन नाटक' के प्राक्कथन में लिखा है—'बाल्यावस्था से ही मुझे नाटकों से अनुराग रहा है' अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी-नाट्य-साहित्य की उन्होंने महत्वपूर्ण सेवा की है; परन्तु नाटकों और एकांकियों के सृजन के साथ-साथ यात्रा विषयक पुस्तकों तथा 'इन्दुमती' जैसे भीमकाय उपन्यास की रचना कर उन्होंने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा का भी परिचय दिया है। लेकिन अपनी इस दीर्घकालीन साहित्य-साधना में उन्होंने विशेष रूप से नाटकों की ही सृष्टि की है और नाट्य-साहित्य के प्रति अपने असीमित अनुराग के फलस्वरूप नाट्यकला सम्बन्धी पाश्चात्य तथा पौर्वात्य शास्त्रीय ग्रन्थों का अनुशीलन कर उन्होंने नाट्यकला सम्बन्धी अपने कुछ निजी मत भी स्थिर किए हैं। उनके अधिकांश नाटकों का कलापक्ष उनके निजी सिद्धांतों से प्रभावित भी है। 'तीन नाटक' के प्राक्कथन में जो कि अब पृथक रूप से 'नाट्यकला मीमांसा' नामक कृति के रूप में भी प्रकाशित हो चुका है। सेठ जी ने अपने नाटकों की टेकनीक के विषय में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि वे इस दिशा में नार्वे के प्रसिद्ध नाटककार इब्सन के ही अनुयायी हैं; लेकिन जहाँ कि इब्सन ने नाटकों में पूर्ण रूप से स्वाभाविकता लाने के हेतु 'अश्राव्य (सालीलाकी) और नियतश्राव्य (ऐसायिड) नामक दोनों प्रकार के स्वगत कथन का पूर्ण बहिष्कार किया था वहाँ सेठ जी यह स्वीकार करते हुए भी कि स्वगत कथन से अधिक अस्वाभाविक बात नाटकों में और कोई हो ही नहीं सकती; नियत श्राव्य को तो वे सर्वथा अस्वाभाविक समझते हैं लेकिन बर्नाडशा तथा नील की नाट्यकृतियों से उदाहरण देते हुए आन्तरिक भावों और द्वन्द्वों को प्रकाश में लाने के हेतु 'अश्राव्य' नामक स्वगतकथन को स्वाभाविक समझते हैं। स्मरण रहे जैसा कि डा. श्रीकृष्णलाल ने लिखा है "नाटकों में एक संघर्ष होता है। वह संघर्ष चाहे बाह्य हो चाहे अन्तरंग, परन्तु बिना संघर्ष के वास्तविक नाटक की रचना हो ही नहीं सकती। सभी प्रसिद्ध नाटकों में यह संघर्ष मिलता है।" अतः नाटकों में मानवीय संकल्पों का उत्कर्ष आवश्यक है और इस प्रकार यदि स्वगत कथन द्वारा अन्तर्द्वन्द्वों के चित्रण में सफलता मिलती है तो हम भी उसे अनुपयुक्त नहीं समझते। इसी प्रकार सेठ जी एकांकी नाटकों की टेकनीक के सम्बन्ध में भी अपनी निजी विचारधारा को 'सप्तरश्मि' नामक अपने एकांकी संग्रह में प्रस्तुत किया है। सेठ जी 'स्थल संकलन' की अपेक्षा एकांकी नाटकों में 'काल संकलन' को अत्यधिक आवश्यक समझते हैं और उनकी दृष्टि में यदि किसी एकांकी नाटक में काल संकलन से अवरोध हो सकता है तो फिर इसके लिए 'उपक्रम' और 'उपसंहार'

दोनों या आवश्यकतानुसार दोनों में से किसी एक की योजना होनी चाहिये। काल संकलन रहते हुए भी आवश्यकतानुसार कभी-कभी वे उपक्रम और उपसंहार का उपयोग करना अनुचित नहीं समझते; क्योंकि उनकी दृष्टि में इस प्रकार नाटकीय सौंदर्य की अभिवृद्धि हो जाती है। उनका विचार है कि पढ़ते समय तो किसी भी नाटक में उपक्रम और उपसंहार का प्रयोग आपत्तिजनक नहीं प्रतीत होता, लेकिन साथ ही रंगमंच में अभिनय के समय भी इनका उपयोग किया जा सकता है और इसके लिए उन्होंने यह सुझाव दिया है कि ''जो एकांकी रंगमंच पर खेले जावें उनमें दर्शकों को 'उपक्रम' या 'उपसंहार' की जानकारी हो जाय, इसलिये यवनिका उठते ही एक दूसरे पर्दे पर 'उपक्रम' या 'उपसंहार' का लिख देना आवश्यक है और यवनिका के उठने के बाद यह परदा भी उठा दिया जाय।'' साथ ही सेठ जी नाटक का अभिनय होते समय आवश्यकतानुसार कभी-कभी कुछ दृश्य सिनेमा की फिल्मों द्वारा दिखाया जाना आवश्यक समझते हैं और साथ ही वे उन नाटकों को नाटक न कहा जाना अनुचित समझते हैं जो कि रंगमंच पर खेले न जा सकते हों परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सेठ जी के नाटकों में अभिनेयता का अभाव है बल्कि हमें यह निस्संकोच स्वीकार करना होगा कि उनके अधिकांश बड़े नाटक तथा एकांकी साधारण से साधारण रंगमंच पर अभिनीत हो सकते हैं। 'नाट्यकला' सम्बन्धी सेठ जी की विचारधारा पर संक्षेप में प्रकाश डालने के उपरान्त अब हम उनकी नाट्यकृतियों का मूल्यांकन करेंगे।

सेठ जी की नाट्यकृतियों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने प्रायः समस्त क्षेत्र को अपनाया है; सभी प्रकार के चरित्रों को प्रस्तुत किया है और सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं को भी अपने नाटकों में स्थान दिया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानों उनकी लेखनी का क्षेत्र विस्तृत-सा है और उनकी कला ने प्रत्येक क्षेत्र तथा प्रत्येक समय में अपनी कुशलता प्रदर्शित की है। कदाचित् इसीलिए वे पौराणिक, ऐतिहासिक तथा वर्तमान युग से भी नाटकीय सामग्री का चारु-चयन कर सके हैं। पौराणिक जगत् से भी कथावस्तु ग्रहण कर उसमें आधुनिक जीवन के हेतु उपादेय और प्रेरक सामग्री प्रस्तुत करने में उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। सेठ गोविन्ददास की अभी तक हर्ष प्रकाश, कर्त्तव्य, सेवापथ, कुलीनता, विकास, शशिगुप्त, दुःख क्यों, कर्ण, महत्व किसे, बड़ा पापी कौन, गरीबी या अमीरी, दलित कुसुम, पतित सुमन, हिंसा या अहिंसा, सन्तोष कहाँ, पाकिस्तान, त्याग या ग्रहण, नवरस, सिद्धान्त स्वातन्त्र्य तथा भूदान यज्ञ नामक कई नाट्य कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं और जिनके कि नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार ने पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक सभी प्रकार के नाटक लिखे हैं और इस प्रकार उसका विचार क्षेत्र विस्तृत-सा प्रतीत होता है। यथार्थ में प्रसादोत्तर काल में ही एकांकी नाटकों का उद्भव हो चुका था और शनैः-शनैः हिन्दी एकांकी कला भी प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रही थी। कदाचित् इसीलिए स्वाभाविक ही सेठ जी ने एकांकी नाटकों के सृजन की ओर अपना विशेष ध्यान दिया है और पौराणिक, ऐतिहासिक तथा विविध विषयों से सम्बन्धित एकांकियों के प्रणयन के साथ-साथ पाश्चात्य मनीषियों के विचारों से प्रभावित होकर पाश्चात्य विचारधारा तथा नवीनतम विचारों का समन्वय कर समस्यामूलक एकांकियों की भी सृष्टि की है जिनमें अतीत गौरव के अंकन के साथ-साथ आधुनिक समाज के विविध वर्गों, समस्याओं तथा राजनैतिक

आन्दोलनों का भी वास्तविक पूर्ण चित्रण किया गया है । जहाँ कि एक ओर सेठ गोविन्ददासजी प्राचीन भारतीय संस्कृति पर आधारित पौराणिक व ऐतिहासिक एकांकियों एवम् नाटकों में सांस्कृतिक उपासक के रूप में दृष्टिगोचर होते है वहाँ साथ ही सन् १९२० से लेकर अब तक के अपने निजी अनुभवों के आधार पर भारतीय समाज तथा बहुमुखी मानव जीवन की आदर्शोन्मुख व्याख्या करने में भी वे पूर्ण सफल रहे है और इस प्रकार उनकी नाट्यसाधना वस्तुतः युग सापेक्ष्य ही मानी जायेगी तथा उन्होंने युग की आत्मा को अभिसिंचित करने का प्रयास ही अपनी कृतियों में किया है । सेठ जी का सर्वप्रथम एकांकी 'स्पर्द्धा' है जिसे उन्होंने अपनी तीसरी जेल-यात्रा के समय नागपुर जेल में एक ही दिन में लिखा था तथा जो 'सरस्वती' के जनवरी सन् २६ कें अंक में प्रकाशित भी हो चुका है तथा साथ ही पुस्तिकाकार रूप में भी संवत् १९९२ में अलग से प्रकाशित हुआ है। स्पर्द्धा के अतिरिक्त सेठ जी के पंचभूत, सप्तरश्मि, अष्टदल, एकादशी तथा चतुष्पथ नामक अन्य एकांकी संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें उनके कई सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक और राजनैतिक एकांकी तथा प्रहसन संगृहीत हैं । सेठ जी के कुछ प्रसिद्ध एकांकी इस प्रकार हैं :—

पौराणिक एवम् ऐतिहासिक—(१) जालौक और भिखारिणी (२) चन्द्रपीड़ ओर चर्मकार (३) शिवाजी का सच्चा स्वरूप (४) निर्दोष की रक्षा (५) कृष्णाकुमारी (६) सहित या रहित (७) सच्चा धर्म (८) बाजीराव की तस्वीर (९) सच्ची पूजा (१०) प्रायश्चित (११) भय का भूत (१२) अजीबोगरीब मुलाकात ।

सामाजिक—(१) स्पर्धा (२) धोखेबाज (३) कंगाल नहीं (४) मैत्री (५) अधिकार-लिप्सा (६) ईद और होली (७) मानव मन (८) जाति-उत्थान (९) निर्माण का आनन्द (१०) विटेमिन (११) फाँसी (१२) बूढ़े की जीभ ।

राजनैतिक—(१) यू. नो. (२) आई सी (३) हंगरस्ट्राईक (४) सुदामा के तंदुल ।

प्रहसन—(१) हार्सपावर (२) वह मरा क्यों (३) चौबीस घण्टे (४) कुछ आप बीती कुछ जग बीती ।

सेठ गोविन्ददास जी ने अपने एकांकियों में 'मोनोड्रामा' नामक एक सर्वथा नवीन शैली का प्रयोग किया है और यद्यपि स्वयं सेठ गोविन्ददास ने 'चतुष्पथ' की भूमिका में यह स्वीकार किया हैं कि उन्होंने ब्राउनिंग, स्ट्रेन्डबर्ग तथा नील नामक पाश्चात्य नाटककारों की कृतियों से प्रभावित होकर ही इन प्रलय और सृष्टि, अलबेला, शाप और वर तथा सच्चा जीवन नामक चार मोनोड्रामा लिखे हैं परन्तु जैसा कि डा. नगेन्द्र का मत है इसमें कोई सन्देह नहीं कि "एकांकी के क्षेत्र में सेठ जी का महत्व प्रधानतः उनके मोनोड्रामा—एक पात्री नाटकों के कारण है ।"

'हर्ष' सेठ गोविन्ददास का प्रथम ऐतिहासिक नाटक है और जसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है—"नाटक, उपन्यास या कहानी लेखक को यह अधिकार नहीं है कि वह पुरानी कथा को तोड़-मरोड़ कर उसे एक नई कथा ही बना दे" अतः अपनी इस उक्ति को चरितार्थ करने के हेतु जहाँ उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों का पूर्ण निर्वाह किया है, कल्पना-शक्ति के सीमित हो जाने के कारण नाटक के कई दृश्य निस्पंद और निष्प्राण से प्रतीत होते हैं। सुसंगत

वस्तुविधान, गरिमा वैशिष्ट्य तथा बौद्धिक विचारधारा के साथ-साथ हर्ष का सांस्कृतिक पक्ष भी उच्चतर है तथा उसमें आत्मनिषेध, मैत्री एवं स्नेह-सेवा मार्ग का ही समर्थन किया गया है। परन्तु नाटक के अन्त में चरमोत्कर्ष पूर्ण रूप से नहीं आ सका। पौराणिक एवम् ऐतिहासिक नाटकों की दृष्टि से उनके 'कर्ण, कुलीनता, और कर्तव्य' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वस्तुतः कर्तव्य तो हिन्दी नाट्य-साहित्य में अपना स्वतन्त्र महत्व रखता है क्योंकि वह सर्वथा नवीन और मौलिक कृति है। राम और कृष्ण की कथा को लेकर नाटककार ने कर्तव्य को पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध नामक दो भागों में विभाजित किया है और इस प्रकार अभावात्मक तथा भावात्मक नामक कर्तव्य के दो प्रतिरूप चित्रों का अंकन भी किया है। राम और कृष्ण दोनों का ही उद्देश्य लोकहित मानते हुए भी नाटककार राम का कर्त्तव्य-पालन- आत्मवलिदान और आत्म-हनन समझता है जब कि कृष्ण का कर्त्तव्य प्रेम उसे स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। वस्तुतः कृष्ण का चित्र राम के चित्र का पूरक माना गया है और राम की अपेक्षा उन्हें पूर्णावतार कहा गया है। कुलीनता की कथावस्तु ऐतिहासिक होते हुए भी उसमें इस सामाजिक समस्या को चित्रित किया गया है कि कुलीनता जन्मजात है अथवा स्वतः अर्जित? अकुलीन गोंड यदुराय सर्वोत्तम वीर प्रमाणित होने पर भी राजकुमारी रेवा सुन्दरी का हृदयेश्वर नहीं बन पाता क्योंकि कुलीनता का पाखंड, दुरभिमान और आडम्बर एक अकुलीन को राजकुमारी द्वारा तिलक लगाया जाना कैसे पसन्द कर सकता था परन्तु जब यदुराय कलचुरि क्षत्रिय कुलीन विजयसिंह तथा चंद्रपीड़ को युद्ध में परास्त कर दाँत खट्टे कर देता है तब इन अभिमानी कुलीनों का गर्व चकनाचूर हो जाता है। कलागत विशेषताओं की दृष्टि से भी यह नाटक सेठ जी की एक सफल कृति है; क्योंकि कथावस्तु की स्वच्छता और निर्दोषिता के साथ-साथ घटना का आराहोवरोह भी कुशलता के साथ हुआ है। शशिगुप्त भी एक ऐतिहासिक नाटक ही है। वस्तुतः सेठ जी को सर्वाधिक सफलता वर्तमान जीवन और समाज के चित्रों को प्रस्तुत करने में प्राप्त हुई है तथा इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके समस्या नाटकों में व्यावहारिक आदर्शवाद, संघर्ष तथा वैभव पूर्ण वातावरण की प्रतिक्रिया नामक तीन तत्व स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तुतः सेठ जी की नाट्यकला की समस्यायें हमारे भद्र-जीवन की समस्यायें ही हैं जो कि गाँधी युग की राजनैतिक समस्याओं से संबंधित भी हैं। अतएव जैसा कि डॉ. नगेन्द्र का मत है—"इन नाटकों का सीधा सम्बन्ध है पिछले युग की राष्ट्रीय जाग्रति से अर्थात् गाँधी जी और काँग्रेस की नीति से। इनमें गाँधीवाद के व्यवहार पक्ष को ग्रहण किया गया है—उसके सूक्ष्म दर्शन तत्व को नहीं अतएव जीवन के मूल प्रश्नों का विश्लेषण इनमें सम्भव नहीं है।" 'सेवापथ' नामक उनका नाटक वस्तुतः सेवा पथ ही है जिसमें कि दीनानाथ, शक्तिपाल और श्री निवास नामक तीन प्रमुख पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा देश की राजनीतिक चिन्ता की तीन सारणियों को स्पष्ट करते हुए गाँधीवाद की विजय ही बौद्धिक साम्यवाद तथा पूँजीवादी मनोवृत्ति पर अंकित की गई है। इसी प्रकार 'प्रकाश' में भी उन्होंने पूँजीवादी मनोवृत्तियों—दम्भ, ईर्ष्या और असन्तोष का चित्रण किया है। 'दु:ख क्यों' में एक रंगे सियार नेता का चरित्र तथा कार्यकलाप वर्णित है और 'महत्व किसे' में धनोपार्जन करते हुए देश-सेवा करना ठीक है या घर की हानि कर देश-सेवा करते हुए दरिद्रता को अंगीकार करना उचित है—नामक समस्या उठाई गयी है यद्यपि उसका कोई

निदान प्रस्तुत नहीं किया गया। 'बड़ा पापी कौन' नामक नाटक द्वारा सेठ जी ने यह दिखलाना चाहा है कि किस प्रकार हमारा समाज उन बातों को तो पाप नहीं समझता जिनसे कि उसे वास्तव में हानि है परन्तु उन बातों को पाप कहता है जिनसे वस्तुतः उसे कोई हानि नहीं होती। वस्तुतः श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की भाँति सेठ गोविन्ददास ने मनोवैज्ञानिक समस्याओं के चित्रण की ओर ध्यान नहीं दिया है अपितु सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का ही यथातथ्य चित्रण किया है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति और समाज की ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी; वस्तुतः 'दुःख क्यों' में सुखदा तथा 'महत्व किसे' में सत्यभामा के स्वाधीन व्यक्तित्व का चरित्रांकन कुशलता के साथ हुआ है। 'विकास' भी सेठ जी का एक उल्लेखनीय नाटक है जिसे कि सृष्टि के क्रम-विकास की समीक्षा करने वाला स्वप्ननाटक कहा जाता है और 'नवरस' नामक नाट्यरूपक में तो साहित्यशास्त्र के नवरसों को मानव रूप में प्रस्तुत कर उनके आधार पर आधुनिक युद्ध समस्या का विवेचन और समाधान किया गया है। 'भूदान-यज्ञ' वस्तुतः आचार्य विनोबा भावे के भूदान-यज्ञ का महत्व चित्रित करने के उद्देश्य से लिखा गया है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सेठ जी की नाट्यकृतियों में कुलीनता का वीर यदुराय, 'महत्व किसे' की यथार्थवादी व्यवहार-कुशल सत्यभामा, 'दुःख क्यों' की स्वतंत्र व्यक्तित्ववाली सुखदा और कर्तव्य की राधा आदि पात्रों का चरित्र-चित्रण कुशलता के साथ हुआ है तथा श्री जयनाथ 'नलिन' के इस कथन से बहुत कुछ अंशों में सहमत होना पड़ता है कि "लेखक ने चाहे बहुत गहराई, रंगीनी, घुटन, व्यक्ति-वैचित्र्य, उलझन और रहस्यमय कौतूहल अपने चरित्रों में न भरे हों पर उनके चरित्रों में जान अवश्य है।" नाटकों में समय का वातावरण उपस्थित करने के हेतु सेठ जी ने अभिनय, वेशभूषा, कमरे, भवन या स्थान की सजावट आदि के लिए बहुत विस्तृत रंग-संकेत दिये हैं तथा साथ ही नाटकों के प्रत्येक दृश्य में वातावरण का विशेष ध्यान रखते हुए नाटकों के प्रारम्भ और अन्त दोनों को ही प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया गया है। सेठ जी के इन नाटकों में गीतों की योजना भी की गई है जिनमें से कुछ गीत तो निश्चय ही प्रसंगानुकूल तथा स्वर, संगीत और शब्दमाधुरी के कारण उपयुक्त प्रतीत होते हैं परन्तु 'शशिगुप्त' में सोलह गानों की सृष्टि, 'बड़ा पापी कौन' में दो-दो पृष्ठों के दीर्घाकार गीत और 'कर्ण' में कुन्ती तथा रोहिणी का हर समय राग अलापना अनुपयुक्त ही प्रतीत होता है। इब्सनवादी नाटकों में तो संगीत को स्थान ही नहीं दिया जाता लेकिन इब्सन से प्रभावित होते हुए भी सेठ जी न जाने क्यों अपनी नाट्यकृतियों में गीतों को समाविष्ट करने का मोह संवरण न कर सके।

सेठ गोविन्ददास ने अपने एकांकी नाटकों का सृजन एक सुनिश्चित पद्धति पर ही किया है तथा जैसा कि उनका विचार है—"जिस एकांकी में जितना बड़ा विचार होगा, उस विचार के विकास के लिये जितना स्पष्ट और तीव्र संघर्ष होगा, उस विचार और संघर्ष के लिये जितनी स्पष्ट और मनोरंजक कथा होगी, जितने कम चरित्र और उन चरित्रों का जितना स्पष्ट और विशद चरित्र-चित्रण होगा, तथा जितनी स्वाभाविक कृति एवं कथोपकथन होंगे, वह उतना ही सफल होगा। खेलने के समय इनका उपयोग एक विवादग्रस्त प्रश्न हो सकता है, परन्तु मेरे मत से खेलते समय भी उपर्युक्त पद्धति से इनका उपयोग किया जा सकता है।" सेठ जी के एकांकियों में ये विशेषताएँ पूर्णरूप से विद्यमान हैं और उन्होंने इन तत्वों की संयोजना पर पूर्ण ध्यान दिया है।

सेठ जी ने अपने सामाजिक एकांकियों में व्यंग्यात्मक दृष्टि से मानव समाज के विभिन्न वर्गों तथा चरित्र की न्यूनताओं पर प्रकाश डालते हुये कहीं-कहीं तो व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण से और कहीं-कहीं भावुकतापूर्ण शैली से समाज में फैली हुई अनेकानेक समस्याओं पर विचार प्रकट किये हैं। उनके प्रायः अधिकांश सामाजिक एकांकियों में व्यवसायी जगत् का नैतिक पतन, जमींदार के पुत्रों की यथार्थ मनोवृत्ति, हिन्दू-मुस्लिम एकता का लाभ, उच्च शासनाधिकारियों की अनुभवहीनता तथा अधिकारलिप्सा, आधुनिक चिकित्सा, विज्ञानवेत्ताओं की बुद्धि का खोखलापन, ब्राह्मणों की पतितावस्था, पूँजीवादी समाज की विलासिता तथा एकांगिता, मध्यमवर्गीय रोमांस भावना, धर्म और सत्य की वास्तविक व्याख्या, अस्पृश्यता की समस्या, आधुनिक कवियों की कल्पना की सारहीनता, दीन श्रमिकों और कृषकों की दुरवस्था, नेताओं की अवसरवादिता आदि विविध मनोभावनाओं का अंकन ही हुआ है तथा उन्होंने सर्वजित् गाँधीवादी विचारधारा को प्रश्रय देते हुये आधुनिक समाज की कटु आलोचना भी की है। यद्यपि सेठ जी के एकांकियों में कहीं-कहीं दीर्घकाय कथोपकथनों के रूप में उपदेशात्मकता भी झलक उठती है और जिससे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि नाटककार आदर्शवादी है परन्तु वास्नव में आदर्शवादी न कहकर उसे यथार्थवादी कहता ही अधिक उपयुक्त होगा। राजनैतिक एकांकियों में सामयिकता अधिक है और तत्कालीन राजनैतिक अवस्था का चित्रण ही उसमें विशेष रूप से हुआ है। सेठ जी ने प्रलय और सृष्टि, अलबेला, शाप और वर तथा सच्चा जीवन नामक जो चार मोनोड्रामा लिखे हैं उनमें भी समाज और व्यक्ति की मनोवृत्तियों की ही टीका की गयी है। 'प्रलय और सृष्टि' का नामक एक अधेड़ पुरुष चश्मा, नोटबुक, कलम, लाइट हाउस, टावर, घंटा, चिमनी, बादल, धरती इत्यादि को सम्बोधित कर दार्शनिक, पूँजीपति और क्रान्तिकारी की विवेचना करता है। 'अलबेला' में भी एक अधेड़ आयु का व्यक्ति घोड़े की विविध क्रियाओं को लक्ष्य कर साहूकारों, जमीदारों, ताल्लुकेदारों आदि शोषकों के विरुद्ध विचार प्रकट करता है। 'शाप और वर' में जिसमें कि दो अंक है एक विपत्तिग्रस्त नारी मृत्यु से पूर्व अपने पति को सम्बोधित कर विगतजीवन की दुखद स्मृतियों को अभिव्यक्त करती है और 'सच्चा जीवन' में 'ठीक रास्ते पर चलना, बिना विघ्न बाधाओं की परवाह किये चलना, अथक चलना, निष्काम चलना ही सच्चा जीवन माना गया है। यद्यपि सेठ जी ने सामाजिक तथा समस्यामूलक एकांकियों के सृजन में ही अपनी निष्णात कल्पनाशक्ति का परिचय दिया है परन्तु प्रसाद जी की भाँति प्रचीन भारतीय गौरव, संस्कृति, आचार-विचार का प्रतिपादन करते हुये अपने पौराणिक एवम् ऐतिहासिक एकांकियों में वे भी आर्य संस्कृति के उपासक से रहे हैं और इस प्रकार उन्होंने अपने एकांकियों की कथावस्तु वहीं से ग्रहण की है जहाँ कि उन्हें अपने आदर्श का विचारविन्दु प्राप्त हो सका है और इस प्रकार उनके ऐतिहासिक एकांकियों की विचारधारा सर्वथा इतिहास सम्मत ही प्रतीत होती है। 'पंचभूत' में संगृहीत पाँच ऐतिहासिक एकांकियों की कथावस्तु के विषय में तो उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है कि उनका कथानक राजतरंगिणी, शिवाजी ऐंड हिज टाइम्स, लेटर युगल्स, टॉड साहब का राजस्थान तथा ओझा जी का 'राजपूताने का इतिहास' से लिया गया है लेकिन साथ ही आवश्यकतानुसार कभी-कभी सेठ जी कुछ प्रचलित किम्वदन्तियों का भी आधार ले लेते हैं। इस प्रकार सेठ जी ने अपने ऐतिहासिक एकांकियों में

हमारा ध्यान पुरातन भारतीय आदर्शों तथा गौरव चरित्र की दृढ़ता, उत्कर्ष और महानता की ओर आकृष्ट किया है। वस्तुत: अभिनय की दृष्टि से भी सेठ गोविन्ददास के एकांकी पूर्णत: सफल प्रतीत होते हैं और जैसा कि श्री रामचरण 'महेन्द्र' ने लिखा है—"टेकनिक की दृष्टि से सेठ जी युगान्तरकारी वर्ग के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं।....साहित्यिकता तथा सूक्ष्म अणुवीक्षण के अतिरिक्त आपका सबसे बड़ा गुण नाटकों का रंगमंचीय विधान है। सफल अभिनय के लिये इनमें सतत गतिमान कथानक और जीवित कथोपकथन हैं।" साथ ही डॉ. सत्येन्द्र ने भी लिखा है—"संयम इस नाटककार का सबसे बड़ा गुण है। नाटकों की टेकनिक में संयम है। वह घोर कलावादियों की तरह अपने एकांकियों के निजी सौन्दर्य की ओर अग्रसर नहीं।" इस प्रकार सेठ गोविन्ददास की नाट्यकला पर विचार करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि न केवल भावपक्ष और परिणाम की दृष्टि से एक सफल नाटककार हैं अपितु इनकी नाट्य कृतियों में कलापक्ष का अनवरत विकास भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है तथा सुप्रसिद्ध समीक्षक गुलाबराय जी का यह मत कि "नये नाटकीय प्रयोग करने में सेठ जी बड़े कुशल हैं" पूर्णत: सत्य प्रतीत होता है। आशा है, बाबू गोविन्ददास जी हिन्दी साहित्य को भविष्य में इससे भी अधिक सुन्दर कृतियाँ दे सकेंगे।

(राष्ट्रभारती दिसम्बर १९५५)

श्री नंददुलारे वाजपेयी की समीक्षा-पद्धति

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने जिस समय हिन्दी-साहित्य के मंच पर प्रवेश किया उस समय हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे । यद्यपि हिन्दी-आलोचना के प्रारम्भकर्त्ता श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा श्री बालकृष्ण भट्ट माने जाते हैं किन्तु इस प्रकार की विश्लेषणात्मक समीक्षा का आरम्भ-जिसमें कि आलोच्य लेखक या कवि की कृतियों की विशेषताओं का निरूपण उनके देशकाल की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया गया हो—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा ही हुआ । इस प्रकार शुक्ल जी ही हिन्दी के सर्वप्रथम समालोचक हैं जो कि न केवल साहित्यिक सिद्धान्तों को स्थिर कर सके हैं अपितु व्याख्यात्मक समीक्षायें भी प्रस्तुत कर सके हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल साहित्य को युग-सापेक्ष मानते हुए भी चूँकि संस्कारगत वैष्णव-नैतिकता के मानदण्ड से ही सभी प्रकार के साहित्य का मूल्यांकन करने में विश्वास रखते थे अत: स्वाभाविक ही समीक्षा-जगत् में ऐसे नवीन आलोचकों का भी प्रवेश हुआ जो कि छायावादी काव्यधारा के मूलस्रोतों से प्रेरणा ग्रहण कर मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र का दृष्टिकोण अपनाकर समालोचनाएँ प्रस्तुत करते थे । इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपनी विशिष्ट रसानुभूति द्वारा सुन्दर चित्रण करने की अद्‌भुत् क्षमता रखने वाले शुक्ल जी ने अपनी उपज्ञात प्रतिभा और पाण्डित्य से साहित्यालोचना को इतना प्रखर तथा गम्भीर बना दिया कि पाठक न केवल उनसे प्रभावित ही होता है—चाहे वह उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं से सहमत हो या असहमत; बल्कि उनका आतंक भी स्वीकार करता है । किन्तु शुक्ल जी द्वारा युग की नवीन प्रवृत्तियों के विषय में सहानुभूतिपूर्वक विचार न होने के फलस्वरूप जो नवीन आलोचक छायावादी-काव्यधारा का समर्थन करने के लिए समीक्षा-क्षेत्र में आए उन पर पूँजीवाद-जनित व्यक्तिवादी जीवन-मूल्यों और व्यक्ति-स्वातंत्र्य की प्रेरणा से अद्‌भुत सौन्दर्य भावना तथा जीवनादर्शों का भी प्रभाव पड़ा । लेकिन जब देश में नूतन अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं से शक्ति ग्रहण कर नवीन साहस और नवीन प्रेरणा के साथ राष्ट्रीयता ने नवजीवन धारण किया तथा पूँजीवादी व्यक्तिजनक भावनाओं तथा सामन्तवादी भ्रम का आलोक धूमिल होने लगा तो समीक्षा क्षेत्र में एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण सामने आया । इस प्रकार शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा में तीन धाराएँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगीं । पहली धारा तो उन समीक्षकों की है जिन्होंने कि आचार्य शुक्ल की समीक्षा-पद्धति का अनुगमन कर प्राचीन और अर्वाचीन कलाकृतियों की व्याख्यात्मक आलोचना का सृजन कर समीक्षा के प्रयोग-पक्ष को पल्लवित किया तथा प्रसंगानुसार सामान्य-सिद्धान्त भी निर्धारित किये । दूसरी धारा में उन छायावादी आलोचकों को रखा जायेगा जिन्होंने कि आत्मपरक (Subjective) शैली से काव्य-मीमांसा कर समीक्षा की स्वच्छन्दतावादी या

प्रभाववादी पद्धति को प्रचलित किया। इस प्रकार की समीक्षाओं में तात्विक-चिन्तन के हेतु परमावश्यक तटस्थता की रक्षा न की जा सकी और आत्मविश्लेषण के साथ-साथ स्वस्थापन की सूक्ष्म भावना को संयुक्त कर देने के फलस्वरूप उनके निष्कर्ष भी प्रायः आग्रहग्रस्त तथा निर्मुक्त ही रहे। तीसरी धारा में वे प्रगतिशील आलोचक आते हैं जिन्होंने कि वर्ग-संघर्ष और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों को साहित्य में ज्यों-का-त्यों लागू करने का प्रयास किया है और भौतिक-जीवन-दर्शन को साहित्य के जीवन-दर्शन से सम्मिलित कर मार्क्सवाद के आधार पर सामाजिक तथा आर्थिक मूल्यों की तुला पर साहित्य को तौलने में समालोचना की उपादेयता स्वीकार की है। किन्तु इन तीन धाराओं के साथ ही समीक्षा क्षेत्र में कुछ स्वतंत्र कोटि के विचारकों द्वारा एक नूतनधारा भी प्रवाहित हुई। इस नवीन समीक्षा पद्धति को समन्वयवादी या सौष्ठववादी समीक्षा कहा जाता है और इसमें युग की संवेदनाओं को ग्रहण-कर रचयिता की मनःस्थिति की वैज्ञानिक ऊहापोह द्वारा भारतीय काव्य-शास्त्र की आधार-भूत मान्यताओं को पृष्ठभूमि में रख कर कवि या लेखक और उसकी कृतियों का वस्तुपरक विवेचन किया जाता है। वस्तुतः शुक्लोत्तर हिन्दी-समीक्षा का विकास इसी धारा के आलोचकों द्वारा विशेष रूप में हुआ है। नन्ददुलारे वाजपेयी समीक्षा की इसी धारा के पोषक हैं और 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी,' 'जयशंकर प्रसाद' 'आधुनिक साहित्य,' 'महाकवि सूरदास' तथा 'प्रेमचन्द' (साहित्यिक विवेचन) नामक कृतियों द्वारा उन्होंने समन्वयवादी समीक्षा पद्धति को विकसित रूप प्रदान किया। यथार्थ में शुक्लसम्प्रदाय और स्वच्छंदतावादी या प्रभाववादी समीक्षा पद्धति का सम्मिलित और विकसित रूप प्रस्तुत करने का बहुत अधिक श्रेय वाजपेयी जी को ही है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी प्रधानतया समालोचक एवं निबन्धकार के रूप में ही प्रसिद्ध हैं और इस प्रकार उनकी प्रतिभा का विकसित रूप ही साहित्यजगत् में दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि आचार्य शुक्ल ने निबन्ध के ही अन्तर्गत साहित्यालोचन को भी ले लिया है तथा अपनी समीक्षाओं को निबन्ध या प्रबन्ध ही कहा है अतएव द्विवेदी युग से लेकर अत्याधुनिक युग तक निबन्ध के रूप में ही बहुत से समालोचकों ने अपने समीक्षात्मक विचारकों को प्रस्तुत किया है। इस प्रकार वाजपेयी जी की अधिकांश कृतियों में समय-समय पर प्रकाशित उनके आलोचनात्मक निबन्ध ही संगृहीत हैं। 'सूरदास' के अतिरिक्त अन्य किसी कवि या लेखक विशेष पर शुक्ल जी की भाँति उन्होंने विस्तृत आलोचना नहीं लिखी अपितु लघु या दीर्घ निबन्धों के रूप में ही अपने आलोचनात्मक विचारों को प्रस्तुत किया है। 'महाकवि सूरदास' की भाँति 'प्रेमचन्द (साहित्यिक विवेचन)' में भी यद्यपि प्रेमचन्द की कला का संक्षिप्त विश्लेषण ही किया गया है किन्तु अत्यधिक संक्षिप्तता के कारण उसे भी निबन्ध ही कहा जायेगा। वाजपेयी जी की शेष तीनों कृतियाँ—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, जयशंकर प्रसाद तथा आधुनिक साहित्य—भी वस्तुतः समीक्षात्मक निबन्ध संग्रह ही हैं।

सुप्रसिद्ध निबन्धकार विलियम हैजलिट के शब्दों में "समालोचना का काम कालान्वित रचनाओं के विशेष गुणों को पहचानना और उनका लक्षण निर्धारित करना है।" इस प्रकार स्वाभाविक ही समालोचना के मुख्यतः शास्त्र और परीक्षण नामक दो अंग होते हैं। शास्त्रीय समीक्षा जिसे कि सैद्धान्तिक समीक्षा भी कहते हैं के अन्तर्गत साहित्य के विभिन्न अंग उपांगों-

काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी तथा समालोचना के सामान्य सिद्धांतों को निर्धारित किया जाता है और उनके रूप की विवेचना की जाती है। परीक्षण के अन्तर्गत शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर किसी कृति या लेख का मूल्यांकन किया जाता है। वस्तुत: समालोचना के इन दोनों अंगों का पारस्परिक अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सिद्धान्त परीक्षण के आधारभूत होते हैं तथा परीक्षण द्वारा ही सिद्धान्तों का अन्वेषण भी संभव है। इसीलिये पाश्चात्य विचारकों के अनुसार समीक्षा-शास्त्र और कला दोनों ही हैं। वाजपेयी जी की कृतियों में भी समालोचना के ये दोनों रूप—सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक-दृष्टिगोचर होते हैं। उनके समीक्षात्मक निबन्धों को स्पष्टत: दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम में तो उन निबन्धों की गणना की जा सकती है जो कि सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी हैं तथा दूसरे में उनके व्याख्यात्मक समीक्षा सम्बन्धी निबन्धों को रखा जायेगा। साथ ही उनके निबन्ध संग्रहों में तथा 'महाकवि सूरदास' नामक कृति में बहुत से स्थल ऐसे भी दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें कि सैद्धान्तिक तथा व्याख्यात्मक समीक्षा का समन्वय-सा हो गया है।

वाजपेयी जी ने शास्त्रीय समीक्षा विषयक कोई पुस्तक न लिखकर केवल स्फुट निबंधों में ही साहित्य के विभिन्न अंग-उपांगों—काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास समालोचना आदि के रूपों की विवेचना कर उनके लक्षण तथा सामान्य सिद्धान्त को निर्धारित किया है। आधुनिक साहित्य' के पश्चिमी उपन्यास, नई कहानी, नाटक की उत्पत्ति, पूर्वी और पश्चिमी काव्य तत्व, भारतीय नाटक, नई समीक्षा, छायावादी काव्य दृष्टि, नई समीक्षा प्रणाली, भारतीय काव्य-मत, ध्वनि और रस, पश्चिमी काव्य-मत (अनुकृतिवाद) अभिव्यंजनावाद, स्वच्छंदता और परंपरा, आदर्श और यथार्थ, साहित्य और जीवन, साहित्य और सामाजिक प्रगति तथा साहित्य का प्रयोजन—आत्मानुभूति नामक निबन्ध स्वतंत्र रूप से सैद्धान्तिक समीक्षा के ही अन्तर्गत आते हैं; किन्तु इनके साथ-साथ बहुत सी निबंधकृतियों के कुछ स्थल ऐसे भी हैं जिनमें कि सिद्धांतों की चर्चा की गई है। उन्होंने साहित्य और कला के स्वरूपों पर भी प्रकाश डाला है तथा वे उनका जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। आत्मानुभूति को ही वे साहित्य का प्रयोजन मानते हैं और उनका विचार है कि "साहित्य कोरी राजनीति नहीं है, न वह राजनीतिक भावना का उच्छ्वास-मात्र है। साहित्य वास्तव में कवि की भावसत्ता के साथ उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का समाहार है।" स्वच्छंदता (रोमेंटिसिज्म) और परम्परा (क्लासीसिज्म) तथा आदर्श और यथार्थ का पृथक्-पृथक् तुलनात्मक अध्ययन भी, उन्होंने प्रस्तुत किया है। वाजपेयी जी के मतानुसार "भावना की अराजकता रोमेंटिक काव्य का अतिवाद है और वाह्यरूप की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पावन्दी क्लासिक काव्य का अतिवादी रूप है।" क्रोचे के अभिव्यंजनावाद पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए साहित्य में उसकी उपयोगिता पर भी विचार किया गया है। भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों काव्य मतों की भी विस्तृत विवेचना की गई है। अलंकार मत, रीतिमत, गुणमत, वक्रोक्तिमत तथा ध्वनिमत नामक प्राचीन भारतीय आचार्यों द्वारा निर्धारित मतों का विकास-क्रम उपस्थित करने के साथ-साथ उन्होंने प्लेटो और अरस्तू द्वारा निर्धारित साहित्यिक सिद्धान्तों का भी मूल्यांकन किया है। ध्वनि सिद्धान्त के प्रसार के फलस्वरूप काव्यात्मा रस की निष्पत्ति की ओर को जानेवाली उपेक्षा पर भी उनकी दृष्टि गई है। साहित्य की आत्मा काव्य है और इस प्रकार हिन्दी काव्य प्रवृत्तियों, कविता के विभिन्न

स्वर को तथा अपेक्षित तत्वों पर उनका प्रकाश डालना स्वाभाविक ही है। काव्य की भाव-सत्ता को ही उसकी आत्मा मानते हुए वे लिखते हैं—"काव्य का प्रयोजन भावानुभूति से प्रेरित होकर रस का उद्रेक करता है। तथ्य निरूपण तो बौद्धिक प्रक्रिया है। वह काव्य से दूर का सम्बन्ध रखती है।" इस प्रकार रस को काव्य का प्रमुख तत्व मानते हुये भी वे उसकी ब्रह्मानंद-सहोदरता या अलौकिकता को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि "काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य अभिव्यंजना का ही सौंदर्य नहीं है। अभिव्यंजना काव्य नहीं है; काव्य अभिव्यंजना से उच्चतर तत्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव जगत् और मानस वृत्तियों से है, जब कि अभिव्यंजना का सम्बन्ध केवल सौन्दर्यपूर्ण प्रकाशन से है।" साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि "अनुभूति और अभिव्यंजना का युगपत विन्यास ही वास्तविक काव्य-विकास का द्योतक है।" वे साहित्य-कला का विस्तार संकुचित करना किसी भी भाँति उचित नहीं समझते और एक स्थान पर कहते हैं—"काव्य में बुद्धि-तत्व के लिए भी स्थान है, भावना के लिए भी, कल्पना के लिए भी। जिस किसी कृति में ओजस्विता हो, प्रवाह हो, जिसका प्रभाव हमपर पड़े उसमें काव्य की प्रतिष्ठा मानी ही जायेगी। यदि रस-सिद्धान्त के व्याख्याताओं में आज इतनी व्यापकता नहीं है तो उन्हें व्यापक बनना होगा।" काव्य की स्थूल उपयोगिता भी उन्हें स्वीकार्य नहीं है। हिन्दी कविता के त्रिविध स्वरूपों के लक्षण भी निर्धारित किए गए हैं तथा महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करते हुए वे कहते हैं—"महाकाव्य की रचना जातीय संस्कृति के किसी महाप्रवाह, सभ्यता के उद्‌गम, संगम, प्रलय, किसी महाचरित्र के विराट उत्कर्ष अथवा आत्मतत्व के किसी चिर-अनुभूत रहस्य को प्रदर्शित करने के लिये की जाती है।" वे प्रगीत काव्य (लीरिक) की विशेषताओं की सराहना करते हैं और प्रबन्ध-काव्य तथा प्रगीतकाव्य की तुलना में प्रगीतकाव्य को ही श्रेष्ठतम मानते हैं[1] काव्य की नवीन प्रवृत्तियों की भी सैद्धांतिक चर्चा की गई है तथा छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का शास्त्रीय मूल्यांकन भी किया गया है। परन्तु वाजपेयी जी काव्य में वादों की सत्ता स्वीकार नहीं करते और उन्होंने दृढ़ता के साथ लिखा भी है—"यदि काव्य साहित्य को किसी 'वाद' के अंकुश पर न चलाकर उसे स्वाभाविक गति से चलने दिया जाय तो अधिक अच्छा हो। 'वाद' पद्धति पर चलने का नतीजा साहित्य में कृत्रिमता बढ़ाना, दलबन्दी फैलाना और साहित्य की निष्पक्ष माप को क्षति पहुँचाना ही हो सकता है।" कविता की भाँति

---

[1] "कथानक काव्यों में जीवन के भावात्मक संघर्ष और चरित्रों की रूपरेखा कुछ करती है, पर कवि के अन्तस्तल का उद्‌घाटन प्रगीत में ही संभव है। प्रबन्धकाव्य में दृश्य-चित्रण और वस्तु-चित्रण के साथ बहुत-सा इतिवृत्तता लगा रहता है, परन्तु प्रगीत रचना में कविता इन समस्त उपचारों से विरत होकर कविता या भाव प्रतिमा बनकर आती है। + + + प्रबन्ध-काव्य कविता का आवृत्त और आच्छादित रूप है। प्रगीत-काव्य उसका निर्व्याज निखरा हुआ स्वरूप है। प्रबन्ध काव्य यदि कोई रसीला फल है, जिसका आस्वादन छिलके, रेशे और बीज आदि निकालने पर ही किया जा सकता है, तो प्रगीत रचना उसी फल का द्रव रस है, जिसे हम तत्काल घूँट-घूँट पी सकते हैं।"

—आधुनिक साहित्य (भूमिका पृष्ठ २४)

समालोचना के सामान्य सिद्धान्तों को निर्धारित करने तथा उसके रूप की समीक्षा करने में भी उन्हें अद्वितीय सफलता मिली है। काव्यालोचन के हेतु वे समीक्षक का युग की संवेदनाओं से घनिष्ठतम परिचय आवश्यक समझते हैं। साथ ही नई कविता, नवीन शैलियों और वादों के निर्माण में सहायक होने वाली नवीन परिस्थितियों और प्रेरणाओं से घनिष्टतम परिचय होते हुए भी किसी भी कृति-विशेष के सफल विश्लेषण के हेतु समीक्षक का तटस्थ होना वे परमावश्यक समझते हैं। उनकी दृष्टि में "संवेदना या रसानुभूति के आधार पर स्थिर होने वाली काव्य-समीक्षा के लिए दो शर्तें अनिवार्य हैं—एक यह कि समीक्षक का व्यक्तित्व समुन्नत हो और दूसरी यह कि उसमें कला का मानसिक आधार ग्रहण करने की पूरी शक्ति हो—किसी मतवाद का आग्रह न हो।" चूँकि कला सीमा रहित तथा बन्धन मुक्त होती.है अतः वे किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धांत के आधार पर किसी कृति का समीक्षण करना अनुचित समझते हैं। उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी नाटच-तत्वों की विवेचना के साथ-साथ उपन्यास और कहानी के आवश्यक तत्वों की भी संक्षिप्त चर्चा की है। उपन्यास की भावभूमि का परिचय देते हुए वे कहते हैं—"उपन्यास का जगत खुले हुए आकाश के नीचे फैली हुई विस्तृत हरीतिमा के समान है जिसमें नाना वर्ण के वृक्ष, लता, गुल्म, पशु, पक्षी आदि स्वच्छन्द रूप से विहार करते हैं; यद्यपि उस स्वच्छन्दता में भी एक समग्रता तो रहती ही है।" वाजपेयी जी की सैद्धांतिक समीक्षा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें उनके व्यापक अध्ययन, चिन्तन और मनन की प्रवृत्ति स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती है। सिद्धान्तों को निर्धारित करने के साथ-साथ साहित्य का मापदंड प्रस्तुत करने में भी वे सजग रहे हैं। हो सकता है कि कहीं-कहीं सिद्धान्तों की पूर्ण सम्यक् विवेचना न हो पाई हो और साहित्यांगों का परिचय कराते समय उनके स्वरूपों पर पर्याप्त प्रकाश भी न पड़ा हो किन्तु इससे उनकी सैद्धांतिक विचारधारा को निरा महत्वहीन ही न समझना चाहिए। साथ ही जिन सिद्धान्तों की स्थापना और पुष्टि उन्होंने अपने शास्त्रीय समीक्षा सम्बन्धी निबन्धों में की है उनका प्रयोग व्यावहारिक समीक्षा में भी पूर्ण सफलता के साथ किया गया है।

समालोचक की वृत्ति का विवेचन करते हुए प्राचीन भारतीय आचार्यों ने काकवृत्ति, कोकिलावृत्ति, मधुकर वृत्ति और हंसवृत्ति नामक उनकी चार वृत्तियाँ मानी हैं तथा इनके अनुसार समीक्षक के छिद्रान्वेषक, पक्ष भावित, अभिप्रशंसक और निर्णायक नामक चार प्रकार भी निश्चित किये हैं। इस प्रकार समालोचना के भी निन्दात्मक, पक्षपातपूर्ण, प्रशंसात्मक और निर्णयात्मक नामक चार प्रकार माने जा सकते हैं किन्तु विवेचना के रूप, सिद्धान्त, शैली तथा भावना और समीक्षक की मूल प्रवृत्तियों एवं युग-संवेदनाओं के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य समीक्षा के मानदंडों में विविधता भी दृष्टिगोचर होती है लेकिन इन सबमें व्याख्यात्मक आलोचना जिसे कि विश्लेषणात्मक वा विवेचनात्मक आलोचना भी कहा जाता है को ही प्रमुखता दी जाती है। व्याख्यात्मक आलोचना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मौल्टन ने लिखा है—"Inductive criticism will examine literature in the spirit of pure investigation, looking for the laws of art in the practice of artists and treating art like the rest of nature as a thing of continuous development.....which can be fully grasped only when examined with an attitude of mind adapted to the special variety without interference from without." इस प्रकार की आलोचना में आलोचक एक अन्वेषक के रूप में कार्य करता है और कवि या लेखक की कृतियों की आत्मा में प्रविष्ट होकर उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों पर प्रकाश डालता है अतएव उसे न केवल किसी कृति विशेष बल्कि उससे रचयिता और उसकी शैली आदि का उदारतापूर्वक विश्लेषण करने में सफलता प्राप्त होती है अपितु साथ ही एक सामान्य धारणा को निश्चित करने में भी सहायता मिलती है। आचार्य शुक्ल की भाँति वाजपेयी जी की समीक्षा-प्रणाली भी विशेष रूप से व्याख्यात्मक ही है।

वाजपेयी जी ने विशेषत: आधुनिक हिन्दी साहित्य को ही अपना आलोच्य विषय बनाया है और महाकवि सूरदास के अतिरिक्त अन्य किसी प्राचीन कवि के कृतित्व का विश्लेषण नहीं किया। लगभग डेढ़ सौ से अधिक पृष्ठों की पुस्तक महाकवि सूरदास में भक्ति का विकास, भक्ति सम्बन्धी दार्शनिक सम्प्रदाय, सूर की जीवनी और व्यक्तित्व, आत्मपरक, भावभूमि, दार्शनिक पीठिका सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष प्रतीक योजना तथा काव्य-सौन्दर्य नामक आठ अध्यायों के अंतर्गत सूर काव्य की सर्वांगीण विशद विवेचना की गई है। उनका यह कथन कि "वर्णन के प्रवाह में सूर ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक चमत्कार का परिचय देने वाले ऐसे पद रख दिये हैं, जिनसे लोग काव्य-धारा का तज्जन्य सुख ही नहीं, दर्शन सुख भी प्राप्त कर सकें। सूर की यह लाक्षणिक शैली ऐसी उच्चकोटि की है कि कविता और दर्शन की धाराएँ सूरसागर के समानान्तर होकर बहती हैं"—उचित ही जान पड़ता है। उन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करते समय कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध और समालोचना के क्रमिक विकास पर प्रकाश डालने के साथ-साथ महावीर प्रसाद द्विवेदी, रत्नाकर, मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्र, अज्ञेय, दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी और अंचल के कृतित्व का विश्लेषणात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। प्रसाद जी पर तो उन्होंने विस्तार के साथ चर्चा की है और उनकी काव्य-कृतियों की सम्यक् विवेचना के साथ-साथ उनके उपन्यास 'कंकाल' तथा कुछ प्रमुख नाटच-कृतियों की विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है। कंकाल के समाजदर्शन पर विचार करने के उपरान्त वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "कंकाल के लेखक का प्रयोजन प्रचलित समाज, उसके विश्वासों, उसकी कार्य प्रणालियों और उसके अनर्थकारी बन्धनों (चाहे वे बन्धन प्रत्यक्ष हों, मानसिक हों अथवा संस्कार रूप में ही हों) के विरुद्ध जबर्दस्त प्रोपेगेण्डा करना है। ++ कंकाल समाज के विरुद्ध विद्रोह करता और व्यक्ति के लिए पूरे-पूरे अधिकार चाहता है। समाज के कटघरे में बन्द करके व्यक्तियों को बौना बना दिया गया है उपन्यास को यह सह्य नहीं है।" उन्होंने कवि प्रसाद को आधुनिक हिन्दी में वस्तुवाद का प्रवर्तक माना है। उन्होंने लिखा भी है—"मैं उन्हें दार्शनिक दृष्टि से निष्ठावान यथार्थवादी कवि कहता हूँ। हमें यह कभी नहीं भूलना होगा कि यद्यपि प्रसाद जी का काव्य भावना में ऊँचा उठाकर आध्यात्मिक रहस्य-भूमि को स्पर्श करता है किन्तु वह युग की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों को अपने अन्दर लेने में पूर्णत: समर्थ है। इसी कारण प्रसाद जी नये युग जीवन का निरूपण अपने काव्य में कर सके

हैं। यही नहीं, वे नये युग के प्रतिनिधि कवि कहला सके हैं।" प्रसाद की कामायनी पर भी विस्तार के साथ चर्चा की गई है और यह कोई अतिशयोक्ति न होगी यदि हम यह कहें कि कामायनी-विवेचन में जितनी अधिक सफलता उन्हें मिली है उतनी कदाचित् ही किसी को प्राप्त हुई हो। कामायनी के संबंध में उनका यह मत वस्तुतः उचित ही है कि "इस काव्य में मनु मानव या मनस्तत्व के स्वरूप का बौद्ध, योग तथा सांख्य आदि शास्त्रों के विश्लेषण से, वैदिक तथा पौराणिक कथाओं की अनुश्रुति पर, मनु-स्मृति का सामयिक अनुशीलन, अनुसरण और संशोधन करते हुये, आधुनिक रुचि के अनुकूल, नारी की महिमा का विशेष रूप से प्रकाश करने के लिये उल्लेख किया गया है। मनोविज्ञान में काव्य और काव्य में मनोविज्ञान यहाँ एक साथ मिलते हैं। मानस (मन) का ऐसा विश्लेषण और निरूपण काव्य में शायद शताब्दियों के बाद हुआ है।" प्रसाद की नियति सम्बन्धी विचारधारा का भी कुशलता के साथ मूल्यांकन किया गया है। आर्नल्ड की भाँति रत्नाकर को वे हिन्दी का अंतिम क्लासिक कवि मानते हैं और गुप्तजी को इस युग का प्रतिनिधि कवि समझते हैं। उनकी दृष्टि में गुप्त जी की सर्व प्रथम और सर्व प्रधान विशेषता उनकी सरल अभिव्यक्ति ही है तथा साकेत को वे महाकाव्य के आवरण में प्रेमकाव्य मानते हैं। कामायनी और साकेत के साथ-साथ कुरुक्षेत्र, कुणाल तथा कृष्णायन के काव्यत्व पर भी प्रकाश डाला गया है। अन्याय का अंत-युद्ध से यही उनकी दृष्टि में कुरुक्षेत्र काव्य का मुख्य संदेश है और उसमें जो नवयुग की नवयुवक जाग्रति तथा न्याय और समता के हेतु उत्पीड़ितों की क्रांति की आवाज उठाई गई है उसका भी वे सहर्ष स्वागत करते हैं। उनकी दृष्टि में भारत-व्यापी राष्ट्रीयता का निर्माण ही कृष्णायन का एक नूतन संदेश है तथा वे यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रथम बार इस महाकाध्य में कृष्ण की सम्पूर्ण जीवन-कथा को संकलित काव्य का स्वरूप दिया गया है। बीसवीं शताब्दी के हिंदी साहित्य पर प्रकाश डालते समय निराला, पंत, महादेवी वर्मा और अंचल की काव्य-साधना की भी चर्चा की गई है। निराला के काव्य-विकास के मूल में उन्होंने भावना की अपेक्षा बुद्धितत्व की ही प्रधानता देखी है और पंत की कविता का मेरुदंड उनकी कल्पना शक्ति को माना है। महादेवी को वे दार्शनिक दृष्ट से मीरा की ही अनुयायिनी मानते हैं तथा अंचल को स्मृति का पुजारी और विरह का उपासक कवि। आधुनिक हिन्दी उपन्यास और कथा-साहित्य की व्यावहारिक आलोचना करते समय प्रेमचन्द, जैनेद्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी और अज्ञेय के कृतित्व पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है। प्रेमचन्द-साहित्य को वे सामयिकता का आदर्श मानते हैं और सामयिकता के गुण से पूर्ण। प्रेमचंद के पात्र और चरित्र उनकी दृष्टि से आधुनिक भारतीय जीवन के प्रतिनिधि रूप में ही चित्रित हुए हैं। जैनेन्द्र को वे वैयक्तिक मनोभावों और स्थितियों का चित्रकार समझते हैं तथा अज्ञेय के शेखर एक जीवनी की मूल प्रेरणा प्रकृति की अपूर्णता और सामाजिक बंधनों के विरुद्ध होने वाले संघर्षों को मानते हैं। हिन्दी आलोचना के उद्भव और विकास पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने सुप्रसिद्ध समीक्षक और निबंधकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कृतित्व का भी मूल्यांकन किया है। यह उद्घोषित करते हुए भी कि "शुक्ल जी का विवेचन न तो प्राचीन दार्शनिक पद्धति का अनुसरण करता है और न वे उस प्रकार के सांस्कृतिक और समाज शास्त्रीय अध्ययन में प्रवृत्त हुए हैं जो आज की आलोचना का आवश्यक अंग है" वे यह भी स्वीकार करते हैं कि "समीक्षक की हैसियत से शुक्ल जी का आदर्श बहुत

ऊँचा है और उनका एक संदेश है जिसे आज के समीक्षकों को स्मरण रखना चाहिए। वह संदेश यह है कि साहित्य को समीक्षा किसी एक अंग या पहलू पर समाप्त न हो जानी चाहिये बल्कि वह सब अंगों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को वे एक सिद्धान्तवादी सम्पादक मानते हैं और द्विवेदी युग के विषय में उनका स्पष्ट मत है कि "द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्श-वाद के जनक हैं जो समय पाकर प्रेमचंद जी आदि के साहित्य में फला फूला। ++++द्विवेदी जी और उनके अनुयायियों का आदर्श यदि संक्षेप में कहा जाय तो, समाज में एक सात्विक ज्योति जगाना था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समय की सामाजिक और राजनीतिक प्रगति का साथ देना, शृंगार के विलास-वैभव का निषेध ये सब द्विवेदी युग के आदर्श हैं।" श्री सुंदरलाल त्रिपाठी की निबंध पुस्तक 'दैनंदिनी' की मनोहरता, भावातमकता, भावुकता और चमत्कृत शैली की भी उन्होंने सराहना की है।

वाजपेयी जी ने शुद्ध विवेचनात्मक समीक्षा में व्यक्तिगत रुचि-प्रदर्शन को अनुचित माना है और इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल की टीका भी की है किन्तु कहीं-कहीं स्वयं उन्होंने ही अपनी निर्धारित रुचि के अनुसार ही किसी कृति का अनुशीलन किया है और इस प्रकार उनका विचारधारा में कहीं-कहीं वह तटस्थता नहीं दीख पड़ती जो शुद्ध विश्लेषण के लिये परमावश्यक है। निर्णयात्मक समीक्षा से इस प्रकार का व्यक्तिगत रुचि-प्रदर्शन प्रश्रय पा सकता है परन्तु शुद्ध विवेचनात्मक समीक्षा में नहीं। इसीलिए प्रसाद के कृतित्व पर जितनी उदारता के साथ वे विचार कर सके हैं इतनी आचार्य द्विवेदी जी, शुक्ल जी, प्रेमचन्द और अज्ञेय पर नहीं। साथ ही प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और मार्क्सवादी समीक्षा के दोष-दर्शन की ही ओर उनकी प्रवृति रही है तथा उनके विचार कहीं-कहीं एकांगी से प्रतीत होने लगते हैं और इस प्रकार डॉ० देवराज का यह कथन उचित-सा जान पड़ता है "वाजपेयी जी की अनेक मान्यताओं के पीछे व्यवस्थित चिन्तन का बल नहीं है और वे साहित्यिक अनुभूति से उत्थित होती भी नहीं जान पड़ती।" किन्तु हर्ष की बात है कि उनकी कृतियों में इस प्रकार के स्थलों की संख्या बहुत ही न्यून है अन्यथा सर्वत्र ही उन्होंने निष्पक्षता और तटस्थता के साथ एक वैज्ञानिक अन्वेषक की भाँति किसी भी कृति या विषय का अध्ययन किया है। उनकी समीक्षा पद्धति में चिन्तन और मनन का मणिकांचनमय योग पाया जाता है तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि से स्पष्टता (पारस्पिक्विटी), सरलता (सब्लिमिटी, स्वच्छता (क्लीयरेन्स) और प्रसंग-सम्बद्धता (हार्मनी) नामक चारों गुण दृष्टिगोचर होते हैं। जैसा कि डॉ० श्यामसुन्दर दास का मत है—"साहित्य की आलोचना तभी वैज्ञानिक होती है जब तुलना और इतिहास के आधार पर उसकी भित्ति उठाई जाती है।" आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी आवश्यकतानुसार काल्पनिक और ऐतिहासिक दृष्टि से किसी कवि या विषय का परीक्षण किया है। वाजपेयी जी ने प्रसंगानुसार आलोच्य रचनाओं या विषयों में, राजनीतिक, सामाजिक, तथा धार्मिक दशाओं के प्रभाव का उद्घाटन किया है और साहित्य की ऐतिहासिक रचना परम्परा के साथ आलोच्य कृति का तारतम्य मिलाया है। आधुनिक साहित्य की ५४ पृष्ठों की भूमिका में आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। वाजपेयी जी का तुलनात्मक दृष्टिकोण भी संतुलित-सा जान पड़ता है और उन्होंने द्विवेदी युग के कुछ

समालोचकों की भाँति किसी एक कवि या लेखक को अनुचित रूप से श्रेष्ठतर प्रमाणित करने की चेष्टा नहीं की। आदर्श और यथार्थ की तुलना करते हुए वे लिखते हैं—"आदर्शवादियों की भाषा और शब्दों के प्रयोग में भावुकता तथा वाद-सौंदर्य अधिक रहता है, परन्तु अर्थ का सूक्ष्म चुनाव यथार्थवादी अधिक करते हैं। शैली की दृष्टि से यथार्थवाद मनोरंजक, विनोदात्मक, बौद्धिक और तार्किक शैलियों को अपना कर चलता है और आदर्शवाद कल्पना-प्रधान और भावुकतापूर्ण शैलियों को अपनाता है। आदर्शवादी की रचनाओं में व्यंग्य या कर्कशता नहीं होती, वह प्रायः आशावादी होता है जब कि यथार्थवादी अनावश्यक आशा को भावावेष मात्र मानता है।" वाजपेयी जी की भाषा शैली भी शुष्क और नीरस नहीं है अपितु आवश्यकतानुसार उसमें व्यंग्य और सरसता का पुट भी रहता है।

सूत्र रूप में अपनी साहित्य समीक्षा सम्बन्धी प्रयास दिशा का उल्लेख करते समय बाजपेयी जी ने हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी की विज्ञप्ति में लिखा है—"समीक्षा में मेरी निम्नलिखित मुख्य चेष्टाएँ हैं जिनमें क्रमशः ऊपर से नीचे की ओर प्रमुखता कम होती गई है—

१. रचना में कवि की अन्तर्वृत्तियों (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन (Analysis of the poetic spirit)

२. रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन (Aesthetic appreciation)

३. रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्य-अंगों का अध्ययन (Study of technique)

४. समय और समाज तथा उसकी प्रेरणाओं का अध्ययन।

५. कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानस-विश्लेषण)।

६. कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन।

७. काव्य के जीवन सम्बन्धी सामंजस्य और संदेश आदि का अध्ययन।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक हिन्दी साहित्य समीक्षा में वाजपेयी जी का महत्वपूर्ण स्थान है और जैसा कि डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र का मत है—"वाजपेयी जी में हिन्दी समीक्षा की सौष्ठवादी धारा की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है।" हिन्दी आलोचना को उन्होंने जो गतिशीलता प्रदान की है और उसके विकास में अपना महत्वपूर्ण योग दिया है वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णांकित करने योग्य है। कोरे बुद्धिवाद और शास्त्रीय विवेचन की अपेक्षा उन्होंने सहृदय वा भावुक की अन्तःसंज्ञा को अधिक महत्व दिया है। उनकी समीक्षा-पद्धति अभी भी विकासशील है तथा स्थिर नहीं हुई है अतएव आशा है कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी भविष्य में और भी अधिक गौरवपूर्ण कृतियाँ हिन्दी संसार को देंगे।

(राष्ट्रभारती, १९५५)

कवि अंचल का 'विराम चिन्ह'

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने अपनी समीक्षात्मक कृति 'हिंदी साहित्य—बीसवीं शताब्दी में' श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' को नवीन हिन्दी काव्य का क्रांतिदूत मानते हुए उन्हें क्रांति का स्रष्टा भी कहा है। यद्यपि अंचल के सम्बन्ध में वाजपेयी जी के ये विचार आज से बीस वर्ष पुराने हैं जब कि उनकी मधूलिका और अपराजिता नामक दो काव्य-कृतियाँ ही प्रकाशित हुई थीं, परन्तु अंचल को 'क्रांतिदूत' मानना आज भी समीचीन जान पड़ता है। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य में अंचल एक तूफान की भाँति अवतीर्ण हुए हैं। लगभग १९२९-३० से उन्होंने लिखना प्रारंभ किया है तथा मधूलिका, अपराजिता, किरणवेला, करील, लाल चूनर और वर्षान्त के बादल नामक छः संग्रह उनके प्रकाशित हो चुके हैं एवं 'नया देवता' नामक उनका एक संग्रह और भी कहा जाता है। इधर 'विराम चिन्ह' नामक उनका एक नवीनतम काव्य-संग्रह भी प्रकाशित हुआ है जिसमें उनकी इक्यावन कविताएँ संग्रहीत हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि अंचल के काव्य-संग्रह हिन्दी कविता के विकास-क्रम का परिचय देते हैं और उनका अनुशीलन कर हम सहज ही इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि आधुनिक कविता किन विभिन्न धाराओं में प्रवाहित हुई है। यों तो कतिपय विचारकों ने उन्हें प्रयोगवाद से प्रभावित नहीं माना है परन्तु यह कथन अतर्कपूर्ण है। कारण कि अंचल ने भी रूप और सामग्री दोनों को लेकर भाँति-भांति के प्रयोग किए हैं तथा रोती हो, दोपहर की बात, वह मजदूर की अंधी लड़की, मानव की रात, नारी, शाम को, प्रलय-रात, नवयुग की दीवारें आदि कविताओं में काव्यगत नये प्रतीकों, सौन्दर्य-मूल्यों और नयी कल्पनाओं को प्रश्रय मिला है।

यहाँ यह भी स्पष्ट है कि अंचल की कविता के संबंध में जो कुछ लिखा गया है उसमें परस्पर विरोधी भावनाएँ दीख पड़ती हैं। एक ओर तो उन्हें घोर शृंगारी कवि मानते हुए सौंदर्य एवं प्रेम का कुशल चितेरा कहा जाता है तथा दूसरी ओर ऐसे आलोचकों की भी कमी नहीं जो कि उनकी काव्य-कृतियों में प्रगतिशील तत्व खोजने का प्रयास करते हुए उन्हें प्रगतिवादी कवि मानते हैं; परन्तु इन दो विचार-धाराओं के साथ-साथ डॉ० रामकुमार वर्मा जैसे विचारक भी हैं जो कि उन्हें संस्कारों में शाश्वत भावनाओं का कवि मानते हुए उनके सम्बन्ध में कहते हैं—"हिन्दी के आलोचकों ने अंचल को प्रगतिशील कवि के नाम से पुकारा है। मैं तो देखता हूँ कि अंचल आधुनिक रूप में कहलाने वाले प्रगतिशील कवियों से बहुत भिन्न हैं। उनमें मूलतः वे ही प्रेरणाएँ हैं जो स्थायी कवित्व वाले कवि में होती हैं और जिनमें सौंदर्यान्वेषण की, ललित-सृष्टि की, प्रेम और घृणा के शाश्वत भावों की मात्रा यथेष्ट रूप से वर्तमान है। युगकालीन संस्कार भले ही अंचल से दो-चार कविताएँ आधुनिक प्रगतिशील की लिखा लें तथापि इन कविताओं में अंचल की आत्मा उस गहराई से अपने को स्पष्ट नहीं करती जिस गहराई से वह प्रकृति या मानवीय सुख और दुख में प्रकट होती

है।" इन विभिन्न विचारधाराओं से प्रभावित होने के कारण ही हमारे समीक्षक अभी तक अंचल के सम्बन्ध में सर्वमान्य धारणा निर्धारित न कर सके और—आज जब कि अंचल की काव्य-साधना को लगभग उन्तीस-तीस वर्षों का समय व्यतीय हो चुका है तब भी उनके सम्बन्ध में अंतर्धारणाएँ प्रकट करना उपयुक्त नहीं जान पड़ता। आश्चर्य तो इस बात पर है कि अंचल के इस नवीनतम काव्य-संग्रह 'विराम-चिन्ह' के समीक्षकों पर भी उपर्युक्त तीन विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा है और इसका परिणाम यह हुआ कि मेरे एक मित्र ने विराम-चिन्ह की कविताओं को स्वच्छन्दतावादी तथा छायावादी मानते हुए यह प्रतिपादित करना चाहा है कि "कवि का राग-विरागमय सुदृढ़ व्यक्तित्व उक्त सारी कविताओं के भीतर से झलकता दृष्टिगोचर होता है।" संभवतः उन्हें अब यह याद न रहा कि अंचल जी तथाकथित छायावाद को बहुत पीछे छोड़ आए हैं और वास्तव में वे जीवन की प्रत्येक गति, समाज की प्रत्येक क्रिया को अब कविता का विषय मानते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि कोई भी वैयक्तिक या सामाजिक अनुभूति-वर्गगत तथा जातिगत जीवन की कोई भी झलक—कोई भी भावात्मक प्रेरणा काव्य से परे नहीं है और वह जीवन की सुन्दरताओं एवं कुरूपताओं का उद्घाटन करती है। इतना अवश्य है कि अभिव्यक्ति का स्तर कहीं भी न हल्का हो और उसमें रसात्मकता अवश्य विद्यमान हो। कविता में वैयक्तिक अनुभव और सामाजिक या जातीय अनुभव दोनों ही पाए जाते हैं तथा अनुभूति की उच्चभूमि पर पहुँचने पर दोनों का अंगभूत समन्वय हो जाता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही हम अंचल की काव्य-धारा की अंतरात्मा तक पहुँच सकते हैं, क्योंकि उनकी कविता केवल अपनी अभिव्यक्ति की प्रेरणा की पूर्ति का साधनमात्र नहीं है अपितु वह सामाजिक आयोजनों और परिवर्तित होती हुई जीवन-स्थितियों को बल पहुँचाने का एक सशक्त साधन भी है। वस्तुतः कविता में एकमात्र विचार और स्थूल मतवादी मान्यताओं के देने से ही काम नहीं चलता, अपितु उसमें कवि की आंतरिक समन्वयता भी आवश्यक है। इस पीठिका को ध्यान में रख कर यदि हम 'विराम चिन्ह' की कविताओं का अनुशीलन करेंगे—तभी हम अंचल के कविरूप के साथ कुछ न्याय कर सकेंगे।

यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'विराम चिन्ह' की कतिपय कविताओं में भी कवि के अन्तर्गत में स्थित मांसल-लालसाओं की प्रधानता झलकती है और ऐसा प्रतीत होता है कि कवि यौवनगत प्रेम-पिपासा एवम् रूप-लिप्सा का प्राधान्य ही रखना चाहता है। कुछ उदाहरण यहाँ देना असंगत न होगा; देखिए—

मैं शरमाती अपने गालों की लाली में डूबती
मैं बल देती अपने आँचल को दाँतों से दूबती
कोई देख न ले फिर कोई देख न ले लो मैं चली
मेरे तन में कम्प कपूरी तुम भर देते हो छली
तुमको लाज न लगती तुमको होता तनिक विचार नहीं
माँ होती नाराज करेंगे अब हम तुमको प्यार नहीं।

और भी—

है चमकते संगमरमर से तुम्हारे अंग खुल
हों गुँथे ज्यों कुन्तलों में मोतिया मोती मुकुल

है तुम्हारे रूप का साम्राज्य यह अम्बर विपुल
चाँदनी में आज केवल चाँद की बातें करो।
बँध गया सौंदर्य चितवन में तुम्हारी जग मगर
आज तुम जो भी कहो संगीत सा होगा मधुर
नभ पड़ा घनसार का उज्ज्वल चँदोवा तानकर
चाँदनी में आज केवल चाँद की बातें करो।

इतना ही नहीं कवि ने वियोग-शृंगार की वेदनापूर्ण स्मृतियों का चित्रण करते हुए महादेवी और पंत की भाँति जीवन की यथार्थ मार्मिक दशा का उद्घाटन भी किया है—

पहिन लहरिया आज खड़ी होंगी क्या उसी अटारी पर फिर
तुम मेंहदी-रंजित हथेलियों पर रख अपना चिंताकुल सिर
जीवन का समस्त उजड़ापन होगा थके हृदय पर आया
मटियारी पावस-संध्या का धुँधलापन ज्यों सिमट समाया
आती होगी याद तुम्हें भी वे अतीत में डूबी बातें
जिनमें कट जाती थीं बिन सोये कितनी बरसाती रातें
बाहर फूटा करते थे नभ से असंख्य झरनों से बादल
भीतर हेरा करता था मैं अपलक श्रान्त दृगों का काजल

साथ ही कहीं-कहीं यह प्रेम पीड़ा अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुँचकर कवि को विह्वलता की याचनामयी परिस्थितियों में आबद्ध कर उसके मानस में दो बूँद स्नेह की उत्कंठा उत्पन्न कर देती है और वह पुकार उठता है—

एक कण दे दो न मुझको
तृप्ति की मधु मोहिनी का एक कण दे दो न मुझको।

और भी—

दूर करो दुख के भय को सुख का अभिमान हरो
मेरी सुधि-सुधि में अपने सुमिरन की गूँज भरो
मेरे संशय-संशय में जय घोष तुम्हारा हो
मेरी अनियंत्रित गति में संतोष तुम्हारा हो
कब तक मेरा मन अपने को मरु भूमि पर बोये।
कब तक देखें राह तुम्हारी प्राण थके रोये।

और भी—

हमें तो स्नेह के दो बूँद मांगे भी नहीं मिलते

साथ ही कवि को यह सम्पूर्ण विश्व अपने प्रिय प्रकाश से ही दीप्त दिखायी पड़ता है—और प्रेम की इस सर्वव्यापी सत्ता के आधार पर ही उसके हृदय में रहस्यानुभूति जागृत हो उठती है तथा सम्पूर्ण प्रकृति में उसे अपने प्रिय की मधुर छवि ही दृष्टिगोचर होती है—

तुम से कितनी मिलती-जुलती खुले शिशिर की श्याम घटा।
तुम सी नहीं बरसती मुझ पर यह जल की अविराम घटा॥

× × ×

गोरे सपनों की जैसे हो नीली नीली घनी लड़ी।
तुम्हें देखता ही रह जाऊँ मेरी तृष्णा बहुत बड़ी।
पवन रस से मुँह पर आ जाती मेघिल अविराम घटा।
तुमसे कितनी मिलती-जुलती खुले शिशिर की श्याम घटा।।

× × ×

कच्चे रंगों-सा घुल-घुल कर बह जाता मन का मर्मर
दुर्बल मेरे पंख तुम्हारा ऊँचा कितना रूप-शिखर।।
तुम-सी नहीं सोचती यह चातक ने कितना नाम रटा।
तुमसे कितनी मिलती-जुलती खुले शिशिर की श्याम घटा।

इतना ही नहीं कवि ने प्रकृति की मादक, मोहमयी एवम् विषादमयी पृष्ठभूमि का आधार लेकर अपने सूक्ष्म-पर्यवेक्षण एवम् प्रतीक-प्रधान छायावादी वृत्ति का परिचय भी दिया है और साथ ही प्रकृति के माध्यम से दार्शनिक भावनाएँ भी अभिव्यक्त की हैं, जैसे—

चैत गया, तो मधुऋतु का परदेसी सौरभ चला गया
फिर बसन्त का छलिया सौरभ चैत गया तो चला गया
विटपी-विटपी बँधा पड़ी रह गयी मोह के पाश में
यही प्रीति की रीति, गया, जो सुधि उसकी हर साँस में
दो दिन का था चाँद, सजी दो दिन सपनों की चाँदनी
कहाँ उड़ा ले गया पवन रस के बहार की रागिनी

× × ×

खेतों के नीले, कजरारे घाट खड़े उन्मन-उन्मन
नई-नई फसलों के गीले हुए विषादाकुल लोचन
डाली डाली पर रीझा निर्मोही सौरभ चला गया
चैत गया तो बनजारा परदेशी सौरभ चला गया

परन्तु वास्तव में इन कविताओं के आधार पर 'विराम चिह्न' के कवि की भावभूमि पर निश्चित प्रकाश नहीं हो पाता और न हम उसके सम्बन्ध में कुछ स्पष्टतया कह ही सकते हैं क्योंकि सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि सम्पूर्ण काव्य-संग्रह में इस प्रकार की कविताओं की संख्या अधिक न्यून है। साथ ही कवि ने जीवन में संघर्ष और कर्म को ही प्रधान माना है तथा वह विचारधारा से भी युक्त हैं—

मैंने अपनें विश्वासों के बल पर सबसे लड़ी लड़ाई।
चाह नहीं थी मुझको सुख की कभी न मैंने आँख गड़ाई।।
था संकल्पों की आशा से जगमग मेरा हारा जीवन।
शक्ति किसी ने वह दे दी थी, शंकित होता था न कभी मन।।
था अभिशापों में भी अविजित मेरा अन्तर सुख में डूबा।
संतापों के जलते मरु में मैं न कभी क्षण भर को ऊबा।।

वस्तुतः यह अंचल का जीवन-दर्शन ही है और वे जीवन एवम् समाज दोनों को एक

गतिशील शक्ति मानते हैं तथा दोनों के गुणात्मक परिवर्तन पर भी उन्हें पूर्ण आस्था है और साथ ही अपने कर्मपथ पर उन्हें कभी भी थकान या निराशा नहीं होती, देखिए—

तूफानी झंझा में दो पतवार न कभी रुकेंगे,
नौका लहरों से टकराये पाल न कभी झुकेंगे।
कुचल रहा मन के साहस को मेघों का घन-गर्जन।
भरा ध्वंस के अंधियारे में भयकारी आवर्तन॥
भंवरें उल्टी साँस ले रहीं घुटनभरी अकुलाकर।
सब प्रदीप्त नक्षत्र बुझ गये जैसे नभ में जलकर॥
चली आ रही तम की छलनाएँ धीरज पीने को।
लगता है सचमुच लाले पड़ जायेंगे जीने को॥
पर ऐसे में भी मेरे विश्वास न कभी चुकेंगे,
तूफानी झंझा में दो पतवार न कभी रुकेंगे।

कवि का यह स्वस्थ जीवन-दर्शन निश्चय ही उसे प्रगति-पथ पर लिए जा रहा है—और जो विचारक उसे छायावादी काव्य-धारा में अशरीरी सौंदर्य-कल्पना के स्थान पर तृष्णा, लालसा एवम् प्रेम का चित्रण करनेवाला कवि समझकर उसके दृष्टिकोण को क्षयी रोमांस का प्रतीक मानते हैं, उन्हें यह स्मरण रहना चाहिए कि अंचल जी का काव्य वैयक्तिक होते हुए भी सामाजिक दृष्टि की उपेक्षा नहीं करता वरन् मनुज को एक ओजपूर्ण ललकार से जागृत करना चाहता है, अतः उस पर अन्य छायावादी कवियों की भाँति समाज-विमुख होने का दोष नहीं लगाया जा सकता। 'विराम चिह्न' का कवि तो स्पष्टतः यही कहता है—

दलित उत्पीड़ित मनुज सुन ले जरा!
राजपथ की धूल में बिखरे पड़े ये गान,
ओ निराशा से पराजित स्वप्नदर्शी सुन।

× × ×

है यही वह मार्ग तू अब जान ले,
कर अडिग विश्वास अणु-अणु से इसे पहचान ले।
है हमें चलना कि जिस पर
हमें ही क्यों
विश्व को—इतिहास को—भवितव्य को नव-शक्तियों को
है यही वह मार्ग जो जन-एकता की पारदर्शी ज्योति देता
देखता तू आग—भीषण यह दवाग
जल रही धरती युगों की संस्कृति की
कंठ सूखा—कर रही चीत्कार मानवता
जल रहा जिसका तृषित कण-कण
है यही वह मार्ग जो जन-एकता की पारदर्शी ज्योति देता
देखता तू आग—भीषण दवाग

जल रही धरती युगों की संस्कृति की
कंठ सूखा—कर रही चीत्कार मानवता
जल रहा जिसका तृषित कण-कण
आग यह वैसी नहीं जो ध्वंस कर दे शोषणों को
चीर दे जो युग-युगों की कालिमा को—अनय शिखरों को
आग यह मनुष्यत्व को ही जो दहन करता
सभ्यता के प्राण हरती
आ ! चला आ ! भावना हो क्षुद्र या कि विराट
है बुझाना यह लपट—यह दाह का विभ्राट

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि अब समय के साथ-साथ आगे बढ़ रहा है और उसकी कविता में युग की भावनाओं एवं समस्याओं का भी स्पष्टतया चित्रण है। 'विराम चिन्ह' में तुलसीदास, रानी दुर्गावती और बापू संबंधी कविताओं में उसने युगानुकूल अभिव्यक्ति ही की है। इस इक्यावन कविताओं के काव्य-संग्रह की पाँच कविताएँ तो केवल मात्र महात्मा गांधी के प्रति ही विभिन्न शीर्षकों से लिखी गई हैं तथा इसमें कोई संदेह नहीं कि ये विशेष महत्वपूर्ण भी हैं। 'बापू' शीर्षक से लिखी गई तीन कविताओं में तो गांधी जी के जीवनदर्शन का ही चित्रण है और कवि को इस बात का भी अत्यंत क्षोभ है कि मनुष्य कितना नृशंस एवम् निर्भीक है जो कि महात्मा जी ऐसे व्यक्ति का वध कर सकता है—

जो चीर मरण की अंधियारी घर-घर में सुधा-ज्योति भरता
जो हिंसा घृणा और भय से जनजन के हृदय मुक्त करता
जिसकी जीवन धारा प्रतिक्षण सपनों में सत्य कहा करता
मंदिर-मंदिर की प्रतिमा में ईश्वरता को जागृत करती
मानव ही उस पर वार करे ?
नर ही उसका संहार करे ?
जो मरु को जीवन देते हैं दुनिया उनका वध कर जीती !

साथ ही कवि ने 'गांधी जी' शीर्षक कविता में यह भी स्पष्ट कर देना चाहा है कि हम महात्मा जी के बताए हुए मार्गों का अवलम्बन नहीं कर रहे हैं और केवल स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही उनके सिद्धांतों की घोषणा करते हैं तथा अब उनके जाने के साथ ही साथ मालूम होता है कि उनके सिद्धांत भी चले गए—

साथ तुम्हारे सत्य अहिंसा के दो जीवन-भूल गये।
गीत तुम्हारे गाते गाते हम तुमको ही भूल गये।।

इस प्रकार पुस्तक की कविताएँ सप्राण तथा सजीव ही कहीं जाएँगी और अंचल को सौंदर्य-तृष्णा, रूप-लालसा तथा प्रेम-प्यास का संदेश देने वाला 'क्रांतिदूत' समझने वाले विचारक वास्तव में भ्रम के शिकार ही कहे जाएँगे क्योंकि 'विराम चिन्ह' का कवि

जीवन में विश्वास करता हुआ जर्जरता और पुरातनता के विरुद्ध क्रांति का संदेश देनेवाला ही है अतः उसे नूतन अभियान का क्रांतिदूत मानना ही अधिक उचित होगा—

वे दीप बदलने होंगे,
जिनकी ज्योति पुरानी हो आयी।
फूँको तो वे बिजलियाँ जीर्ण,
जिनमें निष्प्राण चमक छायी।
तुम आज बुढ़ापे की रग-रग में,
खून जवानी का भर दो।
तुम नूतन अभियानों से,
ये चिर जर्जर मार्ग बदल डालो।

'विराम चिन्ह' की भावधारा पर विचार करने के उपरान्त जब हम उसके कला-पक्ष पर विचार करने बैठते हैं तब भी हमें कवि की अभिव्यंजन-शैली की सराहना ही करनी पड़ती है। साथ ही पुस्तक का बहिरंग भी अत्यधिक सुन्दर बन पड़ा है और इसमें कोई संदेह नहीं कि इस प्रकार की सुन्दर आकर्षण छपाईवाले कविता-संग्रह इने गिने ही होंगे। इस दृष्टि से भी यह पुस्तक संग्रहणीय कही जा सकती है।

यहाँ यह भी विचारणीय प्रश्न है कि प्रस्तुत कविता संग्रह का नाम 'विराम चिन्ह' क्यों है और कहीं इसका अर्थ यह तो नहीं है कि कवि अब काव्य-क्षेत्र से सर्वदा के लिए विराम लेना चाहता है। यों तो भारतीय शैली में पूर्ण विराम के लिए दो खड़ी पाइयों का चिन्ह व्यवहृत होता है अतः एक पाई केवल अर्ध विराम की ही द्योतक है परन्तु हमें इसका यही लक्ष्यार्थ ग्रहण करना होगा कि कवि ने विराम चिन्ह का नाम रखकर विचारकों को यह स्पष्ट कर देना चाहा है कि वह अब जीवन-संघर्ष के पथ पर अवतीर्ण हो कर्म एवं संघर्ष को ही प्रधानता देना चाहता है और स्वयं उसी के शब्दों में हम भी कह सकते हैं—

रात अभी आधी बाकी है,
मत बुझना मेरे दीपक मन।
चाह चाँदनी की मुरझायी,
छिपा चाँद यौवन का तम में।
आयुरागिनी भी अकुलाती,
रह-रह कर बिछुड़न के भ्रम में।
जलते रहे स्नेह के कण ये,
जब तक जीवन में अँधियारा।
तुम बुझने का नाम न लेना,
जब तक सम्मुख है ध्रुवतारा।
अपने को पी पीकर जीता है,
हो कितना भी सूनापन।

युगधर्म, दीपावली विशेषांक १९५९

रस-ग्रहण

'आँसू' का पहला छंद

"प्रसाद हिन्दी के भावुक कवि और कुशल कलाकार हैं। इसे कोई यदि उनकी एक ही रचना में देखना चाहे तो उसे आँसू की ओर ही इंगित किया जा सकता।"

विनयमोहन शर्मा

पृष्ठभूमि

'आँसू' प्रसाद जी की उल्लेखनीय कृति है और प्रसाद साहित्य में तो उसका निर्विवाद रूप से महत्वपूर्ण स्थान है। डॉ० प्रेमशंकर के शब्दों में "प्रसाद के काव्य-विकास में आँसू का विशेष महत्व है। हिन्दी के विरह-काव्यों की परम्परा का एक नया रूप उसके द्वारा प्रस्तुत हुआ। गीति-काव्य का सम्पूर्ण वैभव उसमें प्राप्त हो जाता है। कलाकार सफल तूलिका से अपनी आंतरिक-पीड़ा का प्रकाशन करते हुए देखा जाता है। किन्तु इस वेदना-दर्शन के द्वारा एक सार्वभौमिक संदेश देता है। कवि के व्यक्तित्व का यह विकास उसके सुनिश्चित भविष्य का सूचक है। व्यक्तिवाद से आरंभ होने वाली वेदनानुभूति मानवता तक चली जाती है। प्रसाद को अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों से सदा युद्ध करते हुए देखा जा सकता है। अन्त में उन्होंने उस पर विजय प्राप्त की। अपने कला-पक्ष में आँसू की भावधारा में मर्म को स्पर्श कर लेने की अद्भुत क्षमता है, जो उसे एक श्रेष्ठ विरह-काव्य की श्रेणी में ले जाती है। छाया-संकेतों तथा सजीव उपमानों के द्वारा नारी का रूपवर्णन कल्पना की विलक्षण प्रतिभा

का परिणाम है। उसमें जीवन का सम्पूर्ण ताप, मादकता और बिडम्बना है, किन्तु सृजन शील कलाकार इन सभी के ऊपर अपने जीवन-दर्शन को प्रतिष्ठित कर देता है। करुणा-कलित हृदय की विकल रागिनी अंत में अपने आँसू 'विश्व-सदन' में बरसा देना चाहती है। एक महान् कवि की भाँति उन्होंने अपने वैयक्तिक पक्ष का उन्नयन किया। आँसू का कवि भाव और कला की दृष्टि से महान कलाकारों के निकट है।"[1]

आँसू का रचनाकाल सन् १९२३-२४ कहा जाता है और उसका पहला संस्करण साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी से सन् १९२५ ई० में प्रकाशित हुआ था पर वह आज के आँसू का दो-तिहाई मात्र था। उसमें कुल एक सौ छब्बीस छन्द थे और मुक्तता इतनी अधिक थी कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल को भी अपनी 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखना पड़ा "सारी पुस्तक का कोई एक समन्वित प्रभाव निष्पन्न नहीं होता।" आठ वर्ष बाद सन् १९३३ में भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग से आँसू का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ और यह पहले संस्करण की तुलना में अत्यधिक परिवर्तित व परिवर्द्धित था। जहाँ कि प्रथम संस्करण में कुल १२६ छंद थे वहाँ द्वितीय संस्करण में छन्द संख्या १९० हो गयी और कवि ने बीच की अवधि में जिन छन्दों की रचना की थी इन्हें भी इसमें जोड़ कर आँसू का आकार लगभग एक तिहाई बढ़ा दिया। साथ ही छन्दों का पिछला क्रम भी बहुत कुछ परिवर्तित हो गया और ऐसा करने से मुक्तक होते हुए भी कृति में एक-सूत्रता व क्रम-बद्धता आ गयी तथा शुक्ल जी का समन्वित प्रभाव निष्पन्न न होने वाला आक्षेप दूर हो गया। इतना ही नहीं पहले संस्करण में वर्तमान व्यथा का ही चित्रण था और ऐसा जान पड़ता था कि मानों उक्त घटना को घटे अभी कुछ ही समय हुआ हो लेकिन दूसरे संस्करण में वे बातें अतीत की स्मृति कही गयीं हैं और कवि ने प्रायः सर्वत्र ही वर्तमान काल के स्थान परभूत कालीन क्रियाओं का प्रयोग किया है इसी प्रकार कवि ने सम्बद्ध परिवर्तन निकटता द्योतक शब्दों के स्थान पर दूरी-द्योतक शब्दों को प्रयुक्त किया है और मध्यम पुरुष सर्वनाम के स्थान पर अन्य पुरुष सर्वनामों का प्रयोग किया है। दूसरे संस्करण में यह विशेषता भी दीख पड़ती है कि कवि ने अब पहले संस्करण के बहुत से छन्दों में शब्दों को परिवर्तित कर अलौकिकता का समावेश करना चाहा है और उसे व्यक्ति के समष्टि या जगत से सम्बद्ध कर दिया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आँसू के प्रथम संस्करण में स्पष्टतः मानव जीवन का ही चित्रण था पर दूसरे में कुछ ऐसे परिवर्तन किए गए हैं कि लौकिकता-अलौकिकता को लेकर कहीं-कहीं भ्रान्ति सी होने लगती है पर इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि इन परिवर्तनों में कवि के मनोवैज्ञानिक विकास के चिह्न स्पष्टतः दीख पड़ते हैं। साथ ही इस दूसरे संस्करण में काव्यगत प्रौढ़ता भी विद्यमान है, अतः हम कह सकते हैं कि आँसू का यह दूसरा संस्करण कवि प्रसाद की काव्य प्रगति का परिचायक है। दूसरे संस्करण के उपरान्त आँसू के जितने भी अन्य संस्करण हुए उनमें कवि ने कोई विशेष परिवर्तन-परिवर्द्धन नहीं किया और छंद संख्या भी एक सौ नब्बे से अधिक न बढ़ने दी।

---

१. प्रसाद का काव्य—डॉ० प्रेमशंकर (पृष्ठ ५६६)

इस एक सौ नब्बे छन्दों वाली गौरवपूर्ण कृति का पहला छन्द यह है—

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकर स्वरों में
वेदना असीम गरजती ?

यहाँ इसी छन्द का व्याख्यात्मक विश्लेषण किया गया है।

संकेत

जैसा कि श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का कहना है "आँसू कवि के जीवन की वास्तविक प्रयोगशाला का आविष्कार है। आँसू में कवि निसंकोच भाव से विलासमय जीवन का वैभव दिखाता उसके अभाव में आँसू बहाना और अन्त में जीवन से समझौता करता है। विलास में जो मद, जो विराट आकर्षण है, उसे कवि उतने ही विराट रूपकों और उपमानों से प्रकट करता है। उसके अभाव में जो वेदना है, वही आँसू बनकर निकली है। इसे आप कवि का आत्म-स्वीकार मान सकते हैं जिससे बढ़कर काव्योपयोगी दूसरी वस्तु है ही नहीं।"[१] इस प्रकार आँसू स्मृतिमूलक विरह-काव्य है और डॉ० श्रीकृष्ण लाल के शब्दों में "आँसू के सम्पूर्ण काव्य के अन्तर में वेदना की एक लहर सी दिखाई पड़ती है।"[२] इसीलिए आँसू के प्रथम छंद में ही कवि अपने विगत सुखों की स्मृति कर अपने व्यथापूर्ण वर्तमान पद पर दृष्टि डाल रहा है और इस पहले छंद से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का हृदय कितना दुःखी है। इन पंक्तियों में वह अपने मर्मस्थल से उठने वाली वेदना से प्रश्न कर रहा है।

अर्थ-विश्लेषण

कवि का कहता है कि मेरे इस करुणापूर्ण हृदय में अब व्याकुल रागिनी सी बज रही है अर्थात् करुणासिक्त मानस में दुःखों के गीत रह-रह कर गूँज उठते हैं। कवि कह रहा है कि मेरा मन आज एक प्रकार की असीम वेदना से पूर्ण है और वह असीम वेदना अब अत्यन्त भीषण हाहाकारपूर्ण स्वरों में गरजती हुई मुझे अत्यधिक व्यथित कर रही है। कवि को वेदना की यह अधिकता देखकर स्वाभाविक ही आश्चर्य हो रहा है और वह स्वयं यह समझ नहीं पा रहा है कि उसके हृदय को किसी असीमित व्यथा की हाहाकार ध्वनि ने क्यों मुखरित कर दिया है ?

अन्य विशेषताएँ

प्रस्तुत छंद में कवि ने सार्थक शब्द-योजना पर पूर्ण ध्यान रखा है और जैसा कि महाभाष्यकार का कहना है "**एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठुप्रयुक्तः स्वर्गलोके च काम धुक भवति**" अर्थात् एक शब्द को भी यदि सम्यक प्रकार से समझ कर सुन्दर ढंग से प्रयुक्त किया जाय तो उससे मर्त्य और स्वर्गलोक में वांछित फल की प्राप्ति होती है अतः प्रत्येक सत्कवि को

---

[१] जयशंकर प्रसाद—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी (पृष्ठ ६६-६७)

[२] आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डॉ० श्रीकृष्ण लाल (पृष्ठ ११५)

शब्दचयन पर अवश्य ध्यान देना चाहिए और शब्द तो उसके लिए प्रसाद या धातु के सदृश हैं जिन्हें वह अपनी सूझ, पहचान, काट-छाँट और परिवर्तन द्वारा सजीव बना देता है। इस प्रकार प्रस्तुत छन्द में शब्दचयन पर पूर्ण ध्यान दिया गया है और सार्थक व माधुर्यपूर्ण शब्दावली ही इन पंक्तियों में है। इसीलिए इस छंद में 'अब' शब्द पर कवि ने विशेष जोर दिया है और उसके ऐसा करने का अभिप्राय यह है कि वह इस शब्द के प्रयोग द्वारा यह स्पष्ट कर देना चाहता है कि उसका विगत जीवन सुखपूर्ण था और विरह के इन कारुणिक क्षणों को उसे अभी ही झेलना पड़ रहा है।

.साथ ही प्रस्तुत पंक्तियाँ स्वाभाविकता से ओत-प्रोत हैं और उनमें भाषा-शैली का निखरा हुआ रूप भी दृष्टिगोचर होता है। रिचार्डस (I. A. Richards) ने कविता की भाषा के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है—

The distinction which needs to be kept clear does not set up fictions in opposition to veritable truths in the scientific sense. A statement may be used for the sake of the reference, true or false, which it causes. This is the scientific use of language. But it may also be used for the sake of the effects in emotions and attitude produced by the reference at occasions. This is the emotive use of language. The distinction once clearly grasped is simple. We may either use words for the sake of the references they promote or we may use them for sake of the attitudes and emotions which ensue."[1] यह कथनं प्रसाद की भाषा शैली के सम्बन्ध में पूर्णतः सार्थक सिद्ध होता है और हम देखते हैं कि वह रसानुकूल भाषा के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं आँसू का यह छंद उदाहरण रूप में प्रस्तुत क्रिया जा सकता है।

वस्तुतः "आँसू प्रसाद की कला का उत्कृष्ट नमूना है"[२] और जैसा कि डॉ० नगेन्द्र का कहना है कि "प्रसाद जी .... स्रष्टा हैं, वे मौलिक कलाकार हैं, दूसरों के निर्दिष्ट पथ पर चलना उन्हें कभी पसन्द नहीं आया और प्रारंभ से उन्होंने अपनी सृजनात्मक कल्पना अंतर्ग्राहिणी भावुकता और रंगीन दृष्टि द्वारा अपना एक नवीन पथ निर्माण किया है। उनकी कला, उनकी शैली अपनी ही है।"[३] यह अत्युक्ति नहीं है कि "प्रसाद जी ने हिन्दी साहित्य में छायावाद का द्वार खोला और उन्हीं के पवित्र हाथों सभी प्रमुख प्रवृत्तियों का चूड़ान्त निदर्शन भी हो गया"[४] अतः उनकी काव्य-कृति आँसू की गणना भी छायावादी काव्य धारा के अंतर्गत ही होगी और यदि हम यह कहें कि छायावादी कविता के कलापक्ष का प्रौढ़ व परिष्कृत

---

1. Principle of Literary criticism—I. A. Richards; Page 267
२. नया हिन्दी साहत्य : एक दृष्टि—प्रो० प्रकाश चन्द्र गुप्त (पृ० ३१)
३. प्रसाद जी की कला—सम्पादक डॉ० गुलाब राय (पृ० ३७)
४. छायावाद के गौरव चिन्ह—प्रो० क्षेम (पृ० १४५)

रूप आँसू में मिलता है तो कोई अत्युक्ति न होगी। डॉ० विनय मोहन शर्मा के शब्दों में "आँसू में शब्दों की लक्षणाशक्ति से विशेष काम लिया गया है। उसमें हमारे परिचित सृष्टि के सादृश्य और साधर्म्य व्यापारों के साम्य दिये गये हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि कवि ने 'सार्वभौमिक प्रतीकों को अधिक अपनाया है'--जैसे सुख-दुख के लिए कलियों, लहर आदि के प्रभाव साम्य मिलते हैं। प्रथम पद ही प्रतीक और लक्षणा के साथ प्रवाहित होता है—

इस करुणा कलित हृदय में,
अब विकल रागिनी बजती।

में 'रागिनी' लक्षक शब्द है। हृदय ऐसी चीज नहीं है, जिसमें 'तार' लगे हों और किसी की अंगुलियों के चलने से राग निकलें। अतएव जब वाच्यार्थ से अभिलषित अर्थ असंभव हो जाता है तब हमें लक्षणा-शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। 'रागिनी' से दुख का पैदा होना अर्थ लेंगे। 'रागिनी' स्वर का, उसाँस का प्रतीक है। इसी प्रकार 'वेदना असीम गरजती' में 'वेदना' कोई शेर नहीं है जो गरजे। अत: लक्षणा से हमें वेदना की अत्यधिक तीव्रता का अर्थ ग्रहण करना पड़ता है।"[1] इस प्रकार भाव सौंदर्य और कलागत विशिष्टताओं दोनों ही दृष्टियों से यह छंद उत्कृष्ट है।

टिप्पणी

वस्तुत: हिन्दी साहित्य में 'छायावाद युग के कवियों में वेदना का स्वर बहुत ही ऊँचा है। यह वेदना कई रूपों में दिखलाई पड़ती है।"[2] अत: आँसू कवि की आत्माभिव्यक्ति ही है और उसमें वियोग-श्रृंगार का वर्णन ही मुख्य है तथा स्वयं कवि ने उसकी भूमिका पहले ही बाँध दी है—

जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति सी छाई
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई

इससे यह स्पष्ट है कि प्रसाद का आँसू अतीत की स्मृतियों का संकलन है और कवि स्वयं अपनी कृति को 'घनीभूत पीड़ा' का मस्तक में स्मृति-सी बनकर दुर्दिन में बरसना मानता है। इसीलिए आँसू के इस पहले छन्द में ही कवि की वेदना के असीम सागर की गरज सुनाई पड़ती है और कवि ने इन पंक्तियों में वेदना का उत्तरोत्तर विकास दिखाने का सफल प्रयास किया है।

तुलनात्मक दृष्टि

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं प्रसाद का आँसू आत्माभिव्यक्ति ही है और वास्तव में प्रसाद के सभी श्रेष्ठ कलाकारों की प्रतिभा के पीछे कोई ऐसी घटना अवश्य होती है जो

---

[1] कवि प्रसाद, आँसू तथा अन्य कृतियाँ—डॉ० विनयमोहन शर्मा (पृ० ९७)
[2] छायावाद युग—डॉ० शंभूनाथ सिंह (पृ० १०२)

उनके द्वारा अमर कलाकृतियाँ दे जाती है। लाँग फेलो (Long Fellow) ने एक स्थान पर लिखा भी है—

Into each life some rain must fall
Some days must be dark and dreary.

शेली (Shelly) को तो सांसारिक सुख-वैभव में केवल अपनी आत्मा ही वेदना से छटपटाती जान पड़ती है और उसने Stanzas written in dejection में कहा भी है—

Smiling they live and call life pleasure
To me this cup has been dealt with another measure.

साथ ही शेली ने यह भी कहा है—

Our sweetest songs are those
That tell of suddest thoughts

इसी प्रकार टेनीसन (Tennyson) ने भी अश्रुओं के लिए कहा है—

Tears, ideal tears, I know not what they mean,
Tears, from the depth of some divine despair
Rise in the heart, and gather to the eyes
In looking on the happy autumn fields.
And thinking of the days that are no more.

पाश्चात्य काव्य-साहित्य में ही नहीं अपितु संस्कृत व हिंदी काव्य-धारा में कविता व वेदना का सम्बन्ध प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ—

मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेक मवधीः काम मोहितम् ॥

—वाल्मीकि

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानादत्वा,
भा कौलीनाच्चकितनयने मयुपविश्वासिनी भू,
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभागा,
दिष्टे वस्तुत्यु पचित रसा प्रेम राशी भवन्ति।

—कालिदास

सूरदास ने तो विरह को ही प्रेम की पुट मानते हुए कहा है—

ऊधौ विरहौ प्रेमु करे।
ज्यों विनु पुट पट गहत न रंगाहिं पुट गहि रसहि परै ॥
ज्यों धर देह बीज अंकुर चिरि तौ सत फरति करै।
ज्यों आवों घट दहत अनल तन तो पुनि अमिय भरै ॥

ज्यों रन सूर सहत सर सन्मुख तौ रवि रथहिं सरै।
सूर गोपाल प्रेम-पथ चलि कै कोऊ न दुखहिं डरै॥

श्री सुमित्रानंदन पंत को तो विरह वरदान ही जान पड़ता है और उन्होंने कहा भी है—

विरह है अथवा यह वरदान,
कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता सिसकता गान है।
शून्य आहों में सुरीले छंद हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है।
वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
वही होगी कविता अनजान॥

अलंकार

रूपक और मानवीकरण।

(जून १९६०)

विविध

तमिल-प्रदेश के प्राचीन बारह वैष्णव-भक्तों पर एक दृष्टि

यह तो सर्वमान्य-सा है कि तमिल-प्रदेश के बारह आळवार भक्तों में क्रम की दृष्टि से पोयगै **आळवार, भूतत्ताळवार** और **पेआळवार** नामक तीन भक्त अत्यन्त प्राचीन हैं। बहुत से विद्वानों ने तो इन तीनों को समसामयिक भी माना है, और कहा जाता है कि इन तीनों में से प्रत्येक ने सौ-सौ पदों की रचना की है तथा वे तीन सौ पद जिन्हें कि ऋग्वेद का सार भी समझा जाता है, 'प्रबन्धम्' में क्रमशः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान पर 'तिरुबदादी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पोयगै आळवार ने, जिन्हें कि प्वायगई आळवार भी कहा जाता है, कुछ अन्य पदों की भी रचना की है, जिनमें प्रसिद्ध 'कुरल' के सदृश नीति आदि विषयों की भी चर्चा है और उनके ये पद 'इन्निलई' में संगृहीत हैं। पोयगै आलवार को पांचजन्य का अवतार समझा जाता है, और उनके विषय में कहा जाता है कि वे कांचीनगर में, जो कि उन दिनों विद्या का एक प्रमुख केन्द्र था, स्थित एक विष्णुमंदिर के समीपवर्ती किसी सरोवर में एक कमल पुष्प पर उत्पन्न हुए थे। भूतत्तालवार के विषय में जिन्हें भगवान विष्णु की गदा का अवतार माना जाता है, महाबलीपुरम् में एक पुष्प से प्रकट होने की कथा प्रसिद्ध है और इसी प्रकार पेआलवार के विषय में भी, जिन्हें कि भगवान के खड्ग का अवतार कहा जाता है प्रचलित है कि वे मद्रास में मैलापुर नामक स्थान में किसी कुएँ में एक लाल कमल के फूल से प्रकट हुए थे। कहा जाता है कि तीनों, जन्म से ही सन्त, पवित्र एवं निष्कलंक, ज्ञान के अपूर्व भंडार, पराविद्या में निष्णात और भगवद्-अनुरागी थे तथा उन्हें धन, मान अथवा कीर्ति का तनिक

भी मोह न था। ये तीनों आळवार संत समसामयिक समझे जाते हैं और उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक दिन ये तीनों संत तिरुक्कोईलूर नामक क्षेत्र में अचानक ही आ मिले। इसके पूर्व ये तीनों एक दूसरे से परिचित न थे। कहते हैं कि भारी वृष्टि होने के कारण अँधेरी रात में उस क्षेत्र में एक छोटी-सी कुटिया में पोयगै आळवार अँधेरे में ही लेटे हुए भगवान का ध्यान कर रहे थे कि बाहर से किसी ने आवाज देकर आश्रय माँगा और उन्होंने उसे यह कहते हुए कि इस कुटिया में इतना स्थान है कि एक व्यक्ति प्रसन्नता के साथ विश्राम कर सकता है तथा दो बैठ सकते हैं। उसे अन्दर आने दिया और उसके साथ आध्यात्मिक चर्चा करते रहे। कुछ समय उपरान्त पुनः एक व्यक्ति आया और अब तीनों ही खड़े होकर भगवान का ध्यान करने लगे कि अचानक उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि उनके मध्य कोई अन्य व्यक्ति भी उपस्थित है और वे सोचने लगे कि वस्तुतः यह चौथा व्यक्ति कौन है। उन्हें ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो गया कि स्वयम् साक्षात् भगवान् विष्णु ही उनके मध्य उपस्थित हैं और तत्क्षण दिव्यालोक-सा उस कुटी में छा गया, तथा तीनों ही उनका दर्शन प्राप्त कर आनन्द से मुग्ध हो गये। भगवान विष्णु ने उनसे वर माँगने के लिए कहा, लेकिन तीनों एक साथ उनके चरण-कमल पर गिर पड़े, और यह प्रार्थना करने लगे कि हमसे कभी भी आपका गुणगान विस्मरण न हो, और हम हमेशा आपका ध्यान करते रहें, आप यही वरदान हमें दें। उनकी इस अटूट भक्ति से भगवान भी प्रभावित हुए तथा उन्होंने कहा कि "मेरे प्यारे भक्तो, तुमने तो इस प्रकार मुझे अपने प्रेमपाश में बाँध रखा है कि मैं तुम्हारे हृदय को तज कर कहीं जा ही नहीं सकता। अब तुम मेरे प्रेम का महत्त्व सभी को बतलाओ और इस लोक का कार्य समाप्त होते ही वैकुण्ठ को चले आना। कहते हैं, उसी समय इन तीनों आळवार भक्तों ने सौ-सौ पद रच डाले जो कि 'ज्ञान-प्रदीप' नाम से प्रसिद्ध हैं और उनमें सर्वत्र ही इस प्रकार की चिन्तन-शीलता दृष्टिगोचर होती है--"भगवान् के सदृश अन्य कोई वस्तु सृष्टि में नहीं है। समस्त रूप उसके हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, दिशाएँ, नक्षत्र एवम् ग्रह, वेद और उनका अभिप्राय सब कुछ वे ही हैं, अतः उन्हीं के चरणों की शरण लेनी चाहिए क्योंकि मनुष्य-जन्म की सार्थकता इसी में है। वे एक होते हुए भी अनेक बने हुए हैं। उन्हीं का नामोच्चारण करना चाहिए। व्यक्ति धन से सुखी नहीं हो सकता केवल उनकी कृपा से ही रक्षा हो सकती है। वे ही ज्ञान हैं; ज्ञेय हैं और ज्ञान के द्वार भी हैं। उन्हीं के तत्व को समझो। इधर-उधर भटकते हुए मन एवम् इंद्रियों को अधिकार में रख एकमात्र उन्हीं की कामना कर उन्हीं की अनन्य भाव से उपासना करनी चाहिए। वे अपने भक्तों के हेतु साकार रूप भी धारण करते हैं।"

दक्षिण भारत में तिरुमलिसई (महीसरपुर) नामक एक प्रसिद्ध तीर्थ है जहाँ कई तपस्वियों ने तपस्या की है और उन्हीं में भार्गव नामक एक अनन्य विष्णोपासक भक्त भी थे, जिनकी पत्नी का नाम कनकावली था जो कि स्वयं भी उन्हें तपस्या में सहयोग देती थी। तीनों प्राचीन आळवार भक्तों के तीन महीने पश्चात् उक्त दम्पति को एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो कि तिरुमलिसई में जन्म लेने के कारण तिरुमलिसई कहलाया। कहा जाता है कि इनके माता-पिता ने पैदा होते ही इन्हें सरकंडों के जंगल में छोड़ दिया था, जहाँ स्वयं महालक्ष्मी ने उन्हें अपना दुग्धपान कराया। संयोग से तिरुवाइन् नामक व्याध तथा उसकी पत्नी पंकजवल्ली दोनों

ही उधर से आ निकले और जैसे ही उनकी दृष्टि इस पर पड़ी वे इसे भगवान् की देन समझ कर अपने घर ले आये, चूँकि उनके कोई सन्तान न थी अतः उन्होंने इनका पालन-पोषण अपने पुत्र के समान ही किया और उनका नाम भक्तिसार रखा। कहा जाता है कि बाल्यावस्था में वे कभी भी किसी स्त्री का का स्तन-पान नहीं करते थे, अतएव एक वृद्ध पुरुष यह समझ कर कि हो-न-हो यह कोई असाधारण बालक है, उन्हें गाय का दूध पिलाने लगे, और उनके दुग्ध-पान करने के पश्चात् जो दूध उस पात्र में अवशिष्ट रह जाता उसे वे और उनकी पत्नी दोनों ही प्रसाद समझ कर पी जाते। कुछ दिनों बाद उन्हें भी कन्निकान् नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो आगे चल कर भक्ति-सार का प्रधान शिष्य कहलाया, लेकिन जे० एस० एम० हूपर का विचार है कि "इस आलवार की उत्पत्ति कैकेसी ऋषि एवं अप्सरा के संयोग से हुई थी और माता के परित्याग कर देने के फलस्वरूप उसे किसी निम्नकुलोत्पन्न व्यक्ति ने अपना लिया था तथा ये फिर सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहे।"[1] परन्तु हूपर महोदय का यह कथन सर्वमान्य नहीं है, क्योंकि स्वयं तिरुमलिसइ ने ही एक पद में लिखा है, "मेरा जन्म किसी द्विजाति कुल में नहीं हुआ था और न मैं चारों वेदों का ज्ञाता ही हूँ, मैंने तो अपनी इंद्रियों पर विजय प्राप्त की है और इसलिए हे परमपिता, अब मुझे तुम्हारे आलोकपूर्ण चरणों के अतिरिक्त अन्य कोई अवलम्ब नहीं है।" कहा जाता है कि इन्हें तथा इनके शिष्य कनिकन्नम् दोनों को किसी पल्लव-वंशीय राजा ने देश-निकाले का दंड दिया था, तब से ये चिदम्बरम्, कुम्बकोनम् आदि स्थानों में प्रवास करते रहे और अंत में उनकी मृत्यु कुम्बकोनम् में ही हुई। वस्तुतः तिरुमलिसई अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे और अपनी अल्पायु में ही उन्होंने समस्त धार्मिक ग्रंथों का अनुशीलन कर लिया था तथा वेदान्तदर्शन, मीमांसादर्शन, बौद्धदर्शन एवम् जैन दर्शन सभी का अध्ययन किया था लेकिन भगवान विष्णु की शरण में जाने पर ही उन्हें परमानन्द प्राप्त हुआ। यह भी कहा जाता है कि एक बार गजेन्द्र सरोवर के तट पर उन्होंने कई वर्षों तक ध्यान योग का अभ्यास किया तब एक दिन देवता उनके समीप आये और उनसे वर माँगने के लिए कहने लगे तो उन्होंने उस देवता से कहा कि "क्या आप हमें मुक्ति दे सकते हैं ?" देवता ने कहा, "नहीं"। तब इन्होंने पूछा, "तो क्या आप किसी की मृत्यु टाल सकते हैं ?" तो देवता ने पुनः कहा, "नहीं।" इस बात पर उन्होंने उक्त देवता से कहा कि "फिर आप क्या कर सकते हैं ?" इस पर वह देवता चला गया। कहा जाता है कि इनमें गर्व छू भी न गया था और यद्यपि इस समय इनके कुल मिला कर लगभग दो सौ से अधिक पद उपलब्ध होते हैं लेकिन इनके द्वारा रचित पदों से जब इनकी प्रसिद्ध बढ़ने लगी तो उन्होंने एक दिन स्वयं ही अपनी सभी पोथियाँ कावेरी नदी में डाल दीं जिससे कि सभी पोथियाँ सरिता के प्रवाह में बह गयीं, केवल दो पुस्तकें प्रवाह के साथ प्रवाहित न हो कर अपने आप किनारे की ओर लौट आयीं। तिरुमलिसई के उपदेशों का एक उदाहरण देखिए—"मुक्ति वस्तुतः भगवत्कृपा द्वारा ही प्राप्त होती है और उसी की कृपा से मनुष्य भी अजेय हो जाता है। भगवत्प्रेम ही मनुष्य के हेतु सर्वाधिक मूल्यवान् सम्पत्ति है। भगवान् ही वेदों के सार हैं।....ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीनों ही वही हैं। नारायण ही सब कुछ है तथा वे ही हमारे सर्वस्व हैं।"

---

[1] —हिम्स आफ दि आळ्वार्स—जे० ए० एम० हूपर (पृष्ठ १२)

आळवार भक्तों के क्रम में पाँचवाँ, लेकिन मध्यवर्ती आळवारों में सर्व प्रथम स्थान नम्म आळवार का है जिन्हें कि शठकोपाचार्य भी कहा जाता है और और जो वस्तुतः इन सभी कवियों में प्रसिद्ध रहे हैं। तमिल साहित्य में सर्वाधिक चर्चा भी उन्हीं पर हुई है परन्तु उनके जीवन-वृत्तान्त का अभी तक कुछ भी ठीक-ठीक पता नहीं चला। नम्म आळवार का शाब्दिक अर्थ हमारा आळवार होता है और साथ ही वे शठकोपन तथा मारन् के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार अन्य आळवार-भक्तों को भगवान के आयुध-विशेष या आभूषण-विशेष का अवतार समझा जाता है, उसी प्रकार उन्हें भी विष्वक् सेना का अवतार माना गया है। नम्म आळवार के पिता का नाम कारिमारन् था और कहते हैं वे पाण्डचदेश के राजा के यहाँ किसी ऊंचे पद पर थे तथा आगे चल कर तो कुरुगैनाड नामक एक छोटे राज्य के राजा ही हो गये। कुरुगैनाडु पाण्डचदेश के अधीन था। गुरु परम्परा के अनुसार इनके पिता कारियार की जाति वेल्लाल प्रतीत होती है और यह भी कहा जाता है कि वे अपने गाँव के मुखिया थे। अनुमानतः नम्म आळवार का जन्म तिन्नेवेल्ली जिले में ताम्रपर्ण नदी के तटपर अवस्थित कुरुकूल नामक नगर में (जिसे तिरुक्कुरुकूर भी कहा जाता है) हुआ था। कुछ विद्वानों ने इनका समय ईस्वी सन् की पाँचवीं शताब्दी, कुछ ने दसवीं या ग्यारहवीं और कुछ ने श्री गोपी नाथ राव आनमेले के शिलालेख से उनका समय नवीं शताब्दी कहा है, लेकिन श्री बी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार उनका समय सातवीं शताब्दी मानते हैं और उन्होंने वेल्लिकुंड के दान-पत्र का आधार भी लिया है[1]; परन्तु श्री कृष्णस्वामी अय्यंगार ने इनका समय छठी शताब्दी माना है। नम्म आळवार के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि जन्म के उपरान्त दस दिनों तक न तो इन्होंने अपनी आँखें ही खोलीं और न अपनी माता का दुग्धपान ही किया ; अतएव इनके माता-पिता बारहवें दिन इन्हें लेकर स्थानीय विष्णु-मंदिर में किसी इमली के वृक्ष के तले या उसके कोटर में डाल आये; जहाँ कि बालक नम्म सोलह वर्ष की अवस्था तक उसी प्रकार पड़े रहे और विष्णु भगवान ने ही उनकी रक्षा की। उस कोटर में योग की प्रक्रिया से ध्यान और भगवान के साक्षात्कार में ही वे सर्वदा लीन रहते, और इस प्रकार इनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई। सोलहवें वर्ष की आयु में नम्म आळवार के पास तिरोक्कूलर या तिरुक्वोलूर गाँव के एक सामवेदी ब्राह्मण आये जो कि स्वयं मधुर कवि के नाम से विख्यात थे और आगे चल कर आळवार भक्तों की परम्परा में जिनको उल्लेखनीय स्थान भी दिया गया। कहा जाता है कि वे वेदादि का सांगोपांग अध्ययन कर मधुर कवि उत्तरी भारत का देशाटन करते-करते जब अयोध्या पहुँचे तो अचानक दक्षिण की ओर दृष्टि फेरते ही उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई दिव्य ज्योति-स्तम्भ दक्षिण में विद्यमान हो। अतः वे वापस लौट कर चलते-चलते उसी इमली के वृक्ष के पास पहुँचे जहाँ कि नम्म साधना में मग्न थे तथा उनके शरीर से ज्योति निकल रही थी। प्रारम्भ में थोड़ी देर तक आध्यात्मिक चर्चा करने के उपरान्त ही मधुर कवि उनसे प्रभावित हो गये तथा उनका शिष्यत्व भी ग्रहण कर लिया। उस आध्यात्मिक चर्चा में ही अचानक नम्म के मुख से धाराप्रवाह पद निःसृत होने लगे तथा मधुर

---

[1] Studies in Tamil Literature and History—श्री बी० आर० रामचंद्र दीक्षित
(Second Edition, Page 101-105)

कवि इन पदों को यथाक्रम लिपिबद्ध करते गये और वे ही अभी तक 'नम्म आळवार' के नाम से प्रसिद्ध भी हैं। कहा जाता है कि नम्म आळवार केवल पैंतीस वर्ष की अवस्था तक इस मृत्यु-लोक में रहे तथा इसके पश्चात उन्होंने अपने भौतिक शरीर को त्याग दिया लेकिन इन पैंतीस वर्षों के संक्षिप्त काल में ही उन्होंने कई ग्रंथों का सृजन किया है जोकि वस्तुत: अत्यंत विचार-पूर्ण, गंभीर एवम् भगवत्प्रेरित प्रतीत होते हैं। तिरुविरुत्तम, तिरुवारीरियम्, पेरियतिरुवंताति और तिरुवायमालि इनके चार प्रसिद्ध ग्रंथ हैं जोकि वस्तुत: चारों वेदों के तुल्य समझे जाते हैं और इनमें संगृहीत तेरह सहस्र पद पूरे के पूरे 'प्रबन्धम्' में संगृहीत हैं तथा उनमें से 'तिरुवायमालि' को उक्त प्रबंधम् में चतुर्थ स्थान देकर उसे विशेष महत्व दिया गया है। उसके दश दशकों में वस्तुत: हजार से अधिक पद हैं, तथा उनके कई पद देवालयों एवम् धार्मिक उत्सवों में बड़े ही प्रेम के साथ गाये जाते हैं। उनके पाठ को उतना ही महत्व दिया जाता है जितना कि वेदाध्ययन और वेद-पाठ को। वस्तुत: नम्म आळवार के ग्रंथों में श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं का ही अंकन है और श्री हरि को नायक तथा स्वयं को नायिका मान कर ही इन पदों की रचना की गयी है। बहुत से विद्वान उनके पदों को सामवेद का सार मानते हैं तथा कहा जाता है कि जब ये पद तमिल संघ के सामने पढ़े गये तो संघ के समस्त सदस्य मंत्रमुग्ध-से रह गये। तमिल भाषा के प्रसिद्ध कवि कम्बत् ने जब तमिल रामायण की रचना कर उस ग्रंथ को सर्वप्रथम भगवान श्री रंगनाथ के चरण-कमलों में अर्पित किया तो मूर्ति में से आवाज आयी कि क्या तुमने शठकोप का चरित्र भी अंकित किया है? तो कम्बत् ने कहा, "नहीं प्रभो, मुझे क्षमा करिये। अब मैं अवश्य ही आप की आज्ञा का पालन करूंगा।" और इसके पश्चात ही उन्होंने उस रामायण के प्रारंभ में नम्म आळवार की प्रार्थना भी जोड़ दी तथा तमिल संघ के विद्वान के सामने नम्म आळवार की प्रशंसा करते हुए कहा,—"क्या विश्व के समस्त काव्य-संग्रह नम्म आळवार के एक शब्द की भी समकक्षता कर सकते हैं? क्या मच्छर गरुण का मुकाबला कर सकता है? क्या खद्योत भुवन-भस्कर के सामने चमक सकते हैं? क्या श्वान सिंह के सामने कुछ बोल सकता है? क्या चुड़ैल उर्वशी के सामने अपना सिर ऊँचा उठा सकती हैं?" कहते हैं जब नम्म आळवार ने भगवान रंगनाथ के सामने अपने पद गाये तब मूर्ति में से यह आवाज आयी "यही हमारे आळवार हैं।" कहा जाता है कि वे पैंतीस वर्ष तक राधा-भाव से ही उपासना करते रहे और सर्वदा अपने इस देव का साक्षात्कार कर सुख प्राप्त करते रहे।

यह तो कहा ही जा चुका है कि मधुर कवि नम्म आळवार के शिष्य थे तथा उन्होंने उनके पदों को लिपिबद्ध भी किया था। मधुर कवि का जन्म तिरुकोल्लूर नामक स्थान में एक सामवेदी ब्राह्मण के यहाँ हुआ था तथा उन्हें गरुण का अवतार माना जाता है। कहा जाता है कि इन्होंने वेदों का भली-भाँति अध्ययन किया था लेकिन यह सोचकर कि प्रेम और भक्ति के बिना विद्या का कोई महत्व नहीं है, वे अकेले ही तीर्थ यात्रा को निकल पड़े। जब वे मथुरा, काशी आदि अनेक तीर्थों में घूमते हुए अयोध्या पहुँचे तो उन्हें दक्षिण की ओर एक दिव्यालोक-सा दृष्टिगोचर हुआ और वह प्रकाश उन्हें तीन दिनों तक दिखाई देता रहा। वे उस प्रकाश की ओर आकर्षित हो गये कि उसका साक्षात्कार करने के हेतु दक्षिण की ओर बहुत दूर चले गये तथा कुरुकुर पहुँचे, जहाँ कि उन्होंने एक मंदिर के समीप इमली के एक

वृक्ष के कोटर में समाधिस्थ नम्म आळवार को देखा और वे उनके व्यक्तित्व से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने उनसे संभाषण करना चाहा लेकिन कई बार आवाज देने तथा ताली बजाने पर भी नम्म आळवार की समाधि न टूटी तब इन्होंने एक पत्थर उठा कर धरती पर जोर से पटक दिया। परन्तु इतने पर भी नम्म आळवार प्रकृतिस्थ बैठे रहे और तब मधुर कवि उस कोटर के समीप पहुँच कर करतल-बद्ध होकर कहने लगे कि "महाराज, मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ, वह यह कि यदि सत् पदार्थ (सूक्ष्म चेतना शक्ति) असत् (जड़ प्रकृति) के अंदर प्रविष्ट हो जाता है तो वह क्या खायेगा तथा कहाँ विश्राम करेगा? तब नम्म आळवार ने आँखें खोलीं और कहा कि "वह उसी का आहार करेगा तथा वहीं पर विश्राम भी करेगा?" वस्तुतः इसका अभिप्राय यह था कि सूक्ष्म आत्मा मानस के अंतस्थल में अवस्थित रह कर भी द्रष्टा रूप से प्राकृतिक कर्मों का उपयोग और साथ ही प्राकृतिक क्रीडाओं का भी आनन्द क्षेत्रज-रूप में ले सकती है। मधुर कवि ने नम्म आळवार का शिष्यत्व ग्रहण किया तथा सर्वदा उन्हीं के चरणों से प्रेम करना अपना ध्येय समझा। उन्होंने केवल दस पदों का सृजन किया है तथा उनमें भी अधिकांश पद ऐसे हैं, जिनमें अपने गुरु नम्म आळवार की ही प्रशंसा की गयी है।

वैष्णव गुरु-परम्परा में कुलशेखर को भगवान् विष्णु के वक्षस्थल की कौस्तुभ मणि का अवतार समझा जाता है और अंतः साक्ष्यों तथा बहिर्साक्षियों दोनों के आधार पर इनके जीवनवृत्त के विषय में विभिन्न मत प्रचलित हैं। अतः इस प्रकार डॉ० भंडारकर ने इनका समय बारहवीं शताब्दी माना है, परन्तु श्री कृष्णस्वामी अय्यंगार ने प्रमाण-सहित यह सिद्ध कर दिया है कि उनका समय छठी शताब्दी ही है। कौल्लिनगर (केरल) के, जिसे कि क्विलन भी कहा जाता है, राजा दृढ़व्रत के यहाँ द्वादशी के दिन पुनर्वसु नक्षत्र में इनका जन्म हुआ था और कहा जाता है कि इनके पिता ने पुत्र-प्राप्ति के हेतु तपस्या भी की थी। विद्या. ज्ञान और भक्ति के वातावरण में संवर्धित कुलशेखर ने बहुत शीघ्र संस्कृत और तमिल साहित्य में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली तथा उन दोनों भाषाओं के समस्त प्राचीन ग्रंथों का अनुशीलन भी कर डाला और साथ ही चौंसठ कलाओं में भी पारंगत हो गये। इधर उनकी योग्यता को लक्ष्य कर राजा दृढ़व्रत ने उन्हें शासन का भार सौंप कर भगवद्-भक्ति को ही अपना ध्येय बनाया लेकिन राजा होते हुए भी कुलशेखर का मानस स्वयं ही भगवान् श्रीराम का सिंहासन बन गया। अतः उन्होंने रामराज्य की स्थापना कर सर्वसाधारण के हितों की ओर पूर्ण ध्यान दिया और धन, ज्ञान तथा संतोष की दृष्टि से अपने राज्य को एक प्रकार का स्वर्ग ही बना दिया। वैष्णव-धर्म पर तो उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी और 'रामायण' उनकी सर्वप्रिय पुस्तक थी तथा कहते हैं कि वे रामायण का पाठ इतनी तन्मयता के साथ श्रवण करते थे कि देह की सारी सुध-बुध ही उन्हें भूल जाती थी। इस विषय में एक कथा भी प्रचलित है। एक बार जब वे रामायण सुन रहे थे तो उसमें सीता की रक्षा के हेतु लक्ष्मण को नियुक्त कर अकेले ही रामचंद्र का खरदूषण की विपुल सेना से युद्ध करने का प्रसंग आया और जैसे ही उन्होंने यह सुना कि भगवान् रामचन्द्र अकेले ही चौदह सहस्त्र राजाओं की सेना से युद्ध करने जा रहे हैं तो वह विस्मरण कर कि वस्तुतः वे कथा सुन रहे थे, वे उठ खड़े हुए तथा अपनी सेना को तुरन्त ही कूच करने की आज्ञा दे दी और सेनानायक से कहा कि चलो, हम शीघ्र ही श्रीराम की सहायतार्थ राक्षसों से युद्ध करने चलें, लेकिन जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि राम ने

अकेले ही समस्त राक्षसी सेना को नष्ट कर डाला तो वे किसी प्रकार वहाँ पर रुक सके। इसी प्रकार की परिस्थिति अशोक-वाटिका में घिरी हुई सीता की कथा को श्रवण करते समय उत्पन्न हुई थी और उस समय भी वे बड़ी कठिनाई के साथ सागर पार करते रोके गये थे। कहा जाता है कि एक दिन रात्रि के समय भगवान् विष्णु ने उन्हें अपने दिव्य विग्रह में दर्शन भी दिये तथा उनका दर्शन कर कुलशेखर अपने तन की समस्त सुध-बुध विस्मरण कर गये और सर्वदा भगवद्-भक्ति में ही तल्लीन रहने लगे। भगवद्-भक्ति के आगे उन्हें राज्य सुख भी फीका-सा प्रतीत होने लगा और वे अपना सारा समय दास्यभाव से अपने इष्टदेव श्रीराम की उपासना में व्यतीत करने लगे। कुलशेखर के हृदय में वैष्णवों के प्रति अटूट विश्वास था और कहते हैं कि जब एक बार इनके मंत्रियों ने उनकी ओर से इन्हें विरक्त करने के हेतु उन वैष्णव-साधुओं पर महल से गुम हुए एक हीरे की चोरी का दोषारोपण किया तो इन्होंने यह कहते हुए कि वैष्णव-भक्त कभी भी इस प्रकार का दुष्कर्म नहीं कर सकते; इस बात को प्रमाणित करने के हेतु भयंकर विषधर सर्प से पूर्ण पात्रमें अपना हाथ डाल दिया परन्तु वह साँप अपने स्थान से तनिक भी न डिगा। कुछ समय उपरान्त कुलशेखर का चित्त राज्य-शासन से उचट गया और वे तीर्थ-यात्रा के हेतु निकल पड़े तथा कई वर्षों तक श्रीरंगम तीर्थ में रह कर उन्होंने संस्कृत 'मुकुन्द माला' नामक एक स्तोत्र ग्रंथ लिखा, जिसका सम्मान संस्कृत के विद्वान् अभी भी करते हैं। वहाँ से काँची होते हुए वे तिरुपति धाम गये, जहाँ कि उन्होंने भक्तिभावना से पूर्ण सुमधुर पद्यों का सृजन किया। कहा जाता है कि उन्होंने मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या आदि उत्तरी भारत के तीर्थों का भी पर्यटन किया था और केवल पचीस वर्षों की अवस्था में ही दक्षिण भारत के अर्काट जिले के किसी नगर में प्राण त्यागे थे। 'प्रबन्धम्' में कुलशेखर के १०५ पद संग्रहीत हैं तथा इन पदों में से कई पद ऐसे हैं, जिनमें इन्होंने अपने विषय में भी कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा है। इनके पदों में अनन्य शरणागतिपरक भावना विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है।

आळवार भक्तों में विष्णुचित्त को, जिनका कि तमिल नाम **पेरि आलवार** है, विशेष महत्व दिया जाता है, और इनके द्वारा रचित पदों को तो वैष्णव-भक्त मंगलाचरण के रूप में देखते हैं। आळवार-भक्तों की परम्परा में प्रसिद्ध प्रेमयोगिनी आंडाल वा गोदा इन्हीं की पुत्री थी। पेरि आळवार को गरुड़ांश माना जाता है, तथा गुरु-परम्परा के आधार पर इनका जन्म कलि वर्ष ४७ याने आज से ४९९३ वर्ष पूर्व हुआ था, और इनकी पुत्री भूदित्यांश गोदा का आविर्भाव कलिवर्ष ९८ में हुआ था। डॉ० अय्यंगार ने इन दोनों का समय कुलशेखर के समकालीन या फिर सातवीं शताब्दी में मानने के लिए प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। कहा जाता है, मद्रास-प्रान्त के तिन्नेवेली जिले में विल्लीपुत्तूर नामक ग्राम में एकादशी रविवार को स्वाति नक्षत्र में पेरि आळवार का जन्म हुआ था, तथा मुकुन्दाचार्य इनके पिता का नाम था, और पद्मा माता का। कहते हैं मुकुन्दाचार्य तथा पद्मा दोनों ने भगवान् महाविष्णु के मन्दिर में पुत्र-प्राप्ति के हेतु प्रार्थना की थी, और इस प्रकार शैशवावस्था में ही पेरि आळवार सामान्य बालकों से विलक्षण प्रतीत होते थे तथा बिना जाने-पहचाने ही उन्होंने अपनी अन्तरात्मा को विष्णु के चरणों में अर्पित कर दिया था, तथा इसीलिए उन्हें विष्णुचित्त कहा जाता है। कहते हैं, 'नारायण ही समस्त विद्याओं के सार हैं, तथा सभी धर्मों के एकमात्र ध्येय हैं, अतः अब मैं

उन्हीं की शरण लूंगा ।' यह निश्चय कर उन्होंने अपने-आपको भगवान् को समर्पित कर देना ही उचित समझा । चूँकि उन्होंने कोई विशेष अध्ययन नहीं किया था, अतः उनका कार्य अपनी छोटी-सी वाटिका से पुष्पों का चयन कर उनकी माला गूँथ कर बालमुकुन्द पर चढ़ा देना मात्र था, तथा वे सर्वदा ही अपना अधिकांश समय मन्दिर में व्यतीत करते और विष्णु सहस्रनाम को गाया करते थे । कहा जाता है कि एक दिन रात्रि के समय भगवान् ने इन्हें स्वप्न में आदेश दिया कि तुम मदुरा जा कर वहाँ के राजा बलदेव से मिलो और शास्त्रार्थ में भाग लेकर सच्चे आनन्द की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ मार्ग उसे दिखा कर मेरे प्रेम और भक्ति का महत्व सर्वसाधारण पर प्रकट करो, तथा यह सिद्ध कर दो कि वस्तुतः भगवान् के विशिष्ट स्वरूप की उपासना ही आनन्द-प्राप्ति का एकमात्र वास्तविक सुगम मार्ग है यद्यपि पेरि आलवार का शास्त्रीय अध्ययन बहुत ही थोड़ी मात्रा में था लेकिन भगवत्प्रेरणा के कारण वे मदुरा गये और वहाँ उन्होंने विभिन्न धर्मों के समस्त प्रतिनिधियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया तथा वे इस प्रकार सुशोभित होने लगे मानो विभिन्न तारिकाओं के मध्य मयंक ही सुशोभित हो रहा है । समस्त शंकाओं का समाधान करते हुए उन्होंने यही प्रतिपादित किया कि "वस्तुतः भगवान् नारायण ही सर्वोपरि हैं और उनके चरण-कमल में अपने आपको समर्पित कर देना ही कल्याण का एक मात्र उपाय है। वे ही हमारे रक्षक हैं, वे अपनी योगमाया से साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों का दलन करने के हेतु समय-समय पर अवतार लेते हैं। वे समस्त प्राणियों के लक्ष्य हैं । नारायण ही माया से परे हैं, और उनकी उपासना ही माया से मुक्त होने का एक मात्र उपाय है । उन पर भरोसा रखो, उनकी आराधना करो, उनके नाम की रट लगाओ और उनका गुणानुवाद करो । ओम् नमो नारायणाय ।" कहते हैं, उनके इन उपदेशों से राजा अत्यधिक प्रभावित हुआ, तथा उनके चरणों पर गिर पड़ा, और इस प्रकार वे न केवल शास्त्रार्थ में ही विजयी हुए अपितु द्रव्यादि के अतिरिक्त उन्हें 'भट्टनाइ' की उपाधि भी प्राप्त हुई लेकिन उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा को प्रभु कृपा का परिणाम समझ कर वह समस्त धन विष्णु की सेवा में अर्पित कर दिया तथा दुगने उत्साह से भक्ति-साधना में जुट गये । कहा जाता है कि उक्त राजा ने जब उनका इस प्रकार सम्मान किया तो उन्होंने करुणार्द्र हो ऊपर आकाश की ओर निहारा, जहाँ कि उन्हें साक्षात् भगवान् विष्णु ही महालक्ष्मी के साथ गरुड़ पर विराजमान दिखाई दिये, जो कि अपने भक्त का स्वागत देखकर और लाखों नर-नारियों के कंठों से नारायण-मंत्र की ध्वनि सुन कर मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे । पेरि अळवार ने अपने इष्टदेव का दर्शन प्राप्त कर अपने आप को धन्य समझा तथा राजा से विदा ले कर पुनः तिल्लिपुत्तूर के मंदिर में विराजमान वटपत्रशायी बालमुकुन्द की सेवा में पहुँच गये । उन्होंने 'तिरुप्पल्लाडु' नामक स्तुति वस्तुतः भगवान् विष्णु के प्रेम में ही मग्न हो कर की और चूँकि उन्होंने ईश्वरोपासना वात्सल्य भाव से ही की थी अतः जननी की मानसिक भावनाओं का मूर्तिमान रूप अंकित करने के हेतु उन्होंने 'तिरुमोलि' नामक पदावली प्रस्तुत की है, जिनमें बालकृष्ण-विषयक अनेकानेक पद हैं, और उनके ये पद 'पिललैत्तमिल (कहा जाता है कि बाल-क्रीड़ा से मानस में अनुभूत मधुरिमा की अभिव्यक्ति जब भाषा द्वारा होती है, तो उसे पिललैत्तमिल कहा जाता है) के नाम से प्रसिद्ध है । पेरि आळवार तमिल साहित्य के श्रेष्ठतम कवियों में से हैं, और स्नेह तथा ममता से पूर्ण उनके

उद्गारों में गंभीरता एवं भक्ति का मणिकांचनमय योग भी है तथा उनकी शैली-वर्णन भी सराहनीय है।

कहा जाता है कि नियमानुसार एक दिन प्रातःकाल पेरि आळवार भगवान् की पूजा के हेतु वाटिका में पुष्पचयन कर रहे थे कि अचानक उन्हें तुलसी के वृक्षों के मध्य एक ऐसी नवजात बालिका दृष्टिगोचर हुई जो कि उन वृक्षों में से एक को जननी समझ कर लेटी हुई थी। इसी बालिका का नाम आडांल वा गोदा पड़ा जिसका विस्तृत वर्णन इस ग्रंथ में एक पृथक निबंध में किया जा चुका है।[1]

अनुमानतः आंडाल से लगभग सौ वर्ष पश्चात् ही तोडर डिप्पो आळवार, तिरुप्पत आळवार तथा तिरुमंगाई आलवार नामक अंतिम तीन आळवार-भक्तों का आविर्भाव हुआ। तोडर डिप्पोडी आळवार का प्रारंभिक नाम विप्रनारायण था और वे भक्तांघ्रि रेणु भी कहे जाते हैं तथा उन्हें भगवान् की वनमाला का अवतार समझा जाता है। उनका जन्म एक पवित्र ब्राह्मण-कुल में हुआ था तथा भली-भाँति वेदाध्ययन करके ज्ञानोपार्जित कर लेने पर भी वे श्रीरंगम के विष्णु भगवान् के लिए पुष्पमालाएँ तैयार करते थे और एक सेवक की भाँति उस मंदिर में रहते थे। एक बार वे उक्त मंदिर की देवदेवी नामक एक अत्यन्त रूपवती देवदासी पर आर्कषित हो गये तथा शनैः-शनैः भगवान की सेवा तज कर उसी के क्रीतदास-से बन गये और उनकी विपुल सम्पत्ति, दैवोपम गुण तथा उदात्त चरित्र, सभी कुछ स्वाहा होने लगा परन्तु देवदेवी द्वारा उन्हें घर से निकाल कर भिक्षुक बना देने पर भी भगवान की उन पर कृपा-दृष्टि थी और उक्त मन्दिर से स्वर्ण थाली चुराने के अपराध में पकड़े जाने पर भगवान् ने ही उन्हें निर्दोषी सिद्ध होने का अवसर प्रदान किया। इस घटना के पश्चात् वे पूर्णरूप से भक्त बन गये थे और फिर उन्होंने अपना समस्त जीवन दृढ़ वैराग्य के साथ भगवद्-भक्ति में ही लगाया, तथा निरन्तर उन्हीं के गुणों का कीर्तन करते रहे। 'प्रबन्धम्' में उनके थोड़े से पद संगृहीत हैं, तथा उनमें शुद्ध भक्तिभावना या काव्य-सौन्दर्य की अपेक्षा अन्य धर्मों के प्रति कटुता के भाव ही विद्यमान हैं।

तिरुप्पन आळवार, जिन्हें कि वत्स का अवतार माना जाता है, वस्तुतः अन्त्यज ही थे और कहा जाता है कि वे त्रिचनापल्ली जिले के उरैपूर या वोरीडर नामक गाँव में एक धान के खेत में पड़े हुए मिले थे, जहाँ से कि उन्हें एक अस्पृश्य मनुष्य लाया था, और उसी ने उनका पालन-पोषण भी किया था। वह व्यक्ति गान-विद्या में निष्णात था, अतः स्वभावतया ही वे भी बाल्यावस्था में ही वीणा-वादन में निपुण हो गये परन्तु वे वीणा पर भगवान के नाम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं गाते थे। कहा जाता है कि अस्पृश्यता के कारण वे श्रीरंगम के मंदिर में न प्रवेश कर सके, और कावेरी के दक्षिणी तट पर खड़े होकर वहीं से भगवान की स्तुति करते रहे परन्तु एक दिन उन्हें इस प्रकार खड़ा देखकर भगवान के स्नानार्थ जल ले जाने जाने वाले एक मुनि ने उनसे वहाँ से हटने के लिए कहा, लेकिन जब वे नहीं हटे तो उसने उन्हें एक पत्थर फेंक कर मारा, परन्तु उधर श्रीरंगनाथ जी ने वह जल ग्रहण नहीं किया और

---

[1] —देखिए—

तमिल साहित्य की मीरा आंडाल (पृष्ठ २९३-२९६)

अपने सेवक सारंगमा मुनि को उन्हें कंधे पर चढ़ा कर आदरपूर्वक मंदिर में लाने की आज्ञा दी। इस प्रकार वे सारंगमा मुनि के कन्धे पर चढ़कर मन्दिर में प्रविष्ट हुए और इसीलिए उनका नाम मुनिवाहन या योगिवाहन भी कहा जाता है। कहते हैं मन्दिर में प्रवेश करते ही वे उनकी स्तुति करने लगे और अत्यधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी उन्होंने तनिक भी विराम न लिया और उस समय कुछ ही क्षणों में अचानक वहाँ उपस्थित सभी लोगों को ऐसा प्रतीत होने लगा मानो चारों ओर दिव्य प्रकाश व्याप्त हो रहा है और तिरुप्पन के मस्तक पर भगवान का चरण रखा हुआ है। सबके देखते-देखते ही तिरुप्पन उस दिव्यालोक में लीन हो गये। उस समय उनकी आयु केवल पचीस वर्ष की थी।

इन बारह वैष्णव भक्तों में तिरुमंगई सबसे अन्तिम आळवार थे और उनका समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। कहते हैं उनका जन्म चोल देश के किसी ग्राम में एक शैव घराने में हुआ था। चूँकि इनके पिता बहुत बड़े योद्धा थे, अत: इन्होंने भी युद्ध-विद्या में निपुणता प्राप्त कर चोल देश के सेनानायकत्व का पद प्राप्त किया। वे राजसी जीवन के कारण भक्ति-साधना में अपना अधिक समय न दे पाते थे। उन दिनों दक्षिण के तिरुवालि नामक स्थान में कुमुदवल्ली नामक एक रूपवती कुमारी कन्या रहती थी और वह भगवान विष्णु की अनन्य उपासिका थी। बड़े-बड़े राजा उससे विवाह करने को इच्छुक थे, लेकिन उसने किसी से भी विवाह करना स्वीकार नहीं किया। तिरुमंगई के हृदय में कुमुदवल्ली से विवाह करने की लालसा हुई तथा उन्होंने उसके पिता के पास पहुँचकर अपनी इच्छा व्यक्त की, परन्तु कुमुदवल्ली ने कहा कि वह किसी वैष्णव-भक्त से ही विवाह करेगी, अत: उन्होंने वैष्णव-धर्म की दीक्षा ले ली। लेकिन उसने कहा कि इतना ही पर्याप्त नहीं है और यदि वास्तव में तुम्हें मुझसे विवाह करने की इच्छा हो तो अपनी वैष्णव-भक्ति का क्रियात्मक परिचय देने के हेतु प्रतिदिन एक वर्ष तक एक सहस्र आठ वैष्णवों को भोजन करा कर उनका प्रसाद मुझे लाकर देना होगा। तिरुमंगई ने यह शर्त तो स्वीकार कर ली लेकिन वे इतना अधिक व्यय सहन करने में असमर्थ थे। अत: द्रव्य जुटाने के हेतु उन्हें नृशंसतापूर्ण व्यवहार करना पड़ा, परन्तु उन्होंने वैष्णवों को भोजन कराना बन्द नहीं किया। राजा द्वारा कारागार में बन्द कर दिये जाने पर भी वे अपने प्रण से नहीं डिगे और उन्होंने बन्दी-गृह में तब तक जल ग्रहण अस्वीकार कर दिया जब तक कि वे अपने प्रण की पूर्ति न कर लें। कहते हैं, भगवान ने उन्हें स्वप्न में दर्शन देकर विपुल सम्पत्ति का पता भी बतलाया और उन्हें यह सम्पत्ति भी प्राप्त हो गई, लेकिन इतने पर भी उन्होंने डकैती का काम बन्द नहीं किया। हाँ, यह अवश्य है कि इस लूट-मार का एक भी पैसा वे अपने पास नहीं रखते थे, अपितु सब धन भक्तों में बाँट देते थे। भगवान ने उन्हें सुमार्ग पर लाने के हेतु स्वयं एक अमीर का वेश ग्रहण किया और रात में जब तिरुमंगई ने डाका डाला, तब उस विपुल धनराशि का बोझ वे उठा न सके और उसी समय उन्हें बोध हुआ कि वस्तुत: साक्षात् नारायण ही उन्हें इस कुमार्ग से दूर करने के लिये आए हुए हैं। अब उन्होंने पूर्णरूप से भक्तिमार्ग को ही अंगीकार कर लिया और तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़े। तिरुमंगई ने भगवान की उपासना दास्यभाव से की है और बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित कर सगुणोपासना का महत्व भी प्रतिपादित किया है। नम्म आळवार के अतिरिक्त अन्य सभी आळवार भक्तों में इन्होंने सर्वाधिक पदों का

सृजन किया है, लेकिन यह अवश्य है कि पेरि आळवार की सी स्वाभाविकता आंडाल-की-सी सरसता और प्रेमानुभूति तथा नम्म आलवार की सी कलित कमनीयता का उनके पदों में अभाव-सा है, अतएव केवल भक्ति-भावना की दृष्टि से ही हम उनके पदों को महत्व दे सकते हैं।

इस प्रकार इन बारह आलवार भक्तों के संक्षिप्त परिचय से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी साधक वास्तव में बहुत बड़े भक्त थे, तथा ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक दक्षिण में उन्होंने जिस प्रकार वैष्णवोपासना का प्रचार कर उत्तरी भारत में भक्तिभावना को सुस्थिर करने में अपना महत्वपूर्ण योग दिया है, वह निस्सन्देह प्रशंसनीय है। वस्तुत: उनकी भक्ति-भावना में हमें प्रपत्ति अर्थात् आत्मसमर्पण की भावना ही प्रधानरूप से दृष्टिगोचर होती है और उनका जीवन वस्तुत: अपने आराध्य का ही उच्छ्वास-मात्र बन चुका था। वे स्वामी, पिता, सुहृदय, प्रियतम एवम् पुत्र के रूप में ही उनका भजन करते थे और उन्हीं से प्रेम करते थे। यह भी हम कह चुके हैं कि इन वैष्णव आचार्यों के लगभग चार सहस्र पदों का संग्रह नाथमुनि ने किया था और वह 'नाडियार प्रबन्धम्' या 'दिव्य प्रबन्धम्' के नाम से प्रसिद्ध है तथा उसका पाठ पढ़ने के हेतु जिन व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती है वे 'अडैयार' कहलाते हैं लेकिन 'प्रबन्धम्' का पाठ करने की सभी वैष्णवों को स्वतन्त्रता है तथा इसके लिए वर्ण एवम् जाति का कोई बन्धन नहीं है। आगे चल कर, जिन रामानुजाचार्य ने 'विशिष्टाद्वैत' का सिद्धान्त स्थापित कर सगुण-भक्ति का प्रचार किया, वे न केवल नाथमुनि के पौत्र यमुनाचार्य के शिष्य थे, अपितु उन्होंने स्वयं भी 'प्रबन्धम्' का अत्यन्त मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था, और यदि हम यह कहें कि उनके विचारों पर तमिल आलवार-भक्तों का प्रभाव भी विशेष रूप से पड़ा है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस प्रकार 'प्रबन्धम्' के पदों में दार्शनिक विचार-धारा भी विद्यमान है तथा ए० गोविन्दाचार्य ने तो अपनी कृति The Divine Wisdom of Dravidian Society में इस बात को भलीभाँति सिद्ध भी कर दिया है कि विशिष्टाद्वैत एवं श्री सम्प्रदाय की आधार-शिला वस्तुत: 'प्रबन्धम्' के इन पदों के आधार पर ही रखी गयी है। परन्तु कुछ विचारकों ने इस भक्त-कवियों की भावना में केवल सहवास का प्रेम ही पाया है और उनकी दृष्टि में आलवारों ने प्रतीकों द्वारा प्राप्त ऐन्द्रिय अनुभवों को अपने आत्मानन्द का आधार बनाया था परन्तु इन विचारों से किसी भी भाँति सभी सहमत नहीं हो सकते तथा मेरी दृष्टि में तो 'प्रबन्धम्' ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य, समता एवम् आनन्द से ओत-प्रोत आत्मज्ञान का अमूल्य कोष है, और उसमें शुद्ध भक्तिभावना ही दृष्टिगोचर होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह संतों के मुख से निकली हुई दिव्य वाणी ही है। भक्ति-भावना की दृष्टि से ही नहीं, अपितु काव्यगत विशिष्टताओं की दृष्टि से भी 'प्रबन्धम्' का विशेष महत्व है और उसमें संकलित अधिकांश पदों की काव्यसुषमा भी सराहनीय है। इस प्रकार अलौकिक अनुभूति, उत्कृष्ट कल्पना-शक्ति अभिव्यंजन-शैलियों की नवीनता एवं कोमलकांत पदावली से युक्त पदों का सृजन कर, भक्तिभावना की पवित्र पियूष-प्रवाहिनी गंगा को प्रवाहित कर इन आळवार-भक्तों ने समस्त प्राणियों को आत्मोन्नति का पथ दिखलाते हुए लौकिक आनन्द के साथ अलौकिक आनन्द का रसपान करने की प्रेरणा दे कर वास्तव में भक्ति काव्य का गगनाङ्गन दैदीप्यमान कर दिया है और न केवल तमिल-साहित्य को, अपितु समस्त भारतीय साहित्य को महत्वपूर्ण देन दी है।

(कल्पना, जून १९५७)

मुगलकालीन उद्यानकला

सुप्रसिद्ध फारसी कवि शेख सादी ने एक स्थल पर लिखा है—"मानव तो निश्चय ही मर्त्य हैं परन्तु उसके कृत्य तो अमर रह सकते हैं। जनसाधारण के लाभ के हेतु मन्दिरों, पुलों, जलाशयों और पथिकाश्रमों का निर्माण करने वाले कभी भी मृत नहीं कहे जा सकते।" विचारपूर्वक देखा जाय तो कवि के ये वचन प्रत्येक कलाप्रेमी के प्रति भी कहे जा सकते हैं। भारतीय साहित्य में राजर्षि भृर्तहरि ने कलाविहीन पुरुष को बिना सींग और पूंछ का पशु माना है। कलाप्रियता किसी न किसी रूप में मनुष्य में रहती ही है क्योंकि जहाँ तक उसकी भावनाओं का विस्तार हो सकता है वे सब कला के विषय हो सकते हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदास जी के शब्दों में—"कलाओं के अन्तर्गत सृष्टि के समस्त वास्तविक और काल्पनिक क्रिया-कलापों की व्यंजना की जा सकती है।" यद्यपि कलाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद-सा दिखाई पड़ता है और प्रसिद्ध विद्वान क्रोचे के शब्दों में—"न तो कलाशास्त्र की ही दृष्टि से और न दार्शनिक दृष्टि से ही कलाओं का वर्गीकरण किया जा सकता है।" तथापि कला को एक अखंड अभिव्यक्ति मानते हुए भी व्यावहारिक दृष्टिकोण से हम कला को उपयोगी कला और ललित कला नामक दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। जैसा कि क्रोचे का कहना है—"कला में वाह्यभिन्नता ही दिखाई पड़ती है तात्विक नहीं" हम कह सकते हैं कि ललित कलाओं में और उपयोगी कलाओं में सामंजस्य पाया जाता है। उपयोगी कलाओं में भी लालित्य होता है और ललित कलाएँ भी उपयोगी कही जा सकती हैं। मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली कलाओं को उपयोगी कला कहते हैं और अलौकिक आनन्द प्रदान करने वाली कलाओं को ललित कला। इस प्रकार वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला नामक पाँच भेद ललित कलाओं के किए जा सकते हैं। ललित कलाएँ मनुष्य के मानसिक विकास की अभिवृद्धि करती हैं और उपयोगी कलाएँ आर्थिक तथा शारीरिक उन्नति करती हैं। परन्तु कलाओं का यह वर्गीकरण केवल व्यावहारिक ही है।

मुगल काल में ललित कलाओं की अत्यधिक उन्नति हुई तथा वे अपनी चरमोत्कर्ष अवस्था पर जा पहुँचीं। विचारपूर्वक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवलोकन से यही विदित होता है कि वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला आदि पाँचों ललित कलाओं की सर्वांगीण उन्नति का प्रयास मुगल शासकों ने किया। चूंकि मुगल महान् निर्माता थे अतः शिल्पकला की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया। यद्यपि बाबर के आक्रमण के उपरान्त भारतीय कला पर फारसी कला का प्रभाव अवश्य पड़ा और उत्तरोत्तर वह बढ़ता ही चला परन्तु तो भी इससे भारतीय कला का पूर्णरूपेण ह्रास न हो सका। सर जान मार्शल ने एक स्थल पर लिखा है—"यह नहीं कहा जा सकता कि भारत जैसे विस्तृत देश में एक ही सामान्य रूप की शिल्पकला कभी भी प्रश्रय नहीं पा सकती अतः यह स्वभावतः स्वीकार किया जा सकता है कि कलाओं के विभिन्न रूपों या शैलियों में भी एकता-सी हो जाती है।" हम मुगलकालीन किसी

भी शैली को केवल मुगल शैली न कह कर भारतीय शैली ही कहते हैं और इस प्रकार कहा जा सकता है कि फारसी प्रभाव पड़ते हुए भी कला का भारतीय रूप विकृत न हो सका। उद्यानकला शिल्पकला या वस्तुकला के ही अन्तर्गत आती है और मुगलों ने शिल्प कला के सदृश उद्यानकला की सर्वांगीण उन्नति की है। उद्यानकला को सर्वथा ही एक नूतन रूप देकर विकसित करने का उन्होंने प्रयत्न किया है।

यों तो भारतीय प्राचीन काल से ही प्रकृति प्रेमी कहे जाते रहे हैं और कई बग़ीचों का उल्लेख भारत के प्राचीन इतिहास में दिखाई पड़ता है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है कि मुगलों के आगमन के पूर्व ही भारत में उद्यानों का निर्माण हो चुका था और विलियम क्रुक Crooke महोदय ने Things Indian नामक पुस्तक में लिखा है—"चौदहवीं शताब्दी में फीरोजशाह ने बारह सौ बगीचे दिल्ली के आस-पास लगाए थे।" इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्यानकला मुगलों के आगमन के पूर्व ही विकसित हो चुकी थी। यह अवश्य है कि इन उद्यानों की शैली भी वही प्राचीन भारतीय शैली ही थी तथा मुगलकालीन उद्यानों की सदृशता और सरूपता करने में कदाचित् वे समर्थ भी न हो सकें।

प्रकृति की मधुर क्रीड़ाभूमि फरगना में बाबर का जन्म हुआ था जहाँ कि मनोहारी उद्यानों की बहुलता-सी थी अतः बाबर ने जब भारत में प्रवेश किया तब वह यहाँ भी अपनी प्रकृतिप्रियता का परिचय देने को अत्यधिक उत्सुक हो उठा। अब्बुलफजल ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'आइने अकबरी' में इस ओर संकेत किया है कि बाबर के आक्रमण के पूर्व भारतीय उद्यानो में क़ला का अभाव था तथा वे मण्डपाकार आश्रमों और मधुर कलकल नाद करने वाले स्रोतों से सर्वथा शून्य थे। सी. एम. विलियर्स स्टुअर्ट ने मुगलकालीन उद्यानकला पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए यही लिखा है कि "मुगलकालीन उद्यानकला जिसकी उत्पत्ति बाबर के समय में हुई तथा उसके उत्तराधिकारियों ने जिसका विकास करने का दृढ़ संकल्प किया वह वास्तव में पूर्णतः फारस और तुर्किस्तान से प्रभावित-सी थी।"

मुगलकालीन उद्यानकला की प्रमुख विशेषता निर्झरणियों, तड़ागों या सरोवरों और छोटे-छोटे स्रोतों द्वारा कृत्रिम सिंचाई करना था। सिंचाई के ये कृत्रिम साधन इस प्रकार बनाए जाते थे कि उद्यानों के प्रमुख पथ के दोनों ओर समान रूप से जल प्रवाहित होता रहे अर्थात् बगीचों के मार्गों के दोनों ओर इन जलाशयों का निर्माण होता था। इन मार्गों पर से चलने वाले जब अपने स्वरूप का प्रतिबिम्ब उस स्वच्छ सलिल में देखते होंगे तब उन्हें कितनी मधुर अनुभूति होती होगी। मुगलों की यह सूझ सर्वथा नवीन और मौलिक ही थी। साथ ही इन मार्गों की झुकी ढलुआ हुई तिरछी भूमि में चौतरों (चबूतरों) की कतार-सी रहती थी जिनकी संख्या कभी कभी आठ रहती थी। ये चबूतरे ऐसे प्रतीत होते थे मानो साक्षात् स्वर्ग ही आठ टुकड़ों में विभाजित हो गया हो और कहीं-कहीं सात बड़े-बड़े सुन्दर पौधे भी इनके अनुरूप लगाए जाते थे। बगीचों के प्रमुख मण्डपगृह जिन्हें कि मुगलकालीन बगीचों में विशेष रूप से निर्मित किया जाता था सबसे ऊँचे चौतरे या चबूतरों के ही रूप में रहते थे जिनके चारों ओर विशाल घेरा रहता था। परन्तु कभी-कभी ढलुआ झुकी हुई तिरछी भूमि पर भी इस प्रकार के मण्डपगृह बनाए जाते थे जिसका कि कारण यह था कि अधिकारी वर्ग वहाँ बैठ कर समीप से प्रवाहित होने वाले स्रोतों और तड़ागों की सुषमा का भली भाँति अवलोकन

कर सकें। इन्हीं मण्डपाकार गृहों में बैठ कर प्रेमियों की युगल जोड़ियाँ अपना मनोविनोद करती थीं और शरद् चाँदनी की सुहावनी सुषमा में जब सुधांशु का प्रतिबिम्ब समीप से ही में प्रवाहित होने वाले सरोवरों में झलक उठता था तब हृदय में आनन्द रूपी पयोधि भी उमड़ उठता था। फारसी और मुगल उद्यानों की भूमि का प्रतिरूप प्रायः समकोण ही होता था जो कि कई छोटे-छोटे भिन्न-भिन्न समकोण टुकड़ों में विभाजित होता था और जो कि सब ओर से अर्थात् चारों ओर से एक बड़ी ऊँची दीवार से घिरा हुआ रहता था जिसमें कि छेददार भीतें भी रहती थीं जिससे कि गोली भी चलाई जा सके। एक बड़ा ऊँचा-सा प्रवेश द्वार उद्यानों की भव्यता का परिचायक-सा प्रतीत होता था। बड़े-बड़े विस्तृत आकार के उद्यानों में प्रायः चार प्रवेश द्वार होते थे और बाह्य दीवारों के प्रत्येक कोण पर छोटी-छोटी अष्टकोणी इमारतें बनाई जाती थीं।

मुगलकालीन उद्यानों के पथों की सीमा पर पुष्पों की क्यारियाँ रहती थीं। प्रमुख मार्गों पर विशेष रूप से विकसित सुमनों का घेरा-सा रहता था और चारों ओर कभी-कभी गुलाब के फूलों की झाड़ियाँ भी रहतीं या फलों के बड़े-बड़े पेड़ रहते थे। भिन्न-भिन्न मार्गों के सम्मिलित स्थल पर विशेष रूप से एक ही प्रकार के सुमनों का बगीचा-सा होता चाहे फिर वे पुष्प गुलाब के हों, ट्यूलिप के हों या गहरे नीले रंग के। मुगल शासकों ने जब भारत में स्थायी निवास करना प्रारम्भ कर दिया तब उनके उद्यानों की विशेषताओं में समय-समय पर कुछ आवश्यक परिवर्तन भी किए जाने लगे। पथों की ढलुआ भूमि फिर सर्वदा ही अर्थात् प्रत्येक उद्यान में दृष्टिगोचर न होने लगी क्योंकि भारत की तीव्रतम उष्णता से शरीर को शान्ति पहुँचाने के हेतु जलाशयों का विशेष आश्रय लिया जाता रहा। अकबर के शासन के उपरान्त उद्यानों के प्रमुख जलाशयों की चौड़ाई क्रमशः अधिक बड़ी रखी जाने लगी और कभी-कभी तो बीस फीट या उससे से भी अधिक चौड़ाई जलाशयों की रखी जाती थी जैसा कि काश्मीर के शालीमार बाग में भी देख पड़ता है।

सी. एम. विलियर्स स्टुअर्ट का कहना है कि "सिकन्दर का उद्यान जहाँ कि अकबर की समाधि का निर्माण हुआ था मुगलकालीन उद्यानकला के सामान्य रूप का परिचय देता है।" मुगल काल में यह एक प्रथा-सी थी कि उन स्थलों पर जहाँ कि राजकुमारों या बड़े बड़े सरदारों को दफनाया जाता था और समाधियों तथा गुम्बदों का निर्माण किया जाता था साथ में उद्यान भी अवश्य ही निर्मित किये जाते। यह प्रथा बाबर के समय से ही प्रारम्भ हो गई थी। समाधियों के बगल में प्रायः तड़ागों का निर्माण किया जाता और कभी-कभी छोटी-छोटी निर्झरणियों से संयुक्त सामने की ओर एक उमड़ता हुआ स्रोत भी झलक उठता। कभी-कभी इन छोटी-छोटी नहरों और श्रोतों के चारों ओर फूलों की झाड़ियाँ सी लगाई जातीं। सिकन्दरा में भी यह दृश्य दिखाई पड़ता है। मुगल काल में बड़े-बड़े सरदारों द्वारा बनवाये जाने वाले उद्यानों के मध्य में एक बारहदरी होती थी जो कि ग्रीष्म ऋतु में जहाँ अनेक जीवित शरीरों को शीतलता प्रदान करने में सहायक होती वहाँ उनके निधन के उपरान्त उनके भौतिक शरीर को भी दफन किया जाता और समाधि का निर्माण किया जाता। इस प्रकार यह बारहदरी उनके शरीर को उनके जीवन काल और मृतक काल दोनों में उपयोगी सिद्ध होती। इन सरदारों के निधन के उपरान्त उनके उद्यान के स्वरूपों में भी परिवर्तन हो जाता था और अब

उन उद्यानों का रूप सीमित हो जाता तथा पुष्प और फल आदि फकीरों, बाग रक्षकों और पथिकों को बाँट दिए जाते। यद्यपि ताजमहल भी एक समाधि ही है परन्तु उसकी उद्यान-कला इन उद्यानों से भिन्न-सी है। ताजमहल के उद्यान के मध्य में एक सुन्दर संगमरमर का तड़ाग है तथा गुम्बद को उद्यान के अन्तिम सिरे पर बनाया गया है जिसके कि पार्श्व में कलकल नाद करती हुई कलिन्दजा प्रवाहित हो रही है।

बहुधा मुगल काल में उद्यानों का निर्माण राजकीय कार्यों का संचालन करने के हेतु भी किया जाता था। शासक वर्ग उन उद्यानों में बैठ कर जहाँ अपनी सौन्दर्य की पिपासा का शमन करते थे वहीं साथ ही अपनी नीति भी निर्धारित करते थे। अपने मध्यपूर्वीय पूर्वजों की भाँति प्रायः समस्त मुगल बादशाहों विशेष कर जहाँगीर की परिभ्रमण की ओर विशेष रुचि रही है। पी. कैनेडे ने जहाँगीर को उन्मत्त परिभ्रमणकारी माना है। वास्तव में जहाँगीर के हृदय में प्रकृति के प्रति असीम अनुराग था और नूरजहाँ के संसर्ग से तो उसकी सौन्दर्य-प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई जिसके फलस्वरूप वह बार-बार काश्मीर जाया करता था जहाँ कि सुखदायक उपत्यकाओं तथा निशात शालीमार, अच्छबल और वैरीनाग (Vering) नामक उद्यानों में भ्रमण कर अपनी सौन्दर्य पिपासा का शमन वह कर पाता था। सत्रहवीं शताब्दी के यात्रियों ने इस प्रकार के उद्यानों की विशेष प्रशंसा की है। और उन्हें विश्व में अतुलनीय माना है। विलियम कोस्टर की 'Early Travels of India' नाम पुस्तक में तत्कालीन कुछ और उद्यानों का वर्णन भी मिलता है। इन उद्यानों में ग्रीष्म ऋतु में विराम लेने के हेतु विशेष स्थलों का निर्माण किया गया तथा सुन्दर सुखद जलाशयों और सरोवरों का निर्माण भी किया गया।

मुगलकालीन उद्यानकला का संक्षिप्त परिचय देने के उपरान्त यहाँ अब कुछ प्रसिद्ध मुगलकालीन उद्यानों का उल्लेख करना असंगत न होगा। 'बाबर नामा' में कई ऐसे स्थल आए हैं जिनसे ज्ञात होता है कि बाबर जन्म से ही प्रकृति प्रेमी और कुशल प्रकृति पर्यवेक्षक था। लेनपूल महोदय ने इस ओर संकेत भी किया है कि बाबर के हृदय में पुष्पों के प्रति स्वाभाविक अनुराग था और कुसुमों की कमनीयता उसके मानस को अत्यधिक प्रभावित करती थी। 'बाग़-ए-क़िला' और 'बाग़-ए-वफ़ा' नामक उद्यानों का पुनः निर्माण बाबर ने किया तथा और भी कई उद्यानों के निर्माण की ओर उसकी दृष्टि गई। 'बाग़-ए-वफ़ा' के प्रति अपनी मृदुल भावनाओं का परिचय उसने अपने 'बाबर नामा' में स्वयं दिया है। बाबर ने 'बाग़-ए-वफ़ा में जलाशय के दक्षिण पश्चिमी किनारे पर ऊख, कदली और संतरे के पेड़ लगवाये। भूमि के चारों ओर ढेर-सी हरी-हरी घास झलक उठती थी जो कि प्राकृतिक सुषमा की अनूठी झलक दिखाती थी। आगरा को अपनी राजधानी बनाने के उपरान्त उसने यमुना के किनारे तत्कालीन रामबाग़ की ओर विशेष रुचि प्रदर्शित की जिसे कि अपनी एकान्तता निवारण के हेतु आगे चल कर नूरजहाँ ने भी चुना था और जो कि उसके सर्वप्रिय उद्यानों में से था। बाबर ने वहाँ पर जलाशयों, स्नानगृहों और निजी मंडपाकार गृहों का निर्माण किया तथा गुलाब आदि पुष्पों की शय्याएँ भी सुशोभित की। 'तुजुक जहांगीरी' में जहाँगीर ने बाबर की उद्यान-कला विशेषज्ञता पर विस्तृत प्रकाश डाला है और इस ओर विशेष रूप से संकेत किया है कि बाबर की उद्यान कला की विशेषता इसी से जानी जा सकती है कि आगरे के एक उद्यान में उसके

हाथों लगाया हुआ एक ताड़ (खजूर) का पौदा उसके नाती अर्थात् अकबर के समय में ९० नब्बे फीट की ऊँचाई तक बढ़ चुका था। आगरा के उद्यानों में देवदार और अंगूर आदि के वृक्ष भी लगाए गए। रामबाग़ और चीनी का रोज़ा के मध्य में बाबर ने जौहरा-बाग़ नामक एक और उद्यान का निर्माण किया जिसमें साठ कुएँ थे।

अपने संक्षिप्त शासन काल में हुमायूँ को इस बात का अवसर ही नहीं मिल सका कि वह उद्यानों के निर्माण की ओर ध्यान दे तो भी उसके स्वयं के दिल्ली के गुम्बद के चारों ओर लगा हुआ उद्यान उसकी प्रकृति-प्रियता का परिचायक है। यद्यपि फलोत्पादक तथा घने छायादार वृक्ष अब बिलकुल विलुप्त हो चुके हैं परन्तु तो भी अवशेष पत्थरों की निर्मित नहर तथा स्रोत और कुंड आदि प्रारम्भिक मुगलकाल का परिचय देते हैं। अकबर में बाबर के सदृश ही प्रकृति के प्रति अनुराग था और 'आइने अकबरी' में लिखा है कि बादशाह सलामत पौधों को ईश्वर की एक अपूर्व देन समझते थे और पौधों के विकास की ओर पूर्ण ध्यान देते थे। भारत को सुमनों की सुहावनी सुषमा से सुशोभित करने के हेतु ईरान और तूरान के बड़े बड़े उद्यान कला विशेज्ञ बुलाए गए थे। यद्यपि अकबर अपनी कला विशेषज्ञता का विशेष परिचय न दे सका परन्तु काश्मीर में डल झील के किनारे नसीम बाग़ उसने ही बनवाया था। फतहपुर सीकरी के कई उद्यान और सिकन्दर का प्रसिद्ध उद्यान अकबर की उद्यान कला का स्पष्ट परिचय देते हैं।

जहाँगीर के हृदय में प्रकृति के प्रति असीम अनुराग था। सिंहासनारोहण के पूर्व ही उसने उदयपुर में भिन्न-भिन्न कुछ उद्यान कला के प्रति अपनी लालसा की वृद्धि की थी। फारसी कला के अनुसार पुष्पों की शय्या बनाने की ओर उसकी विशेष रुचि थी और उदयपुर के उद्यानों में उसने इस ओर विशेष ध्यान दिया। 'तुजुक जहाँगीरी' के अनुसार सरहिन्द में भी उसने उद्यान का निर्माण किया था जिसके वृक्षों के बीच का मार्ग गुलाब के फूलों से आच्छादित रहता था। अहमदाबाद के एक उद्यान में जहाँगीर ने संतरा, नीबू, आड़ू, अनार और सेब के वृक्ष भी लगाए थे। उसके शासन काल के दो अन्य प्रसिद्ध उद्यानों में प्रथम तो एतमुद्दौला की समाधि के पास निर्मित उद्यान है जो गुम्बदों की शैली का है और दूसरा है लाहौर से पाँच मील दूर सिकन्दरा की शैली पर बना हुआ नूरजहाँ का प्रिय उद्यान जहाँ कि जहाँगीर को दफनाया गया था। इसमें स्रोतों और तड़ागों की बहुलता-सी है तथा बड़े-बड़े आठ चबूतरे समाधि के चारों ओर हैं।

ताजमहल का उद्यान तो शाहजहाँ के काल का प्रसिद्ध उद्यान है ही जो कि अपनी अतुलनीय विशेषताओं से मुगलकालीन प्रसिद्ध उद्यानों में गिना जाता है परन्तु, साथ ही सन् १६३४ में बनवाए गए लाहौर के प्रसिद्ध शालीमार बाग़ का उल्लेख अवश्य करना चाहिए जिसका कि अलीमर्दन खान के कुशल निरीक्षण में निर्माण किया गया। इसमें दो बड़े सुन्दर चारबाग़ हैं जो कि एक रमणीय छोटे-से चबूतरे से जुड़े हुए हैं। चौतरे से दोनों चारबाग़ों के के मध्य में स्थित एक बड़े जलाशय की सुषमा देखी जा सकती है। जलाशय के दोनों किनारों पर मण्डपाकार गृह बनवाए गए जिनमें कि पुष्पों की शय्याएँ सुशोभित की गईं। एक और दूसरा शालीमार उद्यान दिल्ली में शाहजहाँ की एक पत्नी एगुन्निसा ने बनवाया जिसका वर्णन सन् १७९३ के एक यूरोपीय अधिकारी ने भी किया है। कहते हैं यह वही बाग़ है जिसमें

औरंगजेब ने अपने पिता के विरुद्ध होकर सर्वप्रथम अपना राज्याभिषेक किया था। आगरे में खासमहल के सामने 'अंगूरी बाग़' भी एक प्रसिद्ध उद्यान है और दिल्ली के पास का ताल-कटोरा बाग़ भी शाहजहाँ ने ही बनवाया है।

बर्नियर ने यद्यपि यही लिखा है कि शाहजहाँ के उपरान्त ललित कलाओं की उन्नति समाप्त हो गई किन्तु, औरंगजेब के हृदय में कलाओं के प्रति प्रेम न होते हुए भी उसने उद्यानों के निर्माण की ओर थोड़ा-सा ध्यान अवश्य दिया। सुकुमार भावनाओं का अभाव रखने वाले और अपने अवशिष्ट समय को धर्म के ही विषय में व्यतीत करने वाले से भला आशा भी क्या की जा सकती थी। लाहौर के बादशाही मसजिद के चारों ओर एक सुन्दर बग़ीचा औरंगजेब ने ही बनवाया था। उसके दूध भाई फ़ैदीखान ने भी अम्बाला से शिमला के मार्ग में पड़ने वाले पंचपुरा या जिसे पिंजोर भी कहा जाता था एक उद्यान बनवाया था। औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा ने भी लाहौर में प्रसिद्ध चारबुर्ज उद्यान का निर्माण किया। रोशनआरा की समाधि के चारों ओर भी उद्यान लगाया गया। आगरे से बीस मील दूर सामूगढ़ जिसका आधुनिक नाम फतेहाबाद कहा जाता है और जहाँ कि राज्य सिंहासन के लिए औरंगजेब और दाराशिकोह में युद्ध हुआ था वहाँ भी औरंगजेब ने एक मसजिद, सराय और एक उद्यान बनवाया था। औरंगजेब के समय के उद्यान विशेषत: गुम्बद प्रणाली के ही हैं। शाहजहाँ के शासनकाल में अपने सुखपूर्ण दिनों में अभागे दाराशिकोह ने भी काश्मीर में एक उद्यान बनवाया था। इसमें महिलाओं के लिए विशेष मण्डपाकार बनवाए गए थे।

विश्व परिवर्तनशील है और उत्थान तथा पतन तो होते ही रहते हैं। मुगल काल तो व्यतीत हो ही चुका है और समय चक्र ने मुगलकालीन वैभवपूर्ण इमारतों को भी नष्ट किया है। बहुत से उद्यानों का वर्णन इतिहास के ही पृष्ठों में मिलता है जो कि किसी समय अपनी विशेषताओं की तुलना न रखते थे परन्तु, इतना तो निस्संदेह स्वीकार करना पड़ेगा कि हावेल महोदय ने उचित ही कहा है—"भारतीय कला को मुग़ल शासकों ने उद्यानों के रूप में एक महान् देन दी है।"

Sri Pratap Singh Library Srinagar.

(अजन्ता, मई १९५३)

युग-युग से साहित्य को परिप्लावित करने वाली पतित पावनी गंगा

आर्य-धर्म के शैव, शाक्त और वैष्णव नामक तीनों प्रधान सम्प्रदायों में गंगा का महत्व समानरूप से पाया जाता है । ये सम्प्रदाय उतने ही प्राचीन हैं जितने कि पुराण और उनमें एक दूसरे के प्रति स्पर्धा की भावना भी दीख पड़ती है तथा प्रत्येक अपने को दूसरे मतावलम्बियों से श्रेष्ठ मानता है । 'देवी भागवत' में जहाँ शक्ति के सामने और समस्त दूसरे देवता निम्न माने गये हैं वहाँ ब्रह्मवैवर्त पुराण, विष्णुपुराण जैसे वैष्णव पुराणों विष्णु ही सब कुछ हैं परन्तु गंगा का महत्व इन तीनों संप्रदायों में स्वीकार किया जाता है । यदि यह कहा जाय कि गंगा के तट पर आकर ये तीनों एक हो जाते हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी । जिस प्रकार देवी भागवत में गंगा के विषय में कहा गया है—

त्वत्स्पशवायुना पूता यास्यन्ति मम मन्दिरम् ।

अर्थात्, तुम्हारा स्पर्श करने वाली वायु से पवित्र हुए मानव मेरे लोक को प्राप्त होंगे । साथ ही —

यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यादिकानि च ।
जग्मसंज्ञार्जितान्येव कामतोऽपि कृतानि च ।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति मौसलस्नानतो नराणाम् ।

इसी प्रकार 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में भी गंगा की महिमा स्वीकार करते हुए कहा गया है—

गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि ।
मुच्यते सर्व पापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥

अर्थात् , जो सैकड़ों योजन दूर से भी गंगा, गंगा बोलता है वह सब पापों से मुक्त होकर अंत में विष्णुरूप को प्राप्त होता है ।

परन्तु इन पुराणों के पूर्व ही वेदों तक में गंगा का उल्लेख हो चुका था । देखिए—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्राया ।
असिकन्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥

—ऋग्वेद १० । ७५ । ५

इस प्रकार गंगा वेदों तक में विराजमान हैं और भिन्न-भिन्न अवतारों की उपासना के पूर्व ही उसकी उपासना प्रारंभ हो चुकी थी । वेद ही हमारे साहित्य के मूलस्रोत हैं अतएव

वैदिककाल से लेकर आधुनिक काल तक गंगा का महत्व किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है। धार्मिक दृष्टिकोण और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ-साथ साहित्यिक दृष्टिकोण से भी गंगा का महत्व है। संस्कृत, हिन्दी, फारसी, बंगाली, गुजराती और कर्नाटकी आदि सभी भाषाओं के साहित्य में गंगा का महत्व वर्णन किया गया है।

संस्कृत कवियों का गंगा-वर्णन

संस्कृत के आदि कवि 'वाल्मीकि रामायण' में राम-वनवास के अवसर पर सत्रह श्लोकों में गंगा का सजीव चित्रण किया है। गंगा का रूप वर्णन करते समय आदि कवि ने बड़ी ही सुन्दर व्यंजना की है। वह लिखते हैं—"कहीं तो जल के आघातों के रूप में अट्टहास के कारण गंगा जी उग्र प्रतीत होती हैं और कहीं-कहीं फेनों के रूप में निर्मल हँसी हँस रही हैं। कहीं पर जल की वेणी और कहीं पर लहरों के घूमने के फलस्वरूप भँवर शोभायमान हो रहे हैं। प्रवाह की स्थिरता से कहीं पर गम्भीरता और कहीं पर वेग होने से आकुलता प्रतीत होती हैं। कहीं-कहीं गम्भीर ध्वनि और कहीं-कहीं भयानक आवाज सुनाई देती है।" देखिए:—

जलाघाताट्टहासोग्रां फेन निर्मलहासिनीम्
क्वचिद्वेणी कृत जलां क्वचिदावर्तशोभिताम् ॥
क्वचित् स्तिमितगम्भीरां क्वचिद्वेगसमाकुलाम्
क्वचिद्गंभीरनिर्घोषां क्वचिद भैरवनिःस्वनाम् ॥

महर्षि व्यास ने 'महाभारत' में गंगा का वर्णन विशेषतः दो स्थलों पर किया है। प्रथम तो आदि पर्व में शान्तनु की कथा का वर्णन करते समय और दूसरे वनपर्व में सगर पुत्रों के उद्धार के अवसर पर। कवित्व की दृष्टि से वनपर्व वाला वर्णन विशेष सुन्दर बन पड़ा है। गंगावतरण का इतना सुन्दर वर्णन बहुत कम कवियों ने किया है। गंगावतरण की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

ईशानं च स्थितं दृष्ट्वा गगनात्सहसा च्युता।
तां प्रच्युतामथो दृष्ट्वा देवाः सांर्द्ध महर्षिभिः॥
गन्धर्वोरगयक्षाश्च समाजग्मुर्दिदृक्षवः।
ततः पपात गगनाद्गंगा हिमवतः सुता॥
समुद्धतमहावर्ता मीनग्राहसमाकुला।
तां दधार हरो राजन् गंगा गगन मेखलाम्॥
ललाटदेशे पतितां मालां मुक्तामयीमिव।

अर्थात् "शंकर अपनी जटा फैलाकर खड़े हो गए। उन्हें खड़े देख व्योममंडल से अचानक गंगाजी गिरीं। अन्तरिक्ष से उन्हें गिरते देख उस दृश्य की सुषमा निहारने के हेतु देवगण, महर्षि, गंधर्व, सर्प, यक्ष आदि एकत्र हुए। गंगाजी में उस समय बड़े-बड़े भँवर पड़ रहे थे। बहुत सी मछलियाँ और ग्राह बड़े जोरों की आवाज कर रहे थे। गगन की मेखला के सदृश प्रतीत होनेवाली गंगा को शंकर ने इस प्रकार जटाओं में धारण कर लिया जैसे कोई मोतियों की माला हो।"

कालिदास ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'रघुवंश' में तीर्थराज प्रयाग के गंगा-यमुना-संगम का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। सजीवता और मर्मस्पर्शता के साथ-साथ उपमाओं की छटा भी दर्शनीय है।[१] 'उत्तर रामचरित' में भवभूति ने भी गंगाजी का महत्व वर्णन किया है। राम गंगा की प्रशंसा करते हुए कहते हैं:—

तुरगविचयव्यग्रानुर्वीभिदः सगराध्वरे
कपिलमहसामर्षात् प्लुष्टान् पितुश्चत पितामहान्
अगणिततनूतापं तप्त्वा तपांसि भगीरथो
भगवति तव स्पृष्टानद्भिश्चिरादुदतीतात्।

अर्थात् राजा सगर के यज्ञ में अश्व को खोजने में व्यग्र, वसुधा को खोद डालनेवाले, महर्षि कपिल के भयंकर क्रोध से भस्म हुए मेरे पितरों को भगीरथ ने अगणित शारीरिक व कष्टों को सहन करते हुए, तप करके तेरे सलिल से स्पर्श कराकर मुक्ति प्रदान की थी।

'किरातार्जुनीय' जैसे प्रसिद्ध महाकाव्य के रचयिता भारवि ने भी संक्षेप में ही गंगा का बड़ा सुन्दर रूप वर्णन किया है—"ऊँची-ऊँची शिलाओं से टकराने वाली गंगा का जल जब रुककर पीछे की ओर लौटता है और बिखरे हुए जलकण ऊपर की ओर उछलते हैं, उस समय ऊँचे शिखरों से टकराने के कारण कवि को गंगा ऐसी प्रतीत होती है मानो वह चँवर डुला रही हो। देखिए :—

विततशीकरराशिभिरुच्छ्रितै—
रुपलरोधविवर्तिभिरम्बुधिः।
तधतमुन्नतसानुसमुद्धतां
धृतसितव्यजनामिव जान्हवीम्॥

'रसगंगाधर' के रचयिता पंडितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' भी संस्कृत साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है और श्री शंकराचार्य के 'गंगाष्टक' में कुछ कम सरसता नहीं है।

हिन्दी-कवियों का गंगा वर्णन

हिंदी साहित्य का आदिकाल तो संघर्षों के मध्य प्रारम्भ होता है और इसलिए युद्ध तथा प्रेम ही उस काल के प्रमुख काव्य-विषय रहे भक्तिकाल के कवियों ने अवश्य गंगा का

---

[१] कालिदास का गंगा-यमुना-संगम वर्णन देखिए :—

क्वाचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयीयष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपंकजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव।
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीवपङ्क्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानावद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमनातरंङ्गैः॥

वर्णन किया है तथा सूर और तुलसी दोनों ने ही गंगा के वर्णन में अपनी उत्कृष्ट कवित्व शक्ति का परिचय दिया है। कृष्ण-भक्तिशाखा के प्रसिद्ध कवि सूर ने यमुना तटवासी होते हुए भी गंगा का गुणगान किया है[1] और तुलसी के गंगा वर्णन में बाह्य प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण भी दृष्टिगोचर होता है। एक उदाहरण देखिए—

हरित गंभीर वानीर दुहुँ तीरवर,
मध्य धाराविशद, विश्व-अभिरामिनी।
नील पर्यंककृत-शयन सर्पेश जनु,
सहस-सीसावलीस्रोत सुर स्वामिनी॥

—विनय पत्रिका

मैथिली कोकिल विद्यापति तथा रसखान की उक्तियों में भी कमनीयता है और प्रसिद्ध आचार्य केशवदास ने भी त्रिवेणी वर्णन के प्रसंग में गंगा की मनोहारिणी सुषमा भी चित्रित की है। केशवदास के पश्चात् तो रीतिकालीन कविताओं के प्रभाव से भक्ति से विमुख हो विलासिता की ओर अग्रसर होने लगी। रीतिकाल में लक्षणमूलक ग्रन्थों के सृजन की ओर ही कवियों की दृष्टि रही और नायिका भेद आदि के चित्रण में ही कवित्वशक्ति व्यय की जाने लगी। वर्ण्य-विषय की अपेक्षा वर्णनशैली पर ही विशेष ध्यान दिया जाने लगा। फलस्वरूप कविता में भावुकता की अपेक्षा चमत्कार पर विशेष जोर दिया जाने लगा। मतिराम ने यद्यपि गंगा का वर्णन अवश्य किया है परन्तु उसमें अलंकारों का ही समावेश विशेष रूपसे है।[2] पद्माकर की गंगा-लहरी अवश्य हिंदी साहित्य में गंगाविषयक साहित्य के अन्तर्गत अपना अद्वितीय स्थान

१—देखिए :—

गंग तरंग विलोकत नैन।
अति पुनीत विष्णु पादोदक, महिमा निगम पढ़त गुन चैन।
परम पवित्र मुक्ति की दाता, भागीरथी भई वर दैन।
त्रिभुवन हार सिंगार भगवती, सलिल चराचर जाके ऐन॥
'सूरदास' विधना के तप ते, प्रकट भई संतत सुख दैन॥

२. मतिराम के पूर्व ही सेनापति ने भी कवित्तरत्नाकर की पाँचवीं तरंग 'रामरसायन' में लगभग पन्द्रह-सोलह छंदों में गंगा का वर्णन किया हे जिनमें प्रकृति वर्णन की अपेक्षा कवि के हृदयगत भक्ति-भावनाओं की विशदता है। एक छंद देखिए—

काल तैं कराल कालकूट कंठ माँझ लसै,
ब्याल उरमाल, आगि भाल सब ही समैं।
ब्याधि के अरंग ऐसे, ब्यापि रह्यौ आधौ अंग,
रह्यौ आधौ अंग सो सिवा की बकसीस मैं॥
ऐसे उपचार तैं न लागती बिलात बार,
पैयती न वाकी तिल एकौ कहूँ ईस मैं।
सेनापति जिय जानी सुधा तैं सहस बानी,
जो पै गंगा रानी कौं न पानी होतौ सीस मैं॥

रखती है। यद्यपि श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने माधुरी वर्ष ८, खंड १, संख्या १ में संपादकीय विचार के अन्तर्गत 'महाकवि पद्माकर' नामक निबन्ध में लिखा है कि ग्वाल कवि की 'यमुना लहरी' का पद्माकर की गंगालहरी पर विशेष प्रभाव पड़ा है, परन्तु वास्तव में पद्माकर की गंगालहरी ने ही ग्वाल कवि की यमुनालहरी लाछीराम की सरजूलहरी, और रघुराज के गंगा-शतक को प्रभावित किया है। यह तो हम भी स्वीकार करते हैं कि पद्माकर ने भावों की बार-बार पुनरावृत्ति की है और कहीं-कहीं अनुप्रास प्रियता के फलस्वरूप ब्रजभाषा की निजता को भी नष्ट कर दिया है किन्तु बहुत से छन्द ऐसे भी उनकी लेखनी से प्रसूत हुए हैं जो कि हमारे इस कथन के अपवाद हैं। पद्माकर ने गंगा का गुणगान विस्तार के साथ किया है तथा वे गंगा को कल्पवृक्ष से भी श्रेष्ठ मानते हैं और उन्हें गंगा पर इतना अधिक विश्वास है कि वे अपने पापों तक को चुनौती देते हैं––

चलो चलु, चलो चलु, विचलु न बीच ही तें,
कीच बीच नीच तो कुटुंब को कचरिहौं।
ए रे दगादार मेरे पातक अपार तोहि,
गंगा को कछार में पछारि छार करिहौं।

पद्माकर ने शिव के महत्व का कारण गंगा को ही माना है तथा उनकी 'गंगालहरी' में भक्ति-भावना की अधिकता के साथ-साथ काव्यगत विशेषताओं की भी विशदता है। लेखराज के 'गंगाभरण' में तो गंगा पर ही अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं।[1] आधुनिक काल के प्रसिद्ध कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से युक्त रमणीय भाषा में 'गंगावतरण' का भावपूर्ण वर्णन किया है। अँग्रेजी कवि टेनीसन की भाँति कविता के कलापक्ष की सुघरता प्रदर्शित करने वाले ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि 'रत्नाकर' ने ब्रजभाषा में 'गंगावतरण' नामक खंड काव्य की रचना कर यह सिद्ध कर दिया कि ब्रजभाषा में भी सफलता पूर्वक खंड काव्य और प्रबन्ध-काव्य की रचना हो सकती है। गंगा-विषयक हिन्दी कविताओं में 'गंगावतरण' को विशेष महत्व दिया जाता है तथा उसे श्रेष्ठतम भी कहा जाता है। गंगा को व्योममंडल से भूमि पर उतरते समय घमंड हो गया, और वे मन ही मन विचार करने लगीं––

गंग कह्यो उर भरि उमंग तौ गंग सही मैं।
निज तरंग-बल जौ हर-गिरि हर-संग मही मैं॥

---

[1] लेखराज की अलंकार पूर्ण सूक्ति देखिए––

पच्छी पटुकीर नीको, फूल कासमीर नीको,
सीरो सो उसीर नीको, रूप जो अनंग को।
मंत्री मति धीर नीको, मित्र दिलगीर नीको,
रतनन हीरू, चीर पीट पीत रंगा को॥
कहै लेखराज लखौ लच्छनी सुबीर नीको,
प्रकट फकीर नीको बिन रस-रंगा को।
सज्जन को तीर नीको, पच्छिम समीर नीको,
सुरभी की छीर नीको, नीर नीको गंगा को॥

लै सवेग-विक्रम पताल-पुरि तुरत सिधाऊँ।
ब्रह्म लोक कौं बहुरि पलटि कन्दुक इव आऊ ।।

परन्तु गंगा ने जब शिव का मनोहर स्वरूप देखा तब उनकी कुछ और ही दशा हो गई—

भयौ हुतौ भ्रूभंग-भाव जो भव-निदरन कौं।
तामैं पलटि प्रभाव परयौ हिय हेरि हरन कौ।।
प्रगटत सोई अनुभाव भाव औरै सुखकारी।
ह्वै थाई उतसाह भयौ रति कौ संचारी।।

ब्रजकोकिल पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने भी सुमधुर शब्दावली में गंगा का वर्णन किया है—

किधौं भेद-पाषाण भेदि, नित द्रवत सुधा कौं।
बहति हिलोरति बोरति, सुरसरि-हिय बसुधा कौं।।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के दोनों प्रसिद्ध महाकवियों (हरिऔधजी और गुप्तजी) ने खड़ी बोली में गंगा का वर्णन किया है। गुप्तजी ने साकेत में कई स्थलों पर गंगा का वर्णन हुआ है। एक स्थल पर वे कहते हैं—

यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी।
स्वर्ग कंठ से छूट धरा पर गिर पड़ी।।
सह न सकी भवताप अचानक गल गई।
हिम होकर भी द्रवित रही कल जलमई।।

श्री सुमित्रानंदन पंत ने 'नौका विहार' करते समय गंगा का मनोहारी रूप देखा है और उनके इस वर्णन में भाषा की मृदुलता और भावों की सुकुमारता दर्शनीय है—

सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रान्त, क्लान्त, निश्चल!
तापस वाला गंगा निर्मल, शशिमुख से दीपित मृदु करतल
लहरें उर पर कोमल कुन्तल!
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर; लहराता तार तरल सुन्दर—
चंचल अंचल सा नीलाम्वर!
साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी है वर्तुल मृदुल लहर!

दिनकर ने 'पाटलिपुत्र की गंगा' को विगत वैभव की स्मृति दिलाई है और वर्तमान परिस्थितियों का भी ज्वलंत चित्रण किया है। इसी प्रकार अन्य कई हिन्दी कवियों ने भी सफलता के साथ गंगा का वर्णन किया है।

अन्य भाषा साहित्य में गंगा-वर्णन

बंगभाषा के प्रसिद्ध नाटककार श्री द्विजेन्द्रलाल राय ने भी भक्ति-भावनापूर्ण एक

पद गंगा के प्रति लिखा है तथा श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी गंगा का गुणगान कर अपनी भक्ति व्यक्त की है। वे कहते हैं—

जान्हवी जमुना विगलित करुना।
पुण्य पियूषस्तन्यवाहिनी॥

बंग साहित्य की भाँति कर्नाटक साहित्य में भी गंगा का सुन्दर वर्णन किया गया है। और वास्तव में भारतीय संस्कृति से उत्तर भारत ही नहीं दक्षिण भारत भी प्रभावित हुआ है। प्रसिद्ध कवि लिंगण के केलदि-नृप-विजय-काव्य' में भी गंगा का विस्तृत वर्णन किया गया है जिसमें आदि कवि की सी अलंकारिकता, व्यास की सी विभवता, भवभूति और भारवि की सी भावुकता, कालिदास की सी कमनीयता, सूर की सी सरसता और पद्माकर का सा प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। लिंगण का गंगावर्णन कर्नाटक साहित्य में विशेष प्रसिद्ध है। फारसी साहित्यकार भी गंगा के प्रति उदासीन नहीं रहे हैं। कल्पना, भावुकता और भाषा-की मधुरता से उनका भी गंगावर्णन उत्कृष्ट बन पड़ा है। फारसी भाषा के प्रसिद्ध कवि शेखअली हर्जी ने जो ईरान से काशी आए थे, गंगा नदी का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

परीरूख़ाने बनारस बसद करश्मः व रंग,
बराये करदन अश्नान चूँ कुनन्द आहंग।
कुनन्द सिज़दह व महदेव तन देहन्द व आब,
ज़हे शराफ़ते संग व ज़हे लताफ़ते गंग॥

अर्थात्, अप्सराओं के समान मुखाकृतिवाली बनारस की युवतियाँ वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो जब गंगा-स्नान करने के हेतु जाती हैं तब पहले शंकर जी के सामने सिर झुकाती हैं और फिर जल में गोते लगाती हैं। उस समय महादेव की मूर्ति का गुणगान और गंगा जी के जल की गरिमा का वर्णन भला कौन कर सकता है।

'शेरो-शायरी' के सम्राट गालिब ने भी बनारस की प्रशंसा बड़े ही सुंदर शब्दों में की है। गलिब का कहना है कि गंगा के कारण ही बनारस का महत्व माना जाता है। देखिए—

सु ख़ुनरा नाज़िशे मीनो कमाशी,
ज़ेगुल बाँगे सितायश हाय काशी।
तआलल्लाह बनारस चश्म बद दूर,
बिहिश्ते खुरम्मो फ़िरदौस मामूर॥
बनारस रा कसे गुफ़्ता चुनीनस्त,
हनीज़ अज़ गंग चीनस बर ज़बींनस्त।
मगर गोई बनारस शाहिदे हस्त,
ज़े गंगश सुबह वो शाम आईन दर दस्त।
ब गंगश अक्सता पर तो फगन शुद,
बनारस ख़ुद नज़ीरे खेश्तन शुद॥

फारसी के प्रसिद्ध कवि लाला मित्तनलाल 'आफरी' ने भी गंगा की महिमा का वर्णन

किया है। उनका कथन है कि आकाश गंगा तो इस गंगा की समता करने का साहस ही नहीं कर सकती क्योंकि यह गंगा स्वयं ही भक्तों को स्वर्ग प्रदान करती है। देखिए—

विहश्ते गंग गर मीनू सरिशतस्त,
कुजा मानिन्द इ गंगे विहिश्तस्त।
बहारश रौ कशे गुलज़ार मीनू,
कि अज गंगास्त आँरा शक्ले कमानस्त,
ज़े वरना ता असी शक्ले कमानस्त,
चो चिल्लह आवे गंवा दरमियानस्त।

अँग्रेजी साहित्य में गंगा वर्णन

भारतीय साहित्य में ही नहीं विदेशी साहित्य में भी गंगा का वर्णन किया गया है और कुछ अँग्रेज कवियों ने तो जिस प्रकार टेम्स का वर्णन किया है उसी प्रकार गंगा का वर्णन भी किया है। अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि एच० एच० विलसन ने—जिन्होंने कि अँग्रेजी में कालिदास के मेघदूत का अनुवाद किया है—गंगा का बड़ा ही सुन्दर कवित्वपूर्ण वर्णन किया है। वें कहते हैं—"गंगा के विशाल वक्ष पर एक ऐसी छाप पड़ी है, जो कि प्रकृति में सत्यं, शिवं, सुन्दरं के सम्मिश्रण करने की ईश्वरीय अनुकम्पा को प्रकट करती है।" देखिए—

Upon Ganges' ample breast
The signet is a like imprest,
That manifests the will divine
Ever in Nature to combine—
The fair and good, and use and grace
For all the haunts of human race

इसी प्रकार रेजिनाल्ड हेबर, रैटर, एटकिंसन, एच० एम० पारकर आदि कवियों ने भी गंगा पर अपनी मनोभावनाएँ प्रकट की हैं। डब्ल्यू० एफ० थाम्पसन ने भी विलसन की भाँति गंगा के सम्बन्ध में कई कविताएँ लिखी हैं और एक स्थल पर उन्होंने गंगा जी का दर्शन प्राप्त करने के हेतु अपने हृदय की आतुरता व्यक्त करते हुए लिखा है—

In every haunted spot,
I've sought thee till my spirit sunk,
For oh! I found thee not.

अर्थात् जहाँ-जहाँ मैं गया वहाँ प्रत्येक स्थान पर मैंने तुम्हें ढूंढ़ा और आशा की अंतिम क्षण तक तुम्हें ढूँढ़ता ही रहा, लेकिन हाय, मैं तुम्हें नहीं पा सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गंगा का वर्णन प्रायः प्रत्येक भाषा के काव्य साहित्य में किया गया है तथा गंगा के वर्णन में कवियों ने भक्ति-भावना के साथ-साथ प्रकृति-निरीक्षण का भी परिचय दिया है।

(साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १२ जुलाई १९५३)

संत : व्युत्पत्ति और महिमा

प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ॥

—भवभूति

वस्तुतः संत-महात्माओं का महत्व वर्णन करना सहज नहीं है और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट हो जाएगा कि संत ही हमारे समाज के जीवन हैं तथा कोई भी संत-शून्य समाज कभी भी किसी प्रकार जीवित नहीं रह सकता और प्रायः सभी देशों में प्रत्येक समय पर संतों का प्रादुर्भाव होता ही रहा है। इतना ही नहीं संतों को भगवान का स्वरूप ही मान लिया जाता है और यहाँ तक कहा जाता है कि उसे ब्रह्म कहा जाय, चाहे ईश्वर और चाहे जगत माना जाय, या संत ही कहा जाय लेकिन बात एक ही है। धार्मिक दृष्टिकोण से ही नहीं काव्यगत दृष्टिकोण से भी संत-वाणी का अत्यधिक महत्व माना जाता है और जैम्पसर्न ने तो—"Poems touch us more deeply; they move even the sceptic soul, for they give a passionate from to the final longing of the developed minds of the seers, saints and the poets." नामक पंक्तियों द्वारा स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ऋषियों, संतों एवं कवियों के परिपक्व अंतःकरण की चरम अभिलाषा को रागमय रूप देने के फलस्वरूप ही काव्य में मानव-समाज के अंतस्तल को स्पर्श करने की शक्ति है। इसी प्रकार प्राचीन भारतीय संत-काव्य के तत्त्वज्ञान की प्रशंसा करते हुए डॉ॰ विण्टर्निट्ज भी लिखते हैं—"What inspires us with the highest respect for these ancient thinkers of India is the earnestness and the enthusiasm with which they endeavoured to fathom the divine principle or what Kant whould call the "Thing-in-itself", whether they called it 'The one' or 'The Existent' or 'The Atman."

इधर संत शब्द का प्रयोग भी कई अर्थों में प्रचलित है और वैदिक काल से लेकर आज तक न जाने उसका प्रयोग किन-किन रूपों में किया जाता रहा है अतएव उचित तो यह होगा कि हम प्रारम्भ में संत शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करें क्योंकि हिंदी में प्रयुक्त 'संत' संस्कृत-भाषा-मूलक शब्द है तथा कातन्त्र व्याकरणानुसार यह शब्द नाम या प्रतिपादक, पाणिनीय व्याकरणानुसार प्रतिपादक के उत्तर प्रथमा बहुवचन से निष्पन्न सन्तः शब्द है और बहुवचन के गौरव से चलित भाषा में संस्कृत का विसर्ग लुप्त हो जाने

से यह प्रतिपादक शब्द केवल सत् रह गया है। इस सत् शब्द का मूल धातु अस (अस्ति) है और 'संस्कृत भाषा रत्नाकर' में उत्तम से लेकर मध्यम तक तथा नित्य से लेकर तुच्छ तक सर्वत्र ही अस् धातु का प्रयोग किया जाता है और छान्दोग्य उपनिषद् की "सदैव सोम्येदमग्रं आसीत्" एवं स्मृतियों की "ऊँ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृत" नामक उक्तियों द्वारा सत् शब्द को ब्रह्म का वाचक माना जाता है और साथ ही उसका धातुगत अर्थ अस्तित्व माना जाता है। इस प्रकार जिसका अस्तित्व नहीं है वह तो असत् है लेकिन जो विद्यमान है वही सत् है अर्थात् 'संत' के समान अस्तित्व किसी का भी नहीं हैं और इसीलिए तैत्तिरिय उपनिषद् में ब्रह्म की सत्ता से सुविज्ञ को ही संत माना गया है—

असन्नेव संभवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेवं ततो विदुः॥

लेकिन श्री स्वामी श्री गंगेश्वरानंद जी का मत है कि संत शब्द चार प्रकार से बन सकता है—"षण् सम्भक्तों ४६५ धातु से औणादिक तत् प्रत्यय करने से निष्पन्न संत शब्द का अर्थ "सनति सम्भवति लोकाचनु गृह्णाति" उस व्युत्पत्ति से लोकानुग्रहकारी होता है। वह संत शब्द साधु तो है परन्तु शास्त्र में प्रयुक्त नहीं है। (१) शम् शब्द से "केशभ्यां बभयुस्ति तुतयसः" (अष्टा० ५-२-१३८८) इस पाणिनीय सूत्र द्वारा त प्रत्यय होकर शान्त शब्द बनता है जिसका अर्थ "शं सुखं ब्रह्मानन्दात्मकं विद्यते यस्य" इस व्युत्पत्ति से ब्रह्मानन्द बनता है। इसी का अपभ्रंश संत शब्द है। (२) "षणुदाने" १४६५ धातु से "क्तिचक्तौ च संज्ञायाम्" (३-३-१७४) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार क्तिच् प्रत्यय होकर संति शब्द बना जिसका अर्थ "सनोति प्रार्थितं फलं प्रयच्छति" इस व्युत्पत्ति से फलदाता है। उस संति शब्द से तत्र साधु अर्थ में यत् प्रत्यय होकर सन्त्य शब्द बनता है। फलदाताओं में श्रेष्ठ इसका अर्थ है।"[1] वेदों में संत शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है तथा ऋग्वेद मंडल १ सू० १५ मं. १२ की प्रस्तुत सूक्ति द्वारा—"गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना यज्ञनीरासि। देवान् देवयते यज्ञ।" संतों को फलदाताओं में श्रेष्ठ माना गया है। स्मरण रहे डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की दृष्टि में संत शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से हो सकती है और इस प्रकार उनका मत है, "इसे पालि भाषा के उस शांत शब्द से निकला हुआ मान सकते हैं जिसका अर्थ निवृत्ति या विरागी होता है अथवा यह उस 'सत्' शब्द का बहुवचन हो सकता है जिसका प्रयोग हिन्दी में एक वचन जैसा होता है और जिसका अभिप्राय एकमात्र सत्य में विश्वास करने वाला अथवा उसका पूर्णतः अनुभव करने वाला व्यक्ति समझा जाता है। इन दोनों ही दृष्टियों से इस शब्द का प्रयोग इन संत कवियों के लिये उपयुक्त ठहरता है यद्यपि इन दोनों में से संत शब्द का मूल साधारणतः मान लिया गया है।"[2] इसी प्रकार संत शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भी लिखा है "संत शब्द हिन्दी भाषा के अंतर्गत एक वचन में प्रयुक्त

---

१. वेद में संत—ले० वेददर्शनाचार्य श्री मंडलेश्वर श्री स्वामी जी श्री गंगेश्वरानन्द जी महाराज (कल्याण संत अंक पृष्ठ ४९)

२. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल (प्रस्तावना, पृष्ठ ख)

होता है, किन्तु यह मूलत: संस्कृत शब्द सन् का बहुवचन है। 'सन्' शब्द भी (अस होना) धातु से बने हुए 'संत' का पुल्लिग रूप है जो 'सत्' प्रत्यय लगाकर प्रस्तुत किया जाता है और जिसका अर्थ केवल 'होनेवाला' वा 'रहनेवाला' हो सकता है। इस प्रकार संत शब्द का मौलिक अर्थ 'शुद्ध अस्तित्व मात्र' का बोधक है और इसका प्रयोग भी इसी कारण उस नित्य वस्तु वा परम तत्व के लिये अपेक्षित होगा जिसका नाम कभी नाश नहीं होता, जो सदा एक रस व अविकृत रूप में विद्यमान रहा करता है और जिसे सत्य के नाम से भी अभिहित किया जाता है।"[1] स्मरण रहे ऋग्वेद की "सुवर्ण विप्रा: कवयोवचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति" अर्थात् क्रांतदर्शी विप्र उस एक का अद्वितीय 'सत्' का ही वर्णन अनेकानेक रूपों में करते हैं और 'छन्दोग्य उपनिषद्' की "सदेव सोभ्येदयग्र आसीदेकमेवा द्वितीयम्" अर्थात् आरंभ में एक अद्वितीय 'सत्' ही वर्तमान था नामक उक्तियों द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि संत शब्द के 'सत्' रूप का प्रयोग वैदिक साहित्य में ब्रह्म वा परमात्मा के लिये भी किया गया है और इसी प्रकार अपभ्रंश में लिखी गई 'पाहुड़ दोहा' नामक पुस्तक में भी संत शब्द का प्रयोग परम तत्व के लिए ही किया गया है—

संतु णिरंजणु सोजि सिउ, तहिं किन्नउअणुराउ।

—पाहुड़ दोहा—कारंजा जैन सिरीज, ३८

और भी—

संतु णिरंजणु तहिं वसइ, णिम्मल होइ गवेसु

—पाहुड़ दोहा कारंजा जैन सिरीज, ९४

इस प्रकार संत और परमात्मा में कोई मौलिक भेद नहीं माना जाता[2] लेकिन 'सत्' शब्द के "सन् साधौ धीरशास्त्रयो: मान्ये सत्ये विद्यमाने" के अनुसार मेदिनी कोष का आधार लेकर कई अर्थ किए जा सकते हैं और इस प्रकार श्रीमद्भगवद् गीता का अनुशीलन करने पर तो स्पष्ट हो जाता है कि 'सत्' शब्द के अनेकानेक अर्थ हो सकते हैं[3] तथा साथ

---

[1] उत्तरी भारत की संत-परम्परा—श्री परशुराम चतुर्वेदी (भूमिका, पृष्ठ ४)

[2] तुलसी ने रामचरित मानस (उत्तर कांड) में लिखा है—

जानेसु संत अनंत समाना।

गरीबदास जी ने भी लिखा है कि संत एवं साईं दोनों एक समान हैं। इनमें किसी भी प्रकार का मीन-मेख करने की आवश्यकता नहीं—

साईं सरीखे संत हैं यामे मीन न मेख।

पलटू साहब का भी यही विचार है कि संत तथा राम में तनिक भी भेद न मानना चाहिए—

संत औ राम कौ एक कै जानिये
दूसरा भेद ना तनिक आने।

[3] श्रीमद्भगवद् गीता के सत्रहवें अध्याय में स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ने 'सत्' शब्द का उपयोग पाँच प्रकार से किया है—

ही संस्कृत में सत् शब्द का अर्थ 'है' भी होना है लेकिन यह प्रायः अच्छा शब्द के स्थान पर ही प्रयुक्त होता है तथा हिन्दी में तो संत शब्द सज्जन, साधु, सत्पुरुष, भक्त आदि के लिये भी प्रयोग होता है।[1] पाश्चात्य विचारकों के अनुसार संत शब्द अँग्रेजी शब्द 'सेंट' (Saint) का समानार्थक है और चूंकि सेंट शब्द लैटिन Sancio (सैंशियो) जिसका कि अर्थ पवित्र होना होता है के आधार पर निर्मित (Sancous) सैंक्टस् शब्द से बनता है। अतएव सेंट शब्द ईसाई धर्म के प्राचीन महात्माओं के हेतु पवित्रात्मा के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

संत-महिमा पर विचार करते समय और संतों के लक्षणों पर प्रकाश डालते समय हमें अपने वैदिक काल पर ही सर्वप्रथम विचार करना होगा क्योंकि वेदों में ही संत-साहित्य के उद्गम का मूल स्रोत दृष्टिगोचर होता है। संत शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते समय हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि ऋग्वेद में संतों को फलप्रदाता माना गया है तथा उसे सत्पुरुष

---

(१) ॐ तत्सदिति निदशो ब्रह्मस्त्रिविध स्मृतः।

—१७।२३

अर्थात् 'सत्' नाम ब्रह्म अर्थात् आत्मा का है।

(२) कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।

—१७।२७

अर्थात् अपने योग क्षेत्र के लिए कोई कर्म न करके वासुदेव के अर्थ कर्म करना सत् कहलाता है।

(३) यज्ञे तपसि दानै च स्थितिः सदिति चोच्यते।

—२७।२७

अर्थात् यज्ञ, दान, तप, आदि सात्विक कर्म को 'सत्' कहते हैं।

(४) सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।

—१७।२६

अर्थात् सद्भाव एवं साधुभाव अर्थात् प्राणिमात्र से सुहृदभाव रखकर सर्वभूत-हितरत रहना एवं राग द्वेष आदि विकारों में न फँसना भी 'सत्' कहलाता है।

(५) प्रशस्ते कर्मणि तथा स्वच्छन्दः पार्थ युज्यते।

अर्थात् प्रशस्त कर्म अर्थात् उत्तमोत्तम सांसारिक था आत्मोद्धारक मांगलिक कर्मों का करना भी "सत्" कहलाता है।

[1] रामचरित मानस में तुलसी ने संत, साधु और भक्त इन तीनों शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। आरण्य काण्ड में देवर्षि नारद के यह कहने पर कि—

सन्तन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भंजन भव भीरा॥

रामचन्द्र जी इस प्रकार कहते हैं—

सुनु मुनि साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥

संतों के लक्षणों पर जब भगवान प्रकाश डाल चुकते हैं तब तुलसी ने अपने उद्गार प्रकट करते हुए लिखा है—

अस दीनबन्धु कृपाल अपने भगत गुन निज मुख कहे।

मानते हुए उसके प्रवृत्तिसेवी और निवृत्तिसेवी नामक दो रूप स्वीकार कर कर्मियों को प्रवृत्तिसेवी तथा ज्ञानियों को निवृत्तिसेवी मानकर ऋग्वेद में कर्मयोगी संतों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

विष्टवी शमी तराणत्वेन वाघतो
मर्तासः सन्तो अमृततत्वमानशुः ।
सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः
संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः ॥
—ऋग्वेद १ । ११० । ४

साथ ही अथर्ववेद में निवृत्तिसेवी संतों का भी वर्णन किया गया है—

पूर्णः कुम्भोधि काल अहितस्तं वै
पश्चामो बहुधा नु सन्तः ।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्:
कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥
—अथर्ववेद १९ । ५३ । ३

मनुस्मृति (१ । १०८) के अनुसार "आचारः प्रथमो धर्मः" के अनुसार मुख्य धर्म है और साथ ही इसी प्रकार सदाचारी होना ही महाभारत में संतों का लक्षण माना गया है तथा वे सत्य को ही आश्रय देते हैं जिसके कि उन्हें परम गति प्राप्त होती है[1] और इसी प्रकार वे धर्मपालन की ओर भी सर्वदा ध्यान देते हैं तथा कभी भी उन्हें भय, दुःख आदि विकारों की चिन्ता नहीं होती और उनके सत्संग से भय भी नहीं होता ।[2] वसन्त ऋतु के समान उन्हें निस्वार्थी समझकर कहा जाता है कि वे एक मात्र अपनी परोपकारिता द्वारा ही सबका हित करते हैं तथा कभी भी किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाते [3] और इसीलिए स्वयं भगवान ने स्वीकार किया है कि जहाँ संतों का सत्संग होता है वहाँ मेरे चरित्र की मानस एवं श्रवर्णेद्रियो

---

१. सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्म सनातनः ।
सत्यमेव नमस्तेव सत्यं हि परमा गतिः ॥
—महाभारत

२. सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः
सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ते ।
सतां सद्भिर्नाफलः सङ्गमोऽस्ति
सद्भ्यो भयं नानुभवन्ति सन्तः ॥
—महाभारत

३. शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तावल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णाः स्वयं भीमभावार्णवं जना
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः ॥
—विवेक चूड़ा० २

को प्रिय लगनेवाली कथाएँ होती हैं जिन्हें श्रवण करने से प्राणियों को मोक्षप्राप्ति हो सकती है[1] एवम् संत जन ही भीषण पारावार में डूबने वाले व्यक्तियों के हेतु सुदृढ़ नौका के सदृश्य हैं जिनका अवलम्ब लेने से इस संसार-रूपी भीषण समुद्र में डूबने का भय नहीं रहता।[2] इसी प्रकार शंकराचार्य भी 'क्षणमपि सज्जनसङ्गतिरेका भवति भवार्णवतरेण नौका' नामक उक्ति द्वारा यह स्वीकार करते हैं कि संतों का एक क्षण का संग भवसागर से पार उतारने के लिये जहाज है तथा महाभारत में तो किसी से द्रोह न करने, दान देने और सर्वदा सत्य बोलने के कारण संतों की पदवी सर्वोच्च मानी गयी है तथा कहा गया है कि संत सर्वत्र दयालु रहते हैं और सबको दयापूर्वक ज्ञान प्रदान करते हैं एवम् संतोष के साथ उत्तम धर्म का पालन करते हैं। गर्ग संहिता में "नृणामन्तस्तमोहारी साधुरेव न भास्करः" नामक उक्ति द्वारा यह माना गया है कि चाहे बाह्य अंधकार को नष्ट करने की क्षमता सूर्य में हो लेकिन मानव हृदय का आंतरिक अंधकार तो संत ही नष्ट कर सकते हैं और गौतम स्मृति में दया, क्षमा अनुसूया, शोच, अनायास, मंगल, अकार्मण्य, अस्पृहा नामक जो आत्मा के आठ गुण माने गये हैं वस्तुतः संतों के जीवन में उनका पूर्णरूपेण विकास आवश्यक है।[3] संत स्वेच्छा से अपने आपको दूसरों के हित के लिये न्यौछावर कर देते हैं और चाहे संतों का शरीर नष्ट हो जाता हो परन्तु चूँकि वे आत्म रूप रहते हैं अतः कभी नष्ट नहीं होते और इसीलिए मराठी संत-काव्य के मेरुमणि ज्ञानेश्वर ने अपनी अमर कृति ज्ञानेश्वरी में लिखा है कि मैं समस्त विश्व को सुखमय बना डालूंगा और तीनों लोकों को आनन्द से परिपूर्ण कर दूंगा—

अवघा संसार सुखाचा करीन।
आनन्दे भरीन तिन्हीं लोक।

इसी प्रकार महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत कवि तुकाराम ने भी संतों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य शरीर से अपना व्यक्तित्व हटाकर विश्व को अपनी आत्मा बनाना अर्थात् विश्व-रूप बनकर शरीर-मात्र का हित तजकर विश्व-हित साधन ही आवश्यक माना है—

जगाच्या कल्याण संताच्या विभूति,
देह कष्टविती उपकारें।

---

[1] सतां प्रसंगान्मम वीर्यसम्पदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
—श्रीमद्भा० ३-२५-२५

[2] निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
संन्तो ब्रम्हविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥
—श्रीमद्भा० ११-२६-३२

[3] श्रीमद्भागवत में तो संतों के लक्षणों के संबंध में कहा गया है—
तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ता साधवः साधुभूषणः॥

वस्तुत: विश्व-कल्याण के हेतु ही संत वसुधा पर अवतीर्ण होते हैं और वे परोपकार में ही अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देते हैं। कबीर ने तो संतों का लक्षण निर्वैरी, निष्काम, प्रभु-प्रेमी और विषय-विरक्त होना माना है[1] तथा गोस्वामी तुलसीदास ने तो संतों की महिमा भगवान से भी अधिक मानते हुए कहा है कि यदि भगवान समुद्र हैं तो संत मेघ हैं और यदि भगवान चंदन हैं तो संत समीर हैं।[2] श्रीरामचरित-मानस में विस्तार के साथ संत-महिमा का वर्णन हुआ है और आरण्यकांड में एक स्थल पर तो स्वयं भगवान रामचन्द्र ने महर्षि नारद तथा उत्तरकांड में लक्ष्मण को संत-लक्षण बतलाते हुए स्वयं स्वीकार किया है कि वे संतों के इन्हीं गुणों के कारण उनके वश में रहा करते हैं।[3] वस्तुत: संतों के

मय्यन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्।
मत्कृते व्यक्तकर्मायिस्त्यक्त स्वजनबान्धवः॥
यदाश्रयाः कथा मृष्टा श्रीण्वन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान् मग्तचेतसः॥
त एते साधवः साध्विवर्वसङ्गविवर्जिताः।
सङ्गस्तेऽवथ ते प्रार्थ्यः सडदोषहरा हि ते॥

—श्रीमद्भागवत् ३। २५। २१-२४.

और भी—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्य सारो नवद्यात्मा समः सर्वोपारकः॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिन्चनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः।
अप्रसन्नो गंभीरात्मा घृतमाजितषड्गुणः।
असानी मानदः कल्पो मैत्रः करुणिकः कविः॥

—श्रीमद्भागवत ११। ११। २९-३१

[1] निरबेरी निहकामता, सांई सेंती हे नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै संतनि को अंग एह॥

[2] रामसिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥
मोरे मन प्रभु अस बिसवासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

[3] आरण्यकाण्ड की निम्नांकित पंक्तियाँ देखिए—

सुनु मुनि सन्तन्ह के गुन कहऊँ। जेहितें मैं उनके बस रहऊँ॥
षट विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमित बोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कवि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मद हीना। धीर धरम गति परम प्रवीना॥
गुनागार संसार दुख रहित बिगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय, तिन्ह कहँ देह न गेह॥
निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाव सबहिं सन प्रीती॥

लक्षणों की गणना करना सहज नहीं है और कालिदास की उक्ति का आश्रय लिया जाय तो कहा जा सकता है कि आपकी गुणगाथा का वर्णन कर वाणी अब विरत होती है तो वह इसलिए नहीं रुकती कि आपके गुण समाप्त हो गए हैं अपितु वह या तो वर्णन करते-करते शिथिल पड़ गई है या फिर पूर्णरूपेण वर्णन में समर्थ नहीं हो पाई—

महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संहियते वचः।
श्रयेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥

अतएव संत-महिमा को अंकित करना सहज नहीं है लेकिन उपर्युक्त वर्णन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि संतों का महत्त्व वैदिक काल से लेकर अर्वाचीन काल तक स्वीकार किया गया है और कदाचित इसीलिए संत शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त भी होता है। संत शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध कवि कालिदास ने "सन्तः परीक्ष्यान्य तरद भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनैय बुद्धिः" तथा "तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः" नामक उक्तियों द्वारा बुद्धिमान के लिए; श्रीमद्भागवत में "प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयंहि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः" द्वारा पवित्रात्मा के लिए; भर्तृहरि ने "सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगः" द्वारा परोपकारी के लिए, तुलसी ने "बंदउ संत असज्जन चरणा। दुखप्रद उभय बीच कछु वरणा" द्वारा सज्जन के लिए और "आचार लक्षणो धर्मः संतश्चार लक्षणाः" द्वारा महाभारत में सदाचारी के लिए किया गया है तथा साथ ही भक्त साधु व महात्मा जैसे शब्दों को भी उसका पर्याय मान लिया जाता है और इस प्रकार जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं उस संत को ब्रह्मानन्द सम्पन्न व्यक्ति, शांत, फलदाताओं में श्रेष्ठ तथा लोकानुग्रहकारी माना गया है। यथार्थ में प्रसिद्ध संत कवि समर्थ रामदास ने अपने 'दासबोध' में अनूठे ढंग से विश्व के स्वार्थों और परमार्थों का सम्मिलित रूप प्रस्तुत कर संसार को साधकर ही परमार्थ साधन का मार्ग प्रस्तुत किया है। संत क्या हैं, इस विषय में समर्थ रामदास का विचार है कि जो परमार्थ का अधिष्ठान हो और जिससे विश्व में, जनता में तथा सर्व साधारण में गूढ़ातिगूढ़ ज्ञान सुगमता के साथ अभिव्यक्त हो सके वही संत है—

अतां वदीन संत सज्जन।
जे परमार्थाचे अधिष्ठान ॥
जयचिनि गुह्य ज्ञान।
प्रगटे जानीं ॥

डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल की दृष्टि में 'संत' शब्द एक अत्यन्त व्यापक अभिप्राय

जप तप व्रत दम संयम नेमा। गुरु गोविंद बिप्रपद प्रेमा ॥
सरधा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया ॥
बिरति विवेक विनय विज्ञाना। बोध जथारत वेद पुराना ॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला ॥
मुनि सुनु साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते ॥

का सूचक बन गया है और इसे दुर्जन पुरुष के विपरीत एक सत्पुरुष वा सज्जन का समानार्थक भी समझा जाता है।”[1] श्री परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि “संत लोग आदर्श महापुरुष हुआ करते हैं और इसके लिये उनका पूर्णत: आत्मनिष्ठ होने के अतिरिक्त समाज में रहते हुए नि:स्वार्थ भाव से विशेष कल्याण में प्रवृत्त रहा करना भी आवश्यक है।”[2] महापंडित राहुल सांकृत्यायन का विचार है कि “संत पहले भले आदमी को किन्तु ऊँचे दर्जे के व्यक्ति को कहा जाता था। संत शब्द ही का स्त्रीलिंग सती है, यद्यपि वह असाधारण स्त्री के लिये प्रयुक्त होता था। लेकिन संत का मूल्य उसमें नहीं लाया जा सका, इसीलिए जब महिला संतों के लिये जरूरत पड़ी तो संतनी कहा जाने लगा। इस प्रकार ऋषि, मुनि, सत्पुरुष, सिद्ध, सन्त, एक ही तरह के व्यक्तियों के नाम है जो रहस्यमय पुरुष समझे जाते थे। इन सबको लोक-साहित्य की रहस्यवादी परम्परा का नेता कहा जा सकता है।”[3] पं० गोपीनाथ जी कविराज के शब्दों में जो सत्यस्वरूप, नित्यसिद्धवस्तु का साक्षात्कार कर चुके हैं अथवा अपरोक्ष रूप से उपलब्ध कर चुके हैं और इस उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्यस्वरूप में प्रतिष्ठित हो गये हैं वे ही संत हैं।”[4] साथ ही कविराज जी का यह भी विचार है कि जो “जो ब्रह्म अथवा आत्मा की समस्त परिस्थितियों को साक्षात रूप से जानकर तदनुरूप प्रतिष्ठित हो गए हैं वे ही संत हैं।”[5] पं० श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ की दृष्टि में “संत शब्द से प्राय: उस महान् व्यक्ति का बोध होता है जो संसार से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता, जो शत्रु, मित्र, उदासीन सभी से समान व्यवहार रखता है, जो कभी किसी का अनिष्ट नहीं चाहता, जो अपकार का बदला उपकार से देता है—प्राय: ऐसा पुरुष संत कहलाता है।”[6] कहा जाता है कि संत शब्द प्रारम्भ में रूढ़िगत ही था और श्री रानडे का तो कथन है कि उसका प्रयोग किसी समय विशेष रूप से उन भक्तों के ही लिए होता था जो कि विट्ठल सम्प्रदाय अर्थात् वारकरी सम्प्रदाय के अनुयायी थे और जिनकी साधना-पद्धति निर्गुण ही थी “Now ‘Santa’ is almost a technical word in the Vitthal Sampradaya, and means any man who is a follower of that Sampradaya. Not that the followers of other Sampradays are not ‘Santas’ but the followers of the, ‘Varakari’ Sampradayas are Santas per excenence.”[7] इस प्रकार संत शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न प्रकार से की गई है।

(जनवरी १९५४)

---

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल (प्रस्तावना)
२. उत्तरी भारत की संत-परम्परा—श्री परशुराम चतुर्वेदी (भूमिका पृष्ठ ७)
३. संतदर्शन—डॉ त्रिलोकी नारायण दीक्षित (भूमिका पृष्ठ ३)
४. संत परिचय—पं० श्री गोपीनाथ कविराज (कल्याण संत अंक, पृष्ठ २१)
५. वही (पृष्ठ २२)
६. कर्मयोगी संत—पं० श्री नरदेव जी शास्त्री (कल्याण संत अंक, पृष्ठ १२९)
7. Mysticism in Maharastra—R. D. Ranade (P. 42)

SPS
809 D 95 S
29417

29417

कृति और कृतिकार

●

'साहित्य-साधना के सोपान' लेखक की पहली उल्लेखनीय कृति है जिसमें उसका बहुमुखी चिन्तन व मनन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है और जिसमें कि साहित्य, शास्त्र, समीक्षा, धर्म, दर्शन, महाराष्ट्र के विविध संप्रदायों व भक्तिधारा, संस्कृत, तमिल व मराठी साहित्य तथा इतिहास आदि के कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक चिन्तन, विवेचन, मूल्यांकन, रस-ग्रहण और विविध नामक पाँच खंडों में विभाजित है तथा इसमें नवम्बर १९४९ से दिसम्बर १९६० तक के लेखक के साहित्यिक कृतित्व के विविध पक्षों का अनुशीलन कर तीस निबंध संकलित किए गए हैं जो कि एक ओर तो समीक्षक के विकास-क्रम का परिचय देते हैं और जिनमें दूसरी ओर साहित्य, धर्म, दर्शन व इतिहास की कुछ उल्लेखनीय समस्याओं का अध्ययनपूर्ण विश्लेषण भी है। लेखक ने प्रत्येक विषय की तर्क-संगत विवेचना करने की ओर ध्यान दिया है और अपने मत की पुष्टि में संस्कृत, अँग्रेजी, मराठी, बँगला, हिन्दी, उर्दू, तमिल आदि भाषाओं के अनेक ग्रंथों व हस्तलिखित सामग्री का उपयोग भी किया है। पुस्तक में बहुत सी सर्वथा नूतन सामग्री भी है और वह लेखक के व्यापक चिन्तन, अध्ययन व रसग्राही दृष्टिकोण का परिचय भी देती है तथा इसे उसकी निबंध-कला का परिचायक ग्रंथ भी कहा जा सकता है।

साहित्य
साधना
के
सोपान

'साहित्य-साधना के सोपान' के रचयिता आचार्य दुर्गाशंकर मिश्र एम० ए०, साहित्यरत्न का आधुनिक हिन्दी आलोचना-साहित्य में अपना निजी स्थान है और लगभग पन्द्रह वर्षों से वे एक मूक साधक की भाँति, प्रचार से कोसों दूर रह, हिन्दी साहित्य की सेवा कर रहे हैं। माधुरी, विशाल-भारत, चाँद, कल्पना, अजंता, सम्मेलन-पत्रिका, राष्ट्रभारती, साहित्यकार, साप्ताहिक हिन्दुस्तान और विक्रम आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबंधों के अतिरिक्त उनकी लगभग पचास से अधिक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं तथा सुपरिचित समीक्षकों, विचारकों व पत्र-पत्रिकाओं द्वारा उनकी रचनाओं का समादर भी किया गया है। साथ ही शोध-ग्रंथों की सहायक ग्रंथ-सूचियों में भी मिश्र जी की कृतियों का उल्लेख हुआ है और उनकी समीक्षा-शैली की प्रशंसा भी की जाती रही है।

लेखन-शैली पर कुछ मत

"आपने विषयों को स्पष्ट, सरल और सुलझे हुए तरीके से प्रतिपादित किया है, जिससे पाठक अधिक लाभ उठा सकते हैं।" —महापंडित राहुल सांकृत्यायन

"आपकी तर्कपूर्ण विचारधारा से प्रभावित हुआ।" —डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

"प्रायः सभी निबंध साहित्यिक हैं और लेखक के व्यापक अध्ययन, विचार और मंथन के परिचायक हैं।"
—डॉ० गुलाबराय

'श्री दुर्गाशंकर जी मिश्र का अध्ययन व्यापक है और उन्होंने जिस विषय पर कलम उठाई है उसमें पर्याप्त उपादेय सामग्री दे दी है जो उनकी अनुभूति और उनके अध्ययन से अलंकृत हैं।"
—डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र